लेख-सूची।

लेख-सूची ।

चित्र-सूची।

रङ्गीन चित्र।

सादे चित्र।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

वर-दान।

भाग २२, खण्ड २] जुलाई १९२१—आषाढ़ १९७८ [संख्या १, पूर्ण संख्या २५९

विश्व-भाषा।
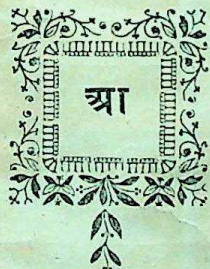
आज-कल सभी देश अपने व्यवसाय की उन्नति में सचेष्ट हैं। जो जाति जीवित रहना चाहती है उसे व्यवसाय के समराङ्गण में उतरना ही पड़ेगा। यदि वह इस युद्ध में सफलता प्राप्त कर सकी तो उसकी उन्नति हो सकती है। परन्तु यदि वह व्यवसाय के क्षेत्र में सबसे पीछे पड़ गई तो फिर उसका कल्याण नहीं है। दूसरों की भिक्षा से किसी जाति का जीवन कब तक टिकेगा? समता से ही बन्धुत्व-भाव स्थिर रह सकता है। यही कारण है कि जो उन्नतिशील देश हैं वे सदैव यही चेष्टा करते हैं कि हम किसी देश से कम न रहें।

व्यवसाय की वृद्धि से देशों की राजनैतिक सीमा भङ्ग होगई है। यदि जापान की प्रभुता जापान ही की सीमा में परिमित रहती तो उसकी गणना संसार की महाशक्तियों में कभी नहीं होती। आज जापान की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है। इसका कारण उसकी राजनैतिक शक्ति नहीं, किन्तु उसकी व्यावसायिक शक्ति है। जो देश व्यवसाय के क्षेत्र में प्रबल है वही राजनीति के क्षेत्र में अदम्य रहेगा। व्यवसाय-वृद्धि का यह पहला फल है। व्यवसाय की उन्नति का दूसरा फल यह है कि सभी देशों में एक पारस्परिक बन्धन स्थापित हो रहा है। कोई भी देश ऐसा नहीं है जो पृथ्वी के अन्य देशों से सम्बन्ध तोड़ कर सबसे पृथक् रह सके। भिन्न भिन्न देशों में अब कुछ ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि यदि किसी एक पर धक्का लगे तो दूसरे को भी उसका आघात

सहना पड़ता है। इसीलिए अब राजनीतिज्ञों की दृष्टि अपने देश में ही सीमा-बद्ध नहीं रहती। वे सदैव दूसरे देशों की अवस्था पर ध्यान देते रहते हैं। यह काम उन्हें परोपकार के लिए नहीं, किन्तु अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करना पड़ता है। व्यावसायिक उन्नति का तीसरा फल है विश्व-भाषा का निर्माण। सभी देशों के लोगों का सम्बन्ध अब विदेशियों से इतना घनिष्ठ हो गया है कि उन्हें दूसरों की भाषा जानने की ज़रूरत होती ही है। प्रचलित भाषाओं में अँगरेज़ी और फ्रेंच भाषा का खूब प्रचार है। तो भी इन्हीं दो भाषाओं से किसी का काम नहीं चल सकता। इसलिए कुछ समय से लोग एक विश्व-भाषा का प्रचार करना चाहते हैं। यहाँ हम उसी के विषय में कुछ बातें कहना चाहते हैं।

आज-कल संसार में तीन हज़ार से अधिक भाषायें प्रचलित हैं। भाषा की विभिन्नता का सबसे बड़ा कारण देश है। यदि आज तीन हज़ार भाषायें प्रचलित हैं तो हमें समझना चाहिए कि मानव-जाति तीन हज़ार खण्डों में विभक्त होगई है। भाषा की इस विभिन्नता के कारण मनुष्य के विचार सङ्कुचित हो जाते हैं। भारतवर्ष में अभी तक राष्ट्रीयता और एकता का भाव प्रबल नहीं हुआ है। उसका कारण यही भाषा-विभिन्नता है। जो जिस प्रान्त की भाषा से अनभिज्ञ होता है वह वहाँ के निवासियों को अवहेलना की दृष्टि से अवश्य देखता है। यदि हम किसी प्रान्त के निवासी से उसी की प्रान्तीय भाषा में बातचीत करें तो उससे शीघ्र ही घनिष्ठता हो जाती है। यही कारण है कि अब देश के नेता इस फ़िक्र में पड़े हैं कि भारतवर्ष में एक राष्ट्रीय भाषा का प्रचार हो। अधिकांश नेताओं की सम्मति है कि भारतवर्ष के लिए सबसे उपयुक्त राष्ट्रीय भाषा हिन्दी है। यदि लोग अपने हठ और दुराग्रह को छोड़ कर हिन्दी-भाषा को अपनालें तो भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का भाव जागृत हो जाय। इसके लिए यह आवश्यकता नहीं कि प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा की जाय। लोग अपनी अपनी भाषाओं को पढ़ें और अपने अपने साहित्य की वृद्धि करें। परन्तु यदि वे चाहते हैं कि उनका एक राष्ट्र हो जाय तो उन्हें एक भाषा का अवलम्बन करना ही पड़ेगा। यही बात विश्व-भाषा के लिए कही जा सकती है। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि कोई भी देश अब संसार से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता। राजनैतिक और व्यावसायिक, दोनों दृष्टि से यह आवश्यक है कि वह पृथ्वी के अन्य देशों से अपनी घनिष्ठता रक्खे। इसके लिए उसे अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। संसार की सब भाषाओं का ज्ञान होना असम्भव है। इसलिए यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय जिसे सभी देश ग्रहण कर सकें तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार होगा। आज-कल विभिन्न जातियों में जो पारस्परिक संघर्षण चल रहा है और ईर्ष्या तथा द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे हैं वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिए कौन सी भाषा उपयुक्त हो सकती है।

यदि एक ही स्थान में भिन्न भिन्न देशों के ऐसे मनुष्य रहने लगें जो एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते हैं तो क्या वे लोग सदा मूक ही बन कर बैठे रहेंगे? कुछ समय तक उनको अड़चन अवश्य होगी, पर धीरे धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेंगे जिससे सभी अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकें। इसमें सन्देह नहीं कि वह भाषा खिचड़ी होगी, उसमें सभी लोगों के दो दो चार चार शब्द रहेंगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक होंगे अथवा सबसे ज़ियादह प्रतापवान् होंगे। संसार

में भिन्न भिन्न जातियों का संघर्षण होता ही रहता है। इससे एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते हैं। आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दों की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दों को इतनी शीघ्रता से अपनालेते हैं कि किसी का उस पर ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी बात यह है कि मनुष्य अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार खुद ही कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तनशीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बन्धन न रहे तो शब्दों का रूपान्तर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय। शब्दों के परिवर्तन में उनका उच्चारण ही रूपान्तरित होता है। हिन्दी के 'रङ्गरूट' और वल्लमटेर' इसी के उदाहरण हैं। अँगरेज़ी के समान उन्नत भाषाओं में भी ऐसा परिवर्तन होता रहता है। भिन्न भिन्न भाषाओं की यह परिवर्तन-शीलता देख कर इँग्लेंड के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा भी समय आवेगा जब संसार में पाँच ही छः मुख्य मुख्य भाषायें रह जायँगी और अन्य भाषायें उन्हीं में विलीन हो जायँगी।

आज-कल भाषा-विज्ञान-शास्त्र की खूब उन्नति हो रही है। भिन्न भिन्न भाषाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। जब सर विलियम जोन्स के उद्योग से योरप में संस्कृत का प्रचार हुआ तब इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता बाप (Bopp) थे। उनके बाद जेकब ग्रिम साहब ने व्याकरण-शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किया। तब से इस शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है। भाषा-विज्ञान की उन्नति का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगों को एक कृत्रिम विश्वभाषा बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओं की सृष्टि हो चुकी है। प्रवासी में इन भाषाओं के विषय में एक लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि आज तक मनुष्यों ने ज्ञान-राशि की जो सम्पत्ति अर्जित की है उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य द्वार है भाषा। अतएव एक ही भाषा में यदि विश्व का ज्ञान सुलभ कर दिया जाय तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार हो। कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिए यदि संसार के सभी विद्वान् एक ही भाषा में अपने मनोगत भाव प्रकट करने लगें तो सर्वसाधारण के लिए भी ज्ञान का पथ सुगम हो जाय। परन्तु जिन तीन भाषाओं का उल्लेख किया गया है वे साहित्यिक दृष्टि से निर्मित नहीं हुई हैं, किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से बनाई गई हैं। उनका उद्देश यह नहीं कि उनसे विश्व-साहित्य का प्रचार किया जाय। लोगों को विदेशी भाषाओं का ज्ञान न होने से जो अड़चन होती है उसी को दूर कर देना इन विश्व-भाषाओं का उद्देश है। इनसे ज्ञान का द्वार उन्मुक्त नहीं होगा, किन्तु व्यापारियों और यात्रियों को सुविधा होगी। इन भाषाओं से मनुष्य उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं होंगे। इनसे उन्हें आराम ज़रूर मिलेगा। हम चाहते हैं कि एक ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय जिसे संसार के सब विद्वान् अपनालें। यह भाषा इतनी व्यापक हो जाय कि इसमें पूर्व का अध्यात्मवाद और पश्चिम का भौतिक-वाद दोनों व्यक्त किये जा सकें। पाश्चात्य मनोविज्ञान-शास्त्र में आध्यात्मिक शब्दों के अभाव से बड़ा झगड़ा होता है, यहाँ तक कि अर्थ का अनर्थ हो जाता है। विश्व-भाषा का ऐसा रूप हो कि मनुष्य की सभी भावनायें सुबोध हो जायँ। हम कह नहीं सकते कि कभी ऐसी विश्व-भाषा का प्रचार होगा कि नहीं। परन्तु आज-कल संसार के नेता विभिन्न जातियों के

मनोमालिन्य को दूर करने की चेष्टा कर रहे हैं। तब सम्भव है कि कभी सभी देश एक भाव, एक धर्म और एक भाषा ग्रहण कर एक विशाल राष्ट्र के अन्तर्गत हो जायँ। अस्तु।

आज-कल विश्व-भाषा के रूप में जिन तीन भाषाओं का प्रचार करने की चेष्टा की जा रही है उनमें पहली भाषा का नाम (Volapuk) वोलापुक है। इस भाषा की उद्भावना सन् १८८० में हुई थी। यह भाषा युक्ति-शास्त्र पर अवलम्बित है। यह तो सभी जानते हैं कि प्रचलित भाषाओं में शब्दों के अर्थ जानने में युक्ति काम नहीं देती। कुछ शब्दों को छोड़ कर बाक़ी शब्दों में अर्थ और ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है। वोलापुक के उद्भावक थे Johann M. Schleyer। आपने इस भाषा को युक्ति-युक्त और नियमित करना चाहा। इसके लिए आपने यह उपाय सोचा कि कुछ मूल शब्द निर्धारित कर दिये जायँ और उन्हीं शब्दों से, प्रत्यय और विभक्ति के योग से और समास से, नाना प्रकार के शब्द बनाये जायँ। ये शब्द दीर्घ न हों इसलिए मूल शब्दों को एकाक्षरिक करना चाहिए। इन्हीं उपायों का अवलम्बन कर आपने वोलापुक की रचना की।

वोलापुक के बाद एस्परान्टो नामक भाषा की सृष्टि हुई। इस भाषा के जन्मदाता थे डाक्टर जामिन हाफ़। सरस्वती में आपका जीवन-चरित प्रकाशित हो गया है। सन् १९०१ से एस्परान्टो का प्रचार ख़ूब बढ़ने लगा। एस्परान्टो के व्याकरण-भाग में मौलिकता है। इसमें एक ही नियम की सर्वत्र पाबन्दी की जाती है। अपवाद तो एक भी नहीं है। एक मूल शब्द से अनेक शब्द बनाये जा सकते हैं।

विभक्तियों और प्रत्ययों की संख्या भी कम है। इसके शब्द-समूह किसी एक भाषा से नहीं लिये गये हैं। जामिन हाफ़ साहब ने देखा कि भिन्न भिन्न भाषाओं के अनेक शब्दों में बड़ी समानता है। अतएव ऐसे शब्दों की उत्पत्ति एक ही मूल शब्द से होनी चाहिए। आपने यथासम्भव इन्हीं मूल शब्दों के आधार पर अपनी भाषा की रचना की है।

एस्परान्टो का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी है Idion Neutral. पेट्रो ग्रेड में Akademi Internasional de Lingu universal नामक एक समिति है। उसी के द्वारा इस भाषा की सृष्टि हुई है। इस समिति के डाइरेक्टर रोज़नबर्ग साहब इसके सृष्टिकर्ता हैं।

बस, विश्व-भाषा की यही कथा है।

मनोहरलाल श्रीवास्तव

मुग़ल-साम्राज्य का गौरव।

काल-चक्र के चक्करों का अनुभव जितना दिल्ली ने किया है उतना संसार में शायद ही किसी नगर को हुआ हो। जिस दिल्ली की नीव का पत्थर धर्म-धुरीण महाराज युधिष्ठिर ने आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व रक्खा था और जिसका गौरव भारत के इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट् अपनी राजधानी बना कर सदा बढ़ाते रहे वही दिल्ली उन्नीसवीं सदी का प्रारम्भ होते ही इँगलेंड के व्यापारियों के हाथ पड़ी और उसका शासक अन्तिम मुग़ल-सम्राट् उनका पेंशनभोगी हुआ। अठारहवीं सदी के पिछले पचीस वर्षों में मरहटे ही उस समय के मुग़ल राज्य के वास्तविक स्वामी बन बैठे थे और नेत्रहीन मुग़ल-सम्राट् शाह आलम उनके हाथों में कठपुतली बन कर अपने फ़रमान निकाला करता और लोगों को उपाधियाँ तथा सिरोपाव प्रदान करता रहता था। यद्यपि मुग़ल-सम्राट् चमतारहित. था और उसका साम्राज्य धीरे धीरे छिन्न भिन्न होकर विनष्ट हो रहा था तो भी लोगों का विश्वास यही था कि शाह आलम ही भारत का स्वामी है, एक-मात्र वही हमारी भक्ति का पात्र है और राजनैतिक तथा सामाजिक प्रबन्धों का वही कर्ता-धर्ता है।

जिस राजवंश के उत्तराधिकारी शाह आलम पर लोगों की इतनी भारी श्रद्धा थी उसके संस्थापक बाबर ने बारह हज़ार सेना लेकर खैबर घाटी को पार किया था। उसने तत्कालीन दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी को पानीपत की युद्ध-भूमि में परास्त करके दिल्ली पर अधिकार किया और समीपवर्ती देश को अपने अधीन कर उसने भारत में अपने वंश के राज्य की नीव रक्खी। यद्यपि बाबर की मृत्यु के बाद भारत के पठानों ने उसके पुत्र हुमायूँ को यहाँ से निकाल बाहर किया तो भी उसने कालान्तर में अपना राज्य फिर प्राप्त कर लिया था। हुमायूँ के बाद उसका पुत्र अकबर दिल्ली के तख़्त पर बैठा और वास्तव में यही महापुरुष भारत में मुग़ल-साम्राज्य का संस्थापक हुआ। अपने शासन-काल में अकबर ने अपने राज्य की ख़ूब वृद्धि की। धीरे धीरे समग्र उत्तरी भारत पर उसका अधिकार हो गया, यही नहीं किन्तु उसने दक्षिण का भी कुछ अंश अपने राज्य में मिला लिया था। अकबर के बाद भी साम्राज्य की वृद्धि दिन प्रति दिन होती ही रही और जब उसका शासन-दण्ड औरङ्गज़ेब के हाथ आया तब तो वह उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। परन्तु अठारहवीं सदी के आरम्भ में औरङ्गज़ेब की मृत्यु हो गई। उसके बाद साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हुआ। जब मरहटे शाह आलम को ईस्ट इंडिया कम्पनी की संरक्षा से निकाल कर फिर दिल्ली लिवा लाये और उन्होंने बादशाह को अपने हाथ का खिलौना बना लिया तब समझना चाहिए कि साम्राज्य का पतन अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था।

औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद ही से साम्राज्य का अङ्ग-भङ्ग होना आरम्भ हो गया था। धीरे धीरे प्रान्त के प्रान्त साम्राज्य से अलग होते जाते थे। जो मुसलमान सूबेदार मुग़ल-साम्राज्य के स्तम्भ थे वही राजद्रोह करके उन प्रान्तों में अपना राज्य स्थापित करने लगे थे। इस तरह एक के बाद एक प्रान्त शक्ति-सम्पन्न सूबेदारों ने हथियाना शुरू कर दिया और इस स्वार्थ-परायणता के कारण मुग़ल-सम्राट् दिन प्रति दिन शक्तिहीन और क्षमता-रहित होते गये। यह लीला लगभग सौ वर्ष तक जारी रही, परन्तु उस समय भी यह कोई न जान सका था कि यह विशाल साम्राज्य एक दिन विनष्ट हो जायगा। जब जनरल लेक ने सन् १८०३ में दिल्ली में प्रवेश किया था तब स्वयं सम्राट् भी उस घटना के महत्त्व को न समझ सका था। इसी घटना के बाद से मुग़ल-साम्राज्य का अस्तित्व भी मिट गया। इस सम्बन्ध में Fall of the Mogul Empire नामक अपनी पुस्तक में एच० जी० कीन साहब ने लिखा है, "जनरल लेक को बादशाह के पास ले आने के लिए शाहज़ादा मिर्ज़ा अकबर अँगरेज़ी शिविर में भेजा गया था। जब शाहज़ादा अँगरेज़ी शिविर में पहुँचा तब जनरल लेक शाहज़ादे से भेंट करने को आया, परन्तु वह जनरल से तब मिला जब उसने लगभग तीन घंटे तक प्रतीक्षा की। अपना गौरव तथा मर्यादा क़ायम रखने ही के लिए शाहज़ादे ने ऐसा व्यवहार किया था। यह एशियावासियों की एक विशेषता है। इसके बाद सवारी निकली और पांच मील का मार्ग इतनी मन्द गति से तय किया गया कि जलूस महल में उस समय पहुँचा जब सूर्य्यास्त हो रहा था... दीवान ख़ास की ड्योढ़ी पर एक फटा पुराना शामियाना खड़ा किया गया था जिसके नीचे अकबर और औरङ्गज़ेब का वंशज एक साधारण सिंहासन पर बैठा था।"

अस्तु, अन्ध सम्राट् शाह आलम और जनरल लेक के बीच यह तय हुआ कि सम्राट् केवल दिल्ली तथा उसके आस पास के ज़िले भर का शासन करे और वह भी एक अँगरेज़ रेज़ीडेन्ट की निगरानी में। इसी निश्चय के अनुसार कम्पनी की ओर से सम्राट् को १०,०००) मासिक पेंशन देना भी स्वीकार किया गया।

इस तरह लगभग दो सदियों तक अपना गौरव-पूर्ण जीवन बिताने के बाद मुग़ल-साम्राज्य का पतन हुआ। उसके जीवन-काल में उसका शासक भारत के एक विशाल भाग का स्वामी समझा जाता था। उसके आदेशों का पालन बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति के साथ होता था। लोग अपनी पदवी तथा अपने स्वत्व समुचित ठहराने के लिए उसका फ़रमान प्राप्त करना आवश्यक समझते थे। यद्यपि अँगरेज़, फ़रासीसी और मरहटे मुग़ल-साम्राज्य को विनष्ट करने में लगे हुए थे तो भी सम्राट् की पद-मर्यादा का आदर वे करते ही थे। भारत में किसी न किसी रूप में

वही एक-मात्र आदर का पात्र था। मुग़ल-साम्राज्य ने इतनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करली थी, सर्व-साधारण के मन पर उसका इतना भारी प्रभाव पड़ चुका था कि उसका पतन हो जाने पर भी लोग इस बात का विश्वास नहीं करते थे। इस सम्बन्ध में डब्ल्यू० एच० हूटन ने 'लार्ड वेल्जली' नाम की अपनी पुस्तक में लिखा है, "जब शाह आलम महादाजी सेंधिया का नौकर सा बन गया था तब भी भारत में एक-मात्र वही सम्राट् समझा जाता था। देश के राजे महाराजे अपने आपको उसी के अधीन समझते थे, वही सबको पदवियाँ तथा सम्मान प्रदान करता था और देश के जिन भिन्न भिन्न राजाओं से अँगरेज़ों का युद्ध होता था तथा जिन्हें वे स्वाधीन राजा मानते थे वे लोग केवल उसके उच्च राज्य-कर्मचारी थे। लोगों के विश्वास और प्रथा के कारण अपनी हीनावस्था में भी मुग़ल-सम्राट् का अधिकार राजनैतिक क्षेत्र में अक्षुण्ण बना था। जो कुछ कार्य किया जाता, सब उसी के नाम पर किया जाता था। वह अपने आदेशों से लोगों को वह अधिकार प्रदान कर देता जिसका उपयोग करने की क्षमता स्वयं उसमें न थी।"

दिल्ली के पठान बादशाहों से विद्रोह करके कुछ मुसलमान सरदारों ने जिस बहमनी राज्य की स्थापना दक्षिण में की थी वह शिवाजी के उदय-काल के पूर्व ही विनष्ट होकर पाँच छोटे छोटे राज्यों में विभाजित होगई थी। इन राज्यों के अधिपति सदा परस्पर लड़ते रहते थे। उन्हों ने महाराष्ट्र देश का अधिकांश भाग अपने अधिकार में कर लिया था। इधर महाराष्ट्र लोग अपना स्वाधीन राज्य अलग स्थापित करने को लालायित थे। अतएव पहले इन्हें उन्हीं पर चढ़ाई करनी पड़ी थी। अकबर के समय से मुग़ल-सम्राटों ने भी दक्षिण के मुसलमानी राज्यों पर छीना-झपटी प्रारम्भ कर दी थी और सतत परिश्रम तथा घोर युद्ध के अनन्तर अहमदनगर-राज्य मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया गया था। जब शिवाजी ने अपने पड़ोसी शत्रुओं का सामना करने को पर्याप्त शक्ति प्राप्त करली तब उसने मुग़ल-साम्राज्य के प्रान्तों पर धावे मारना प्रारम्भ किया। मरहटों ने उन प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का स्वत्व प्रकट किया, परन्तु राजनीति तथा अपनी शक्ति के विचार से शिवाजी ने स्वयं मुग़ल-साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करली। तदनुसार सम्राट् ने उसे मनसब और जागीर प्रदान की। मरहटों को अपने अधिकृत देशों के लिए मुग़ल-सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त करनी ही चाहिए, यह भाव पहले ही जड़ पकड़ चुका था और साम्राज्य के अन्त समय तक वह ज्यों का त्यों बना रहा। जो सन्धियाँ शिवाजी ने शाहजहाँ और औरङ्गज़ेब के साथ कीं उनमें उसने साम्राज्य तथा बाहर के कुछ देशों पर चौथ तथा सरदेशमुखी-सम्बन्धी अपने स्वत्व को बराबर ज़ोर दिया था। इसके सिवा वह मुग़ल-सम्राट् के अधीन एक जागीरदार बनने को भी राज़ी हो गया। चौथ तथा सरदेशमुखी-सम्बन्धी स्वीकृति शिवाजी की मृत्यु के बाद दे दी गई और शाहू के शासन-काल में उस शाही स्वीकृति की पुनरावृत्ति समय समय पर होती रही। चौथ तथा सरदेशमुखी के स्वत्व के रूप में अत्याचार का एक भयङ्कर शस्त्र मरहटों के हाथ लग गया। मुग़ल-सम्राटों के समक्ष मरहटे अपने स्वत्वों की जो माँग उपस्थित करते थे वह एक राजनैतिक चाल तो थी ही, पर उसकी ओट में एक दूसरा भाव भी छिपा रहता था। वह था सम्राट् द्वारा अपने अधिकृत देशों की स्वीकृति प्राप्त करना। आगे की बात से उपर्युक्त कथन और भी स्पष्ट हो जाता है। बादशाह ने शाहू को छः दक्षिणी प्रान्तों का स्वराज्य एवं उन पर चौथ तथा सरदेशमुखी का स्वत्व प्रदान किया। उसके बदले में मरहटों ने सम्राट् को पेशख़ास अदा करना स्वीकार किया। इसके सिवा उन्होंने शान्ति स्थापित रखने का भार तथा समय उपस्थित होने पर घुड़-सवारों का एक सेनादल सम्राट् के सेना-पतियों के अधीन कर देना भी स्वीकार किया था।

यद्यपि धीरे धीरे मुग़ल-साम्राज्य का पतन होता जा रहा था और मरहटे उसके एक भाग के बाद दूसरा भाग अपने क़ब्ज़े में करते चले जाते थे तो भी उसके ऊँचे दर्जे तथा गौरव के सम्बन्ध का प्राचीन भाव उनके मन में सदा बना रहा। शनवर वादा नाम का पेशवा का महल पहले बाजीराव के समय में बना था। इसका फाटक उत्तर ओर है और उसका नाम दिल्ली-फाटक है। यह नाम महत्त्व-पूर्ण है। उस समय बाजीराव दिल्ली-विजय करने के मनसूबे बाँध रहा था। शायद उसने अपने फाटक का नाम-करण इसी धारणा के वशवर्ती होकर किया हो जिससे

यह प्रकट हो जाय कि उस समय मरहटों के मन में दिल्ली के प्रति कैसे भाव थे। चाहे जो हो, पर मरहटों पर दिल्ली का कितना अधिक प्रभाव था, यह बात स्पष्ट है। उस समय यद्यपि दक्षिण और बङ्गाल के सूबेदार, जो अठारहवीं सदी के मध्यभाग में स्वतन्त्र से हो गये थे, अपने सम्राटों को नगण्य समझने को प्रस्तुत नहीं हुए थे। उन्होंने अपने सम्राटों पर कभी आक्रमण करने का दुस्साहस भी नहीं किया था। इसके विपरीत नये सूबेदारों की नियुक्ति के सम्बन्ध में शाही फ़रमान जारी होने की जो प्रथा थी वह ज्यों की त्यों बनी ही रही। निज़ामुल्मुल्क के पुत्र, जो अपने अपने प्राधान्य के लिए परस्पर लड़ रहे थे, अपनी अपनी नियुक्ति के सम्बन्ध में शाही फ़रमान उपस्थित कर सकते थे। उस समय सम्राट् किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने में समर्थ न था। वह बहुत ही अधिक क्षमता-रहित हो गया था। तो भी शाही स्वीकृति की आवश्यकता का महत्त्व वैसा ही बना था। Rise of the Maratha Power नामक ग्रन्थ में रनाडे महोदय लिखते हैं, "इस बात की जानकारी से कि सूबेदार की नियुक्ति का अधिकार सम्राट् को है, निज़ामुल्मुल्क के ख़ानदान के भिन्न भिन्न दावेदारों ने सूबेदारी के लिए अपने अपने स्वत्व उपस्थित किये और उनमें से प्रत्येक ने अपना स्वत्व समर्थन करने के लिए शाही फ़रमान प्रकाशित किये।" ऐसे ही एक फ़रमान के आधार पर चाहे वह असली रहा हो या जाली रहा हो, निज़ामुल्मुल्क की मृत्यु के बाद उसके पुत्र नासिरजङ्ग ने उत्तराधिकार के लिए अपना स्वत्व प्रकट किया। ऐसे ही प्रमाण के आधार पर, जिसके असली होने में सन्देह ही रहा, मुज़फ़्फ़रजंग ने उसके विरुद्ध अपना हक़ बताया। जब इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों की भी मृत्यु होगई तब फ़रासीसी जनरेल बुसी ने निज़ामुल्मुल्क के तीसरे पुत्र सलाबतजंग को उत्तराधिकार के लिए खड़ा किया। ओरमी ने लिखा है कि इस सरदार को राजधानी में उपस्थित होने की हिम्मत न हुई। उसने पहले सम्राट के राजदूत के हाथ से अपना नियुक्ति-पत्र ले लेना उचित समझा। तदनुसार उसने बड़ी शान और महोत्सव के साथ उस बादशाही फ़रमान को ग्रहण किया जिसके अनुसार वह उन सारे देशों का सूबेदार नियुक्त हो गया जो उसके पिता के अधिकार में थे।

साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों की सूबेदारी का पद वंशानुगत हो गया था। तो भी उत्तराधिकार के सम्बन्ध में सम्राट् की स्वीकृति ले लेना आवश्यक समझा जाता था। सम्राट् में इस बात की क्षमता नहीं थी कि वह अपनी रुचि के अनुसार सूबेदार नियुक्त कर सके। अतएव वह उसी को नियुक्ति का फ़रमान प्रदान कर देता था जो उत्तराधिकारी सूबेदारी का पद अपने अधिकार में कर लेता था। ऐसा ही हाल सतारा के राजाओं का भी हो गया था। वहाँ राज्य का कर्ता-धर्ता पेशवा था। शिवाजी का उत्तराधिकारी एक प्रकार से उसकी क़ैद में था। राघोबा दादा, सवाई माधवराव, बाजीराव और चिमनाजी अप्पा आदि की नियुक्ति के जो आज्ञापत्र सतारा के राजाओं ने समय समय पर प्रदान किये थे वे केवल लौकिक मर्यादा की रक्षा के लिए प्राप्त किये गये थे। वास्तव में बात यह थी कि पूर्वोक्त व्यक्ति इतने अधिक शक्ति-सम्पन्न थे कि सतारा-नरेश को वही करना पड़ता था जो कुछ ये लोग कहते थे। परन्तु मुग़ल-सम्राट् के फ़रमान की कुछ और ही बात थी। यद्यपि वह नाम-मात्र का सम्राट् था। उसकी सारी शक्ति छिन्न-भिन्न होकर दरबार के अमीर उमराओं तथा प्रान्तिक सूबेदारों के हाथों में चली गई थी, तो भी उसके फ़रमान का महत्त्व बहुत ही भारी था। उसके स्वतन्त्र प्रान्तिक सूबेदार ही उसे प्राप्त करने को उत्सुक नहीं रहते थे, किन्तु भारत के दूसरे राजे महाराजे एवं योरपीय शक्तिशालिनी वणिक् कम्पनियाँ भी। ये लोग भी अपने स्वत्वों तथा अधिकृत देशों की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए सम्राट् के प्रार्थी होते थे।

पलासी के युद्ध के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में बङ्गाल प्रान्त हो गया था। वहां के सूबेदार की नियुक्ति उसी की बात होगई थी। उसके इस काम में कोई कुछ भी हस्तक्षेप न कर सकता था। उस समय दिल्ली के षड्यन्त्रों से प्राण बचा कर शाहज़ादा शाह आलम इधर-उधर मारा मारा फिरता था, परन्तु तो भी वह अपनी प्रजा को सनदें और जागीरें प्रदान करता था। वह अपना काम उसी मर्यादा के साथ करता था, मानों वही सम्राट् हो। उसके और लार्ड क्लाइव के बीच सन् १७६५ में एक समझौता हुआ। शाहज़ादा ने कम्पनी को बङ्गाल की

दीवानी का अधिकार प्रदान किया। तदनुसार कम्पनी ने २६ लाख रुपये वार्षिक शाहज़ादा को देने की प्रतिज्ञा की और कोड़ा तथा इलाहाबाद के ज़िले भी सुराजुद्दौला से दिला दिये। शाहज़ादा कम्पनी के हाथ में था और वैसी स्थिति में क्लाइव का उक्त स्वत्व के लिए फ़रमान प्राप्त कर लेना इसलिए भी समुचित नहीं समझा गया है कि बङ्गाल सब प्रकार से कम्पनी के क़ब्ज़े में था न्यायानुसार इस अधिकार-प्रधान के कारण शाहज़ादे को सूबेदार की नियुक्ति का अधिकार भी प्राप्त हो गया। समय उपस्थित होने पर किया भी ऐसा ही गया था। जब मीर जाफ़र के बाद मीर क़ासिम बङ्गाल का सूबेदार हुआ था तब उसने शाह आलम से अपनी नियुक्ति का फ़रमान प्राप्त भी किया था। परन्तु यह अवस्था ज़रूर उपस्थित होगई थी कि बङ्गाल के सूबेदार पर जो प्राधान्य कम्पनी ने प्राप्त कर लिया था उसे वह सम्राट् को सौंप देने को तैयार नहीं थी। और न सूबेदार तथा सम्राट् ही इतने शक्तिसम्पन्न थे कि उनमें से कोई कम्पनी का प्राधान्य हटा कर बलपूर्वक अपना प्राधान्य स्थापित कर ले। तब प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अनुकूल परिस्थिति में क्लाइव जैसे नीति-निपुण और कार्य-कुशल व्यक्ति ने क्षमता-रहित शाहज़ादा से समझौता करके अपना पद अपने ही हाथ हीन क्यों कर लिया। इसका उत्तर स्पष्ट है। क्लाइव ने सोचा कि वास्तव में मैं बङ्गाल का स्वामी हूँ। अतएव यदि कम्पनी का स्वामित्व सम्राट् भी स्वीकार कर ले तो कम्पनी न्याय से भी बङ्गाल की स्वामिनी बन जायगी। परन्तु यदि इस प्रकार का न्यायानुमोदन प्राप्त करने के लिए क्लाइव और बातों में भी बादशाह से फ़रमान प्राप्त करने की इच्छा करता तो उस स्थिति में कम्पनी के स्वार्थ में व्याघात पहुँचने की सम्भावना थी और विशेष करके उस समय जब शाह आलम मरहटों की संरक्षा में हो गया था। परन्तु जब सम्राट् मरहटों की संरक्षा में चला गया तब कम्पनी ने केवल पूर्वकृत समझौते के अनुसार वार्षिक पचीस लाख रुपये का भुगतान ही केवल न बन्द कर दिया, किन्तु तत्कालीन कम्पनी के गवर्नर वारेन हेस्टिंगज़ ने यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि कम्पनी का बङ्गाल पर शासन मुग़लों की किसी सनद या फ़रमान पर निर्भर नहीं करता है। कैप्टन एल० जे० ट्राटर ने अपने 'वारेन हेस्टिंगज़' नामक ग्रन्थ में लिखा है, "जिन प्रान्तों को हमारी सेनाओं ने तलवार के बल से जीत लिया था उनके अधिकार की स्वीकृति नाम-मात्र के मुग़ल-सम्राट् से प्राप्त करना क्लाइव तथा डायरेक्टरों को भले ही उपयुक्त समझ पड़ा हो............. परन्तु वास्तविक बात तो यह है इस समय भी जो हम भारत पर शासन कर रहे हैं वह एक-मात्र तलवार के ही बल से कर रहे हैं। अतएव हेस्टिंगज़ की स्पष्टवादिता से सम्राट् की स्वीकृति का महत्त्व जाता रहा। क्लाइव ने मुग़ल-साम्राज्य तथा उसके सार्व-भौमिक प्राधान्य को स्वीकार किया था, पर उसके उत्तराधिकारी उस खोखले सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं थे जिससे कम्पनी को आर्थिक हानि पहुँचने की सम्भावना थी। अतएव उन्होंने उस राजकीय स्वत्व की उपेक्षा की"

ईस्ट इंडिया कम्पनी भागे हुए शाह आलम को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने की सहायता कर सकती थी। इस सम्बन्ध के प्रस्ताव भी उससे किये गये थे, परन्तु कम्पनी के अधिकारियों ने वैसा करना उचित न समझा। उन्होंने उस भारी उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेना समय की गति के अनुसार राजनीति के विरुद्ध समझा। जब शाह आलम दिल्ली के सिंहासन पर आसीन होने के लिए कम्पनी की संरक्षा त्याग करके जाने लगा तब कम्पनी के अधिकारियों ने किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया, बरन् वे उसे अपनी सीमा तक पहुँचा भी आये। कम्पनी के कर्मचारियों को इस बात की कड़ी आज्ञा थी कि वे कोई ऐसा काम न करें जिससे उनकी और मरहटों की मुठ-भेड़ हो जाय। पूर्व निश्चय के अनुसार सम्राट् इलाहाबाद से चला गया और मरहटों ने उसे दिल्ली के तख़्त पर जा बिठाया। इस अवसर से माधवराव शिंदे ने लाभ उठाया। सम्राट् के जो बड़े बड़े कर्मचारी दरबार में अपने अपने प्राधान्य के लिए द्वन्द्व कर रहे थे वे बैठे के बैठे ही रह गये। यद्यपि महादाजी शिंदे ने पहले मरहटा-युद्ध में भाग लिया था जिसका परिणामस्वरूप वादेगाँव का सुलहनामा हुआ था तथा गुजरात में भी उसने गोडर्ड से तलवार बजाई थी और इस तरह वह अँगरेज़ों का शत्रु था, तो भी उसने उस अवसर पर अँगरेज़ों से मित्रता ही रखना मुनासिब समझा।

उसने सोचा कि यदि मैं अपना गौरव बढ़ाना तथा अपनी शक्ति प्रबल करना चाहता हूँ तो मुझे अँगरेज़ों से छेड़-छाड़ न करनी चाहिए। सम्भवतः इसी धारणा के वशवर्ती होकर उसने मरहटों और अँगरेज़ों में सन्धि हो जाने के लिए ज़ोर दिया। तदनुसार सालबाई का सुलहनामा हुआ। इससे महादाजी की गौरव-वृद्धि हुई। अँगरेज़ भी उसे क्षमताशाली समझने लगे और मरहटा-सङ्घ में भी उसका पद महत्त्व-पूर्ण हो गया। वारेन हेस्टिंग्ज़ के मन में यह बात तुरन्त आ गई कि यदि महादाजी जैसे नीति-निपुण व्यक्ति को दिल्ली की राजनीति से स्वेच्छापूर्वक लाभ उठाने दिया जाय तो उससे अँगरेज़ों के हितों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँच सकती। इसके सिवा उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में परस्पर की कलह मिटने तथा शान्ति स्थापित करने में उससे सहायता भी मिल सकेगी। जो मुसल्मान अमीर और सरदार तथा राजपूत राजे दिल्ली के राजनैतिक क्षेत्र में अपना प्राधान्य चाहते थे उनको युद्ध में भले प्रकार परास्त करके महादाजी 'हिन्दुस्तान' में प्रधान शक्तिशाली व्यक्ति हो गया। साम्राज्य के शासन की बागडोर उसी के हाथ चली गई। और यद्यपि उस समय सम्राट् कहने भर को सम्राट् रह गया था तो भी तैमूर के वंशज की प्रतिष्ठा भारत में बहुत ही अधिक थी। "यद्यपि समग्र दक्षिणी भारत धीरे धीरे मुग़ल-साम्राज्य से पूर्ण स्वतन्त्र हो गया था, तो भी भारत में कोई ऐसा नवाब या राजा नहीं था जो अपने को बादशाह कहने का साहस कर सके। शाह आलम उस समय मुग़लों के सिंहासन पर विराजमान था और समग्र देश के सारे राजनैतिक कार्य उसी के नाम से किये जाते थे।" यह बात एक विदेशी लेखक ने लिखी है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि उस समय लोग मुग़ल-साम्राज्य के प्रति कितनी भारी भक्ति रखते थे।

यद्यपि महादाजी का प्राधान्य दिल्ली के राजनैतिक क्षेत्र में भले प्रकार स्थापित हो गया था और वह स्वयं सम्राट् का संरक्षक बन बैठा था तो भी उसका स्वभाव अत्यन्त ही विनम्र बना रहा। उस शीलवान् पटेल और पेशवा के जूते के रक्षक ने सम्राट् से अपने नव युवक पेशवा के लिए 'वकील ए मुतलक़' की पदवी प्राप्त करली एवं अपने लिए पेशवा के वकील की। जब उसकी स्थिति हिन्दुस्तान में पुष्ट नीव पर स्थापित होगई तब उसने अपनी वैसी ही मर्यादा पेशवा के दरबार में भी क़ायम करनी चाही। अतएव उसने अपनी विशाल शिक्षित सेना तथा विजयों को दिखला कर नव युवक तथा अनुभवहीन पेशवा को अपनी मुट्ठी में करना चाहा। परन्तु पेशवा उसके प्रतिद्वन्द्वी विचक्षण राजनैतिज्ञ नाना फड़नवीस के प्रभाव में था। नाना ने यह बहुत ठीक अनुमान किया था कि महादाजी ने जैसी क्षमता तथा स्वाधीन पद प्राप्त किया है उससे मरहटा-सङ्घ के टूट जाने की सम्भावना है और वह तभी क़ायम रह सकता है यदि केन्द्रिक सरकार अपने अधीनस्थ सरदार पर हुक्म चलाने के लिए सदा समर्थ बनी रहे। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि महादाजी ने सङ्घ को भङ्ग करने की कल्पना कभी की हो। वह पहला आदमी था जो उसे क़ायम रखने के लिए अपनी तलवार बाहर निकालता। परन्तु उसकी यह आकांक्षा ज़रूर थी कि नाना के स्थान में पेशवा के दरबार में मेरा प्रभाव हो जाय। जो नाना एक पीढ़ी से मरहटा साम्राज्य का सूत्रधार हो रहा था उसका प्राधान्य वह ज़रूर नष्ट करना चाहता था। जब महादाजी पूना पहुँचा तब सम्राट् की प्रदान की हुई ख़िलत तथा 'वकील ए मुतलक़' की पदवी ग्रहण करने के लिए एक बड़ा भारी दरबार किया गया। इसका विवरण मरहटों के इतिहास में विस्तार के साथ दिया गया है। उस दरबार में ठीक वैसा ही एक सिंहासन रक्खा गया था जिस पर सम्राट् बैठता था। उस पर सम्राट्-प्रदत्त फ़रमान और ख़िलत रक्खी गई। पेशवा ने तीन बार झुक झुक कर उसका अभिवादन किया। उसने उसके सामने १०१ मुहर की नज़र रक्खी। महादा जी के फ़ारसी के मुंशी ने फ़रमान पढ़ना शुरू किया। इसके बाद पेशवा तख़्त की बाईं ओर बैठ गया। उसके प्रधान अधिकारियों ने उसे नज़रें दीं। तदनन्तर धूमधाम के साथ पेशवा की सवारी निकली और सलामी में तोपें सर हुईं। इस सारी प्रक्रिया से महादाजी पेशवा पर अपना प्रभाव डालना चाहता था। इससे यह भी प्रकट होता है कि उस समय मुग़ल-सम्राट् की लोग कितनी भारी भक्ति करते थे।

जब मुग़ल-साम्राज्य नाम भर को रह गया था और

उसका शासक मरहटों के हाथ का खिलौना बन चुका था उस समय इस प्रकार का सम्राट् के प्रति सम्मानद्योतक महोत्सव एक प्रकार का खेलवाड़ी ही सा प्रतीत होता है। सम्राट् के तख़्त के प्रति पेशवा का भक्ति-प्रदर्शन तथा वकील ए मुतलक़ अर्थात् साम्राज्य का सबसे बड़ा सूबेदार की पदवी ग्रहण करना एक ऐसी बात थी जिसका विरोध किया गया। मरहटा मनकरी तथा सरदारों ने पेशवा की इस कार्रवाई का प्रतिवाद किया। उनका कहना यह था कि पेशवा की इस कार्रवाई से शिवाजी के वंशधर सितारा के राजकीय पद को ठेस पहुँचती है। अतएव वे लोग न तो उस दरबार में ही शामिल हुए और न वकील ए मुतलक़ के रूप में पेशवा को उन्होंने नज़रें ही दीं। वे उस उत्सव की सवारी में भी शरीक नहीं हुए। यद्यपि मरहटा सरदारों ने इस प्रकार की नाराज़ी प्रकट की तो भी सम्राट् ने जो पदवी पेशवा को प्रदान की थी वह महत्त्वपूर्ण समझी गई। जिस मुग़ल-साम्राज्य का ध्वंस साधन करने की उत्कट आकांक्षा एक समय मरहटों को थी उन्हीं ने अपनी राजधानी में उसी साम्राज्य के एक नामधारी सम्राट् के प्रति अगाध भक्ति का परिचय दिया और वह भी उस समय जब कि वह शीघ्रता के साथ विनाश को प्राप्त हो रहा था। इससे सिद्ध होता है कि मुग़लों ने लोगों के मन में अपना घर कर लिया था। उनकी उस बिगड़ी दशा में भी लोग उनकी कृपाकटाक्ष के भिक्षुक थे। उस समय बहुत कम लोगों ने अनुमान किया होगा कि कुछ ही वर्षों में मुग़ल-साम्राज्य तथा मरहटा-साम्राज्य दोनों का अस्तित्व इस देश से मिट जायगा और एक तीसरी शक्ति, जो देश के पूर्व, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम—तीन ओर अपनी शक्ति का विस्तार शीघ्रता के साथ कर रही है, उनका स्थान ग्रहण कर लेगी। दो सौ वर्षों का जीवन व्यतीत करके मुग़ल-साम्राज्य सन् १८०३ में धराशायी हुआ। उसके साथ ही उसका गौरव तथा महत्त्व दोनों का भी लोप होगया। आज वही मरहटे और मुसल्मान मुग़ल-साम्राज्य से भी विस्तृत तथा गौरवपूर्ण साम्राज्य के नागरिक हैं। इस प्रभावशाली तथा महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन की कल्पना उस समय के लोगों को मुश्किल से हुई होगी। वे लोग तो यही समझते थे कि जो कुछ है सो दिल्ली है।

यद्यपि मुग़ल-साम्राज्य का लोप होगया तो भी उसकी राजधानी का महत्त्व लोग भूल न सके। यहाँ तक कि भारत के अँगरेज़ वायसरायों के मन पर भी उसका प्रभाव बना ही रहा। प्रकृति ने उसे वैसा स्थान ही प्रदान कर दिया है जिससे वह साम्राज्य की राजधानी बनने के सर्वथा अनुरूप है और ज़माने से वह अपने इस स्वत्व का उपयोग बराबर करती चली आई है। हमारे ब्रिटिश शासकों में पूर्वी देशों की हवा नहीं लगी है, उन्हें यहाँ के रङ्ग ढङ्ग पसन्द नहीं हैं तो भी दिल्ली की मनोमोहकता के प्रभाव से वे भी न बच सके। सन् १८७७ में लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार करके महारानी के भारत की सम्राज्ञी का पद ग्रहण करने की घोषणा की। वही सन् १९०३ में सम्राट् एडवर्ड के अभिषेकोत्सव के सम्बन्ध में प्रसिद्ध साम्राज्यवादी लार्ड कर्ज़न ने पहले से भी बढ़ कर दरबार किया था। इसके बाद सन् १९११ में स्वयं सम्राट् पञ्चम जार्ज ने भारतीय प्रजा के अनुराग से प्रेरित होकर भारत आने का कष्ट स्वीकार किया और दिल्ली में अभूतपूर्व दरबार करके उसके गौरव की वृद्धि की। यही नहीं उसके बाद इस बात की घोषणा भी की गई कि दिल्ली ही भारत की राजधानी बनाई गई। इस तरह दिल्ली को पुनः अपना गौरवपद प्राप्त हुआ। भगवान् करे वह अपने पद पर सदा इसी तरह विराजमान रहे।*

गिरिजाशङ्कर वाजपेयी

देहात की उन्नति।

इस देश में सौ पीछे नब्बे आदमी देहात में रहते हैं और खेती से गुज़र करते हैं। इन्हीं की मेहनत से शहरवालों का पेट भरता है और इन्हीं के लगान से सरकार का अधिकतर ख़र्च चलता है। परन्तु देहाती मूर्ख हैं। इनमें एकता नहीं, इसलिए बल भी नहीं है। सभी इनको पीसते हैं। वकील आदि पढ़े लिखे लोग, पटवारी

* सङ्कलित।

से लेकर बड़े लाट तक सरकारी कर्मचारी और अँगरेज़ी शासन से सुरक्षित आनन्दमय जीवन भोगनेवाले ज़मीन्दार और ताल्लुक़ेदार—सभी इनकी मूर्खता और निर्बलता से लाभ उठाते हैं। यही नहीं, महामारी देवी तथा रुद्रदेव भी इन पर कृपा करते हैं। जब कभी प्लेग, हैज़ा, इनफ़्लुएंज़ा आदि रोगदेव अपना दौरा करते हैं तब अधिकतर देहातियों से ही उनका पेट भरता है। जब कहीं लड़ाई छिड़ती है तब हज़ारों लाखों की संख्या में इन्हीं की भर्ती होती है। युद्ध-देवता के समक्ष बलि चढ़ते हैं ये लोग, पर उसका प्रसादरूप पदवियाँ, उपाधियाँ तथा सनदें आदि प्राप्त होती हैं इनके स्वतःसिद्ध नेताओं को। जो युद्ध में मरने से बच जाते हैं उनके खेतों पर इज़ाफ़ा किया जाता है। युद्ध-ऋण अदा करने में क्या इन्हें भाग न लेना चाहिए। ख़ैर, अपनी मूर्खता के कारण ये बेचारे क़ायदे से शिकायत करना भी नहीं जानते। लोग समझते हैं कि देहात से बढ़कर स्वास्थ्यकारक, शान्तिमय जीवन कहीं नहीं है। यदि वे प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करें तो उनका यह भ्रम दूर हो जाय। इस समय ग्रामवासियों की अवस्था बहुत ही हीन है।

परन्तु दुखड़ा गाने से कोई विशेष लाभ नहीं। उपाय क्या है? आज-कल इस देश ही में नहीं, संसार भर में असन्तोष की धारा बह रही है। सभी उसके साथ बह रहे हैं। पुराने अत्याचार को स्मरण कराके लोग इस धारा को और भी प्रबल कर रहे हैं। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि यह हम को किधर ले जायगी। जो कुछ कष्ट है पेट का है। आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। जन-संख्या की भी वृद्धि हो रही है। परन्तु पृथ्वी से अन्न की उतनी उपज नहीं है। मनुष्य अपने बुद्धि-बल और मेहनत से उस कमी को अब तक पूरा करते आते थे। परन्तु जब से यह महा-युद्ध हुआ, लोग नाश करने ही में लगे हैं। युद्ध क़ानूनन समाप्त हो गया है, परन्तु अभी नाश करने का सिलसिला जारी है। तमाम योरप में अशान्ति है। एशिया में अशान्ति है और भारतवर्ष भी उससे बचा नहीं है। यहाँ भी असन्तोष बढ़ रहा है।

निस्सन्देह हमारी अनेक शिकायतें हैं। परन्तु क्या शिकायतें आन्दोलन करने से ही दूर हो जायँगी! हम मानते हैं कि बिना रोये बच्चे को मा भी दूध नहीं देती, परन्तु यह उक्ति पुराने समय की प्रजा के लिए चरितार्थ हो सकती थी। भविष्य में प्रजासत्ताक राज्य संसार भर में स्थापित हो जायगा। प्रजा की शिक़ायतों की दवा प्रजा ही के हाथ में है। स्वावलम्बन ही की आवश्यकता है। हमें चाहिए कि हम आन्दोलन की मात्रा को कम करें, भूमि की उपजाऊ शक्ति को बढ़ावें। शान्ति स्थापित कर हम अपनी उन्नति के लिए सचेष्ट हों। बुद्धि-बल और मेहनत से देश का दुःख-दरिद्र अवश्य दूर होगा।

सबसे पहले हम देहात ही की ओर झुकें, क्योंकि इस देश में इसी की उन्नति से भारत की उन्नति है। व्यवसाय चाहे जितने बढ़ें, परन्तु रहेगा यह देश कृषि-प्रधान ही। इसलिए शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में देहात की प्रारम्भिक शिक्षा, व्यवसाय में खेती की उन्नति, तन्दुरुस्ती के लिए देहात की सफ़ाई और सङ्गठन के लिए देहाती पंचायतों और सहयोग-समितियों का प्रचार—यही बातें देहात की उन्नति के सम्बन्ध में हमारे लिए सर्वोपरि महत्त्व की हैं।

देहात में शिक्षा की यों ही बहुत कमी है। जो कुछ है भी वह देहातियों के मतलब की नहीं। वह सिर्फ़ पटवारी और स्कूल के मुदर्रिस तैयार करती है और उसमें अधिकांश उन्हीं देहातियों के बालक पढ़ते हैं जिनके घर में काफ़ी रुपया है या जिनकी केवल खेती ही से गुज़र-बसर नहीं होती। सामान्य खेतिहर अपने बालकों को इन मदरसों

तक फटकने नहीं देते, क्योंकि एक तो उनमें पढ़ाने से उनकी खेती में हर्ज होता है और दूसरे उनमें पढ़नेवाले युवक खेती के काम के नहीं रहते। जेठ की कड़ी धूप में थोड़ी भी देर तक खड़े रहने पर उनके सिर में दर्द होने लगता है।

देहात में शिक्षा का प्रधान उद्देश यह होना चाहिए कि वह खेतिहरों के बालकों के लिए उपयोगी हो। आज-कल देहाती मदरसों में पढ़ने का जो समय नियत है और उनमें लड़कों को जो छुट्टियाँ मिलती हैं वे किसानों के किसी काम की नहीं। उनके लिए जैसा इतवार वैसा सोमवार, उन्हें जून की गर्मी नहीं सताती। उनके लिए दस बजे से चार बजे तक स्कूल लगना हानिकारक ही है। उनके लिए न अँगरेज़ी छुट्टियों की आवश्यकता है न अँगरेज़ी दफ़्तरों के समय की। छुट्टी उनके बालकों को तब मिले जब किसानों को उनकी सहायता की आवश्यकता हो। मई जून में किसान स्वयं बेकार रहते हैं। इस बेकारी में या तो वे मुक़द्दमेबाज़ी करके पुरानी अदावतें निकालते हैं, या विवाह इत्यादि में ज़मीन्दार और बनिये से बची हुई रक़म फूँक कर भविष्य के लिए फिर ऋण की बेड़ियाँ पहन लेते हैं। इस समय को काम में लाने की आवश्यकता है। अतएव हमारा प्रस्ताव यह है कि देहाती बालकों की अधिकांश पढ़ाई इन्हीं दिनों में होनी चाहिए। अगस्त, सितम्बर, दिसम्बर और जनवरी इन महीनों में भी यदि सिँचाई या निकाई का काम न हो तो लड़कों को पढ़ने का समय मिल सकता है। प्रति दिन पढ़ने का समय साधारणतः देहातियों के लिए प्रातःकाल से दोपहर तक ही ठीक है। परन्तु उन्हें किसी नियम से जकड़ना ठीक नहीं है। प्रत्येक गाँव को अपने यहाँ के मदरसे के लिए छुट्टियाँ और प्रति दिन की पढ़ाई का समय निश्चित करने का अधिकार मिलना चाहिए। साल में कितने दिन की छुट्टियाँ मिलनी चाहिए तथा पाठ्य विषयों में कितनी योग्यता प्राप्त होनी चाहिए इसके निश्चय का अधिकार शिक्षा-विभाग ही के हाथों में रहे। आज-कल निरीक्षण का कार्य सरकार की तरफ़ से होता है। यह निरीक्षण कम कर दिया जाय और इसका कुछ भार गाँव पर रहे। इस परिवर्तन से विशेष लाभ की सम्भावना है।

पाठ्य विषयों में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। शिक्षा का यह उद्देश हो कि खेतिहर इतना पढ़ लिख जाय कि वे ज़िलेदारों, पटवारियों, और चौकीदारों के जाल से बच सकें। सरल भाषा में लिखी हुई अपने व्यवसाय की पुस्तकें पढ़ सकें। उनकी पाठ्य पुस्तकों में कहानी आदि द्वारा साफ़ तौर से उनको खेती तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी मोटा सिद्धान्त बता देना चाहिए। उदाहरणतः जोड़ बाक़ी सिखाने में उनके लिए पाउण्ड, शिलिङ्ग, पेन्स या टन, हन्ड्रेडवेट, और क्वार्टर की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए रुपये, आने, पाई; मन, सेर, छटाँक; और बीघा, बिस्वा, बिस्वान्सी ही का ज्ञान बहुत है। तात्पर्य यह है कि इन मदरसों से निकल कर वे योग्य और सच्चे कृषक बन सकें।

शिक्षा तो उन्नति का मूल है ही। परन्तु जब तक शिक्षा का प्रचार न हो तब तक हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहना भी ठीक नहीं है। इस समय देहात में सफ़ाई न होने के कारण देहातियों का स्वास्थ्य दिन प्रति दिन बिगड़ता जा रहा है। किसी भी बीमारी से वे नहीं बचते। यहाँ तक कि अब गाँवों में यक्ष्मा-रोग का भी धावा होने लगा है। इस पर तुर्रा यह कि सफ़ाई न होने के कारण खेती को भी नुक़सान पहुँच रहा है। खेतिहरों को जूड़ी-बुख़ार का शिकार महीनों तक बने रहने के कारण खेती को जो हानि पहुँचती है वह प्रत्यक्ष ही है। उनकी रुग्णावस्था से परोक्षरूप में भी हानि पहुँचती है, खेतों को खाद तक ठीक नहीं मिलती। गाँव का मल-मूत्र वहीं का वहीं पड़ा रहने से और भी हानि

पहुँचाता है। उससे रत्ती भर का लाभ नहीं होता। कच्चे घरों में कच्ची नालियाँ हैं। जो कुछ घर से मल-मूत्र निकलता है सब ज़मीन ही में सूख जाता है, या घर के बाहर निकल कर कच्ची गली में सड़ा करता है। जो कुछ गोबर या कूड़ा-करकट होता है उसका ढेर मकानों के पास ही, तालाब या कुएँ के किनारे लगा दिया जाता है। यहाँ वह गर्मी की धूप खाता है और बरसात का पानी पीता है। जब वह अच्छी तरह जल और वायु को अशुद्ध कर चुकता है, जब वह पौधों के लिए भी कूड़ा ही रह जाता है, तब खेतिहर उसको खाद समझ कर खेत में छोड़ते हैं। देहाती इसी तरह खाद को भी बरबाद कर डालते हैं। नतीजा यह होता है कि प्रत्येक अच्छे बसे हुए गाँव के चारों ओर का वायु-मण्डल सदा दुर्गन्धिपूर्ण बना रहता है, और उस मल से खेती को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता क्योंकि वह भी धूप में सूख कर और पानी में घुल कर बेकार हो जाता है।

अब कुछ गाँवों में सरकार ने म्यूनीसिपेल्टियाँ क़ायम कर दी हैं। परन्तु जब तक उनके कर्मचारी और सदस्य देहात की सफ़ाई के सिद्धान्त न समझेंगे तब तक उनसे कुछ भी लाभ न होगा। उलटा ग़रीबों पर टेक्स ही का बोझ लदेगा। बात यह है कि ये नवीन म्यूनीसिपेल्टियाँ शहर का पाठ यहाँ भी पढ़ती हैं। शहर में पक्की गलियाँ और नालियाँ हैं, इसलिए यहाँ भी हों। शहर में सड़कें चौड़ी की जा रही हैं, नये बाग़ बन रहे हैं। इसलिए यहाँ भी गलियाँ चौड़ी की जायँ और बाग़ बनें; मानों गाँव में भी पक्की आलीशान इमारतें बनी हुई हैं और कृत्रिम बाग़ों की हवा खुले खेतों से अधिक शुद्ध होती है। फलतः एक बरसात के बाद पक्की नालियों और गलियों पर एक फुट मिट्टी जम जाती है और एक ही वर्ष में खेत और बाग़ एक हो जाते हैं।

गाँव की सफ़ाई के लिए दूसरे ही सिद्धान्तों का अनुसरण करने की आवश्यकता है। सफ़ाई का उद्देश स्वास्थ्य ही नहीं, अच्छी खाद तैयार करना भी, होना चाहिए। कच्चे घरों के लिए पक्की नालियाँ बेकार हैं। परन्तु यह हो सकता है कि प्रत्येक घर को गाँव की ओर से पक्के कूँड़े मिलें। एक में सूखा कूड़ा जमा किया जाय और दूसरे में द्रव मल-मूत्र। सप्ताह में कम से कम एक बार वह कूड़ा उठा लिया जाय और गाँव के बाहर, तालाब तथा कुँए से हट कर, तृण-मण्डित गढ़ों में जमा किया जाय। गढ़े एक से, अधिक जितने आवश्यक हों बनाये जा सकते हैं। जिस गढ़े की खाद तैयार हो जाय वह गाँव के नियमानुसार खेतिहरों के हाथ बेच दी जाय। इससे गाँव की म्यूनीसिपेल्टी का बहुत कुछ ख़र्च निकल आवेगा, गाँव साफ़ रहेगा और किसानों को अच्छी खाद भी मिल सकेगी।

खाद का बहुत कुछ मसाला जला कर नष्ट कर दिया जाता है। गोबर के कंडे बना कर जला दिये जाते हैं, पेड़ों से गिरी हुई पत्तियों को उनके नीचे ही जला देते हैं। राख भी खाद का काम दे सकती है; परन्तु गोबर और पत्तियों की खाद राख से कहीं अधिक पौधों के लिए उपयोगी होती है। यह नियम भी होना चाहिए कि यथासम्भव देहात में लकड़ी ही जलाई जाय। गोबर और पत्तियाँ खाद के काम में आवें। ये चीज़ें भी गढ़ों में जमा की जायँ और उसी तरह बाँटी जायँ।

कच्चे घरों के अन्दर पाख़ाने बनाना ठीक नहीं। देहातियों को मल त्याग करने के लिए गाँव के बाहर ही जाना अच्छा है। परन्तु प्रचलित प्रथा गन्दी होने के साथ ही साथ असभ्यता-सूचक भी है। इसलिए गाँव के बाहर टट्टी बनाने का प्रबन्ध होना चाहिए। कठिनाई वहीं होने की सम्भावना जहाँ काफ़ी डोम नहीं मिल सकेंगे।

शुद्ध जल रखना गाँव की सफ़ाई-विषयक दूसरा प्रश्न है, परन्तु यदि मल-मूत्र के हटाने का अच्छा प्रबन्ध हो सके तो जल शुद्ध रखना कुछ भी कठिन नहीं। कुओं की जगत ऊँची रक्खी जाय। और जल भरने के लिए एक ही डोल इस्तेमाल किया जाय। यह नहीं कि जो चाहे अपना बर्तन-साफ़ हो या गन्दा-कुएँ में डुबो दे। जहाँ तालाब हों वहाँ एक का पानी सिर्फ़ पीने के काम में लाया जाय। जूड़ी बुखार से देहातियों को बचाना अधिक कठिन है। यह काम सरकार ही द्वारा हो सकता है। परन्तु देहाती भी अपनी तरफ़ से उसके ज़ोर को कम करने की कोशिश कर सकते हैं। तालाब और गढ़े अधिक न हों। गहरे हों, चौड़े न हों। यदि अधिक हों तो पाटने के बनिस्बत उनको एक दूसरे से मिला कर दो या तीन छोटे परन्तु गहरे तालाब बना देना अधिक उपयोगी है। इससे मलेरिया के मच्छड़ों को जगह कम मिलेगी और बरसात का पानी भी जल्द नहीं सूखेगा।

यदि कृषक शिक्षित हों, उन्हें शुद्ध जल-वायु मिले, और उनका स्वास्थ्य ठीक रहे तो इतने ही से बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। परन्तु कुछ बाधाएँ ऐसी आ पड़ती हैं जिनको कृषक अपने ही प्रयत्न से दूर नहीं कर सकते। उनमें से एक तो यह है कि आज-कल किसानों का उनके खेत बिखरे होने के कारण, बहुत कुछ समय और रुपया नष्ट होता है। इन खेतों का एकीकरण करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत मेहताजी ने प्रतापगढ़ में जो कर दिखाया है वह प्रशंसनीय ही नहीं, अनुकरणीय है; और यदि हो सके तो क़ानूनन अनिवार्य करने योग्य है। एकीकरण करने में पहले कुछ असुविधाएँ कृषकों और उनके ज़मीन्दारों को झेलनी पड़ेंगी। परन्तु भावी लाभ के सामने वे कुछ भी नहीं हैं। दूसरी कठिनाई इज़ाफ़े और बेदख़ली की है। हम यह नहीं चाहते कि ज़मीन्दार इज़ाफ़ा न कर सकें। परन्तु यह देखते हुए कि ज़मीन्दारों ने अभी तक अपनी ज़मीन की उन्नति के लिए बहुत ही कम प्रयत्न किया है, यह अवश्य क़ानूनन तय हो जाना चाहिए कि काश्तकार बिना अपने ज़मीन्दार की आज्ञा के भी अपने खेत में उन्नति के कार्य कर सके; खेत के चारों तरफ़ झाड़ियाँ लगा कर घेर सके; कुआँ तथा मकान बना सके, अच्छी खाद तथा बीज से खेत की उपज बढ़ा सके। ज़मीन्दार सिर्फ़ अनाज के महँगे होने पर इज़ाफ़ा कर सके, बेदख़ल न कर सके, यदि करना चाहे तो जो कुछ काश्तकार ने उन्नति की है और जो कुछ बेदख़ल होने से उसको हानि पहुँचे—इन दोनों का अन्दाज़ा लगा कर एक मुश्त रक़म अपने काश्तकार को चुका दे तब ऐसा कर सके। अभी तो यह हालत है कि ज़मीन्दार महाशय को मोटर के ख़र्च और साहबों की दावत से रुपया ही नहीं बचता, खेती की उन्नति क्या करें। यदि किसान समझदार हुआ तो वह इस डर से कोई उन्नति नहीं करता कि उसका फल तो उसको मिलेगा ही नहीं।

विचार तो हो चुका। काम कौन करे? सरकार करे? ज़मीन्दार करें? या काश्तकार करें। उत्तम यह है कि सब करें। सरकार सिर्फ़ यह कर सकती है कि उन्नति के मार्ग में जो बाधायें हैं उन्हें हटा दे। एकीकरण के लिए क़ानून बना दे, रेन्ट ऐक्ट की तरमीम कर दे, सहयोग-समितियों के लिए एक नया विभाग क़ायम कर दे। शिक्षा के लिए काफ़ी रक़म की मंज़ूरी दे दे। पञ्चायतों को स्थापित करने के लिए कलेक्टरों को हिदायत कर दे। बस, इसके आगे ज़मीन्दारों और काश्तकारों का काम है कि वे सरकारी क़ानूनों से लाभ उठावें और आपस के वैमनस्य को तिलाञ्जलि देकर देहात की उन्नति में एक दूसरे का हाथ बटावें। यदि इस कार्य-क्षेत्र में काश्तकारों के सच्चे

नेता कोई हो सकते हैं तो ज़मीन्दार ही। अभी उन में शिक्षा की कमी है। उन्हें अपने हानि-लाभ का ज्ञान नहीं। वे समझते हैं कि इज़ाफ़ा करके ही उनको लाभ पहुँच सकता है, उनकी आमदनी बढ़ सकती है। परन्तु आमदनी बढ़ाने का दूसरा ही मार्ग है जिसमें उनका लाभ है और उनके काश्तकारों का भी।

इस मार्ग के लिए सङ्गठन की आवश्यकता है। अकेले न काश्तकार कुछ कर सकते हैं, न ज़मींदार। दोनों के एक साथ मिल कर काम करने की ज़रूरत है। किसानों ने अपनी तरफ़ से अभी तक कोई प्रयत्न नहीं किया है। योरप में सहयोग-समितियों की सफलता देख कर सरकार ने यहाँ भी उनका प्रचार करने का निश्चय किया। जर्मनी में सहयोग-समितियों ने सरकारी विरोध होने पर भी उन्नति की। यहाँ सरकारी अफ़सरों के हज़ार प्रयत्न करने पर भी सहयोग देहाती बैंकों के आगे न बढ़ सका। सहयोग के लाभ किसान कुछ समझते ही नहीं। यहाँ सरकारी कोशिश है और जनता का विरोध। बनियों का विरोध तो कुछ समझ में आ सकता है। ज़मीन्दारों और काश्तकारों ने इसमें जोश से काम नहीं किया। नतीजा यह हुआ है कि बहुत कम ऐसे देहाती बैंक हैं जो अच्छी हालत में हों और जिनसे देहातियों को विशेष लाभ पहुँचा हो।

दूसरे मेल का सङ्गठन कुछ समय से प्रारम्भ हुआ है। उसमें दूसरों का हाथ है। जगह जगह किसान-सभाएँ क़ायम हो रही हैं। यह हम मानते हैं कि उनका ज़मीन्दारों की नीति के प्रति असन्तोष प्रकट करना और लगान-सम्बन्धी क़ानून की तरमीम के लिए आन्दोलन करना एक कर्तव्य है। परन्तु यहीं पर रुक जाना ठीक नहीं है। खेती, शिक्षा, तथा देहाती स्वास्थ्य की ओर उनका बिलकुल ध्यान ही नहीं है। यदि ये किसान-सभाएँ और उनके नेता देहात की उन्नति की ओर ध्यान दें तभी उनका होना सार्थक है।

हम किसान-सभाओं के विरोधी नहीं हैं, और हम विरोध करें भी तो वृथा है। जो नवजीवन की धारा हिमालय से रासकुमारी तक और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक अनेक रूपों में जातीय समुद्र की ओर बह रही है उसे कौन रोक सकता है? जो सच्चे देशसेवक हैं वे जगह जगह बाँध बना कर और नहरें खोद कर उसको संहारकर्म से रोक सकते हैं। किसान-सभाएँ दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ें, सङ्गठित किसान यदि चाहें तो वे सरकारी तथा ज़मीन्दारी, अत्याचार को ही नहीं बन्द कर सकते, किन्तु वे सहयोग-समितियों के शुष्क पौधों को सींच सकते हैं और भावी पञ्चायतों में जीवन डाल सकते हैं। सहयोग-समितियों से कृषि-व्यवसाय की जो उन्नति हो सकती है उसका उल्लेख करने के लिए इस लेख में स्थान नहीं है। यहाँ इतना ही कहना बहुत होगा कि क़र्ज़ देना ही इनका काम नहीं है। ये कृषि-सम्बन्धी कामों में ही किसानों को लाभ नहीं पहुँचा सकतीं बरन् ये उनके उन व्यवसायों में भी सहायता दे सकती हैं जिनको किसान अपने अवकाश के समय कर सकें। जानवर पालना, सूत कातना, या कपड़ा बुनना—इन सब कामों में क्रमशः यह समितियाँ किसानों को सहायता दे सकती हैं। आवश्यकता है, सिर्फ़ प्रचार की।

पञ्चायतों के लिए जो क़ानून बना है वह दोषरहित नहीं है। पञ्चों को चुनने का अधिकार सरकारी अफ़सरों के हाथों में होगा। यदि प्रारम्भ ही से गाँववालों को पञ्च चुनने का अधिकार मिलता तो अधिक अच्छा होता, परन्तु तो भी यह किसान-सभाओं का कर्तव्य है कि वे अपने गाँवों में पञ्चायतें क़ायम करने के लिए दरख़्वास्तें दें। अभी इनके अधिकार बहुत नहीं हैं।

छोटे झगड़े फ़ैसल करना, सफ़ाई और मदरसों की देख-भाल—यही अधिकार इनको मिले हैं। परन्तु कार्य प्रारम्भ करने के लिए यही बहुत हैं। सहयोग-समितियाँ कृषकों की व्यावसायिक उन्नति के लिए और पञ्चायतें उनकी शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए एक दूसरे का साथ दें। किसान अपने पैरों के बल खड़े होना सीखें। परन्तु ज़मीन्दारों को बिना सम्मिलित किये हुए उन्हें जल्दी सफलता नहीं मिल सकती। चाहिए तो यही कि ज़मीन्दार ही इस ओर ध्यान देकर किसानों के सच्चे नेता बनें। यदि मूर्खता के अन्धकार में पड़े रह कर वे अभी तक यह नहीं कर सके हैं, तो जो इस समय किसानों के नेता हैं वही दोनों को एक साथ मिल कर काम करना सिखावें।

देहात की उन्नति में कोई विवादमय समस्या है ही नहीं। इसमें दलबन्दी की कोई आवश्यकता ही नहीं। राजनीति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिए सभी एक दूसरे का हाथ बँटा सकते हैं, इस पवित्र क्षेत्र में किसान और ज़मीन्दार, सरकारी अफ़सर और ग़ैर सरकारी नेता, नरम दल, और गरम दल, सहयोगी और असहयोगी, सभी एक साथ मिल कर काम कर सकते हैं। इस देश के लिए यही स्वराज्य की प्रथम सीढ़ी है और यही उसका अन्तिम आदर्श है।

कालिदास कपूर

सन् १९२१ की मनुष्य-गणना।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से सूचित होता है कि इस देश में चन्द्रगुप्त के समय में भी मनुष्य-गणना होती थी। परन्तु वह ज़माना और तरह का था; आज-कल का ज़माना और तरह का। प्राचीन काल में मनुष्यों की संख्या स्थूल रूप से मालूम कर ली जाती रही होगी; उससे वे सब बातें न मालूम की जाती होंगी जो आज-कल मालूम की जाती हैं। मनुष्य-गणना-सम्बन्धी जो नक़शे आज-कल तैयार किये जाते हैं उनकी ख़ानापुरी सही सही करने से प्रत्येक सूबे, नगर और क़सबे की ही मनुष्य-संख्या नहीं ज्ञात हो जाती, किन्तु छोटे छोटे गाँवों की भी मनुष्य-संख्या मालूम हो जाती है। कितने नर और कितनी नारियाँ कहाँ रहती हैं, उनकी उम्र क्या है, उनका पेशा क्या है, वे अशिक्षित हैं या शिक्षित, शिक्षित हैं तो किस विषय की शिक्षा उन्होंने पाई है, भाषायें और लिपियाँ कौन कौन सी वे जानते हैं—इत्यादि अनेक ज्ञातव्य बातें मनुष्य-गणना के नक़शों से ज्ञात हो जाती हैं। इन नक़शों के अध्ययन से देश की वास्तविक दशा का चित्र आँखों के सामने आजाता है। ये नक़शे आईने का काम देते हैं। पिछली मनुष्य-गणना से मनुष्य-संख्या में वृद्धि हुई या ह्रास, यह तो मालूम ही हो जाता है; ह्रास और वृद्धि के कारणों पर विचार करने के लिए भी सामग्री मिल जाती है। उससे ह्रास के कारणों को दूर करने के उपाय भी निकाले जा सकते हैं। ये सब बातें बड़े लाभ की हैं राजपुरुषों और राजकर्म्मचारियों के लिए मनुष्य-गणना का फल जानना और उससे लाभ उठाना तो अनिवार्य्य ही सा है। सर्व-साधारण को भी उससे जानकारी प्राप्त करना चाहिए। जो लोग देश-हित-चिन्तक हैं—जो लोग प्रजा के नायक बन कर उसकी भलाई करने के व्रत के व्रती हैं—वे चाहें तो मनुष्य-गणना के आधार पर बहुत कुछ देश-हित कर सकते हैं।

मनुष्य-गणना के महत्त्व के कारण ही अँगरेज़ी गवर्नमेंट हर दसवें साल भारत में रहनेवाले मनुष्यों की गिनती करके उनकी वृद्धि या ह्रास का पता लगाती है। फिर वह उनके आधार पर बड़ी बड़ी रिपोर्टें तैयार करके भिन्न भिन्न बातों पर विचार करती है। उनको देखने से देश की दशा का सच्चा हाल मालूम हो जाता है। इन रिपोर्टों के अनेक अंशों को सरकारी कर्म्मचारी जिस दृष्टि से देखते हैं, प्रजा के प्रतिनिधि उस दृष्टि से नहीं देखते। इन दोनों पक्षों की दृष्टियों में भिन्नता रहती है। एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि १९११

की अपेक्षा १९२१ की गणना से यह मालूम हुआ कि संयुक्त-प्रान्तों की आबादी में १३ लाख आदमियों की कमी हो गई। इस कमी का कारण बताते हुए सरकारी रिपोर्ट का लेखक बहुत होगा तो यही कहेगा कि अकाल (अवर्षण) या किसी रोग-विशेष के कारण बहुत नर-नाश हुआ—जितने बच्चे उत्पन्न हुए उनकी अपेक्षा मरे अधिक मनुष्य। इसी से आबादी कम हो गई। पर प्रजा के प्रतिनिधि यदि इस घटना की आलोचना करेंगे तो ह्रास के कारणों पर विचार करते समय सरकार को उसके कर्तव्य की भी याद दिलाये बिना न रहेंगे। वे कहेंगे—जिस प्रजा के आप माँ-बाप बनते हैं और जिससे प्राप्त हुए रुपये की बदौलत बड़े बड़े राजकर्म्मचारी गुलछर्रे उड़ाते हैं उसके हित के लिए आपने अपने धर्म्म का पूर्ण पालन क्यों नहीं किया। जिन मारक रोगों के कारण इतना जन-नाश हुआ उन्हें दूर करने के लिए आपने उपाय क्यों नहीं किये? और किये भी तो काफ़ी क्यों नहीं किये? मारक रोगों का आविर्भाव क्या अन्य देशों में नहीं होता? वहाँ इतने मनुष्य क्यों नहीं मरते? इसी लिए न कि वहाँ की सरकार सफ़ाई और तन्दुरुस्ती का अधिक ख़याल रखती है, चिकित्सा का प्रबन्ध अधिक अच्छा करती है, मनुष्य-संख्या के अनुसार ही दवाख़ाने क़ायम करती और उन्हें बढ़ाती रहती है? आपने ये सब काम यथेष्ट नहीं किये। इसी से इतने अधिक आदमी मर गये। अतएव इस व्यर्थ नर-नाश के उत्तरदाता आपही हैं। अस्तु।

पिछली मनुष्य-गणना १८ मार्च १९२१ को हुई थी। उसकी आलोचनात्मक पूरी रिपोर्ट निकलने में तो बरसों की देरी है। पर कच्चा चिट्ठा तैयार होगया है और सरकार की कृपा से गैज़ट आव् इंडिया में छप भी गया है। उससे मालूम हुआ कि जिस दिन—दिन क्यों रात को—आदमियों की गिनती हुई थी उस दिन इस देश की आबादी ३१, ९०, ७५, १३२ थी। अर्थात्

अँगरेज़ी शासन के अधीन भारत में २४,७१,३८,३९६

और

देशी राज्यों और रियासतों में ७,१९,३६,७३६ मनुष्य थे। दस वर्ष पहले, १९११ में, जब मनुष्य-गणना हुई थी तब

गवर्नमेंट-शासित भारत की आबादी थी २४,३९,३३,१७८

और

देशी राज्यों की थी ७,१२,२३,२१८

कुल भारत की ३१,५१,५६,३९६

अर्थात् पिछले दस साल में केवल ३९ लाख आदमियों की वृद्धि हुई। इसका औसत पड़ा फ़ी सदी १·२ अर्थात् सैकड़े पीछे सवा आदमी से भी कम वृद्धि हुई। पर १९११ ईसवी में जब मनुष्य-गणना हुई थी तब १९०१ और १९११ के बीच २ करोड़ से भी अधिक आबादी बढ़ी थी। उस वृद्धि का औसत पड़ा था फ़ी सदी ६.५। कहाँ सैकड़े पीछे ६½, कहाँ एक या सवा! सो पिछले क्रम के अनुसार आबादी का बढ़ना तो दूर रहा, फ़ी सदी ५ से भी अधिक वह कम हो गई—कोई डेढ़ करोड़ से भी अधिक आदमी हिसाब से ज़ियादह मर मिटे। वृद्धि का जो औसत १९११ की मनुष्य-गणना में पड़ा था वही यदि इस बार भी पड़ता तो कई करोड़ आबादी और बढ़ जाती। पर यहाँ तो घर के धान भी पयाल में चले गये। पिछली वृद्धि से इस दफ़े, १० साल में, अधिक वृद्धि होनी चाहिए थी; सो न होकर उस पिछली वृद्धि का भी औसत घट गया! इसे इस देश का दुर्भाग्य कहें या उस गवर्नमेंट का दुर्भाग्य जो अपने को संसार में सभ्यशिरोमणि समझती है और मौके बेमौके सदा ही कहा करती है कि उसे भारत के अशिक्षित, अधभुखे या मरभुखे मनुष्यों के सुख-दुख का ख़याल और सबसे अधिक है।

आबादी में इतनी कमी कैसे हुई, इसके कारण सुनिए। सरकार फ़रमाती है कि—

पिछले दस साल के मध्य तक फ़सल अच्छी हुई। बारिश भी ख़ासी हुई। कोई रोग-दोख भी वैसे नहीं हुए। अतएव प्रजा-वृद्धि के प्रायः सभी सामान काफ़ी थे। उसी से १९१३ ईसवी में ख़ूब बच्चे पैदा हुए और मृत्यु-संख्या भी कम ही रही। पर १९१८ में इनफ़्लुएंज़ा ने ग़ज़ब ढा दिया। मृत्यु-संख्या पिछले साल से दूनी होगई। १९१८ के कुछ ही महीनों में सिर्फ़ ब्रिटिश गवर्नमेंट के शासित प्रदेशों में

७०लाख आदमियों के लिए लोगों को "राम-नाम सत्य है"—इस वाक्य का उच्चारण करना पड़ा। इस मारक रोग के कारण प्रजा की जनन-शक्ति भी कम हो गई। फल यह हुआ कि १९१८ और १९१९ में जितने आदमी मरे उससे बहुत कम पैदा हुए। १९१७ और १९१८ में प्लेग ने भी बहुत कुछ जन-नाश किया। हैज़े ने भी बहुतों को यमपुरी को पधराया। दाद में खाज यह हुई कि पिछले वर्षों में जहाँ तहाँ अवर्षण ने भी भारत पर भारी कृपा की। इसी से भारत की मनुष्य-संख्या बढ़ने के बदले बहुत कुछ घट गई। इसे जी चाहे दैवदुर्विपाक समझिए; जी चाहे भारत का दुर्भाग्य। जगन्नियन्ता को यही मंजूर था। प्लेग, इनफ़्लुएंज़ा और अवर्षण दैवी-दुर्घटनायें हैं। उन्हें दूर करना मनुष्य के वश की बात नहीं।

सरकार ने ये पिछली बातें यद्यपि खुले शब्दों में नहीं कहीं, तथापि उसके लिखने के ढङ्ग से यही जान पड़ता है कि मारक रोगों और अवर्षणों की मार से प्रजा की यथेष्ट रक्षा कर सकना उसकी शक्ति के बाहर की बात है।

अच्छा तो ये दैवोपघात, दुर्घटनायें और रोग-दोख आदिक व्याधियाँ और देशों को भी सताती हैं या नहीं? इनका अवतार या आविष्कार केवल भारत ही के लिए तो है नहीं। और देशों में भी पानी नहीं बरसता। वहाँ भी प्लेग, हैज़ा, बुख़ार, इनफ़्लुएंज़ा आदि रोग प्रजापीड़न करते हैं। फिर क्या कारण है जो वहाँ के लोग ख़ूब फूल फल रहे हैं; ख़ूब बढ़ रहे हैं; ख़ूब अपनी उन्नति कर रहे हैं? अँगरेज़ों ही के देश इँगलेंड और वेल्स में, १९११ ईसवी में, जन-संख्या की वृद्धि लगभग ११ फ़ी सदी के हिसाब से हुई थी। वृद्धि का यह क्रम बहुत कम था—१८४१ ईसवी से लेकर १९११ तक इतनी कम वृद्धि कभी न हुई थी। तथापि भारत की फ़ी सदी ६-५ वृद्धि से वह भी कुछ कम दूनी थी! यदि ये सब व्याधियाँ ईश्वर-निर्म्मित मान ली जायँ तो इँगलेंड और भारत के ईश्वर अलग अलग दो तो हैं ही नहीं। वहीं ईश्वर वहाँ है, वही यहाँ। भारत में सब प्रकार की खाद्य-सामग्री उत्पन्न होती या हो सकती है। खनिज पदार्थ भी यहाँ अधिकता से पाये जाते हैं। नदियाँ भी अनेक हैं। अधिवासी यहाँ के परिश्रमी और समझदार हैं। फिर क्या कारण कि यहीं के लोग मरें तो अधिक, पर पैदा हों कम। बात यह जान पड़ती है कि गवर्नमेंट प्रजा की रक्षा करने, उसके लिए तन्दुरुस्ती क़ायम रखने के यथेष्ट साधन प्रस्तुत करने, और अवर्षण के साथ आबपाशी के कृत्रिम द्वार खोलने का काफ़ी प्रयत्न नहीं करती। जहाँ दस दस पन्द्रह पन्द्रह कोस तक एक भी सरकारी शफ़ाख़ाना नहीं वहाँ हैज़ा या इनफ़्लुएंज़ा फैल जाने पर लोग यदि धड़ाधड़ मरते चले जायँ तो क्या आश्चर्य्य। यह दशा और देशों में नहीं। इसी से पूर्व-निर्दिष्ट कारण या व्याधियाँ उपस्थित होने पर भी वहाँ इतना नर-नाश नहीं होता। वहाँ २४ घंटे में सबके पेट कम से कम २ दफ़े—अधिकांश के ३ दफ़े—भर जाते हैं। यहाँ, भारत में, करोड़ों आदमियों को दिन में एक दफ़े भी पेट भर खाने को नहीं मिलता। इससे वे अशक्त रहते हैं; रोग के साधारण धक्के से भी मर जाते हैं; प्रजोत्पादन की शक्ति भी वे कम रखते हैं। राजा का कर्तव्य है कि वह इन कारणों को दूर करने का यथेष्ट यत्न करे। क्योंकि अपनी रक्षा ही के लिए प्रजा उसे कर देती है। उसके दिये हुए कर-धन का अधिकांश फ़ौज-फाटा रखने और रेलें बनाने में ही ख़र्च कर डालना, राजा का प्रधान कर्तव्य नहीं। प्रधान कर्तव्य उसका है प्रजा को नीरोग रखना, बीमार पड़ने पर उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध करना, पानी न बरसने पर सिँचाई के साधन प्रस्तुत करना, भूखों को पेट पालने के द्वार उन्मुक्त करना और अशिक्षितों को शिक्षा देना। यदि ये सब बातें होतीं तो भारत की आबादी बहुत बढ़ जाती, रोगों से इतना मनुष्य-नाश न होता, और यहाँ के निवासी भी और देशों की तरह ख़ुशहाल होते।

इस दफ़े की मनुष्य-गणना से मालूम हुआ कि ३१,९०,७५,१३२ मनुष्यों में १६,४०,५६,१९१ तो पुरुष-जाति के हैं और बाक़ी १५,५०,१८,९४१ स्त्री-जाति के। अर्थात् पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं। सूबे बिहार और मदरास को छोड़ कर और सभी प्रान्तों का यही हाल है। इन दो प्रान्तों में तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक हैं; अन्यत्र सब कहीं कम। यह कमी विचार करने योग्य है। सारे देश में प्रायः १ करोड़ स्त्रियाँ कम हैं। स्त्रियों की संख्या में

विशेष कमी हो जाने से फ़िजी-टापू की तरह कितना अनिष्ट हो सकता है और कितने अपराध और पाप हो सकते हैं, यह कौन नहीं जानता। किसी किसी प्रान्त में यह विषमता बहुत ही बढ़ गई है। उदाहरण के लिए पञ्जाब को लीजिए। वहाँ पुरुषों की अपेक्षा २० लाख के भी ऊपर स्त्रियाँ कम हैं। यह विषमता भावी अनिष्ट की सूचक है। देखिए, गवर्नमेंट अपनी रिपोर्ट में इस ह्रास या कमी का क्या कारण बताती है।

नीचे हम प्रत्येक प्रान्त की जन-संख्या देते हैं और यह भी बताते हैं कि आबादी में कितना ह्रास या कितनी वृद्धि हुई है—

प्रान्त	जन-संख्या	वृद्धि + ह्रास— } फ़ी सदी
१—अजमेर-मेरवारा	४,९५,८९९	— १·१
२—अंडमन और नीकोबार	२६,८३३	+ १·४
३—आसाम	७५,९८,८६१	+१३·२
४—बलूचिस्तान	४,२१,६७९	+ १·८
५—बङ्गाल	४,६६,५३,१७७	+ २·६
६—विहार और उड़ीसा	३,३९,९८,७७८	— १·४
७—बम्बई	१,९३,३८,५८६	— १·८
८—ब्रह्मदेश	१,३२,०५,५६४	+ ९·०
९—मध्यप्रदेश और बरार	१,३९,०८,५१४	— ·१
१०—कुर्ग	१,६४,४५९	— ६·०
११— देहली	४,८६, ७४१	+१७·७
१२—मदरास	४,२३,२२,२७०	+ २·२
१३—पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त	२२, ४७, ६९६	+ २·३
१४—पञ्जाब	२,०६,७८,३९३	+ ५·६
१५—संयुक्त-प्रान्त	४,५५,९०,९४६	—२·६

अकेले बङ्गाल को छोड़ कर अपने प्रान्त की आबादी और सभी प्रान्तों से अधिक है। पर बङ्गाल में तो २५ फ़ी सदी के क़रीब जन-संख्या में वृद्धि हुई; पर अपने प्रान्त में ठीक उतनी ही कमी हो गई! बङ्गाल के निवासी अधिक सुशिक्षित हैं और उनकी आमदनी भी शायद अधिक है। अपने प्रान्त में ये बातें नहीं। बीमार होने पर चिकित्सा का भी यथेष्ट प्रबन्ध नहीं। भूखे और निर्धन मनुष्य रोगों का अधिक शिकार ज़रूर ही होते हैं। आश्चर्य्य नहीं जो यहाँ इतने मनुष्य कम होगये। अगर यह प्रान्त बङ्गाल की अपेक्षा अधिक कर देता हो अथवा उससे बहुत कम न देता हो तो यह इस प्रान्त का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए जो उसकी रक्षा का ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं किया गया। क्योंकि मौत से बचाने के जो साधन मनुष्य के हाथ में हैं उनसे यदि पूरे तौर पर काम लिया जाता तो बहुत सम्भव था कि इतना नर-नाश न होता।

अच्छा, अब अपने प्रान्त के ज़िलों का हाल देखिए। प्रत्येक ज़िले की आबादी न देकर हम केवल प्रत्येक कमिश्नरी ही की आबादी नीचे देते हैं—

कमिश्नरी	आबादी	फ़ी सदी वृद्धि + या ह्रास—
१—मेरठ	४७,१०,६७५	+ १·८
२—आगरा	४१,८३,७१४	—७·३
३—रुहेलखण्ड	५१,९७,३८५	—८·०
४—इलाहाबाद	४७,९१,९५७	—३·१
५—झाँसी	२०,६५,७६२	—६·४
६—बनारस	४४,४८,५८४	कमी हुई पर ·१ से भी कम
७—गोरखपुर	६७,२९,१२२	+३·१
८—कमायूँ	१२,९३,४३९	—२·७
९—लखनऊ	५५,७०,८४३	—५·८
१०—फ़ैज़ाबाद	६५,९९,४६५	— ·७

सिर्फ़ मेरठ और गोरखपुर की कमिश्नरियों को छोड़ कर और सब कहीं ह्रास, ह्रास, ह्रास! किसी किसी ज़िले में तो फ़ी सदी ८, ९, १०, ११ और १४ तक मनुष्य-संख्या घट गई! बढ़ी है मेरठ में १३ फ़ी सदी, बस्ती में ५ फ़ी सदी; गोरखपुर में २ फ़ी सदी और देहरादून में ३ फ़ी सदी। कुछ ही ज़िले और हैं जिनमें कुछ थोड़ी थोड़ी वृद्धि हुई है। और कहीं नहीं। सरकारी नक़शे में जहाँ देखो वहीं ऋण का चिह्न (—) लगा हुआ है। यदि मनुष्य-गणना से भी किसी देश, प्रान्त या ज़िले के पतन या उत्थान, सुख-समृद्धि या दीनता का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है तो अपने प्रान्त की बहुत कुछ सच्ची स्थिति का पता लगाने के

लिए पिछली मनुष्य-गणना के नक़शों में काफ़ी सामग्री विद्यमान हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विशद विचार।

(१)

गृही हैं नहीं त्यों न हैं ब्रह्मचारी।
हमें जानिए जन्म-भू का पुजारी॥
न द्वेषी किसी के न प्रेमी किसी के।
बने हैं सदा सत्य-नेमी उसी के॥

(२)

हमें शिष्ट है इष्ट भी देश ही का।
हमें क्लेश देखा न जाता मही का॥
यहीं जन्म लेंगे, यहीं प्राण देंगे।
कभी भी खलों को नहीं त्राण देंगे॥

(३)

नहीं प्रेम है दुर्जनों से हमारा।
हमें है मिला धर्म का तत्त्व न्यारा।
उसी में बनी प्रीति है, भीति क्या है?
यही नीति है, दूसरी रीति क्या है?॥

(४)

स्वयं धर्म के युद्ध से शुद्ध होंगे।
हुए रुद्ध हैं, क्यों नहीं क्रुद्ध होंगे॥
दबेंगे नहीं दानवों के दबाये।
भगेंगे नहीं काल भी क्यों न आये॥

(५)

धनी सत्य के सत्त्व के स्वत्व के हैं।
सुधी धर्म के कर्म के तत्त्व के हैं॥
खलों के बलों से छलों से जले हैं।
टलें क्यों भली नीति-पैड़ी चले हैं॥

(६)

नहीं भ्रान्त हैं शान्त हैं दान्त भी हैं।
दुराचारियों से दुराक्रान्त भी हैं॥
न भूले अभी किन्तु स्वाधीनता को।
दिखाते नहीं हैं कभी दीनता को॥

(७)

सदा धर्म की नीति को मानते हैं।
सदा कर्म की रीति को जानते हैं॥
किसी भांति हो देश की हो भलाई।
मुरें क्यों, न चाहें किसी की बुराई॥

(८)

न दो तीन हैं आर्य मुस्लिम् इसाई।
सभी एक हैं मित्र हैं धर्म-भाई॥
मिले मेघ से एक हो के रहेंगे।
हरेंगे मही-दुःख, सच्ची कहेंगे॥

(९)

न अन्याय के नाम लेते, न लेंगे।
स्वयं स्वत्व को भी न देते, न देंगे॥
चलेंगे सदा धर्म से नीति से ही।
बढ़ेंगे सदा कर्म से प्रीति से ही॥

(१०)

दुखी हैं दुखा ले हमें जो बली हो।
हमें लूट ले छद्म से जो छली हो॥
हटेंगे नहीं किन्तु पीछे कभी भी।
गई शक्ति है क्या हमारी अभी भी?॥

(११)

हमारा हमें देश प्यारा रहेगा।
सदा ईश का ही सहारा रहेगा॥
भला नीच को उच्च क्यों मान लेंगे?
न मानी कभी मान को छोड़ देंगे॥

(१२)

नहीं इष्ट है जो उसे क्यों कहेंगे?
सहें क्यों अवज्ञा, न मौनी रहेंगे॥
करेंगे उसे ही कहेंगे जिसी को।
सुधी मान लें क्यों बनैले किसी को?॥

रामचरित उपाध्याय

अरबी-भाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि।

अरबी-साहित्य में सबसे ऊँचा पद कविवर मुतनब्बी को मिला है। मुतनब्बी का असली नाम अबू तैयब था। उसके पिता का नाम हसैन था। कुछ लोगों का कथन है कि वह एक साधारण भिश्ती था। कूफ़ा में लोगों को पानी पिलाया करता था जहाँ से वह अपने पुत्र को अपने साथ लेकर शाम-देश चला गया। मुतनब्बी ने शाम-देश में खूब भ्रमण किया। यहीं उसे शिक्षा दी गई। वह अपने समय का अद्वितीय विद्वान् हुआ। उसने कविता-रचना में भी निपुणता प्राप्त की।

अबू तैयब का नाम मुतनब्बी इस कारण हो गया था कि उसने नबी अर्थात् ईश्वरी-दूत होने का दावा किया था। तदनुसार बहुत से लोग उसके अनुयायी हो गये थे। परन्तु मुसलमान धर्म में इस प्रकार का दावा गुनाह समझा जाता है, अतएव नबी बनने के अपराध में मुतनब्बी पकड़ा जाकर कारागार में डाल दिया गया। जब उसने पश्चात्ताप किया तब वह मुक्त कर दिया गया। कुछ लोग मुतनब्बी शब्द की व्याख्या और प्रकार से करते हैं। एक लेखक का कथन है कि मुतनब्बी ने कविता में नबी होने का दावा किया था। पर सुप्रसिद्ध लेखक इब्न ख़ालकान इस कथन को ठीक नहीं समझते। उनका मत यह है कि उसने ईश्वरी-दूत होने का दावा किया था।

कारागार से मुक्त होने के पश्चात् मुतनब्बी अमीर सैफ़ुद्दौलः के दरबार में आया। वह वहाँ पर्याप्त समय तक मौजूद रहा। उसने अमीर की प्रशंसा में अनेक पद्य कहे। अमीर बड़ा विद्याप्रेमी था। उसने मुतनब्बी को खूब पुरस्कार दिया। अमीर की परिषद् में प्रत्येक रात विद्वान् लोग उपस्थित होकर परस्पर विद्या की चर्चा किया करते थे। एक बार वैयाकरण इब्नख़ालवैह और मुतनब्बी में बातें हो रही थीं। इब्नख़ालवैह महोदय किसी बात पर बिगड़ गये। उन्होंने मुतनब्बी को एक तमाचा मारा। वैयाकरण महोदय के हाथ में कुञ्जी थी। वह मुतनब्बी के मुँह पर ऐसी लगी कि रक्त की धारा बह निकली। सारे कपड़े रक्त से भीग गये। तब मुतनब्बी रुष्ट होकर वहाँ से चला गया।

अमीर सैफ़ुद्दौलः का आश्रय त्याग कर मुतनब्बी ने मिस्र-देश की यात्रा की। उस समय वहाँ काफ़ूर नाम का बादशाह शासन करता था। काफ़ूर ने उसकी बड़ी इज़्ज़त की। उसने काफ़ूर की प्रशंसा में अच्छे अच्छे पद्य कहे हैं। कहा जाता है कि मुतनब्बी जब बादशाह काफ़ूर के सम्मुख खड़ा हुआ करता था तब उसके दोनों पैरों में मोज़े होते थे। कमर में तलवार लटकती थी और पटका बँधा रहता था। उसके दो दास भी पटके बाँधे और तलवारें लगाये उसके पीछे खड़े रहते थे। लोगों का यह भी कहना है कि मुतनब्बी किसी प्रान्त का प्रधान कर्मचारी बनना चाहता था। काफ़ूर ने उसे वचन भी दे दिया था, किन्तु जब उसने देखा कि मुतनब्बी बड़ा दिलचला और चतुर है तब उसका विचार बदल गया। क्योंकि उसको इस बात का भय हुआ कि कहीं बाद को यह महत्त्वाकांक्षी कवि विद्रोही न हो जाय और राज्य को हानि पहुँचावे। जब मुतनब्बी ने अपनी दाल गलती न देखी तब वह काफ़ूर से नाराज़ हो गया और उसने उसकी बड़ी निन्दा की। इसके बाद वह वहाँ से भी भागा। काफ़ूर ने उसको पकड़ने की कोशिश की पर वह उसके हाथ न आया।

काफ़ूर की असत्यता, उसकी निन्दा और अपने भागने का हाल मुतनब्बी ने पद्यों में कहा है। कुछ पद्यों का अनुवाद इस तरह है—

प्रत्येक मनुष्य अपने कथन को पूरा कर दिखानेवाला नहीं होता। और अत्याचार को सहनेवाला प्रत्येक पुरुष नहीं हुआ करता।

प्रत्येक दिल के लिए एक शस्त्र होता है और एक ऐसा दृढ़ व्रत होता है जो कि सख़्त सख़्त पत्थर को भी चीर देता है।

जिस मनुष्य का हृदय मेरे हृदय के समान होगा वह नाना प्रकार की आपदाओं को झेल कर भी प्रतिष्ठा का पद प्राप्त करेगा।

मनुष्य चाहे जैसे मार्ग पर चले प्रत्येक अवसर पर उसके पैर के अनुसार ही उसका पग पड़ता है जिस रात को मैंने मिस्र छोड़ा उस रात वह तुच्छ दास काफ़ूर * सो गया। परन्तु मेरी ओर से वह पहले भी अन्धेपन की निद्रा में था।

मैं उसके निकट अवश्यमेव था परन्तु मेरे और उसके बीच अज्ञानता और अन्धेपन के जङ्गल थे।

इस ख़्वाजा को देखने से पहले मैं समझता था कि बुद्धि के रहने का स्थान सिर है। परन्तु अब मुझे मालूम हुआ है कि मैं भ्रम में था।

मिस्र से भाग कर मुतनब्बी फ़ारस पहुँचा। वहाँ उसने अज़्दुद्दौलः दैलमी की प्रशंसा में पद्य कहे। तदनुसार उसे पुरस्कार भी ख़ूब मिला। बाद को वह बग़दाद पहुँचा। परन्तु जब वह बग़दाद से कूफ़ा को वापस आ रहा था तब मार्ग में फ़ातिक ने मुतनब्बी और उसके साथियों पर आक्रमण किया। दोनों ओर से घोर युद्ध हुआ। मुतनब्बी और उसका पुत्र दोनों इस लड़ाई में मारे गये। इस तरह अरब देश का यह सर्वश्रेष्ठ कवि वीर-गति को प्राप्त हुआ।

मौलाना इब्न रशीक़ साहब अपनी पुस्तक 'अमदः' में लिखते हैं कि जब मुतनब्बी ने शत्रुओं का पलड़ा भारी देखा तब उसने भागने का विचार किया। परन्तु उसके एक दास ने कहा कि आपको युद्धभूमि का त्याग करना उचित नहीं है। लोग आपकी हँसी करेंगे क्योंकि आपही ने कहा है—

فالخيل والليل والبيداء تعرفني -
والسيف والرمح والقرطاس والقلم -

फ़िलख़ैल व ल्लैल व लबैदाव तार्रिफ़ोनी
वस्सैफ़ वज़्ज़बह व अलक़रतास व लक़लम्।

भावार्थ—सवार, रात, जंगल, तलवार, भाले, काग़ज़ और क़लम सबके सब मुझे पहचानते हैं। यदि भाग कर छिपूँ तो कहाँ छिप सकता हूँ।

यह सुन कर मुतनब्बी ने धैर्य्य धारण किया। उसने शत्रु पर फिर आक्रमण किया। परन्तु इस बार के धावे में वह मारा गया। इससे ज्ञात होता है कि मुतनब्बी की मृत्यु का कारण उसका पद्य ही हुआ। यदि उसको उस पद्य की याद न दिलाई जाती तो वह भाग कर बच जाता। यह दुर्घटना सन् ३५४ हिजरी के रमज़ान के महीने में हुई थी। वह लगभग ३०३ हिजरी में पैदा हुआ था। उसके शोक में विलाप करते हुए कविवर अबुल क़ासिम मुज़फ़्फ़र ने कहा है:—

लोगों ने मुतनब्बी के समान किसी को न देखा। जो संसार में एकही हो उसके समान भला दूसरा कहाँ मिल सकता है।

अरबी के जो कवि ख़ास अरब के निवासी थे और जिन्होंने केवल अरब के ही जल-वायु में रह कर अपना जीवन व्यतीत किया है उनके विचार प्रायः बहुत ही सीधे-सादे हैं। पर अरबी-भाषा के जो कवि अरब के निवासी नहीं हैं उनके विचारों में सीधे-सादेपन के सिवा टेढ़ापन भी है। अरबी भाषा के प्रत्येक विदेशी कवि के सामने यह बड़ी कठिन समस्या आ खड़ी होती है कि वह अपने भावों को उसी प्रकार प्रकट करे जिस प्रकार शुद्ध अरबी-कवि प्रकट कर चुके हैं। परन्तु मुतनब्बी ने अपनी रचना में दोनों बातें अदा की हैं। मुख्यतः इसी

* काफ़ूर पहले एक तुच्छ दास था। बाद को बादशाह बन गया था।

कारण अनेक लोग मुतनब्बी को सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। मुतनब्बी के कुछ चुने हुए पद्यों का भावार्थ, पाठकों के मनोरञ्जनार्थ हम आगे देते हैं:—

जब कि प्रिय सुन्दरी अपनी प्रतिज्ञा को भङ्ग करती है तब यह समझ लेना चाहिए कि वास्तव में उसकी प्रतिज्ञाओं में ही एक प्रतिज्ञा यह भी रहती है कि उसकी कोई प्रतिज्ञा पूर्ण न हो ॥१॥

निस्सन्देह जब मैं कोई व्रत धारण करता हूँ तब दूर की भी वस्तु मेरे निकट हो जाती है और दुस्तर कार्य्य सुगम हो जाता है ॥२॥

किसी सुन्दरी की सुघर ग्रीवा तथा कटाक्षों का दास मैं तो था ही अब कालचक्र ने मेरे हृदय और देह में कुछ भी बाक़ी नहीं छोड़ा ॥ ३ ॥

यदि मृत्यु का संसर्ग न होता तो वीरता, पुण्य और धीरता का महत्त्व संसार में मालूम ही न हो सकता ॥ ४ ॥

मित्ररूप शत्रुओं के लिए तू मृत्यु के समान रह। मृत्यु उस पर भी दया नहीं करती जो उससे भयभीत रहता है इसके सिवा वह उसके रक्त से अपनी प्यास बुझाती है। और इतने पर भी सारे मनुष्यों के ख़ून की प्यासी ही रहती है ॥५॥

जब तू सिंह के दाँतों को खुला हुआ देखे तब यह न समझ ले कि वह हँस रहा है ॥६॥

मेरे मित्र का घर यद्यपि दूर था तथापि मैं जानबूझ कर उसके घर गया। क्योंकि मित्र वही है जो दूर होने पर भी मिलता रहता है ॥७॥

यदि कोई मनुष्य पूर्ण रीति से उपकार न करे तो उपकार का न करना ही उसके लिए अति उत्तम है ॥ ८ ॥

यदि मेरा कुछ नुक़सान हो जाय तो मैं उसे बुरा नहीं समझता। मैं तो बुरा उसे समझता हूँ कि कहीं नुक़सान के भय से मुझे किसी घमण्डी का मुँह न देखना पड़े ॥९॥

कल्पना करो। मैंने कहा कि यह सबेरा नहीं, रात्रि है। फिर क्या संसार के लोग प्रकाश से अन्धे हो जायँगे ? ॥१०॥

यदि किसी घाव के भीतर कोई ख़राबी रह जाय और वह ऊपर से भर जाय तो किसी दिन वह फिर सूज कर उभर आवेगा ॥११॥

सारे नगरों में अति निकृष्ट वह नगर है जिसमें कोई मित्र न हो। और मनुष्य की कमाई में से बुरी वह कमाई है जिसके कारण उस पर दोषारोपण हो ॥१२॥

उच्च कुलोत्पन्न की आत्मा यदि उसी के समान नहीं तो उसकी कुलीनता उसको कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा सकती ॥१३॥

मैं चाहता था कि दो बातों को मैं मुतनब्बी से पहले कह जाऊँ। लेकिन मुतनब्बी ने उन दोनों बातों को भी न छोड़ा ॥१४॥

मुतनब्बी की सारी कविताएँ एक बड़े संग्रह में सङ्कलित हैं। उसमें उसकी सब विषयों की रचनाएँ हैं। उसका वह संग्रह अरबी की उच्च श्रेणियों में पढ़ाया जाता है। वह संग्रह दीवान मुतनब्बी के नाम से प्रसिद्ध है। जितनी टीकायें इस दीवान पर लिखी गई हैं उतनी और किसी अरबी-दीवान पर नहीं लिखी गईं। एक विद्वान् लेखक ने लिखा है कि दीवान मुतनब्बी की छोटी बड़ी सारी टीकाओं की संख्या चालीस से भी अधिक है।

अरबी-साहित्य में दीवान मुतनब्बी एक ही वस्तु है। मुतनब्बी का अरबी-साहित्य पर पूर्ण अधिकार था। इस बात का परिचय उसके दीवान से भलीभाँति मिल जाता है। अबू अली फ़ारसी का कथन है कि एक दिन मैंने मुतनब्बी से पूछा कि अमुक वज़न (ढङ्ग) पर अरबी में कितने बहुवचन आये हैं ? उसने उत्तर दिया कि केवल दो हैं। मैंने कोषों का निरन्तर तीन रात तक अवलोकन किया कि कोई तीसरा शब्द भी मिल जाय, परन्तु उन दो के सिवा कोई न मिला। मुतनब्बी के पाण्डित्य की सूचक ऐसी अनेक बातें बताई जा सकती हैं।

महेशप्रसाद मौलवी फ़ाज़िल

स्वीज़रलैंड की पञ्चायत।

स्वीज़रलैंड की यात्रा लोग प्रायः ग्रीष्म या शिशिर ऋतु में ही करते हैं। गर्मी के दिनों में वहाँ के पहाड़ों की तराइयाँ बर्फ़ के गल जाने के कारण यात्रियों को विशेष आनन्ददायक हो जाती हैं और जाड़े के दिनों में लोग वहाँ इसलिए जाते हैं कि सारा देश बर्फ़ से आवृत हो जाता है और लोगों को उस पर तरह तरह के खेल-तमाशों से अपना मनोरञ्जन करने की विशेष सुविधा मिलती है। अतएव वहाँ की उन पञ्चायतों का मनोरम दृश्य बहुत कम
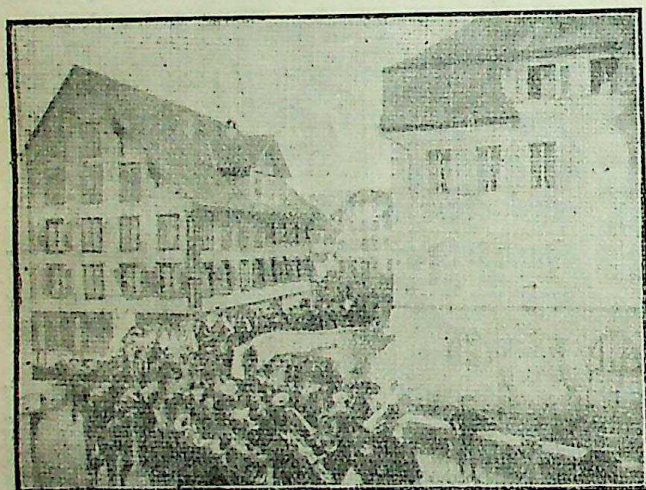
पंचायत का एक जलूस।

विदेशियों को देखने को मिला होगा जो प्रायः खुले मैदानों में होती हैं। इन पञ्चायतों का समारोह प्रति वर्ष अप्रेल के अन्तिम रविवार या मई के पहले रविवार को वहाँ के किसी किसी ज़िले में होता है। इस समय यात्रियों का आवागमन बन्द हो जाता है और यदि आते हैं तो बहुत कम। अतएव इन ज़िलों के निवासी आगामी वर्ष के अपने खानगी तथा राज्य-सम्बन्धी कार्य करने में लग जाते हैं। वे अपने अधिकारियों को चुनते हैं, अपना बजट जाँचते हैं और आवश्यक क़ानून बनाते हैं। ये सारे कार्य वे एक ही दिन में तय कर डालते हैं। इसके बाद वे उन तराइयों को चले जाते हैं जिनकी बर्फ़ ग्रीष्म-ऋतु के कारण गल जाती है और जो आमोद-प्रमोद के लिए साफ़ हो जाती हैं। वे वहाँ हफ़्तों या महीनों तक बने रहते हैं। उनका जीवन बहुत साधारण होता है। उन्हें क़ानून भी थोड़े ही बनाने पड़ते हैं। उनकी पञ्चायतें भी वैसी ही सादी होती हैं जैसे वे स्वयं होते हैं।

स्वीज़रलैंड के जिन पाँच, छः ज़िलों में ये पञ्चायतें बैठती हैं उनमें एक का नाम ग्लारस है। इस ज़िले का सदर इसी नाम के क़स्बे में है और वह स्थान ज़्यूरिच से पचास मील से भी दूर है। ग्लारस उन पहाड़ों के तल भाग में आबाद हैं जिनके शिखर सदैव हिम से आवृत रहते हैं। इस स्थान को जो मार्ग गया है वह भी बड़ा बेढब है। इस पहाड़ी ज़िले के मेम्बर चुननेवालों की संख्या दस हज़ार से भी कम है। इनमें से कोई दो या तीन हज़ार मतदाता प्रति वर्ष सार्वजनिक कार्य करने को एकत्र होते हैं। वे अपने उन राजकीय अधिकारों का उपयोग बड़े ही उत्साह के साथ करते हैं जो बहुत प्राचीन समय से उन्हें प्राप्त हैं। वे शहर के एक खुले मैदान में एकत्र होते हैं। वहाँ बेंचें लगी रहती हैं। इन्हीं पर बैठ कर वे लोग धैर्यपूर्वक अधिकारियों के विवरण तथा भविष्यद् कार्यवाही के विधान सुनते हैं। यह दृश्य बहुत ही मनोरम होता है। लोगों का कथन है कि इस प्रकार के समारोह की उत्पत्ति उन जर्मन जातियों से हुई है जो प्राचीनकाल में इसी प्रकार की सभाएँ रात में करके अपने नेता चुना करते थे। परन्तु इनकी उत्पत्ति वास्तव में कहाँ से है यह बात अभी तक रहस्यमय है। सम्भव है कि पहले इन सभाओं में

वादानुवाद उग्ररूप धारण करता रहा हो, परन्तु वर्तमान समय में इनकी कार्यवाही शान्तिपूर्वक समाप्त होती है। जो लोग वहाँ एकत्र होकर अपने ज़िले के सार्वजनिक कार्यों का निरूपण आगामी वर्ष के लिए करते हैं उनके ढङ्ग से गम्भीरता तथा स्वदेश के प्रति आदरभाव व्यक्त होता है।

प्रति वर्ष जनवरी के महीने में ग्लारस के निवासी शासक-सभा के सम्मुख उपस्थित होने के लिए बुलाये जाते हैं जहाँ वे उन क़ानूनों की व्यवस्थाएँ उपस्थित करते हैं जिनकी रचना उन्हें
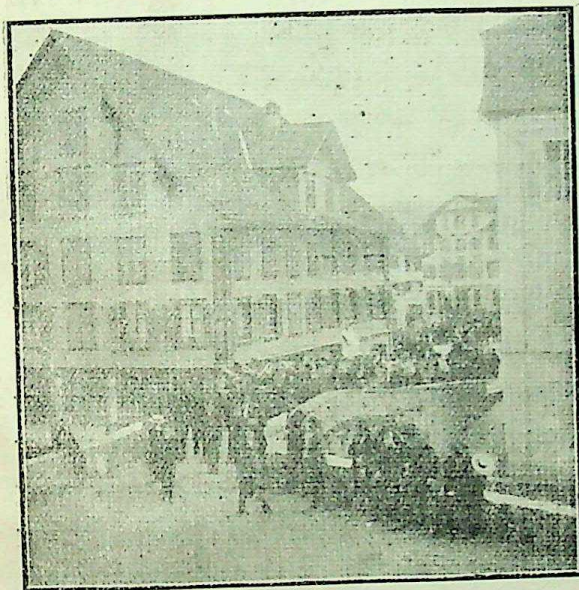
जलूस का दूसरा दृश्य।

स्वीकृत होती है। इसके बाद मई महीने के दो एक सप्ताह पूर्व उन्हें एक व्यवस्थापत्र मिलता है जिस पर बनाये जानेवाले क़ानूनों की सूची दर्ज रहती है। इन्हीं काग़ज़-पत्रों को लेकर मतदाता ज़िले के प्रत्येक अञ्चल से मई के प्रथम रविवार के दिन ग्लारस में एकत्र होते हैं और वहाँ उन विधानों की रचना का निरूपण करते हैं। परन्तु इसके पूर्व पहले गिरजाघर में प्रार्थना होती जिसमें अधिकारी और मतदाता एक बड़ी संख्या में शामिल होते हैं। इसके बाद मजिस्ट्रेट, शासक-मण्डल के अधिकारी, सैनिक तथा दूसरे लोग दल बाँध कर सभास्थल को जाते हैं। इस समय तक नागरिक भारी संख्या में एकत्र होजाते हैं। स्त्रियों तथा बच्चों को, जो मुख्यतः निमन्त्रित किये जाते हैं, सम्मानपूर्वक सभा-भवन में सबसे आगे का स्थान दिया जाता है। लोग यहीं अपने बचपन से प्रजासत्ता के सरल सिद्धान्तों को सीखना प्रारम्भ करते हैं। वे यहाँ अपने ज़िले के शासन-सम्बन्धी कार्यों के वादानुवाद सुनते हैं और उस सादी तथा गम्भीर प्रथा का प्रेम करना सीखते हैं जिसमें उनके बड़े लोग भाग लेते हैं। जो लोग सभा की कार्यवाही में अधिक अनुरक्ति प्रकट करते हैं अर्थात् जो क़ानून के मस्विदे प्रस्तुत करते हैं और उनका समर्थन करने के लिए व्याख्यान देना चाहते हैं वे पञ्चायत के सम्मुख खड़े हो जाते हैं और तब सभा की कार्यवाही ईश-प्रार्थना करके और शपथ लेकर प्रारम्भ होती है। इसकी प्रत्येक कार्यवाही में सब कोई भाग ले सकता है। यहाँ किसी शर्त की पख नहीं लगी होती, प्रत्येक व्यक्ति को बोलने का स्वत्व है। इस सभा में हाथ उठा कर अपनी सम्मति प्रदर्शित की जाती है। यहाँ प्रजासत्ता की धारा निर्मल और असली रूप में बहती देख पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने राजनैतिक विचार स्वतन्त्रता-पूर्वक व्यक्त करता है जो कि सर्व-सम्मति से तुरन्त कार्य में परिणत हो जाता है। इस सभा का सिद्धान्त वहाँ की व्यवस्था में इन शब्दों में अङ्कित है:—न्याय और स्वदेश की मङ्गल-कामना। न स्वेच्छाचार और न सबलों का प्राधान्य।

इन सभाओं में ज़िले के सम्पूर्ण मतदाताओं के प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं। यही लोग ज़िले के प्रधान अधिकारी होते हैं। जो बात यहाँ सर्व-सम्मति से स्वीकृत होती है वह तुरन्त कार्य में

परिणत हो जाती है। क़ानूनों के विधान बहुत लम्बे नहीं उपस्थित किये जाते। इसी कारण सभा की सारी कार्यवाही घंटे भर के भीतर ही समाप्त हो जाती है। इतने ही भर में वर्ष भर की व्यवस्था स्वीकृत हो जाती है। इसके बाद ईश-प्रार्थना और जातीय गीत गाकर सभा का कार्य समाप्त किया जाता है। तब सारा उपस्थित समुदाय अपने घरों की राह लेता है।

जिन दूसरे पाँच ज़िलों में ऐसी ही पञ्चायतें होती हैं उनके नाम ये हैं; उरी, ओववाड, निडवाड, और दोनों अपेनज़िल। उरी की पञ्चायत एक चरागाह में अल्टडार्फ के समीप होती है। इस स्थान
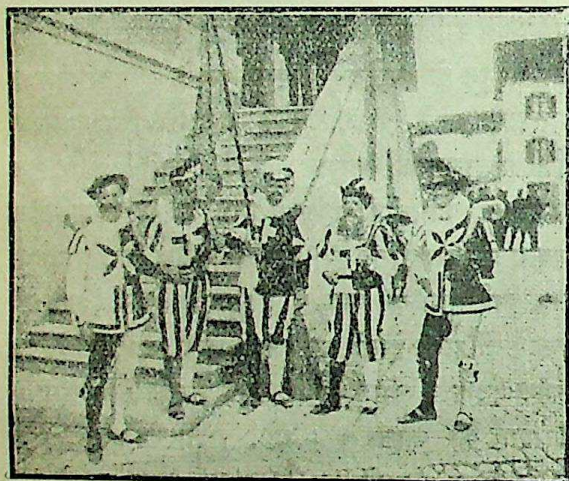
सारनेन की पञ्चायत के जलूस में मध्ययुग की पुरानी पोशाक में कुछ लोग।

और अल्टडार्फ के बीच से एक नदी बहती है। यहाँ ज़िले के अधिकारी-गण घोड़ों पर सवार हो कर अल्टडार्फ से आते हैं। उनके आगे सैनिक और बाजेवाले तथा ज़िले का झण्डा चलता है और ये लोग वर्ष भर का अपना कार्य-क्रम घंटे भर के भीतर ही निपटा लेते हैं।

निडवाड की पञ्चायत स्टान्स में बैठती है। इस में साधारणतया कुछ उत्तेजना कभी कभी दिखाई देने लगती है। अपेनज़ेल में अपेनज़ेल-इनर-रोडेन की पञ्चायत के अधिवेशन होते हैं। ये भी किसी से कुछ कम मनोरम नहीं होते। दोपहर के समय ज़िले के नौ मुख्य अधिकारी अपने पारषदों के सहित कौन्सिल-भवन से पञ्चायत के स्थान को पयान करते हैं। इनके पीछे बाजेवाले और उनके कर्मचारियों का दल रहता है। सबके आगे प्रधान मजिस्ट्रेट चलता है। ये सब लोग इस दिन काली पोशाक में आते हैं। केवल 'विबेल' की पोशाक भिन्न रहती है। यह व्यक्ति सफ़ेद और काली दो रङ्ग की पोशाक पहनता है। पञ्चायत के स्थान में जो चबूतरा बना है उसी पर अधिकारीगण जा बैठते हैं। उनके नीचे मतदाता-गण न्यायाधीशों और छोटे कर्मचारियों के सहित बैठते हैं।

इस पञ्चायत के सदस्य पचमेल होते हैं। कुछ पुरानी चाल की पोशाकें पहने तथा तलवार लगाये रहते हैं, कुछ रोज़मर्रा के लिबास में आते हैं और कुछ पादड़ियों की पोशाक में। इस तरह वहाँ एक अनोखा ही दृश्य देखने में आता है। इस पञ्चायत में १८०० अठारह सौ के लगभग मतदाता एकत्र होते हैं। वे वहाँ अपने प्रधान का व्याख्यान ध्यानपूर्वक सुनते हैं और यदि वही व्यक्ति दूसरे वर्ष के लिए भी चुन लिया जाता है तो उसे फिर शपथ लेनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में मतदाताओं को भी शपथ करनी पड़ती है।

इन ज़िलों में चोरों, दिवालियों एवं ऐसे ही दूसरे लोगों को राजनैतिक अधिकार नहीं प्राप्त है। अतएव पञ्चायतों में केवल भले आदमी ही भाग ले सकते हैं। यह अन्तर प्रकट करने के लिए इन्हें तलवार धारण करने की आज्ञा है। इसी कारण ये लोग पञ्चायतों में पुरानी चाल की तलवारें बाँध कर आते हैं। वहाँ यह राजनैतिक स्वतन्त्रता का चिह्न समझा जाता है। इन पञ्चायतों में एक यह भी विशेषता होती है कि जब कोई

बोलता है तब उसे कोई टोकता नहीं है। यह एक पुरानी प्रथा है। और इस प्रथा के उल्लङ्घन करने-वाले पर जुर्माना किया जाता है और वह सभा-स्थान से तुरन्त निकाल बाहर किया जाता है। इसी से कोई किसी को बाधा नहीं देता। इसके सिवा घूँस का भी प्रचार यहाँ नहीं है। हाँ, पहले

सारनेन में पञ्चायत की बैठक।

घूँस की प्रथा ज़ोरों पर थी, किन्तु बाद को क़ानून बना कर वह बन्द कर दी गई।

सम्भवतः सबसे अधिक अनूठी पञ्चायत सारनेन में बैठती है। यह स्थान आबवाड़ ज़िले में है और लूसर्न से कुल तेरह मील दूर है। यहाँ का प्रधान लगभग तीन हज़ार मतदाताओं के समक्ष शपथ ग्रहण करता है। इस मध्य युग के नगर की टेढ़ी मेढ़ी गलियों से होकर जो जलूस सभा-स्थल को जाता है वह दूसरे स्थानों की पञ्चायतों के ऐसे ही जलूसों की अपेक्षा कई बातों में श्रेष्ठतर होता है। यहाँ की पञ्चायत नगर के बाहर समीपस्थ पहाड़ी के नीचे बैठती है। इस जलूस का पताकाधारी तथा उसके साथी मध्य युग की पोशाकें पहन कर आगे आगे चलते हैं। पाँच प्रसिद्ध नागरिक मूल्यवान् काले और सफ़ेद कपड़े पहन कर इस पञ्चायत में शामिल होते हैं। उनके वक्षः-स्थल पर उनके देश का जो क्रास लगा रहता है वह उनके परिच्छद की शोभा को और अधिक बढ़ा देता है।

सभा-स्थल की पहाड़ी पर खीमे की तरह की एक छोटी इमारत बनी है। इसी में अधिकारी आकर बैठते हैं। मतदाता गण उनके सामने चौकोर पङ्क्ति बना कर एकत्र होते हैं। इस खुले मैदान में स्वीज़रलैंड के इन नागरिकों को बेंचों पर बैठे अपना कर्तव्य पालन करते देखना निस्सन्देह एक आनन्दप्रद दृश्य है। ये लोग एक स्वाधीन जाति के प्रतिनिधि हैं। इन लोगों की यही धारणा है कि वास्तविक शासन वही है जो जनता द्वारा जनता के लिए निर्धारित हो।

शान्तिनारायण गुप्त

शक्ति और शाक्त-मत।

संस्कृत-साहित्य के भाण्डार में तान्त्रिक ग्रन्थों की विशाल राशि भी शामिल है। उसके भिन्न भिन्न विभागों का तुलनामूलक अध्ययन तो बहुत दिनों से जारी है, पर तान्त्रिक ग्रन्थों की ओर विद्वानों की जैसी चाहिए वैसी दृष्टि अभी तक नहीं पड़ी है। इसका विशेष कारण यह है कि लोग शाक्तों की पूजा को हीन समझते हैं। इसलिए शाक्तों और उनके ग्रन्थों का इस देश की विद्वन्मण्डली के बीच आदर नहीं है और सम्भवतः इसी कारण शाक्तों को भी अपने धार्मिक सिद्धान्तों एवं ग्रन्थों का प्रचार करने का साहस कभी न हुआ। कुछ समय से कलकत्ता-हाईकोर्ट के न्यायाधीश सर जान उडरफ़ तन्त्र-ग्रन्थों की आलोचना करने लगे हैं। नीचे आपके एक लेख का अनुवाद दिया जाता है। उससे पाठक जान सकेंगे कि शाक्त-मत का क्या तत्त्व है।

चिद्रूपिणी शक्ति प्रकृति की जननी है। वह अपनी ही माया से उत्पन्न होती है। मेरी समझ में शाक्त-मत या शक्ति-पूजा अपने कुछ प्रधान स्वरूपों में संसार के प्राचीनतम तथा अत्यधिक प्रचलित धर्मों में से एक है। यद्यपि यह बात बहुत ठीक है कि शाक्त-धर्म एक प्राचीन धर्म है, तो भी उसके वर्तमान स्वरूप में बहुत कुछ नूतनता आ गई है। समयानुसार उसका भी विकास हुआ और उसमें आधुनिक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। इस स्थान में इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि पाश्चात्य देशों में, विशेषतया अमरीका और इँगलेंड में, एक नवीन प्रकार के साहित्य की रचना हो रही है। इसका प्रधान उद्देश अलौकिक शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना है। इसके सिद्धान्त शक्ति-साधना से बहुत कुछ मेल खाते हैं। ऐसी भी पुस्तकें हैं जिनमें वशीकरण जैसे प्रयोगों की सिद्धि के उपाय बताये गये हैं। यद्यपि इनमें बहुत कुछ धूर्तता का भी समावेश है तो भी ये लगभग उसी ढङ्ग की पुस्तकें हैं जैसे कि तान्त्रिक शावर।

अनेक वर्ष हुए एडवर्ड सेलन ने मदरास प्रान्त की सिविल सर्विस के प्राच्यविद् विद्वानों की सहायता से तान्त्रिक साहित्य के अनुसन्धान का प्रयत्न किया था। कुछ कारणों से उन्होंने उसे सुदृष्टि से नहीं विचार किया। परन्तु उन्होंने शाक्तों की तुलना यूनानी टेलेस्टिका या डीनामीका (Greek Telestica or Dynamica) से, शक्तिपूजा की डैनीसियस की गुह्य बातों से (The mysteries of Dionysus) और शक्तिशोधन की उस संस्कार से की जो हनकर वीली के एन्टीक ग्रीक वेसेज़ नामक ग्रन्थ में दिखाया गया है। तदुपरान्त यहूदी तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थकारों की पुस्तकों के अनेक स्थानों में इस धर्म की क्रियाओं के उल्लेख की सूचना देकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह बात स्पष्ट है कि इस समय भी संसार की मन्त्र-विद्या का एक बहुत प्राचीन रूप शाक्त-धर्म के रूप में भारत में विद्यमान है। किसी ख़ास परिणाम को चाहे जो महत्त्व दिया जाय तो भी उनका निर्णय साधारणतया बहुत ठीक है। क्योंकि जब हम इस उपासना के भूतकालीन इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तब हम देखते हैं कि यह एक अत्यन्त प्राचीन उपासना है। सभी देशों में सर्वशक्तिशालिनी शक्ति की पूजा भिन्न भिन्न नामों से स्त्री के रूप में होती थी। यूनान में सिबेली और अफ्रोडाइट के नाम से, बैबिलान में मिलिट्टा मेक्सिको में इश, ओसिया आदि के नामों से और अफ्रीका में सलम्बो के नाम से उसी मूल प्रकृति की पूजा होती थी। असीरियावाले सकथ बेनथ और रोमन लोग जूनो तथा बौद्ध लोग तारा के नाम से उसकी अर्चना करते थे। सारांश यह कि आदि शक्ति की उपासना अतीत काल से लेकर वर्तमान समय तक भिन्न भिन्न नामों से सारे भूमण्डल पर सदा होती रही है।

इतने पर भी ऐसे लोग मिलते ही हैं जो कहते हैं कि शाक्त-धर्म आधुनिक है। उनके इस कथन को अस्वीकार करते समय हम यह नहीं कहते कि इस धर्म में परिवर्तन नहीं किये गये हैं या इसका विकास नहीं हुआ है। जैसे जैसे मानव-स्वभाव में परिवर्तन होता गया वैसे ही वैसे उसके धार्मिक भावों में भी अन्तर होता रहा है। इस मत में तथा उसके प्राचीन स्वरूप में वही भेद है जो कि दीक्षित तथा अदीक्षित के बीच वर्तमान है। दीक्षित उसे कहते हैं जिसकी शक्ति प्रबुद्ध होती है और अदीक्षित को पशु कहते हैं। प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति माता का रूप और आध्यात्मिक रूप अर्थात् स्वयं आदि जननी, ये दोनों एक ही वस्तु हैं। परन्तु इन दोनों का एकत्व केवल दीक्षित ही जान सकता है। वह अपने आपको चैतन्यरूप में बोध करता है चाहे वह मुक्त दशा में हो और चाहे अमुक्त दशा में। तान्त्रिक साधना का यह एक आवश्यक सिद्धान्त है कि साधक को अपना लक्ष्य प्रकृति के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। उसे प्राप्त करने के लिए साधक को प्रकृति का त्याग करने का आदेश नहीं है। उसके कुछ उपयोगों के सम्बन्ध में चाहे जो कुछ कहा गया हो। किन्तु उसमें एक ही सत्य सिद्धान्त अन्तर्निहित है। इस विषय पर मैं अपने व्याख्यान में अधिक नहीं कह सकता हूँ, क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल कुछ साधारण सिद्धान्तों तथा कर्मकाण्ड ही से है। परन्तु शक्ति-पूजा के गुप्त रहस्यों के सम्बन्ध में जो प्रमाण मिलते हैं वे अपरिमित हैं। इस धर्म की साधारण बाह्य पूजा एवं उसकी अन्तरङ्गी शिक्षाओं के रूप बहुत प्राचीन हैं। इस सम्बन्ध में भारत के बाहर तान्त्रिक शिक्षा तथा क्रिया के अस्तित्व का जो विचित्र उदाहरण

मिलता है वह आगे दिया जाता है। अमरीका के इंडियनों के पेपुलवु नाम के मायावादात्मक धर्म-ग्रन्थ में हुरकन अर्थात् बिजली का जो उल्लेख है वह तान्त्रिकों की कुण्डली शक्ति से मिलता जुलता है। यही क्यों, सुषम्ना नाड़ी तथा ईड़ा और पिङ्गला एवं अन्यान्य शरीरस्थ चक्रों का भी निर्देश उनके उस धर्म-ग्रन्थ में विद्यमान है।

सम्भवतः जिन मुख्य कारणों से तान्त्रिक ग्रन्थों का प्रमाण कुछ लोगों को स्वीकृत नहीं उनमें से एक पञ्चतत्त्व क्रिया का उपयोग है जिसे कुछ तान्त्रिकानुयायी अङ्गीकार किये हैं और सम्भवतः इसी कारण यह धर्म आधुनिक समझा जाता है। परन्तु इसके विपरीत मद्य, मांस इत्यादि का प्रचलन स्वयं अत्यन्त प्राचीन हैं। इन क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ लोग ऐसी बातें करते हैं मानों इन वस्तुओं का प्रचलन यहाँ बिलकुल ही नया हो। यही नहीं, वे इन्हें एक-मात्र तान्त्रिकों की गढ़न्त और प्राचीन समय के उद्देशों तथा व्यवहारों के सर्वथा विपरीत बतलाते हैं। यदि इस विषय का अनुसन्धान किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि जो उपासक इस प्रकार की क्रियाएँ करते हैं वे बहुत ही प्राचीन-काल की प्रथाओं का अवलम्बन किये हैं और ये प्रथाएं अत्यन्त प्राचीन-काल में वैदिकाचार के समान ही प्रचलित रही हैं जो कि जैन तथा बौद्ध-धर्म के प्रबल होने पर सम्भवतः बाद को परित्याग कर दी गई। मैं उन प्रथाओं को 'समान' इसलिए कहता हूँ कि वे वैदिकाचार के अन्तर्भूत नहीं थीं। इन दोनों में भिन्नता रही है। इस तरह इस पञ्च-तत्त्व उपासना में वैदिक ढंग से मद्य, मांस के उपयोग में साम्यता है ही। अस्तु, वैदिक कर्मकाण्ड में मद्य के स्थान में सोम का उपयोग होता था; मासाष्टक श्राद्ध में मांस; अष्टका श्राद्ध तथा प्रेत श्राद्ध में मछली। और वामदेव्य व्रत एवं महाव्रत में मैथुन का प्रचलन था। वैदिक-कर्मकाण्ड के ये विधान सर्व-स्वीकृत वैदिक ग्रन्थों के प्रमाणों से भी समर्थित हैं। अथर्ववेद के सौभाग्य खण्ड में ही इनका उल्लेख नहीं है जिसको लोग कहते हैं कि उससे कालिकोपनिषद् तथा दूसरे तान्त्रिक उपनिषद् निकले हैं। प्रसिद्ध विद्वान् रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी ने अपने 'विचित्र प्रसङ्ग' में बतलाया है कि पञ्चतत्त्वों का 'मुद्रा' सोम तथा दूसरे भागों के 'पुरोडाश' से मेल खाता है। मद्य तथा किसी किसी स्थिति में मांस के वर्जन का वर्तमान नियम बौद्ध-धर्म के कारण हुआ है। इन प्राचीन प्रथाओं का पालन केवल ये तान्त्रिक लोग (अपने कर्म-कांड में) करते हैं। यह सच है कि उपनः की संहिता में लिखा है—मद्य न तो पीना चाहिए और न देना या ग्रहण ही करना चाहिए। (मद्यमपेयम् अदेयम् अग्रह्यम्) तो भी मनु महाराज लिखते हैं—न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये··· । यद्यपि उन्होंने अपने इस आदेश में यह भी जोड़ दिया है जैसा कि अनेक लोग करते हैं कि—निवृत्तिस्तु महाफला। तान्त्रिक विधान भी इस बात की आज्ञा नहीं देता कि वृथा पान किया जाय।

दो भिन्न बातें एक में मिला देना एक साधारण भ्रम है। उदाहरण के लिए, मत, प्रथा और शास्त्रीय विधान एक में मिला देना ठीक नहीं है। शास्त्रीय विधान आधुनिक हो सकते हैं, पर जिन बातों की वे चर्चा करते हैं वे, सम्भव है, अत्यन्त प्राचीन हों। जब मैं इस धर्म की अत्यन्त प्राचीनता की बात कहता हूँ तब मेरा केवल यह मतलब नहीं है कि वे ग्रन्थ भी उतने ही प्राचीन हैं जो तन्त्र कहलाते हैं। तन्त्र-ग्रन्थ साधारणतया सरल संस्कृत में लिखे गये हैं और इस उद्देश से लिखे गये हैं कि सर्व-साधारण को उनका आशय समझने में सुगमता हो। इन ग्रन्थों के लिखने में लेखन-चातुर्य नहीं प्रकट किया गया है। इनकी यही सरलता प्राचीनता का भी द्योतक है। इसके साथ ही इन ग्रन्थों की संस्कृत लौकिक है, आर्ष नहीं है। इसके सिवा इनमें ऐसे विवरण भी हैं जिनसे इनका समय निर्दिष्ट हो जाता है। मैं यह बात इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में नहीं कहता, किन्तु मेरा मतलब उन वचनों या अंशों से है जिनका इनमें उल्लेख है। जिस धर्म की इनमें चर्चा है या कम से कम उस धर्म के प्राथमिक स्वरूप का अस्तित्व इनके कुलों द्वारा लेख-बद्ध किये जाने के बहुत पहले ही रहा होगा। कुलों को वे परम्परा से उसी तरह उपलब्ध हुए होंगे और उनको पुस्तक का रूप मिला होगा जैसे कि वैदिक गोत्रों ने किया है। अन्यान्य बातों के सदृश इस प्रकार के विचार तथा प्रथाएँ समय की गति के अनुसार विकसित होती रही हैं। यह भी एक प्रकार का सिद्धान्त ही है। ऐसा सदा ही से होता आया है।

तन्त्र-ग्रन्थों की एक विशाल राशि सदा के लिए लुप्त होगई है। जो बच रहे हैं उनमें भी सब उपलब्ध नहीं। जो उपलब्ध हैं वे अधूरे हैं। यदि दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा वे पीछे से प्रकट हुए तो भी भारतीय सिद्धान्त के अनुसार उनके प्रामाण्य में किसी प्रकार के सन्देह का प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस प्रकार के सिद्धान्त से किसी धर्म-ग्रन्थ का प्रमाण उसकी रचना के काल पर नहीं निर्भर करता। यह इस सिद्धान्त का आशय है। तब यह प्रश्न होता है कि जो बात आज से सौ वर्ष पहले कही गई है उसकी अपेक्षा वह बात अधिक सत्य क्यों मानी जाय जो कि उससे १००० वर्ष पहले कही गई हो। लोगों की यह धारणा है कि आगम की शिक्षाएँ सदा अस्तित्व में रहती हैं, परन्तु विशेष विशेष तान्त्रिक ग्रन्थ समयानुसार प्रकट और तिरोहित होते रहे हैं। किसी तन्त्र-ग्रन्थ के हाल में प्रकट होने के कारण कोई उसका विरोध नहीं करता। जब यह कहा जाता है कि शिव ने तन्त्र कहे या ब्रह्मा ने प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ ब्रह्मसंहिता की रचना की तब उसका यह मतलब नहीं है कि शिव और ब्रह्मा ने क़लम लेकर भोजपत्र या ताड़पत्रों पर उन्हें लिख डाला। परन्तु वास्तविक बात यह है कि दैवी आत्मज्ञान की स्फूर्ति से प्रेरित होकर किसी व्यक्तिविशेष ने अविनाशी सत्य सम्बन्धी उपदेश को लिख दिया या उसकी शिक्षा दी। इसी को लोगों ने ये तथा ऐसे ही दूसरे नाम दे दिये। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि उस ज्ञानी पुरुष के पास कोई बैठा था और वह उसके कान में कहता जाता था। किन्तु बात यह है कि उसने स्वयं उस सत्य को अपने आत्मज्ञान द्वारा साक्षात्कार किया जिसे उसने मानव-जाति की कल्याण दृष्टि से पुस्तक-बद्ध करके प्रचलित किया। जो कुछ इस संसार में किया गया है उसे मनुष्य ही ने किया है। ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता स्वयं कर लेता है, इस सर्व-स्वीकृत लोकोक्ति की अपेक्षा अधिक सत्य का भी अस्तित्व है। ईश्वरीय प्रेरणा कभी बन्द नहीं होती। लोग पूछ सकते हैं कि इस कथन की सत्यता का प्रमाण क्या है? इसका उत्तर यह है कि तुम उसके परिणाम से जान सकते हो। शास्त्र का प्रमाण इस प्रश्न द्वारा निश्चित किया जाता है कि क्या उसके विधानों द्वारा सिद्धि मिल सकती है? यह भी क्या कोई प्रमाण है कि उसमें 'शिवोवाच' लिखा है? इस बात की परीक्षा आयुर्वेद से हो सकती है। वही औषध ठीक है जो रोग का निवारण कर सकती है। भारतीय परीक्षा अनुभव पर निर्भर है। अद्वैतवाद की सत्यता समाधि द्वारा ही जाँची जा सकती है। कल्पों का अस्तित्व कैसे जाना गया है? कहा जाता है कि वे बुद्ध को याद रहे हैं। तदनुसार यह लिखा गया है कि बुद्ध को ९१ कल्पों की स्मृति हुई थी। पुनर्जन्म के पक्ष में दलीलें दी जाती हैं। परन्तु वास्तविक प्रमाण तो वही है जो साधारण दैनिक जीवन के अनुभव द्वारा सिद्ध होता है जिसका निर्णय पूर्व जीवन के अस्तित्व के सिद्धान्त पर ही किया जा सकता है तथा जिन विशिष्ट व्यक्तियों ने आत्मोन्नति की है और उस शक्ति के द्वारा जिनको अपने पूर्व जन्मों की स्मृति हो जाय। इस सम्बन्ध में यही दो वास्तविक प्रमाण हो सकते हैं। समय बिलकुल निरर्थक ही नहीं होता। क्योंकि जिस बात को जानने के लिए लोग शास्त्रों के पृष्ठ उलटते हैं वह यह है कि उनमें उक्त बात स्वीकृत हुई है या उस सम्बन्ध में प्रामाणिक ग्रन्थों के समर्थक वचन उद्धृत हुए हैं या नहीं। परन्तु सत्यता की इस प्रकार की परख केवल बहुत अधिक समय बीत जाने पर ही निर्धारित होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी बात के हाल में प्रकट होने से इस प्रकार की परीक्षा से उसकी जांच करना सम्भव नहीं है, अतएव उक्त बात अनर्गल है। भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार इसी ढङ्ग से समय और प्रमाण के प्रश्न का विचार किया जाता है।

यदि सनातनधर्म कहलानेवाले हिन्दू धर्म (उसकी उत्पत्ति चाहे जैसी हो) की विस्तृत जांच पड़ताल की जाय तो निम्नलिखित परिणाम निकलेंगे—वेदान्त (उपनिषद् के अर्थ में। क्योंकि उसकी शिक्षाओं का आधार उपनिषद् ही है, यद्यपि उनका अर्थ विभिन्न प्रकार से किया जाता है) और वे बहुसंख्यक आचार जिनके द्वारा वेदान्त की शिक्षाएँ व्यवहारगत की जाती हैं। इन दोनों को हमें सावधानी से पहचानना चाहिए। अस्तु, वेदान्त का 'सोऽहं' तान्त्रिकों के 'हंसः' से मिलता है। एक ओर 'हंकार' है, दूसरी ओर 'सकार' है। इन दोनों को निकाल देने से केवल

काम-कला का चिह्न बच जाता है। आचार उन साधनों को प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा विशिष्ट साधक 'सोऽहं' को व्यवहारगत कर लेता है। 'साधना' शब्द 'साधु' धातु से बनता है और यह धातु सिद्धि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। किस बात की सिद्धि के लिए साधना की जाती है? इसका उत्तर यह है कि इस जड़ जगत् की प्रत्येक योनियों से मुक्त हो जाने के लिए। इन योनियों के अस्तित्व का कारण चित् शक्ति को अपने आप समीप कर लेना है और इसी कारण वास्तविकता अन्धकार में छिप जाती है जिसका निराकरण 'सोऽहं' या 'शिवोऽहम्' से होता है। लोग अपने आपको इन जड़रूपों से मुक्त क्यों करते हैं? क्योंकि कहा जाता है कि परम सुख की प्राप्ति उसी मार्ग में है। यद्यपि वे लोग क्षणिक किन्तु फलदायक आनन्द इहलोक में भी प्राप्त कर सकते हैं जो चैतन्य ब्रह्म (शक्ति) को साक्षात्कार कर लेते हैं। सोऽहम् का यही वास्तविक अनुभव है और वेद ही ज्ञान (विद) या सच्चा आध्यात्मिक अनुभव का असली रूप है। क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से किसी वस्तु को यथार्थ में जानना स्वयं वही वस्तु हो जाना है। यह वेद या अनुभव केवल महद् आकाश का ध्यान करने ही से नहीं प्राप्त हो जाता है। उसे अपना स्वरूप भी बदलना चाहिए अर्थात् ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे वह उसका अनुभव प्राप्त कर सके। अतएव तन्त्रों का प्रधान लक्ष्य कर्म है।

तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए कौन से कर्म का ग्रहण करना चाहिए। तन्त्रशब्द की व्युत्पत्ति 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्' है। इसके अनुसार तन्त्र शब्द 'तन्' धातु से बनता है। अतएव तन्त्र उस शास्त्र को कहते हैं जो ज्ञान का प्रचार करता है। यहां ज्ञान शब्द ध्यान देने योग्य है। ये शास्त्र जिन क्रियाओं का निर्देश करते हैं उनसे वेदान्तीय ज्ञान का प्रचार होता है। यहीं हमें वह विभिन्नता-दृष्टि देख पड़ती है जिससे वे लोग संशय में पड़ जाते हैं जो भारत के धार्म्मिक जीवन के मूल तक नहीं पहुँच सके हैं। वास्तव में अन्तिम ध्येय एक है। उस ध्येय तक पहुँचने के लिए जो साधन हैं उनमें ज्ञान, योग्यता और स्वभाव के अनुसार अवश्य ही विभिन्नता होगी। परन्तु यहां हम उन साधनों को दो भागों में बाँट सकते हैं अर्थात् वैदिक और तान्त्रिक। एक भाग और भी किया जा सकता है। इसे हम मिश्र कह सकते हैं। क्योंकि हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत एक ऐसा समुदाय है जिसके कुछ आचार वैदिक हैं तो कुछ तान्त्रिक हैं अर्थात् उनके कर्मकाण्ड में उन दोनों आचारों का संमिश्रण है।

स्वयं तन्त्र शब्द साधारणतया शास्त्र के अर्थ में लिया जाता है। उससे किसी विशेष धार्मिक ग्रन्थ का निर्देश नहीं होता। परन्तु जब हम उसे धार्मिक ग्रन्थ के रूप में ग्रहण करते हैं तब हम उन्हें कई प्रकार के उपासकों के धर्म-ग्रन्थ के रूप में पाते हैं। इन उपासकों का आचार तथा इनकी उपासना विभिन्न होती है। इस तरह हम शैव, वैष्णव और शक्ति एवं इनके भी उपभेद पाते हैं। जैसे शैवों में शैव सिद्धान्त के विशिष्टाद्वैत शैव, काश्मीरीय अद्वैत वादी शैव, पाशुपत और इसी प्रकार के दूसरे उपभेद भी हैं। इन लोगों के तंत्र अलग अलग हैं। यदि तान्त्रिक शब्द का अर्थ तन्त्र-शास्त्र का अनुयायी लिया जाय तब तो यह एक अनिश्चित ही अर्थ माना जायगा। जिस आदमी के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग हो वह पञ्च देवताओं में से किसी एक देवता का उपासक हो सकता है तथा विभिन्न सम्प्रदायों में से किसी एक के भी अन्तर्गत रहता हुआ उन्हीं की निर्दिष्ट उपासना तथा क्रिया से अपने इष्ट देवता की आराधना कर सकता है। इस तरह तन्त्र शब्द के अर्थों में बड़ी गड़बड़ी होती है। परन्तु जो बात चल गई सो चल गई। उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं हो सकता। जहां तक मैं जानता हूँ, जो लोग तान्त्रिक कहलाते हैं वे अपने को शाक्त, शैव इत्यादि नामों से अभिहित करते हैं। वे चाहे जिस सम्प्रदाय के हों, पर अपने को तान्त्रिक नहीं कहते।

इसके सिवा तन्त्र शब्द का उपयोग एक जातिविशेष के धर्म-ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त होता है जिन्हें तान्त्रिक मानते हैं। उनके दूसरे भी ग्रन्थ होते हैं जो निगम, आगम, यामल, डामर उड्डीश, कक्षपुट इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। जहां तक मुझे मालूम है इन धर्म-ग्रन्थों को माननेवाले इन नामों से अभिहित नहीं होते। हां, आगमान्त शैव आगमवादी तथा आगमान्ति अवश्य कहलाते हैं।

यदि हम धर्म-ग्रन्थों को केवल एक नाम दें और उन्हें तन्त्र या आगम कहें तो, संक्षेप में, वे चार भागों में बँट जाते हैं जैसे वेद (संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्), आगम या तन्त्र-शास्त्र, पुराण और स्मृति। इस विभाग में आगम या तन्त्र-शास्त्र का प्रमाण आधुनिक काल में नहीं माना जाता है। परन्तु प्रामाणिक उल्लेख दिखला कर यह मत भ्रामक सिद्ध किया जा सकता है। मनु का प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट लिखता है—श्रुति दो प्रकार की है। एक वैदिक और दूसरी तान्त्रिक (वैदिकतान्त्रिका चैव द्विविधा श्रुतिः कीर्तिता) इसका सङ्केत आगम के मन्त्र-भाग से है। वैष्णव ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं—मेरी उपासना तीन प्रकार की है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। और कलियुग में केशव की आराधना तन्त्रों के अनुसार करनी चाहिए। देवी-भागवत में तन्त्र-शास्त्र वेदाङ्ग बताया गया है। रघुनन्दन के अष्टविंशतितत्त्व में तन्त्रों का प्रमाण दिया गया है। वह उन्हें दुर्गा की पूजा में नियत करता है जैसा कि उसके पूर्ववर्ती श्रीदत्त, हरिनाथ और विद्याधर एवं दूसरे आचार्यों ने किया है। आश्विन १३१७ की साहित्य-संहिता में महामहोपाध्याय यादवेश्वर तर्करत्न के 'तन्त्रेर प्राचीनत्व' नामक लेख में इनमें से कुछ तथा दूसरों का उल्लेख हुआ है। ताराप्रदीप तथा दूसरे ग्रन्थों में लिखा है कि कलियुग में तान्त्रिक धर्म का ही अवलम्बन करना चाहिए, वैदिक का नहीं। साधारणतया तन्त्रों की आधुनिकता एवं उनके अप्रामाणिक होने की धारणा भारतीयों ने अपने योरपीय गुरुओं से प्राप्त की है। यहाँ किसी विशेष प्रकार की उपासना की ओर मेरा संकेत नहीं है।

शाक्त-धर्म-ग्रन्थों में वेद के अन्तर्गत केवल ऋक्, यजुः, साम और अथर्व को ही नहीं लेते, किन्तु इनके साथ ही अथर्ववेद का उत्तरकाण्ड भी गिना जाता है। इस उत्तर-काण्ड का नाम इसके उपनिषदों के सहित सौभाग्य-काण्ड है। सायण ने केवल पूर्वकाण्ड पर ही अपना भाष्य लिखा है। ये सब संख्या में चौंसठ हैं। अभी तक मैंने इस बात का निश्चय नहीं किया है कि वास्तव में बात क्या है। इनमें से कुछ जैसे कि अद्वैतभाव, कौल, कालिका, उपनिषद् तथा और दूसरे एवं ईशोपनिषद् पर कौलाचार्य सदानन्द की टीका मैं शीघ्र ही प्रकाशित करनेवाला हूँ।

इसी मत के अनुसार निगम, आगम, यामल और तन्त्रों की भी वेद में गणना है। जो दूसरे शास्त्र वेद का अर्थ खोलते हैं, जैसे पुराण, स्मृति एवं इतिहास इत्यादि वे सब इन्हीं से निकले हैं। यही सब शास्त्र मिल कर शत-कोटि संहिता नाम को चरितार्थ करते हैं जो कि एक दूसरे के आधार से निकल कर इस प्रकार विकसित हुए हैं। सर्वविद्यासिद्ध सर्वानन्दनाथ अपने तान्त्रिक संग्रह में नारायणी-तन्त्र का प्रमाण देकर यह प्रकट करते हैं कि निगम से आगम निकला है। यहाँ मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि सम्मोहन तन्त्र में लिखा है कि केरल सम्प्रदाय दक्षिण है और वह वेदानुयायी (वेदमार्गस्थ) है और गौड़ (जिसके सर्वानन्दनाथ हैं) वाम है और वह निगम का अनुयायी है। इसी कारण उसने निगम को महत्त्व दिया है। वही सर्वतत्त्व विद्यासिद्ध आचार्य आगे लिखता है कि आगम से यामल निकला और यामल से चारों वेद। फिर वेदों से पुराण और पुराणों से स्मृतियाँ; एवं स्मृतियों से अन्यान्य शास्त्र। उसका कथन है कि पाँच निगम और चौंसठ आगम हैं। चार यामलों का भी उल्लेख है। कुछ लोग यह जान कर आश्चर्य करेंगे कि वेदों की उत्पत्ति यामलों से हुई अर्थात् वे इनके अन्तर्गत थे। इस सम्बन्ध में मैं नारायणी-तन्त्र का एक श्लोक उद्धृत किये देता हूँ।

ब्रह्मयामलसम्भूतं सामवेदमतं शिवे।
रुद्रयामलसंजातः ऋग्वेदो परमो महान्॥
विष्णुयामलसम्भूतः यजुर्वेदकुलेश्वरि।
शक्तियामलसम्भूतं अथर्वपरमं महत्॥

विरोधी सम्प्रदायों के लोग कुछ तन्त्रों को वेद-विरोधी बताते हैं। परन्तु इनके माननेवाले इस अभियोग का तिरस्कार करते हैं। उदाहरण के लिए जैसे कि नित्य षोडशिकाऽर्णव की टीका में पञ्चरात्र वेद-भ्रष्ट कहा गया है। इस बात में सन्देह नहीं है कि कुछ सम्प्रदाय वास्तव में अवैदिक थे, परन्तु समय की गति के अनुसार धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाण, विश्वास तथा क्रियाओं का विभिन्न प्रकार का सम्मिश्रण हो ही गया है।

जिस सिद्धान्त के अनुसार आगम एवं तत्सम्बन्धी दूसरे शास्त्र चारों (विकार) वेदों के साथ केवल तुल्य प्रामाणिक ही नहीं माने जाते, किन्तु उनसे पहले के भी

वे ग्रहीत होते हैं, उस सिद्धान्त को हम स्वीकार करें या न करें, पर हमें वास्तविक बातें माननी ही पड़ेंगी। वे कौन सी बातें हैं?

जैसा कि मैं कह चुका हूँ हिन्दू-धर्म के एक सम्प्रदाय का ऐसा रूप है जो परीक्षा करने पर मिश्रित मालूम पड़ता है। अब मैं इस बात का विचार शाक्तों की दृष्टि से नहीं, किन्तु निरपेक्ष की दृष्टि से करता हूँ। हमें यदि एक ओर अपनी संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के सहित चार वेद मिलते हैं तो दूसरी ओर वह ग्रन्थ-समुदाय है जो पाँचवाँ वेद कहलाता है और जिसके अन्तर्गत निगम, आगम तथा तत्सम्बन्धी दूसरे शास्त्र एवं कुछ मुख्य तान्त्रिक उपनिषद् हैं। ये तान्त्रिक उपनिषद् अथर्ववेद के सौभाग्य-काण्ड में शामिल हैं। वैदिक और तान्त्रिक कल्पसूत्र और सूक्त भी विद्यमान हैं जैसे कि तान्त्रिका देवी और मत्स्य-सूक्त। ब्रह्मसूत्र की जोड़ का अगस्त्यकृत शाक्तसूत्र है। जैसे, वैदिक संस्कारों की व्यवस्था है वैसे ही तान्त्रिक संस्कार भी होते हैं। वैदिक दस संस्कारों की तुलना तान्त्रिक अभिषेकों से होती है। इसी तरह वैदिक और तान्त्रिक दीक्षा (उपनयन और दीक्षा); वैदिक और तान्त्रिक गायत्री; वैदिक ॐ और तान्त्रिक बीज जैसे ह्रीं; वैदिक गुरु और देशिक गुरु इत्यादि जैसी बातों का जोड़ मिलता चला जाता है। ऐसा ही जोड़ का सादृश्य ओषधि, विधान और लेखन में भी विद्यमान है। वैदिक आयुर्वेद वनस्पतियों का उपयोग करता है तो तान्त्रिक धातुओं की भस्मों का। वैदिक धर्मपत्नी का जोड़ शैव स्त्री से मिलता है। वेदों में पञ्चतत्त्वों का मिलान तो पहले ही बतलाया जा चुका है। कोई कोई यह भी कहते हैं कि गौड़ इत्यादि देशों में एक विशेष प्रकार की तान्त्रिक लिपि का भी प्रचार था।

इन सब बातों का क्या अर्थ है? इस समय उनका निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह विषय ही भुला सा दिया गया है। अतएव लोगों को उसका ज्ञान बहुत ही कम है। किसी प्रकार के परिणाम, इस निश्चय के साथ कि वे सत्य हैं, उपस्थित करने के पहले हमें उन तान्त्रिक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए जो उपलब्ध हैं। परन्तु यह बात तुरन्त ज्ञात हो जायगी कि यदि, जैसा मैंने बताया है, इस प्रकार का मिश्रित क्रम रहा है तो उससे यह सूचित होता है कि वास्तव में धर्म के दो मार्ग थे जिनमें एक ने (सम्भवतः कुछ बातों में प्राचीनतर धर्म ने) दूसरे के कुछ अंश अपने में शामिल कर लिये एवं समय की गति के अनुसार उसे दबा भी दिया। वेदों और आगमों के सम्बन्ध में तान्त्रिकों के कथन का यही सार है। यदि ये दोनों प्रामाणिक नहीं हैं तो फिर देशिक गुरुओं एवं तान्त्रिक दीक्षा की ओर इतनी श्रद्धा क्यों प्रदर्शित की जाती है?

सम्भवतः प्राचीन काल में कई एक अवैदिक सम्प्रदायों का अस्तित्व था। वे वेदबाह्य थे। परन्तु समयानुसार उनमें कई एक वैदिक क्रियाएँ मिल गईं जैसे कि होम। उसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड में उनकी भी कुछ बातें आगईं। यह भी हो सकता है कि कुछ ब्राह्मणों ने इन अनार्य सम्प्रदायों को स्वीकार कर लिया हो जैसा कि आज-कल हम ब्राह्मणों को नीच जातिओं के धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करते देखते हैं और जो उन्हीं के नाम से पुकारे जाते हैं। ये दोनों शास्त्र कम से कम बराबर बराबर प्रामाणिक माने जाते थे। अन्त में वैदिक कर्मकाण्ड का लोप हो गया और स्मार्त धर्म एवं आगमों की क्रियाओं में उसकी छाप रह गई। जो विचार यहाँ प्रकट किये गये हैं इन्हें मैं निश्चयपूर्वक ठीक नहीं कह सकता। इनको केवल सूचना के रूप में ग्रहण करना चाहिए और ये इस उद्देश से व्यक्त किये गये हैं कि जब आगमों की उत्पत्ति की खोज की जाय तब इन पर विचार करना ही पड़ेगा। यदि ये विचार ठीक हों, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि वैदिक धर्मानुयायी आर्यों का प्रभाव दूसरे सम्प्रदायों पर ज़रूर पड़ा तो भी एतद्देशीय निवासियों के विश्वास तथा प्रक्रियाएँ ज्यों की त्यों आज तक बनी रहीं।

आज-कल के स्मार्त अपने को श्रौत बतलाते हैं यद्यपि श्रौत-कर्म-काण्ड में अनेक पौराणिक बातें शामिल हो गई हैं। प्राचीन वैदिक आचार का प्रतिपादक आर्यसमाज नाम की एक दूसरी संस्था भी वर्तमान समय में उठ खड़ी हुई है। मुझे ऐसा जान पड़ता है इसमें भी आधुनिकता आगई है। तान्त्रिक सम्प्रदाय का निदर्शक स्वयं वर्तमान समय का हिन्दू-धर्म है जो कि शैव, शाक्त, वैष्णव एवं अन्यान्य सम्प्रदायों में विभक्त है। [अपूर्ण]

——

देवीदत्त शुक्ल

प्रेमाकर्षण।

स्वाति वारि का चातक प्यासा
कभी नहीं तजता निज आशा
कितना भी दुख क्यों न पड़े पर होता नहीं हताश।
धैर्य सहित सब कुछ सहलेता
अन्य वारि पर दृष्टि न देता
निज प्रण पर वह है दृढ़ रहता, बुझे न चाहे प्यास॥

(२)

समुद कुमुदिनी है खिल जाती
जब रजनीपति दर्शन पाती
सूर्यदेव के कठिन ताप के दुख को जाती भूल
बहुत सुखद प्रेमी का मिलना
स्वाभाविक है उसका खिलना
अपने प्रेमी से मिलने पर सब जाते हैं फूल॥

(३)

शलभ दीप-दर्शन-सुख लेता
प्राण उसी पर गिर दे देता
पर न उसे मरने की कुछ भी होती है परवाह।
नहीं कभी जलने से डरता
बड़ी खुशी से है वह मरता
प्रेम-पन्थ के पथिकों को है जीवन की क्या चाह॥

(४)

शफरी क्या जीवित रह सकती
प्रिय-वियोग-दुख कब सह सकती
विना वारि के उसे कहाँ है क्षण भर भी विश्राम?
जुड़ा हुआ है जिससे नाता
प्राणी उससे मिल सुख पाता
स्वजन-वियोग सदा है दुखकर, किसे मिला आराम?

मणिराम गुप्त

जीवाणु।

सृष्टि के दृश्य पदार्थों के अतिरिक्त कुछ अदृश्य पदार्थ भी होते हैं। इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का हमारे दैनिक जीवन से बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है। हम इन्हें केवल सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा ही अवलोकन कर सकते हैं। जब हम इन्हें देखते हैं तब हमें मालूम पड़ता है कि इस दृश्य जगत् के अतिरिक्त एक अदृश्य जगत् भी है। इस जगत् के निवासी छोटे छोटे जीव हैं जो अपने स्वभावानुसार रात-दिन कार्य करते रहते हैं। यद्यपि हम इन जीवों को खुर्दबीन की मदद के बिना नहीं देखते तो भी उनके कार्यों का ज्ञान प्राप्त करने में सब लोगों को उतनी कठिनाई नहीं होती। इनके कार्यों के फल का विचार भी लोग करते हैं, परन्तु बुद्धि का पूर्ण विकास न होने के कारण वे यह कह कर उस ओर अधिक ध्यान नहीं देते कि पदार्थों में जो विकार उत्पन्न हो जाते हैं वे स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। पदार्थों में विकार एक प्रकार के इन्हीं अदृश्य सूक्ष्मजीवों के ही कारण उत्पन्न होता है जिन्हें जीवाणु कहते हैं।

ये जीवाणु वृक्षवर्ग के हैं। वृक्षवर्ग में भी इनकी गणना निम्न श्रेणी में की जाती है। इन जीवाणुओं का हमारे दैनिक कार्यों से गहरा सम्बन्ध रहता है। अतएव इनका पूरा पूरा हाल जानना परमावश्यक है। जीवाणु शास्त्र का ज्ञान न होने के कारण हमें बहुत हानि सहनी पड़ती है, क्योंकि जीवाणुओं की बदौलत हमारे रुचि-पदार्थ नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। कैसा भी मूल्यवान् पदार्थ क्यों न हो ये ज़रा भी दया नहीं करते। ये उसे शीघ्र ही मिट्टी में मिला देते हैं। इन्हीं के कारण हम बहुत से पदार्थ बाहर नहीं भेज सकते। बड़ी बड़ी बीमारियों के कारण भी यही हैं। हाँ, इनमें से कुछ ऐसे भी जीवाणु होते हैं जिनसे हमें व्यापारिक लाभ भी हो जाता है।

उदाहरणार्थ, जब दूध दुहा जाता है तब उसमें एक भी जीवाणु नहीं रहता। उस समय उसका स्वादु भी बहुत मधुर रहता है। परन्तु पाँच घण्टे बाद

उसी दूध के स्वादु में बहुत कुछ अन्तर हो जाता है। क्योंकि उतने ही समय में दूध जीवाणुओं से भर जाता है। फिर १४ घण्टे बाद वही दूध दही हो जाता है, दूध के स्वादु में अन्तर पड़ना और उसका दही के रूप में परिवर्तन होना जीवाणुओं ही के आक्रमण का फल है। दूध का दही हो जाना कुछ अधिक हानिकर नहीं है। क्योंकि उससे घी बनाया जा सकता है और तब कुछ हानि सह कर उसका मूल्य मिल सकता है। इसमें केवल एक दोष यही है, हम दूध को एक जगह से दूसरी जगह नहीं भेज सकते। इसके सिवा कभी कभी दूध इतना अधिक कड़वा हो जाता है कि वह खाने पीने के काम का नहीं रह जाता। यही क्यों, इसी दूध के द्वारा अनेक असाध्य बीमारियाँ पैदा होती हैं।

दूध से दही, मक्खन, घी, पनीर आदि जो आवश्यक वस्तुएँ बनती हैं उन सबको जीवाणुओं की अद्भुत सहायता का फल ही समझना चाहिए। अतएव इनके हानिकर तथा लाभदायक कार्यों को देख कर हमें इनकी जीवनी का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है जिससे हम हानि से बचें और लाभ उठावें।

पदार्थ

- सजीव
  - प्राणिवर्ग
  - वृक्षवर्ग
    - न फूलनेवाला
      - रीडोफ़ायटा
      - थैलोफ़ायटा
        - री दुरङ्गी रस्सी
        - खुम्बी
        - जीवाणु (ईस्ट)
        - जीवाणु (बेक्टेरिया)
      - ब्रायूयोफ़ायटा
    - फूलनेवाला
- निर्जीव
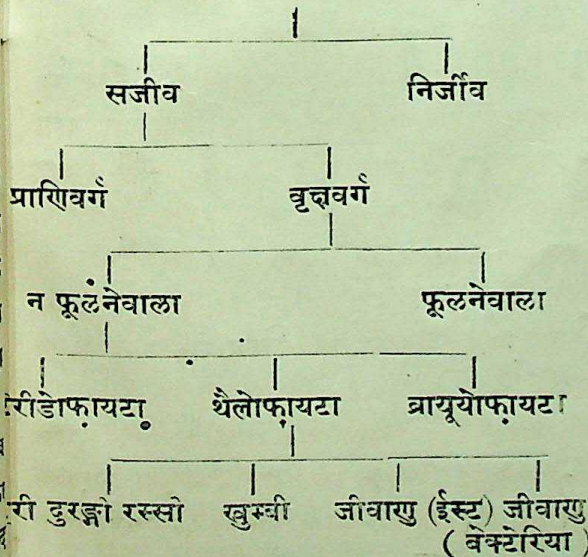
ऊपर के नक़शे से यह विदित होगा कि सृष्टि के सारे पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं:—(१) सजीव और (२) निर्जीव। सजीव पदार्थों का विभाग पुनः दो भागों में होता है:—(१) प्राणिवर्ग और (२) वृक्षवर्ग। वृक्षवर्ग भी दो भागों में विभाजित हैं:—(१) फूलनेवाले वृक्ष अर्थात् वे वृक्ष जो फूलते फलते हैं और (२) न फूलनेवाले वृक्ष। इसके बाद न फूलनेवाले वृक्ष तीन भागों में बँटे हैं:—

(१) टेरीडोफ़ायटा अर्थात् वे वृक्ष जिनके सब अवयव तथा जड़, पींड़, पत्ती आदि फ़ूलनेवाले वृक्ष के समान होते हैं, परन्तु वे फ़ूलते फलते नहीं हैं, जैसे फर्न, राजहंस इत्यादि।

(२) ब्राइयोफ़ायटा—अर्थात् इस वर्ग के वृक्षों के पत्ते और पींड़ तो होती हैं, परन्तु ये जड़हीन होते हैं। जड़ों के स्थान में नलियाँ ही होती हैं जो रिज़ायड कहलाती हैं। जैसे मौस, इलोडिया इत्यादि॥

(३) थैलोफ़ायटा—इस वर्ग के वृक्षों में जड़, पींड़ और पत्ती अलग अलग नहीं होतीं, परन्तु ये सब मिली हुई सिर्फ़ एक रस्सी के समान होती हैं। जड़, पींड़ और पत्ती का काम इसी रस्सी से होता है। थैलोफ़ायटा के भी चार विभाग हैं:—

(१) अलगी—यह अन्य तीन भागों से सहज में पहचाना जा सकता है, क्योंकि इसका रङ्ग हरा होता है। जैसे, काई इत्यादि।

(२) खुम्बी—ये बड़े और छोटे दो प्रकार के होते हैं। बड़े तो अन्य दो भागों से सहज ही में अपने बड़े आकार के कारण पहचाने जा सकते हैं, परन्तु छोटे के पहचानने में कुछ कठिनता होती है। प्राणियों और वृक्षों में छोटे छोटे खुम्बियों के कारण जो कई प्रकार की बीमारियाँ पैदा होती हैं वे इस तरह हैं:—

प्राणिवर्ग में	वृक्षवर्ग में
दाद	स्मट
खुजली	रेडरॉट
छिलटे	रस्ट
छाले इत्यादि	

छोटे खुम्बी को अन्य दो भागों से पहचानने के लिए जो चित्र नं० १ यहाँ दिया गया है उसमें दिखाया गया है कि इसमें शाखाएँ निकलती हैं।
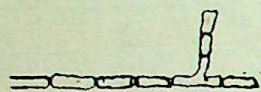
चित्र नं० १

(३) ईस्ट Yeast—इनका आकार प्रायः गोलाकार होता है और स्थानान्तर विशेषरूप से होता है जिसे Ameboid Movement कहते हैं।

चित्र नं० २

(४) जीवाणु (Bacterium)

(१) बहुत छोटे होते हैं।
(२) इनमें स्थानान्तर करने की शक्ति होती है।
(३) ये बहुधा प्राणियों में बीमारियाँ उत्पन्न करते हैं।
(४) इनमें शाखाएँ नहीं फूटतीं, किन्तु बढ़ने पर प्रत्येक अलग अलग हो जाता है. जैसे—

चित्र नं० २
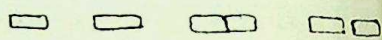
जीवाणु विषुवत्‌रेखा, ऊँचे ऊँचे पहाड़ों के शिखर तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। जिन पदार्थों में इनकी वृद्धि बहुत शीघ्र होती है वे दूध, गोबर, मैला इत्यादि हैं।

यदि हमें किसी प्रकार के जीवाणुओं की वृद्धि करना हो तो ऐसे ही पदार्थों का उपयोग करना चाहिए। वैज्ञानिक लोग आरगाल (Argol) का उपयोग करते हैं।

जीवाणु पाँच प्रकार के होते हैं :—
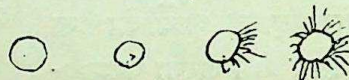
(१) अंडाकार — चित्र नं० ४
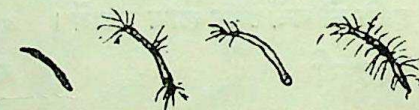
(२) अर्द्धधनुषाकार — चित्र नं० ५
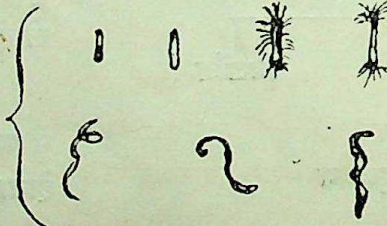
(३) दण्डाकार — चित्र नं० ६

(४) सर्पाकार — चित्र नं० ७

और (५) डोरिये — चित्र नं० ८

भिन्न भिन्न आकार के कारण ये जीवाणु सरलतापूर्वक एक दूसरे से विभिन्न किये जा सकते हैं। चित्रों को देखने से मालूम पड़ता है कि किसी किसी जीवाणु में बाल हैं और किसी किसी में नहीं हैं। ये बाल फ्लैजेला कहलाते हैं। इन्हीं के द्वारा जीवाणु स्थानान्तर करते हैं। जिस जीवाणु में फ्लैजेला नहीं होता वह स्थानान्तरित नहीं होता।

जीवाणु की सुषुप्त अवस्था—इस अवस्था में कोई कोई जीवाणु पाये जाते हैं, जैसे अंडाकार अर्धधनुषाकार और सर्पाकार। इस अवस्था के कारण असह्य घटनाओं के सहने में जीवाणु अपनी स्वाभाविक क्षमता की अपेक्षा अधिक समर्थ होते हैं। यदि इस अवस्था में प्राप्त कोई एक जीवाणु ६०° अंश सेन्टीग्रेड में नष्ट हो जाता है तो उसकी सुषुप्त अवस्था ६०° अंश में नष्ट होगी।

जीवाणुओं पर स्वाभाविक कारणों का प्रभाव

शीतलता और उष्णता सहने की शक्ति भिन्न भिन्न प्रकार के जीवाणु में भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। किसी किसी में उष्णता सहने की शक्ति अधिक होती है तो किसी किसी में शीतलता। जीवाणु की सुषुप्त अवस्था में यह शक्ति अधिक होती है। अगर हमें अमुक प्रकार के जीवाणु की वृद्धि के लिए शीत या उष्ण की स्थिति देखना हो तो हमें यह विचार करना चाहिए कि अमुक प्रकार का जीवाणु कहाँ स्वाभाविक रीति से वृद्धिगत था। उस स्थान की गर्मी या ठंडक उस जीवाणु के अस्तित्व के लिए अनुकूल है, यह जान लेने के बाद हमें भी उतनी ही गर्मी या ठंडक उस समय, जहाँ वह रक्खा जाय, पहुँचाना चाहिए।

(२) प्रकाश—यह एक दूसरी समस्या है जिससे जीवाणु का बहुत सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार का प्रकाश इनका नाशक है। जहाँ जीवाणु की वृद्धि की जाय वहाँ प्रकाश का बिलकुल ही अभाव होना चाहिए।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बहुत सी बीमारियाँ इन्हीं से उत्पन्न होती हैं, अतएव बीमारी रोकने के लिए यह परमावश्यक है कि हमारे निवास-स्थान में पूर्ण प्रकाश हो। यही कारण है कि प्रकाशित मकानों में रहनेवालों की अपेक्षा अँधेरी झोपड़ियों में रहनेवाले ग़रीब प्लेग का भक्ष्य अधिक बनते हैं।

(३) जल—अन्य जीवधारियों के सदृश जीवाणुओं को भी जल की ज़रूरत होती है। विषुवत्‌रेखा सरीखे स्थानों में, जहाँ पानी का अभाव होता है, ये भी नहीं पाये जाते। भिन्न भिन्न प्रकार के जीवाणुओं में पानी का अभाव सहने की शक्ति अलग अलग होती है। जीवाणु की सुषुप्त अवस्था बिना पानी के कई दिनों तक रह सकती है, पर सर्पाकार जीवाणु एक घण्टा भी नहीं रह सकता।

(४) हवा—पानी के समान हवा की भी इन्हें विशेष ज़रूरत है। परन्तु किसी किसी जीवाणु में ऐसी विचित्र शक्ति होती है कि वायु रहित स्थान में भी उनकी वृद्धि होती रहती है और उनके लिए हवा हानिकारक प्रतीत होती है। इसी कारण इनका विभाग वायु के प्रभाव के अनुसार भी किया गया है।

(१) हवाई—इनकी वृद्धि हवा में होती है और उसके अभाव में इनका विनाश होता है।

(२) अहवाई—जो वायु शून्य स्थान में रहते हैं और वायु उनके लिए नाशक है।

(३) आवश्यकतानुसार हवाई—कुछ ऐसे अहवाई जीवाणु होते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर हवाई के तुल्य भी रह सकते हैं।

(४) आवश्यकतानुसार अहवाई—ये हवाई जीवाणु हैं, परन्तु ज़रूरत पड़ने पर अहवाइयों के सदृश भी रह सकते हैं।

पूर्वोक्त कारणों के अनुकूल या प्रतिकूल होने से जीवाणुओं की वृद्धि तथा उनका विनाश होता है।

जीवाणु के कार्य—जीवाणुओं का मुख्य कार्य संयुक्त पदार्थों का खण्ड खण्ड कर सरल पदार्थों में परिवर्तित करना है। इस कार्य को ख़मीर कहते हैं।

उदाहरणार्थ—(१) ज्वार की माड़ी पर जब डायसटेस नाम का ख़मीर (Ferment) आक्रमण करता है तब जो विकार होता है वह इस तरह है।

इस ख़मीर के आक्रमण से माड़ी और पानी मिलकर माल्ट शक्कर और डेक्सट्रिन बना। यह कार्य डायसटेस नाम के ख़मीर से हुआ इसलिए इसे डायसटेटिक ख़मीर कहते हैं। माल्ट नाम की मिश्रित शक्कर पर जब ईस्ट (Yeast) नामक जीवाणु कार्य करता है तब माल्ट पानी से मिल कर (१) डेक्सट्रोज़ तथा (२) फ्रक्टोज़ नाम की सरल शक्कर में परिवर्तित हो जाता है। सरल शक्कर पर जब जाइमेर नाम का ख़मीर आक्रमण करता है तब उसकी शराब और कार्बन डाइ-आक्साइड गैस बनती हैं। इसी से व्यापारिक दृष्टि से शराब बनाई जाती है। दूध पर लैक्टिसी ऐसीडी नामक जीवाणु के आक्रमण करने से दूध की शक्कर पानी के परमाणु के सहारे लैक्टिक नाम का तेज़ाब बन जाता है। इसी तरह जीवाणुओं द्वारा अनेक पदार्थों के तरह तरह के हेर फेर हुआ करते हैं।

जीवाणु कभी कभी स्वतः इस कार्य को करता है और कभी कभी कार्यसिद्धि के लिए ये एक दूसरी ही चीज़ पैदा करते हैं जिसे निर्जीव ख़मीर कहते हैं। अतएव ख़मीर के कार्यकर्त्ता दो प्रकार के हैं:—

(१) ईस्ट नामक जीवाणु एक प्रकार के जीवित ख़मीर हैं।

(क) ये जीवाणु विषैले पदार्थ से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

(ख) अपने जीवस्तम्भन पदार्थों के रहने तक ये जीवाणु ख़मीर का कार्य अपरिमित समय तक चला सकते हैं। अर्थात् इनकी शक्ति अपरिमित है।

(ग) बहुत से जीवाणुओं में निर्जीव ख़मीर पैदा करने की शक्ति होती है।

(२) जीवाणु, ईस्ट, या किसी जीवधारिक कण तथा वानस्पतिक कण से निर्जीव ख़मीर उत्पन्न होता है। निर्जीव होने के कारण इनका कार्य जीवित ख़मीर के समान अपरिमित नहीं, किन्तु परिमित है। इस पर विषैले पदार्थ का कुछ भी असर नहीं होता।

आनन्दधर दीवान

मातृगुप्ताचार्य।

प्राचीन-काल में काश्मीर संस्कृत-विद्या का पीठ था। महाभाष्य पर प्रदीप लिखनेवाले कैयट, शैवागम लिखनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक वसुगुप्त, राजतरङ्गिणीकार कल्हण आदि विद्वानों की जननी काश्मीर-भूमि ही है। कविता के विषय में भी यह भूमि किसी अन्य प्रदेश से न्यून नहीं थी। महाकवि बिल्हण ने दावे के साथ लिखा है कि कविता-प्ररोह काश्मीर को छोड़ अन्य भूमि में नहीं उगता। क्यों न हो, जब हरविजय के कर्ता रत्नाकर, भल्लटशतक के कर्ता कवि भल्लट, दामोदर गुप्त, बिल्हण, क्षेमेन्द्र आदि कवियों ने यहीं जन्म लिया। आनन्दवर्धन, भामह, उद्भट, अभिनव गुप्त, मम्मट आदि साहित्य-मर्मज्ञों की उत्पत्ति भी इसी पवित्र भूमि में हुई है। अतएव बिल्हण की उक्ति सार्थक है। यहाँ हम काश्मीर के एक प्रसिद्ध

कवि का परिचय देना चाहते हैं । उनका नाम मातृगुप्ताचार्य है ।

मातृगुप्त के जीवन-काल के विषय में राजतरङ्गिणी ही हमारा एक-मात्र आश्रय है । उससे ज्ञात होता है कि मातृगुप्त जन्म से ही बड़े निर्धन थे, परन्तु उनके हृदय में कविता का अङ्कुर बाल्यावस्था से ही उग चुका था । किसी प्रकार का आश्रय न पाकर मातृगुप्त ने उज्जैन के प्रसिद्ध गुणग्राही विक्रमादित्य की सभा में अपनी कविता सुना कर द्रव्यप्राप्ति करने के विचार से प्रस्थान किया । परन्तु निर्धन की पूछ कहाँ, कवि होने पर भी निर्धनता के कारण महाराज के पास वे नहीं जा सके । द्वारपाल इन्हें भीतर जाने ही नहीं देते थे । कवि को बड़ा दुःख हुआ, जायँ तो कहाँ जायँ । तब राजा के द्वार ही पर वे टिक गये । जाड़े के दिन थे । विना वस्त्र के कवि को रात में नींद भी नहीं आती थी, बैठे बैठे आग तापा करते थे । अकस्मात् आधी रात को राजा ने द्वारपाल को पुकारा, परन्तु वे पड़े ख़र्राटे ले रहे थे । अवसर पाकर कवि ने निम्नलिखित पद्य में अपनी शोचनीय दशा का परिचय दियाः—

> शीतेनोद्धूषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः,
> शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे ।
> निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता,
> सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी ॥

पद्य का भाव यह है उड़द की फली की भाँति मैं पाले से घिसा जाता हूँ, होठ मेरे फट गये हैं, भूख के मारे मेरा कण्ठ कृश हो गया । मेरी यह दुरवस्था देख अपमानित भार्या की तरह नींद मुझे छोड़ कर कहीं चली गई है और सुपात्र को दी हुई पृथ्वी की तरह रात का नाश नहीं हो रहा है ।

महाराज विक्रमादित्य बड़े गुणग्राहक थे, कविता सुन कर बड़े प्रसन्न हुए । उसी समय काश्मीर का राजा हिरण्य निस्सन्तान मर गया था, गद्दी ख़ाली थी । अतएव कवि काश्मीर के राजा बनाये गये । जब हिरण्य का भतीजा प्रवरसेन द्वितीय, जो तीर्थयात्रा करने गया था, लौट कर आया, तब मातृगुप्त ने चार वर्ष राज्य करने के बाद सिंहासन ख़ाली कर दिया और संन्यासी बन काशी में जाकर रहने लगा ।

बस, मातृगुप्त के विषय में इतना ही ज्ञात है । डाकृर भाऊदाजी की राय है कि यही मातृगुप्त कविवर कालिदास हैं । उनके सिद्धान्त के पोषक प्रमाण नीचे दिये जाते हैंः—

(१) यह प्रसिद्ध दन्तकथा है कि विक्रम ने प्रसन्न होकर कालिदास को अपना आधा राज्य दे डाला ।

(२) 'मातृगुप्त' कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं है । यह विशेषण सा दीख पड़ता है । कालिदास तथा मातृगुप्त समानार्थक ही हैं ।

(३) राजतरङ्गिणी में बड़े बड़े कवियों का उल्लेख उनके समुचित ऐतिहासिक क्रम में किया गया है । इसमें लिखा है कि महाकवि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मन के आश्रित थे, परन्तु कालिदास का नामोल्लेख कहीं भी नहीं मिलता ।

(४) राजा प्रवरसेन की प्रार्थना पर कालिदास ने प्राकृत में सेतुकाव्य लिखा है । यह सेतुकाव्य के टीकाकार ने लिखा है । विद्यानाथकृत प्रतापरुद्र नामक आलङ्कारिक ग्रन्थ में, जो १२ वीं शताब्दी के अन्त में लिखा गया था, सेतुकाव्य से एक आर्या उद्धृत की गई है और वह काव्य 'महाप्रबन्ध' कहा गया है । दण्डी ने भी इसकी बड़ी प्रशंसा की है । राजतरङ्गिणी में लिखा है कि राजा प्रवरसेन ने वितस्ता नदी पर, जहाँ काश्मीर की राजधानी थी, एक पुल बनवाया था । बस, इसी सेतुबन्धन का वृत्तान्त सेतुकाव्य में दिया गया है ।

महाकवि बाण ने भी प्रवरसेन तथा सेतुकाव्य की प्रशंसा अपने हर्षचरित्र के प्रारम्भ में की है—

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

भाव यह है, जिस प्रकार वानरों की सेना ने सेतु के द्वारा सागर को पार किया था उसी प्रकार प्रवरसेन की निर्मल कीर्त्ति सेतुकाव्य के द्वारा समुद्र के पार पहुँच गई। इससे ज्ञात होता है कि राजा की प्रार्थना पर इस काव्य के लिखे जाने की बात सही है।

परन्तु मातृगुप्त को कालिदास कहना नितान्त अशुद्ध है। इसके विरोध में बहुत प्रमाण हैं। पहली बात यह है कि कालिदास के नाटकों के नान्दीपाठ से ज्ञात होता है कि वे शिव पार्वती के अनन्यभक्त थे; परन्तु राजतरङ्गिणी के कथनानुसार काश्मीर के राजा मातृगुप्त ने पशुहिंसा-निषेध से बौद्धों तथा जैनों को शान्त किया; विष्णु का मन्दिर बना कर वैष्णवों को प्रसन्न किया और सेतुकाव्य में पहले विष्णु का मंगलाचरण है, फिर शिव का। सबसे बड़ी बात यह है कि संस्कृत-साहित्य के इतिहास के ज्ञाता कल्हण ने कहीं पर भी एक साधारण सूचना तक नहीं दी है कि मातृगुप्त शकुन्तला के प्रसिद्ध लेखक थे। क्षेमेन्द्र की औचित्य-विचारचर्चा से ज्ञात होता है कि मातृगुप्त नाम के कोई महाकवि थे, परन्तु क्षेमेन्द्र ने कालिदास के श्लोकों को उद्धृत करते हुए दोनों के एक होने के विषय में कुछ भी इशारा नहीं किया है। राघवभट्ट ने शकुन्तला की टीका में मातृगुप्त के कई एक उद्धरण दिये हैं जिससे ज्ञात होता है कि यह महाकवि अलङ्कार-शास्त्र का लेखक था, परन्तु उसकी पुस्तक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। अतः यह निश्चय है कि मातृगुप्त तथा कालिदास भिन्न भिन्न कवि थे। औफ़ेक्ट ने ४३० ईसवी में इनका राज्यकाल बताया है।

क्षेमेन्द्र द्वारा उद्धृत पद्य यह है—

नायं निशामुखसरोरुहराजहंसः
कीरी कपोलतलकांततनुः शशाङ्कः।
आभाति नाथ! तदिदं दिवि दुग्धसिन्धु-
हिण्डीरपिण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम्॥

कवि राजा की स्तुति कर रहा है—हे राजन्! कपोल के समान सुन्दर चन्द्रमा प्रदोष-काल-रूपी कमलों का राजहंस नहीं है—कमलों में घूमता हुआ हंस नहीं है। यह तो आकाश में विचरण करनेवाला आपका यश है जो क्षीरसागर के फेन-समूह जैसा शुभ्र ज्ञात होता है। यदि हमारे कवि ने अलङ्कार-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखा है तो अवश्य ही यह पद्य अपह्नुति अलङ्कार के उदाहरण में आया होगा।

उपर्युक्त दो पद्यों को छोड़ कर मातृगुप्त के नाम से वल्लभदेव की सुभाषितावलि में एक पद्य और दिया गया है—

नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं
दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि।
निःशब्दवर्षणमिवाम्बुधरस्य राजन्।
संलक्ष्यते फलत एव तव प्रसादः॥

कवि राजा की स्तुति कर रहा है—हे राजन्! न तो तुम अपनी प्रशंसा करना पसन्द करते हो, न बनावटी वेशभूषा धारण करते हो। देने की इच्छा प्रकट नहीं करते, परन्तु अच्छे अच्छे फल देते हो। हे नृप! बिना गरजे मेघ की वृष्टि के समान तुम्हारी प्रसन्नता फल से ही ज्ञात होती है। फल के पहले कोई नहीं जानता!

कविवर के यही तीन पद्य मुझे ज्ञात हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कविता में प्रसाद गुण का बाहुल्य है तथा अलङ्कारों की भी अच्छी छटा है। कविवर के जीवन को जान कर कौन ऐसा होगा जो महाराज विक्रमादित्य की गुण-ग्राहिता तथा दान-शीलता की प्रशंसा शतमुख से न करेगा। यदि

मातृगुप्त स्वयं कालिदास नहीं थे तो भी उनकी रचना सूचित कर रही है कि वे सुकवि थे।

संस्कृत-साहित्य में मातृगुप्त का नाम केवल सुकवि होने ही से प्रसिद्ध नहीं है और न कविता के पुरस्कार में विशाल राज्य पाने के लिए है। बल्कि वे हयग्रीववध महाकाव्य के लेखक और वक्रोक्ति के आचार्य महाकवि भर्तृमेण्ठ के आश्रयदाता होने से अधिक विख्यात हैं। धन्य है वह कवि जो न केवल अपने ही कविता-मन्दिर में प्रविष्ट है बल्कि दूसरे सरस्वती-सेवकों का प्रोत्साहक तथा आश्रय देनेवाला भी है।

बलदेव उपाध्याय

आधुनिक नृत्य-कला।

हिन्दू-शास्त्रकारों ने कला के चौंसठ भेद बतलाये हैं। उनमें एक नृत्य-कला भी है। नृत्य-कला की उत्पत्ति का मुख्य कारण है मनुष्यों की सुख-लिप्सा। अङ्ग-सञ्चालन से सभी जीवधारियों को स्वाभाविक आनन्द होता है। कहा जाता है कि मेघों की ध्वनि सुन कर मयूर नाचने लगते हैं। परन्तु यह विशेषता सिर्फ़ मयूरों में ही नहीं है। सभी जीवधारियों को उछल-कूद करने और दौड़ने-भागने में सुख होता है। जीवधारियों के शरीर में जो प्राण-शक्ति है वह सदैव बाहर उद्गत होने की चेष्टा करती है। जब यह शक्ति क्षीण हो जाती है तब शरीर निस्तेज हो जाता है और फिर उछलने-कूदने में आनन्द नहीं आता। बालकों में क्रीड़ा करने की जो चाह रहती है उसका कारण यही है। उनके अङ्ग-अङ्ग फड़कते रहते हैं। चुपचाप तो उनसे बैठा ही नहीं जाता। इससे साफ़ प्रकट होता है कि मनुष्यों को अङ्ग-सञ्चालन में एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है और उसी सुख की वृद्धि के लिए नृत्य-कला की सृष्टि हुई है।

हिन्दू-जाति ने कला-कौशल में जो उन्नति की है वह धार्मिक भाव की प्रेरणा से। नृत्य-कला की उत्पत्ति भले ही स्वाभाविक सुख-लिप्सा के कारण हुई हो परन्तु उसकी उन्नति का कारण धार्मिक भाव है। आज-कल असभ्य जातियों में भी नृत्य धार्मिक उत्सवों में ही होते हैं। हिन्दू-जाति में नृत्य के प्रचार के विषय में जो कथा प्रचलित है उससे उसकी धार्मिकता सिद्ध होती है। कहा जाता है कि ब्रह्माजी ने एक बार स्वरचित एक नाटक का अभिनय कराया। उसमें महादेवजी भी उपस्थित थे। नाटक का अभिनय देख कर महादेवजी बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु आपने नृत्य का समावेश कराना चाहा। ब्रह्माजी भी इससे सहमत हुए। तब महादेवजी की आज्ञा से तण्डु ने भरत-मुनि को नृत्य के सब भेद बतलाये। ये नृत्य तण्डु से प्राप्त हुए थे, अतः इनका नाम ताण्डव पड़ा।

प्राचीन काल में भारतवर्ष अपने कला-कौशल के लिए विख्यात था। यहाँ सभी कलायें उन्नति की चरमावस्था को पहुँच गई थीं। नृत्य-कला की भी अच्छी उन्नति हुई थी। बड़े बड़े राजे-महाराजे इस कला के पृष्ठ-पोषक थे। इतना ही नहीं, उनके अन्तःपुर में भी नृत्य-कला का अच्छा मान था। महाभारत में लिखा है कि अर्जुन राजकुमारी उत्तरा को नृत्य-कला की शिक्षा देते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में मालविका का नृत्य-कला-कौशल बतलाया गया है। क्रमशः इस कला का अधःपतन होने लगा। आज-कल तो यह कला उन लोगों के पास रह गई है जिनका स्थान समाज में ऊँचा नहीं है। यही कारण है कि अब नृत्य-कला का आदर नहीं है। पाश्चात्य देशों में नृत्य-कला का अच्छा प्रचार है। वहाँ छोटे बड़े सभी लोग

नृत्य में सम्मिलित होते हैं। इससे उसकी बराबर उन्नति होती जा रही है।

आधुनिक पाश्चात्य नृत्य-कला का जन्मदाता फ्रांस है। फ्रांस में सभी देशों के नृत्यों का प्रदर्शन होता था और फिर नृत्य-कला-विशारद उनकी त्रुटियों की अच्छी तरह परीक्षा करते थे। तब उनका संशोधन किया जाता था। इसके बाद उसका प्रचार होता था। फ्रांस के नृत्यों में Minuet मिन्यूएट नामक नृत्य की बड़ी प्रसिद्धि हुई। यह सन् १६५० में फ्रांस देश में लाया गया। फिर इसको विशुद्ध रूप दिया गया और जब यह कला-कोविदों की दृष्टि में निर्दोष होगई तब इसका प्रचार बढ़ने लगा। चार्ल्स द्वितीय के समय में इसका प्रचार इँगलैंड में हुआ। पाश्चात्य देशों में पचीसों तरह के नृत्य प्रचलित हैं। उन सबका इतिहास है। नृत्य-कला पर सैकड़ों ग्रन्थ हैं। उसकी शिक्षा देने के लिए कितने ही आचार्य हैं। वहाँ नृत्य सामाजिक विधियों में सम्मिलित है। इसी लिए सभी लोगों को नृत्य का थोड़ा बहुत ज्ञान होता है। हम लोगों के लिए यह नृत्य-शास्त्र बड़ा जटिल है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि कभी हमारे देश में भी नृत्य-शास्त्र था जिसमें नृत्यों की सूक्ष्म विवेचना की गई थी। उसकी सूक्ष्मता का आभास पाठक निम्नलिखित अवतरण से पा सकते हैं।

"भिन्न भिन्न भावों का प्रकाशन करने के लिए, हाथ और पैर के संयोग से, विविध प्रकार के नृत्य होते हैं। चरण-हस्तादिकों को एकत्र करना नृत्यों का करण कहाता है। दो करणों की एक नृत्य-मातृका होती है। दो, तीन अथवा चार मातृकाओं का एक अङ्ग-हार होता है। भरतमुनि ने स्थिरहस्त, अपविद्ध, विष्कम्भ-पर्यन्तिक, मत्ताक्रीड, आक्षिप्त, अपराजित, स्वस्तिक, सूचीविद्ध, उद्योतित इत्यादि ३२ प्रकार के अङ्गहारों की गणना की है। करण भी १०८ प्रकार के होते हैं, जैसे पुष्पपुट, चलितोरु, विक्षिप्ताक्षिप्त इत्यादि। सुन्दर भावों द्वारा नृत्य के विराम दिखलाने को रेचक कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है—अर्थात् पाद-रेचक, कटि-रेचक, तृतीय और चतुर्थ रेचक।"

भारतीय नृत्य-शास्त्र की सूक्ष्मता इसी से प्रकट हो जाती है।

सलोमी का नृत्य।

सरस्वती में कुछ वर्ष पहले पण्डित गिरिधारी-लाल तिवारी नामक एक नर्त्तकाचार्य का संक्षिप्त परिचय निकला था। उसमें नर्त्तकाचार्यजी के विलक्षण नृत्यों का वर्णन था। नर्त्तकाचार्यजी की

कला की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आप लोगों के हृदय में अलौकिकता का भाव ला देते थे। आप तलवारों पर, आरों की धारों पर, पहिये पर लगी हुई कीलों की नोकों पर सुगमतापूर्वक नाचते थे। अपने शरीर का हलकापन दिखाने के लिए आप फर्श पर शकर के बताशे बिछवा कर उन पर नाचते थे। बताशा एक भी नहीं फूटता था। आपके नृत्यों से दर्शक विस्मय-विमुग्ध अवश्य हो जाते रहे होंगे। पर क्या उनके चित्त पर नृत्यों का प्रभाव चिरस्थायी होता था? कला के दो उद्देश हैं, एक तो यह कि उससे मनोरञ्जन हो और दूसरा यह कि उससे हृदय उन्नत हो। तिवारीजी की असाधारण नृत्य-कला से मनोरञ्जन अवश्य होता था, परन्तु उसमें कौतूहलोद्दीपन के सिवा अन्य भावों के उद्रेक करने की शक्ति नहीं थी। जो बात असाधारण होती है उस पर मनुष्यों का चित्त आकृष्ट होता है। इसी लिए कला का पहला गुण असाधारणता है। कला-कोविद की कृति ऐसी होती है कि वह अन्य लोगों के लिए अगम्य हो। परन्तु असाधारणता के साथ ही वह बात होनी चाहिए जो सभी लोगों के हृदय में हो। जब चित्रकार कोई चित्र अङ्कित कर देता है तब लोग उसकी असाधारणता पर मुग्ध हो जाते हैं, परन्तु जब वे देखते हैं कि चित्र उनके ही हृदय का प्रतिबिम्ब है तब वे उसमें तन्मय हो जाते हैं। किसी भी कला की उत्कृष्टता का सबसे अच्छा प्रमाण यह तन्मयता ही है। असाधारणता से विस्मय प्रकट होता है, परन्तु साधारणता से तन्मयता होती है। बाजीगरों का तमाशा देख कर कोई तन्मय नहीं होता, क्योंकि उसमें सिर्फ़ विलक्षणता रहती है। उससे दर्शकों के चित्त में कौतूहल-मात्र होता है। पर समान भावों की उत्पत्ति से अर्थात् सहानुभूति के उद्रेक से तन्मयता होती है।

आधुनिक नृत्य-कला में अब भावों की अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। मन में जो भाव उदित होता है वह शरीर के द्वारा प्रकट किया जाता है। जो अलक्षित है वह दृग्गोचर होता है। जो इन्द्रियातीत है वह इन्द्रिय-ग्राह्य बनाया जाता है। कल्पना मूर्तिमती हो जाती है। नृत्य-कला में मिस ऐलन की अच्छी प्रसिद्धि है।
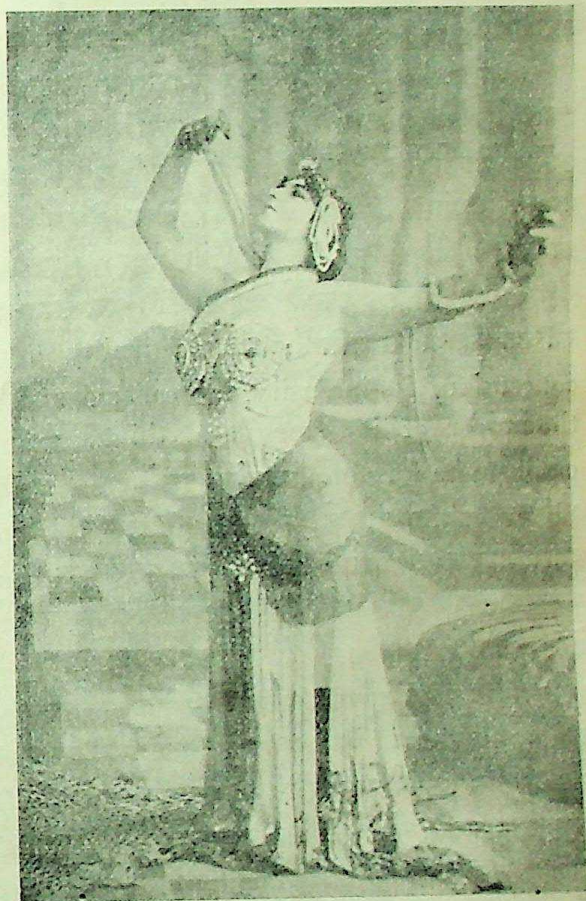
क्लियोपाट्रा का नृत्य।

वह अपने अङ्ग-सञ्चालन से मनोगत भाव को प्रत्यक्ष कर देती है। उसका कथन है कि जितना ही विलक्षण भाव होगा उतना ही विलक्षण शरीर के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होगी। नृत्य को हम नीरव सङ्गीत कह सकते हैं। मिस ऐलन के कई नृत्य

प्रसिद्ध हैं। पर उसका सर्वश्रेष्ठ नृत्य है Vision of Salome' बाइबिल में एक कथा है। सलोमी नाम की एक युवती हेरोद के पास नाचने गई। अपने नृत्य से राजा को प्रसन्न कर उसने जान नामक धर्म-गुरु को प्राण-दण्ड दिलाया। इसके बाद अचानक उसने देखा कि उसका पाप कितना भीषण है। इसी कथा को मिस ऐलन ने अपने नृत्य से प्रत्यक्ष कर दिया है। यहाँ जो पहला चित्र दिया जाता है उसमें इसी नृत्य का दृश्य अङ्कित किया गया है। सलोमी का यह नृत्य अब खूब प्रसिद्ध हो गया। मिस ऐलन ने इससे धन और यश दोनों प्राप्त किये। अमरीका और योरप के सभी देशों में यह नृत्य लोक-प्रिय हो गया है। बड़े बड़े कला-कोविदों ने इसकी प्रशंसा की। एक समालोचक की यह सम्मति है; Its originality of conception, its intensity, its realism, and the horror of its story are things not easily to be forgotten अर्थात् इसमें भाव की मौलिकता है, तीव्रता है, यथार्थता है और कथा की भयोत्पादकता है। ये सब बातें मन में अङ्कित हो जाती हैं। एक बार देखने से फिर वे चिरस्मरणीय हो जाती हैं।

अब एक दूसरी नर्तकी का कला-नैपुण्य सुनिए। इस नर्तकी का नाम है आडेट वेलेरी। इसकी राय है कि नृत्य सर्वश्रेष्ठ सङ्गीत का मूर्तिमान् रूप है। इसकी नृत्य-कला का नमूना है क्लियोपाट्रा नामक नृत्य। इस नृत्य में क्लियोपाट्रा की समस्त जीवन-कथा अङ्ग-सञ्चालन द्वारा व्यक्त की जाती है। जिन्होंने शेक्सपियर के अन्टोनी और क्लियोपाट्रा नामक नाटक एक बार भी पढ़ा है वे क्लियोपाट्रा को भूल नहीं सकते। क्लियोपाट्रा की कथा कल्पित नहीं है यद्यपि शेक्सपियर ने उसे कल्पना के रङ्ग में रँग दिया है। क्लियोपाट्रा मिस्र देश की रानी थी। उसकी मृत्यु के विषय में एक कथा प्रचलित है। कहा जाता है अन्टोनी ने उसके पास फूल भेजे। उन फूलों में सर्प छिपा हुआ था। जब क्लियोपाट्रा ने उन फूलों को ग्रहण किया तब सर्प उससे लिपट गया। क्लियोपाट्रा ने सर्प को वशीभूत करने की चेष्टा की। वह उसके साथ कुछ देर तक खेलती रही। अन्त में सर्प ने उसे

तितली का नाच।

काट खाया। वेलेरी अपने नृत्य में यह भाव बड़े कौशल से प्रकट करती है। उसने तीन सर्प पाल रक्खे हैं और इन्हीं सर्पों को गले में डाल कर वह नाचती है। कहना नहीं होगा कि ये विषधर सर्प नहीं हैं। यहाँ जो दूसरा चित्र दिया गया उसमें यही दृश्य अङ्कित है।

एक और विलक्षण नृत्य है The Dancr of the Butterfly अर्थात् तितली का नाच। इसका भी चित्र यहाँ दिया गया है। जो नर्तकी इस नृत्य में निपुण है उसका नाम है फिलिस मांकमैन। इसमें तितली का जीवन प्रदर्शित किया जाता है। इसके लिए बड़े परिश्रम से पोशाक तैयार की जाती है।

जो देश ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न हैं वे नृत्य-कला को उन्नत कर आमोद प्रमोद में निरत हो सकते हैं। पर जो देश दुःख-दारिद्र्य से पीड़ित हैं, रोग-शोक से जर्जर हैं, उसके लिए नृत्य-कला का यह भव्य दृश्य किस काम का?

हरिनारायणलाल श्रीवास्तव

डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार।

बङ्गाल के सुपुत्रों में डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार की गणना है। यद्यपि उनके नश्वर शरीर को नष्ट हुए कई वर्ष हो गये तथापि उनकी कीर्ति अभी तक सुरक्षित है। उनका नाम बङ्गाल में छोटे बड़े सभी लोग जानते हैं। अपने ही उद्योग से उन्होंने यह उच्च पद प्राप्त किया था। दरिद्र-वंश में उनका जन्म हुआ था। बाल्यकाल में ही वे मातृ-पितृ-हीन होगये थे। तो भी उन्होंने अपने जीवन-काल में स्पृहणीय कीर्ति और अलभ्य प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। स्वावलम्बन और पुरुषार्थ के ऐसे उदाहरण हमारे देश में कम हैं। हमें आशा है कि सरकार महोदय के संक्षिप्त जीवनचरित से भी पाठकों को कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य मिलेगी। इसी लिए हम यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं।

सन् १८३३, २ नवम्बर, को हवड़ा नगर के पास पाइपाड़ा नामक गाँव में महेन्द्रलाल सरकार का जन्म हुआ। आपके पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, पर वे सच्चरित्र थे। जब महेन्द्रलाल पाँच वर्ष के हुए तब उनकी माता उन्हें और उनके छोटे भाई को लेकर बहूबाज़ार में आगई। यहीं, थोड़े ही दिनों के बाद, उनके पिता का शरीरान्त होगया। तब महेन्द्रलाल के पालन-पोषण और शिक्षा का भार उनके छोटे मामा, महेन्द्रचन्द्र घोष, पर पड़ा। इसके चार वर्ष बाद उनकी माता की भी अचानक मृत्यु होगई। इस प्रकार नौ ही वर्ष की उम्र में महेन्द्रलाल मातृ-पितृ-हीन होगये। बाल्य-काल में ही माता-पिता के स्नेह और आश्रय से वञ्चित होने पर वे अपने पुरुषार्थ से संसार-यात्रा में जीवन-साफल्य प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हुए।

छोटी उम्र में ही महेन्द्रलाल का विद्यारम्भ हो गया। पहले उन्होंने अपने गुरु की पाठशाला में कुछ समय तक शिक्षा प्राप्त की। फिर उन्होंने हेअर स्कूल में अपना नाम लिखाया। वहाँ से उत्तीर्ण होकर और वज़ीफ़ा पाकर वे हिन्दू-कालेज में भर्ती हुए। यहाँ उन्हें प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान् अध्यापकों से शिक्षा पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इससे उनकी विद्याभिरुचि खूब बढ़ी। इसी समय उनके हृदय में विज्ञान की चाह उत्पन्न हुई। विज्ञान-शास्त्र में पारङ्गत होने के लिए उनकी इच्छा क्रमशः बलवती होती गई और अन्त में आप इसी अभिप्राय से कलकत्ता के मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हुए। सन् १८५५ में उनका विवाह हुआ। १८६० में ६ वर्ष तक अध्ययन करने के बाद महेन्द्रलाल मेडिकल कालेज से डाक्टर होकर निकले। अध्ययन-काल में उनकी विलक्षण बुद्धि और अध्यवसाय से कालेज के सभी अध्यापक उनसे प्रसन्न थे। वे अपने पाठ्य विषय को इतने मनोयोग से पढ़ते थे कि चिकित्सा-शास्त्र के कुछ विषयों में वे अपने अध्यापकों के समकक्ष होने की योग्यता रखते थे। कुछ अध्यापकों ने उन्हें सलाह दी कि वे चिकित्सा-शास्त्र की सर्वोच्च परीक्षा एम० डी० के लिए तैयारी करें। उनकी सलाह मान

कर महेन्द्रलाल ने एम० डी० की परीक्षा दे डाली और फिर एम० डी० की उपाधि प्राप्त कर उन्होंने कलकत्ता में ही चिकित्सा का कार्य आरम्भ किया।

थोड़े ही दिनों में अच्छी चिकित्सा करने के कारण उनका यश चारों ओर फैल गया। यदि वे इसी चिकित्सा-पद्धति का अनुसरण करते रहते तो वे कुछ ही दिनों में ख़ासा धन पैदा कर लेते। परन्तु अर्थ-प्राप्ति के मार्ग में उन्हें एक विघ्न का सामना करना पड़ा। वह विघ्न था अन्तःकरण की निर्मलता। एलोपेथी की चिकित्सा-प्रणाली में उन्हें सन्देह होने लगा। इसी समय कलकत्ता में उदारचेता बाबू राजेन्द्रदत्त होमियोपैथी की चिकित्सा-पद्धति का अवलम्बन कर रोगियों की चिकित्सा करते थे। उन्हीं के कहने से महेन्द्रलाल ने भी होमियोपैथी का अध्ययन किया और उन्हें इस चिकित्सा-प्रणाली की उपयुक्तता पर दृढ़ विश्वास होगया। महेन्द्रलाल बड़े स्थिर-चित्त थे। जब उन्होंने देख लिया कि होमियोपैथी की चिकित्सा-प्रणाली फल-प्रद है और एलोपैथी हानिप्रद, तब उन्होंने एलोपैथी को छोड़ दिया और होमियोपैथी को स्वीकार कर लिया। इससे उनकी बड़ी आर्थिक हानि हुई, क्योंकि सर्व-साधारण में होमियोपैथी का प्रचार नहीं था। परन्तु डाक्टर सरकार को इस आर्थिक हानि से ज़रा भी दुःख नहीं हुआ। उन्हें विश्वास था कि वे उचित मार्ग पर चल रहे हैं। अतएव कर्तव्य-निष्ठा से जो प्रसन्नता का भाव होता है उससे उनके चित्त को बड़ी शान्ति मिलती थी। नवीन चिकित्सा-प्रणाली का अनुसरण करने के कारण उनकी कीर्ति-वृद्धि
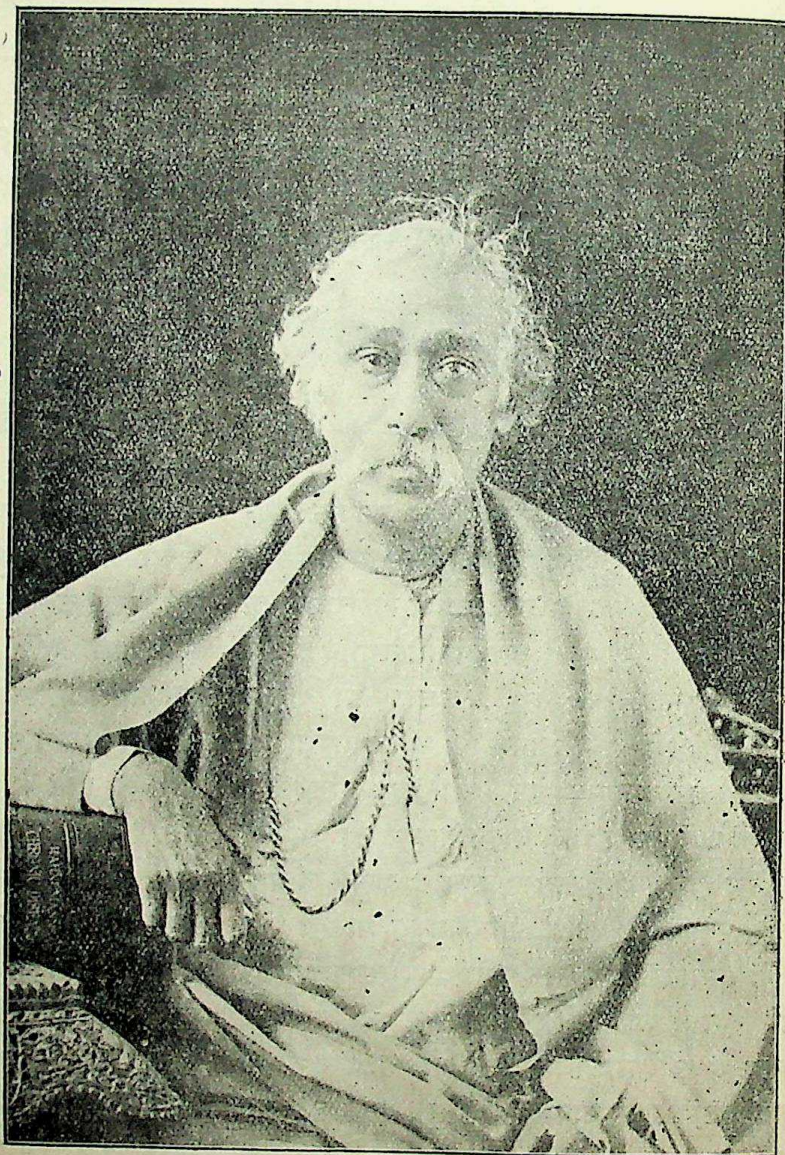
डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार।

होने लगी। उनके पास कितने ही रोगी आये और सभी रोग-निर्मुक्त होकर लौटे।

डाक्टर सरकार की यह बड़ी इच्छा थी कि भारतवर्ष में वैज्ञानिक शिक्षा का ख़ूब प्रचार हो। यह तो सभी जानते हैं कि योरप और अमरीका ने विज्ञान का ही आश्रय ग्रहण कर इतनी उन्नति की है। डाक्टर महोदय जानते थे कि जब तक भारतवर्ष विज्ञान के पथ पर अग्रसर नहीं होगा तब तक उसकी उन्नति होने की नहीं। अतएव महेन्द्रलाल जीवन भर यही प्रयत्न करते रहे कि भारत में विज्ञान की उन्नति हो। सन् १८७६ में उन्होंने एक विज्ञान-सभा स्थापित की। इस सभा की उन्नति के लिए उन्होंने ख़ूब परिश्रम किया। सच तो यह है कि इस विज्ञान-सभा के द्वारा आपने स्वदेश की भविष्य उन्नति का द्वार उन्मुक्त कर दिया। उनके जीवन का यही एक व्रत था कि यह सभा वृक्षरूप में परिणत होकर सुफल दे। भारतवर्ष में आज-कल बङ्गाल विज्ञान का क्षेत्र हो रहा है। कौन नहीं कहेगा कि महेन्द्रलाल का जीवन-व्रत सफल हो गया। सन् १९०४ में उनकी मृत्यु होगई।

हरिप्रसन्न घोष

मृत्यु-द्वार।

क्या मृत्यु के समय किसी प्रकार की दारुण वेदना सहन करनी पड़ती है? ऊपर से देखते तो यही मालूम पड़ता है कि मृत्यु-काल बड़ा भयङ्कर होता है। साधारणतया जब लोग किसी को मरते देखते हैं तब उनका कलेजा कांपने लगता है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि मरणोन्मुख प्राणी के प्राण बड़ी कठिनाई से निकलते हैं और वह अपनी उस दशा में इस प्रकार छटपटाने लगता है कि देखनेवाले तक घबड़ा जाते हैं। परन्तु यह कोई नहीं जानता कि उस अवस्था में आत्मा को किसी प्रकार की शारीरिक पीड़ा का अनुभव होता है। निश्चय-पूर्वक यह बात वही कह सकता है जो मर कर एक बार फिर जी उठा हो। ऐसी घटनाएँ कभी कभी यहां भी सुनी गई हैं कि अमुक व्यक्ति मर कर फिर जीवित हुआ है। परन्तु लोगों का ध्यान इस ओर कभी नहीं गया कि उनके अनुभव की जांच की जाय। हां, जर्मनी के एक विद्वान् डाक्टर ने एक पुस्तक लिख कर इस विषय पर प्रकाश डाला है। इनका नाम बर्न्ट है। बर्न्ट साहब का कथन है कि मृत्यु से किसी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव होता है, यह समझना एक भारी भ्रम है। अपने इस कथन के समर्थन के लिए उन्होंने जो पुस्तक लिखी है उसमें उन्होंने उन लोगों के बयान संग्रह किये हैं जिनके सम्बन्ध में डाक्टरों ने कह दिया था कि वे मर जायँगे। ये बयान उन्हीं लोगों के हैं जो संयोग-वश मरते मरते बचे थे अथवा यह कहना चाहिए कि जिनका पुनर्जन्म हुआ था। उक्त डाक्टर महोदय द्वारा संग्रहीत बयानों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मृत्यु कष्टकारक घटना नहीं है, किन्तु वह अत्यन्त आनन्ददायक है। ये बयान बुद्धिमान् व्यक्तियों के हैं जो उस समय की अपनी मानसिक दशा का याथातथ्य वर्णन करने में सब प्रकार समर्थ थे। उनके बयानों से यह प्रतीत होता है कि वास्तव में मर्माहत करनेवाली बात केवल मृत्यु का भय है। और जब कोई व्यक्ति मृत्यु-मार्ग के एक विशेष भाग का अतिक्रमण कर जाता है तब उक्त भयजनित पीड़ा भी अपने आप ही लोप हो जाती है। अनेक लोगों ने अपने बयान में यह बात स्वीकार की है कि जब हम से यह कह दिया गया कि अब तुम्हारा अवसान होता है उस समय हमें असीम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा था। पाठकों के मनोरञ्जन के लिए इन्हीं बयानों में से कुछ का उल्लेख आगे किया जाता है।

आल्प्स् पहाड़ की कारपेस्टाक नामक शिखर से गिरनेवाले अर्नोल्ड सीग्रिट का बयान पहले दिया जाता है। वह कहता है—

"जो लोग अलपाइन—अवरोहण के सम्बन्ध में अनुराग रखते हैं उन्हें कारपेस्टाक शिखर से मेरे गिरने की बात भले प्रकार ज्ञात होगी। यह दुर्घटना अपने ढङ्ग की एक ही है। जहां तक जाना जा सका है उतनी अधिक ऊँचाई से कभी कोई नहीं गिरा। इतने अधिक ऊँचे स्थान से

पहले पहल मैं ही गिरा हूँ और संयोगवश उस दुर्घटना का हाल कहने को बच गया हूँ।

इस दुर्घटना के संघटित होने के समय हमारे दल में दो निपुण फ़ोटोग्राफ़र भी थे। जब दूसरे लोग मुझे गिरते देख मेरी लाश ढूँढ़ने को रवाना हुए थे उस समय वे दोनों फ़ोटोग्राफ़र मेरे गिरते समय के चित्र लेने में व्यस्त थे! इस तरह उन्होंने मेरे गिरने के समय से लेकर ज़मीन तक पहुँचने के कई चित्र ले लिये थे। ये चित्र इस समय 'स्वीस अल्पाइन क्लब' में सुरक्षित रक्खे हैं।

जिस दिन यह घटना हुई थी उसी दिन कारपेस्टाक की दुर्गम चढ़ाई में हम लोगों ने सफलता प्राप्त की थी। हम लोग सबसे अधिक ऊँचे शिखर पर चढ़ गये थे। वह शिखर उक्त पहाड़ पर स्तम्भ की भाँति स्थित था। वह दो हज़ार फुट ऊँचा था। उस शिखर और पहाड़ के बीच एक बहुत गहरा और तङ्ग गड्ढा था। हम इसे रस्से की सीढ़ी से पार करके उस शिखर पर चढ़ने के मार्ग तक पहुँच सके थे। यह बड़ी भारी जोखिम का काम था। तो भी हमने साहस करके उसे पार कर लिया। इसके बाद हम उस दुर्गम शिखर पर चढ़ने लगे। जब हम लोग उसकी चोटी पर जा पहुँचे तब सब लोग थक गये थे, किसी में ज़रा भी हिम्मत न रह गई थी।

दूसरों की अपेक्षा मुझमें कुछ उत्साह बाक़ी था, अतएव इस सफलता की उमङ्ग में मेरी यह इच्छा हुई कि मैं कुछ और चढ़ कर ठीक चोटी पर जा बैठूँ और वहाँ के सारे प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करूँ। मैंने झट वह रस्सी खोल डाली जिससे हम सब लोग एक दूसरे से बँधे थे। मैं अकेला ही चोटी पर जा चढ़ने को रवाना हुआ। कोई आध घंटा तक चढ़ते रहने के बाद मैं एक स्थान पर बैठ गया। मैं वहाँ का दृश्य बड़े ध्यान से देखने लगा। मेरा मन उच्च और श्रेष्ठ विचारों से परिपूर्ण था। इसी बीच में मुझे सहसा यह मालूम हुआ कि मेरे पैरों के नीचे की भूमि अपना स्थान छोड़ रही है और मैं भी उसी के साथ सामने के खड्डे में पहुँचना चाहता हूँ। उस चोटी का यह किनारा जिस पर मैं बैठा था, सम्भवतः बर्फ़ के कारण फट गया था और मेरे बोझ से वह अपने भाग से बिलकुल अलग हो गया था। इसी से वह खिसकने के लिए एका-एक डगमगा उठा। पीछे की ओर पलटा खाकर मैंने अपने बचाव की चेष्टा की, परन्तु इसमें सफल होने के लिए अवसर नहीं था। क्षण ही भर में मैं हवा में कला-बाज़ियाँ खाने लगा।

उस समय आँधी चल रही थी। अतएव मैं उतनी शीघ्रता से नीचे न आसका जितना कि मुझे आना चाहिए था। यह बात प्रत्यक्ष देख पड़ती है कि आकाश में उड़ती हुई चिड़िया बिना अपने बाज़ुओं को डुलाये उड़ती जाती है। यह बात तभी हो सकती है जब वायु की गति वेगवती होती है। अस्तु, नीचे पहुँचने में इस गति का अनुभव मैंने बड़े आनन्द के साथ किया। अपने आस-पास की वस्तुओं पर विचार करने के लिए मुझे काफ़ी समय मिल गया था। यह बात तो मुझे मालूम ही हो गई कि अब मैं मरा, परन्तु इससे न तो मुझे डर ही लगा और न किसी तरह की व्यथा ही हुई। मैं कह सकता हूँ कि यदि मुझे अपनी जान बचाने के लिए व्यर्थ प्रयत्न करने का भी अव-सर मिल जाता तो मैं भय से अवश्य उद्विग्न हो जाता। परन्तु जब मैं अपनी सहायता अपने आप करने को सर्वथा असमर्थ था तब मुझे किसी तरह की चिन्ता करने के लिए कोई गुञ्जायश ही नहीं थी।

क्षण भर के लिए मुझे अपने सोने की घड़ी के लिए बड़ा रञ्ज हुआ। मैं उसे लगाये था और वह शीघ्र ही चूर चूर हो जाने को थी। परन्तु वह विचार जैसे उठा, वैसे ही जाता रहा। मेरी मानसिक दशा स्पष्ट रीति से प्रियकारक थी। मेरी वैसी ही दशा थी जैसी किसी बहुत ही शीघ्र चलनेवाले मोटर के सवार की हो। मेरी निगाह अपने साथियों पर जा पड़ी जो घबड़ाये जैसे मेरी ओर देख रहे थे। फ़ोटोग्राफ़र अपने कैमेरा मुझ पर लगाये हुए थे, यह भी मुझे दिखाई पड़ा। आँधी मुझे पहाड़ से उड़ा लाई थी और सम्भवतः इसी से मेरे प्राण बच गये। इसके कारण मुझे ज़मीन तक पहुँचने में कुछ विलम्ब हो गया और इस तरह मैं खुली चट्टान पर गिरने से बचा। जब मैं पहाड़ से कुछ दूरी पर था तब मुझे उसका नक़शा स्पष्ट दिखाई दिया। वह मुझे वैसा ही दिखाई दिया जैसे रेल के यात्री को दूरस्थ स्थान दिखाई देते हैं।

मेरा मस्तिष्क ख़ूब तेज़ी के साथ काम कर रहा था।

मुझे समय का ज्ञान कुछ भी न था। यद्यपि मैं वायु-मण्डल में एक ही दो क्षण रहा हूँगा तो भी मुझे ऐसा समझ पड़ा कि मैं बहुत देर तक रहा हूँ। मुझे अपनी स्त्री और बाल-बच्चों का स्मरण हुआ! जब यह बात मेरे ध्यान में आई कि वे मुझसे छूट रहे हैं तब मुझे बहुत ही भारी दुःख हुआ। परन्तु इस बात का स्मरण होते ही कि उन्हें मेरी मृत्यु के बाद बीमा कम्पनी से एक अच्छी रक़म प्राप्त होगी, मुझे हँसी आगई। क्योंकि कम्पनी को बीमा किये अभी एक ही महीना हुआ था और उसे पहली ही किश्त मिली थी।

इसके बाद मुझे परम सुख का अनुभव होने लगा। इस हाड़-मांस के शरीर का परित्याग करके मैं अमरत्व के जगत् में प्रविष्ट हो गया था। अब मुझे मनुष्य के अस्तित्व की प्रत्येक बात स्पष्ट दिखाई देने लगी। झगड़ा, रञ्ज और दरिद्रता से बचने के लिए मनुष्य को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए यह बात मेरी समझ में अच्छी तरह आगई। परम सुख का रहस्य मुझे मालूम हो गया।

मैंने अपने मन में कहा—यदि मैं पृथ्वी पर फिर लौट सकता तो मैं संसार का कल्याण किसी दार्शनिक की अपेक्षा अधिक करता। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों मेरे कानों में आनन्दपूर्ण शान्ति गुञ्जायमान हो रही है और सूर्य, पहाड़ तथा जङ्गल सबके सब गा रहे हों। मेरी देह किसी वस्तु से रगड़ कर छिल गई है, इसकी कुछ भी ख़बर मुझे नहीं थी। परन्तु वास्तव में मैं कई बार टकराया था। जैसी घटना सङ्घटित हुई थी और जो मुझे बाद को मालूम हुई, केवल वही मैं बयान कर सकता हूँ। जब मैं एक हज़ार फुट की ऊँचाई से गिरा तब मेरी देह लगभग पहाड़ के सीधे ढलुए भाग पर जा गिरी जो घने वृक्षों से आवृत था। यदि मैं किसी सफाचट स्थान पर गिरा होता तो मेरी हड्डियाँ चूर चूर होगई होतीं। पर संयोगवश मैं एक नये वृक्ष की पतली डालियों पर गिरा और शीघ्रता से लड़खड़ा कर उनके बीच से निकल गया। तब दूसरे वृक्ष पर जा गिरा, फिर तीसरे पर। इस तरह मैं रुक रुक कर गिरा। जब मैं आख़िरी वृक्ष पर गिरा तब वहाँ से ज़मीन पर एक गढ़े में जा पहुँचा।

जब मेरे साथियों ने मुझे खोज लिया तब उन्हें विश्वास हो गया कि मैं मर गया हूँ। वे मुझे एक मकान में उठा ले गये जहाँ उन्होंने मुझे एक नर्म बिछौने पर लिटा दिया था। मेरे कपड़े टूक टूक उड़ गये थे। साँस का चलना भी नहीं मालूम देता था। मैं जीवित हूँ, इसका प्रमाण-स्वरूप एक भी चिह्न मुझमें नहीं था। परन्तु मैं स्वयं अच्छी तरह होश में था और परमानन्द का उपभोग कर रहा था।

मेरे पुराने मित्र डाक्टर हीम ने अच्छी तरह मेरी परीक्षा करके कहा—हा! एक भी ऐसा लक्षण नहीं देख पड़ता है जिससे इसके बच जाने की आशा की जाय। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इतनी ऊँचाई से गिरने पर भी इसकी देह भयङ्कर रीति से क्षत-विक्षत होने से बच गई है। उस क्लब के सदस्यों की कई एक स्त्रियाँ ज़ार ज़ार रोने लगीं। इससे निस्सन्देह मुझे कष्ट हुआ। मेरी इच्छा हुई थी कि मैं उन्हें बता दूँ कि मरना कितना अधिक सुखद है, परन्तु मैं असमर्थ था।

डाक्टर मेरे ऊपर झुक कर देखने लगा। उसने नाड़ी की परीक्षा की। हड्डियाँ टटोलीं। मेरी दशा देख कर वह बहुत ही अधिक घबड़ा गया था। वह नहीं बता सका कि मैं मर गया हूँ या जीवित हूँ। बात यह थी कि मेरी रीढ और सिर में सख़्त चोट लगी थी। अतएव मुझे एक प्रकार का लक़वा सा हो गया था और मेरी शारीरिक गति-विधि बिलकुल बन्द होगई थी।

कई दिनों तक मेरा अब तब होता रहा। परन्तु मैं पूर्ण सुख में था। मुझे ज़रा भी कष्ट न मालूम पड़ता था। मैं निश्चिन्त होकर आराम और स्वतंत्रता के उद्वेग का उपभोग करता रहा। मेरा मस्तिष्क उतनी शीघ्रता से काम नहीं कर रहा था जितनी उसने गिरते समय दिखाई थी। परन्तु मैं उस नवीन जीवन-सम्बन्धी लम्बे लम्बे विचारों में लीन था जिसमें मैं प्रविष्ट हो रहा था। अधिक समय तक उसी प्रकार की उधेड़-बुन में पड़े रहने के बाद मुझमें फिर जान आने लगी और इस दशा में मुझे एक बार पीड़ा और बेचैनी का अनुभव हुआ। जब मैं पुनर्जीवित हुआ तब मुझे घोर कष्ट हुआ। अपने मृत्यु-कालीन सुखदावस्था के लिए मुझे प्रायः रञ्ज होता था।"

अब लंदन की मेट्रोपोलिटन-फ़ायर ब्रीगेड के एक आग बुझानेवाले का हाल सुनिए। इसका नाम जेम्स

बर्टन है। एक बार लन्दन की अलर्सगेट स्ट्रीट के एक मकान में आग लग गई। उसको बुझाते समय जेम्स बर्टन गिर कर मकान के नीचे दब गया था। उस मकान में आग ने ऐसा प्रचण्ड रूप धारण किया था कि सारा मकान जल कर गिर गया था। उसी के नीचे बर्टन कोई आठ घण्टे तक दबा पड़ा रहा।

जब उस मकान की ईंटें, लकड़ी आदि निकाली गईं तब बर्टन उसके नीचे दबा मिला। वह जलती ईंटों और धरनियों के नीचे दबा हुआ था। अतएव लोगों ने समझा कि वह मर गया होगा। उसकी लाश अलग उठा कर रख दी गई। डाक्टर लोग उन दूसरे लोगों की देखभाल में लग गये जो अभी तक मरे नहीं थे। तीन घंटे के बाद अवकाश मिलने पर एक डाक्टर ने बर्टन की लाश की भी परीक्षा की। सौभाग्यवश उसमें अभी तक कुछ साँस चल रही थी। डाक्टर को मालूम हुआ कि अभी कुछ जान है। अतएव सावधानी के साथ उसकी शुश्रूषा होने लगी और अन्त में वह चङ्गा हो गया। जिस डाक्टर ने उसकी चिकित्सा की थी उसने बर्टन के आरोग्य-लाभ करने पर उसका बयान लिया था। उस बयान को उसने डाक्टर बन्ट के पास भेज दिया था। उसी का सारांश आगे दिया जाता है।

बर्टन ने कहा—"मुझे मृत्यु आनन्दप्रद ज्ञात हुई। यदि स्त्री-बच्चों का मोह न होता तो मुझे आरोग्य-लाभ करने के लिए निस्सन्देह खेद होता। रुग्णावस्था में मुझे ज़रा भी कष्ट नहीं हुआ। इस कथन से मेरा यह मतलब नहीं कि जल जाना तथा धुएँ से दम घुटना कष्टप्रद नहीं है, किन्तु भाग्यवश मुझे इन दोनों प्रकार के कष्टों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर ही न मिला।

आग बुझाने के लिए जब मैं पहली छत के ऊपर से जा रहा था उसी समय वह जल कर फट पड़ी। उसके साथ ही मैं भी नीचे चला गया। अपनी दशा पर मैं कुछ सोचूँ कि इतने ही में एक शहतीर ठीक मेरे सिर पर आ गिरा। उसकी चोट से मैं मूर्छित हो गया। जब मुझे कुछ चेत हुआ तब मैंने अपने को अस्पताल की चारपाई पर पड़ा हुआ पाया, पर यह नहीं जानता था कि मैं किस स्थान में हूँ। मैं अपने को पृथ्वी पर नहीं समझता था। मैं अत्यन्त प्रसन्न और आराम में था। वास्तव में अपने जीवन में मैं पहले कभी इतना सुखी नहीं था। मुझे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं थी। यद्यपि मैं अपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को हिलाने-डुलाने में बिलकुल असमर्थ था तो भी मेरा मस्तिष्क अच्छी तरह काम दे रहा था। मुझे इतने अधिक सुख का अनुभव होता था मानों मैं गुलाब के फूलों की सेज पर लेटा हुआ हूँ और मेरी शुश्रूषा अप्सराएँ कर रही हों।"

स्वीज़रलेंड के रेवरेंड हरमन स्टाकलर एक बार माउन्ट सेन्ट बरनार्ड पर बर्फ़ के तूफ़ान में भटक गया था। खोजने पर वह संज्ञाहीन अवस्था में मिला था। डाक्टर बन्ट को, जो अपना अनुभव उसने बताया था, उसका सारांश इस तरह है।

"बर्फ़ के गिरने के कारण जब मुझे राह न सूझने लगी तब मैं बहुत ही भयभीत हो गया था। मैं मार्ग की खोज में घंटों भटकता रहा, परन्तु अन्त में मुझे अपने प्रयत्न से विरत होना पड़ा और मैं थक कर वहीं बर्फ़ में गिर गया। जिस समय मैं अपनी रक्षा के उद्योग के प्रयत्न से विरत हुआ था उस समय से मुझे अत्यन्त अधिक सुख मिलने लगा। मेरे हाथ और पैर बर्फ़ से ठिठुर गये थे। मैं हिल डुल नहीं सकता था, पर मेरी दृष्टि ज्यों की त्यों बनी रही। मैं बड़ी देर तक पड़े पड़े देखता रहा। बर्फ़ का गिरना मुझे बहुत ही आनन्ददायक लगता था। मुझे अपने जीवन में ऐसा आनन्ददायक अवसर कभी नहीं प्राप्त हुआ था। मैंने कहा—मुझे आशा है, मेरे पास आकर कोई मेरे इस सुख में बाधा नहीं देगा। अन्त में मेरी दृष्टि भी मन्द होने लगी और मैं आनन्ददायक निद्रित अवस्था में प्राप्त हो गया।"

परन्तु सबसे अधिक असाधारण ढङ्ग का अनुभव पर्सी विलियम्स को हुआ था। उसके खोपड़े पर गहरी चोट लगने से उसका सिर फूट गया था। जब वह अपनी चोट के कारण शय्यागत हो गया था और अस्पताल में उसके सिर में नश्तर दिया जा रहा था उस समय भी उसका मन आनन्द-सागर में मग्न हो रहा था। उसने अपने बयान में कहा है—मैंने समझा था कि मैं स्वर्ग में पहुँच गया हूँ।

डाक्टर बन्ट ने इस प्रकार के सैकड़ों बयान संग्रह किये हैं। उनके मित्र डाक्टरों ने अपने मृत्यु-प्राप्त रोगि-

के आरोग्य-लाभ करने पर जो उनके बयान लिये थे उन्हें उन लोगों ने बर्न्ट साहब को देकर इस कार्य में खूब सहायता की है। ऐसे ही बयानों में से आगे एक और बयान दिया जाता है। प्रोफ़ेसर मेचनीकाफ़ पेरिस के पास्टियर इन्स्टिट्यूट Pastuer Institute के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। इन्होंने आयुष्य-वृद्धि के उपायों की खोज की है। इन्हें इस सम्बन्ध का अपना अनुभव है। उसी का सारांश सुनिए।

"अनेक रोग और दुर्घटनाएँ ऐसी उपस्थित हो जाती हैं जिनसे मृत्यु का सान्निद्ध्य पीड़ा-जनक नहीं प्रतीत होता। एक बार में ज्वर से बहुत ही अधिक पीड़ित हुआ। यहाँ तक कि मेरी स्थिति बुरी होगई। एक दिन शरीर की गरमी ११० डिग्री से एकाएक नार्मल हालत को उतर आई। उस समय मुझे असाधारण ढङ्ग की निर्बलता मालूम होने लगी। वह उसी प्रकार की थी जैसी मृत्यु के समय हो जाती है। आश्चर्य तो यह है कि वह मुझे कष्ट-दायक नहीं, बरन् आनन्ददायक प्रतीत हुई।"

निस्सन्देह यह बात बहुत सम्भव है कि अनेक उदाहरणों में मृत्युकाल की दशा अत्यन्त ही सुखदायक प्रतीत हुई हो और सम्भवतः उस दशा की अपेक्षा इहलोक में सुखकारी और दूसरा समय न भी होता हो।

म्यूनिच की मिसवर्था कुलमैन ने अपने अनुभव का जो विवरण समाचारपत्रों में छपवाया था उसका कुछ अंश आगे उद्धृत किया जाता है:—

"मैं एक बार भयङ्कर निमोनिया से आक्रान्त हुई। रोग की प्रारम्भिक स्थिति में मुझे घोर कष्ट सहन करना पड़ा, पर ज्यों ज्यों रोग उग्र होता गया त्यों त्यों मेरा क्लेश कम पड़ता गया। अन्त में मुझे बहुत ही अधिक सुख मिलने लगा। मेरी मृत्यु बिलकुल समीप आ पहुँचने पर मैं संज्ञा-शून्य हो गई। यहाँ तक कि मैं अँगुली तक न हिला सकती थी। जब मेरे सम्बन्धियों को इस बात का विश्वास हो गया कि मैं अब बचने की नहीं तब उन लोगों ने एक पादड़ी को बुलवाया। पादड़ी ने देख कर कहा कि मुझे सन्देह है कि यह कुछ भी समझ सकेगी, तो भी मैं अपना काम करता हूँ। परन्तु मैं सब कुछ समझ बूझ रही थी और जो क्रिया पादड़ी ने की थी उससे मुझे और भी अधिक शान्ति प्राप्त हुई।"

डाक्टर बर्न्ट साहब लिखते हैं, एक बार जाड़े के दिनों में मैं बर्फ़ पर स्केट कर रहा था। यह बात एडिनबरा के समीप सेन्ट मेरीज़ लाच की है। सहसा मौसम दिन ही में गर्म हो गया इस कारण कई स्थानों में बर्फ़ की तह पिघल कर पतली होगई। अँधेरा हो गया था तो भी मैं अपने खेल में मस्त होकर व्यायाम के सुख का उपयोग कर रहा था। न मुझे समय ही का ध्यान था और न इसी बात का कि मैं कहाँ हूँ। मैं उस समय झील के उस भाग पर स्केट कर रहा था जहाँ और कोई नहीं था। मैं उस स्थान से दूर निकल आया जहाँ लोगों की भीड़ मेरी ही तरह स्केटिंग कर रही थी। मेरी स्केटिंग की गति बहुत ही शीघ्र थी। मैं झील के किनारे कुछ झाड़ियों के पास पहुँचा ही था कि सहसा मैंने कुछ फटने की आवाज़ सुनी। मेरे पैर नीचे को धँसने लगे, मैं तुरन्त समझ गया कि बर्फ़ की पतली सतह पर आ गया हूँ। अतएव मैंने अगल-बगल की बर्फ़ पकड़ने के लिए अपने हाथ बढ़ाये। परन्तु वह छिद्र बड़ा था और मैं उसके भीतर शीघ्रता से जा रहा। मैं उस अथजमे पानी के भीतर समा गया और जब मैं ऊपर को उठा तब मैंने अपने को बर्फ़ की सतह के नीचे पाया, जहाँ से मैं भीतर चला गया था। वह स्थान मुझसे गज़ों के फ़ासले पर था। तैर कर उस स्थान तक पहुँचने का प्रयत्न मैं बार बार करने लगा, परन्तु मैं अपने प्रयत्न में निष्फल हुआ। कपड़ों से लदे रहने के कारण एवं जल की ठंढक से भी मैं अधिक देर तक न तैर सका। मेरी शक्ति जवाब दे गई। मैं संज्ञाशून्य होगया। यहाँ तक कि मेरी साँस भी बन्द होगई और मेरे पेट तथा फेफड़ों में पानी भर गया।

जिस समय से मैंने अपनी रक्षा करने का प्रयत्न बन्द कर दिया, मुझे किसी प्रकार का कष्ट भी न मालूम पड़ने लगा। मैं जानता था कि अब मैं मर रहा हूँ, परन्तु मुझे इस बात का बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरा मरना मुझे आनन्दप्रद प्रतीत हो रहा था। मुझे उस समय न तो ठंढ ही मालूम पड़ रही थी और न मेरा दम ही घुट रहा था। मुझे तो ऐसा समझ पड़ता था, मानों मैं एक बहुत ही नर्म कोच पर लेटा उतरा रहा हूँ। इसके सिवा अत्यन्त ही मधुर सङ्गीत की ध्वनि मेरे कानों में सुनाई पड़ रही थी।

ऐसी असाधारण ध्वनि मैंने अपने जीवन में पहले कभी नहीं सुनी थी। कुछ देर बाद मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मुझे कोई धीरे धीरे ऊपर को उठा सा रहा है और अदृश्य देवदूत तथा मृतात्माएँ मुझे मधुर सङ्गीत सुना रही हैं। उस समय मेरी आँखें सुघर और श्वेत प्रकाश से पूर्ण हो गईं। यही नहीं, वह प्रकाश मेरे चारों ओर आकाश में भी व्याप्त था। मैं नहीं समझ सका कि वह कहां से आ गया था। वहां न तो सूर्य था और न कोई दीपक ही था। वह प्रकाश अलौकिक सा मालूम पड़ता था, पर था वह आनन्दप्रद और सन्तोषदायक। वैसा प्रकाश मुझे और पहले कभी नहीं देख पड़ा था।

सङ्गीत की ध्वनि मन्द पड़ने लगी, किन्तु वह बिलकुल ही बन्द न होगई, कुछ न कुछ ज़रूर बनी रही। नाटक के दृश्यों की भांति मेरे गत जीवन की घटनाएँ मेरी आंखों के सामने दौड़ने लगीं। आश्चर्य तो यह था कि मुझे वही घटनायें देख पड़ीं जो आनन्ददायक थीं। उस समय मेरी ऐसी स्थिति थी कि मैं केवल आनन्दप्रद बातें ही स्मरण कर सका। मेरी इच्छा हुई कि मैं अपने मित्रों को देखूं। तुरन्त ही वे मुझे दिखाई देने लगे और मैं उनसे बातें करने लगा। मैं वाचाल नहीं हूँ। परन्तु अपनी मृत्यु-दशा में मैं प्रगल्भ हो गया था और मैंने ख़ूब ही बातचीत की। मैं एक दार्शनिक तथा कवि की भांति अपने विचारों को व्यक्त करने में समर्थ हो गया। मैंने वे बुद्धि-संयुत तथा श्रेष्ठ विचार व्यक्त किये जो पहले मेरे मानस-पटल ही पर अङ्कित रहा करते थे और जिन्हें मैं कभी शब्दरूप में प्रकट न कर सकता था। मेरे मित्र लोग भी मुझे वैसी ही बातचीत में चतुर तथा प्रगल्भ मालूम हुए, यद्यपि पहले उनमें वैसी प्रतिभा नहीं थी।

कुछ समय के बाद मेरे मित्र अन्तर्धान होगये। केवल मेरी प्रेयसी ही मेरे पास रह गई। उसके मुखारविन्द से चिन्ता का भाव झलकता था। उससे व्यक्त होता था, मानों मुझ पर कोई आपदा आ पड़ी हो। मैंने उससे कहा कि मैं मर रहा हूँ, पर आशा है कि हम फिर मिलेंगे। मैंने कहा, "अभी थोड़ा समय है जिसमें हम लोग एक साथ रह सकते हैं। आओ अब उसका उपभोग कर लें।" उसने कहा—"मैं सब तरह से राज़ी हूं" यह कह कर उसने मुसकरा दिया और वह मेरे पास आकर बैठ गई। जब हम दोनों एकत्र बैठे थे, एक अत्यन्त आश्चर्यजनक तमाशा हो गया। हमने संसार के सम्पूर्ण सुन्दर स्थान, जिनकी देखने की मेरी बड़ी लालसा थी और जिन्हें समय और धन होने पर देखने का विचार मैंने पहले कर रक्खा था, देख लिये। हम लन्दन जा पहुँचे और स्ट्रेंड की दूकानें देखीं। इसके बाद हमने वहां का 'टावर' और बकिंघम पैलेस देखा। राजमहल में हमने राजा-रानी के दर्शन किये। इसके बाद हम योरप जा पहुँचे। वहां हमने पेरिस की सैर की। आरकाडी ट्रिओम्फी की चोटी पर चढ़ कर हमने नेपोलियन का मक़बरा देखा। हमने वहां का सबसे बड़ा नाटकघर का थियेटर भी देखा। इसके बाद हमने मेडीटिरेनियन समुद्र की यात्रा की और फ़्लोरेंस, रोम, नेपल्स तथा वेनिस में ठहरे, फिर आराम के साथ स्वीज़रलेंड गये। वहां से उत्तर ओर यात्रा करते हुए राइन नदी पर आये। इसके बाद हम फिर अपने प्यारे स्काटलेंड में वापस आ गये।

मुझे इस बात की पूर्व सूचना मिल गई थी कि मेरी प्रेयसी के विदा होने का समय आ गया है। मुझे इस समय भी किसी प्रकार के कष्ट तथा थकावट का अनुभव नहीं था। बिना किसी प्रकार का दुःख प्रकट किये हमने एक दूसरे के मुख का चुम्बन किया और वह चली गई।

इसके बाद मेरी मृत-माता का दर्शन हुआ। वह मेरे ऊपर झुकी सी थी। उसने मेरे कान में कहा कि आराम कर और प्रसन्न हो। मैं तेरी रक्षा करूँगी। तब मुझे अत्यन्त अधिक सुख और शान्ति का अनुभव होने लगा। वह एक ऐसे प्रकार का सुख और शान्ति थी जिसकी न तो मैं कल्पना ही कर सकता हूँ और न मुझे कभी इस संसार में नसीब ही हुआ। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों मैं स्वर्ग में हूँ और यह वही स्थान था जिसका चित्र प्रायः मैं धर्म-ग्रन्थों तथा अपने पादड़ियों के उपदेशों को पढ़ कर अपने मन में खींचा करता था। ऐसी आनन्ददायक अवस्था में मैं बड़ी देर तक रहा। मैं समझता हूँ कि वह समय हज़ारों वर्षों का रहा होगा।

इसके बाद मैं बिलकुल अचेत हो गया। मुझे उस दशा की ज़रा भी ख़बर नहीं रही। उस अवस्था से मैं सहसा अत्यन्त ही घोर वेदना के कारण जाग पड़ा। बात यह हुई

जैसा कि मुझे बाद को मालूम हुआ कि मैं खोज निकाला गया और जल में डूबे हुए आदमी को पुनरुज्जीवित करने के लिए जो उपचार किये जाते हैं वे सब मुझ पर किये गये। मुझे उस समय घोर कष्ट का अनुभव हुआ जब मुझमें फिर प्राण का सञ्चार हुआ था। मेरे मुँह से उस समय यही निकला था, "मुझे क्यों नहीं निर्जीव पड़ा रहने देते। मुझे इसी दशा में परमानन्द है।"

अपने इस अनुभव का विचार करके मुझे विश्वास हुआ है कि जब मैं पानी के नीचे था तब मेरे शरीर का सम्बन्ध मस्तिष्क से टूट गया था। मेरा मस्तिष्क बराबर क्रियाशील बना रहा और शारीरिक कष्टों से निर्विकल्प हो जाने के कारण वह केवल आनन्ददायक विचारों ही की कल्पना करता रहा।

यहाँ एक और ऐसा ही विवरण देने के बाद यह लेख समाप्त किया जाता है। यह विवरण उस दुर्घटना का है जो मोटर-दौड़ का अभ्यास करने के समय सङ्घटित हुई थी। सीसे साहब सार्थे की मोटर-दौड़ में भाग लेना चाहते थे अतएव वे भी दौड़ का अभ्यास कर रहे थे। यह दुर्घटना नारमंडी में इवरू (Evreux) के समीप सङ्घटित हुई थी। साहब लिखते हैं:—

"६० घोड़ों की ताक़त की रिनाल्ट नाम्नी दौड़ की मोटर-गाड़ी पर मैं सवार था। एक बहुत ही सम और चौड़ी सड़क पर मेरा मोटर अत्यन्त ही द्रुतगति से दौड़ रहा था। अन्त में मैंने उसकी गति ६४ मील प्रति घंटे की कर दी। मोटर की गति इतनी तेज़ होगई थी कि मैं नहीं समझ सकता था कि वह ज़मीन पर चल रहा है या हवा में। मुझे तो ऐसा मालूम देता था कि मैं हवा में उड़ सा रहा हूँ। दूर की चीज़ों की झलक भर देख पड़ती थी और सो भी एक ही बार।

जिस सड़क पर मेरा मोटर जा रहा था वह दस मील तक लगभग ५० फुट चौड़ी और बिलकुल सीधी थी। एकाएक मुझे मालूम हुआ कि कुछ कम दो मील के अन्तर पर सड़क की बाईं ओर, जहाँ उसे चाहिए था, एक दूसरा मोटर खड़ा है। मैं अपने मार्ग पर सीधा चला गया, क्योंकि मेरी राह में कोई दूसरा मोटर नहीं था। मैं मुश्किल से ४५० फुट दूर रहा हूँगा कि सहसा मुझे एक दूसरा मोटर अपनी ओर आता हुआ दिखाई दिया। जब कोई मोटर ६४ मील प्रति घंटे की चाल से जा रहा हो तब उसके लिए इतना फ़ासिला कुछ भी नहीं है। दो ही सेकेंड में मैं उस मोटर के पास जा पहुँचा। मैंने अपनी शक्ति भर टक्कर बचाने की कोशिश की और अपना मोटर मार्ग पर ही रखना चाहा मैं सर्र से उस मोटर के पास से निकल गया। एक या दो ही इंच का अन्तर मेरे और उस मोटर के बीच रहा होगा। मैंने अपने मन में सोचा कि मैं बड़ी भारी जोखिम से बच गया हूँ। जिस मोटर की टक्कर से मेरा मोटर बाल बाल बचा था उसके पीछे जो मेरी निगाह पहुँची तो मैंने दो सैनिकों को मोटर साइकिलें लिये जाते देखा। मेरे मोटर के एक चाक से संयोगवश पिछली मोटर साइकिल टकरा गई। मैंने पास ही के खेत में उस साइकिल के टुकड़े उछलते देखे। वह टूट गई, पर सैनिक के कुछ भी चोट न लगी।

आगे बढ़ने पर मुझे एक दूसरे मोटर का सामना हुआ। अतएव मैंने उससे बचने के लिए अपने मार्ग से ज़रा ही सा दाहनी ओर को अपना मोटर झुकाया। परन्तु दुर्भाग्य से मैं एक-दम रास्ते से अलग हो गया और मेरा मोटर पास के खेत में जा रहा। मैं ऐसी आफ़त में जा पड़ा जैसी आफ़त का सामना शायद ही कभी किसी मोटर के सवार को करना पड़ा हो। उस खेत को सींचने के लिए उसमें बड़ी बड़ी नालियाँ एक दूसरे के बराबर बराबर बनी हुई थीं। प्रत्येक नाली चार फुट चौड़ी और लगभग सौ फुट के अन्तर पर थी। ये नालियाँ संख्या में कुल बारह थीं।

पलक मारते ही मेरा मोटर उस जुते हुए खेत का १०० फुट रक़बा पार कर गया। जब वह उन नालियों से टकराता तब वह हवा में ऊपर उछल कर नीचे आ गिरता। इस तरह वह प्रत्येक नाली से टकराता और उछलता उड़ा चला जाता था। अन्तिम नाली के पास सड़क के रक्षक की झोपड़ी थी। जब मैं वहाँ पहुँचा तब वे दोनों स्त्री-पुरुष भोजन कर रहे थे। मकान की टक्कर से मेरा मोटर बाल बाल बच गया, नहीं तो मैं तथा वे दोनों स्त्री-पुरुष तुरन्त परमधाम को पहुँच जाते।

मैं अपने आपको मृतक समझने लगा। मेरी साँस बन्द होगई थी। मैं ब्रेक को घुमा कर गाड़ी को रोकने

में असमर्थ हो गया था। मैंने समझा कि आगे अब एक दो सेकेंड में किसी ऐसी वस्तु से टकरा जाऊँगा जिससे मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है। तो भी मुझे भय नहीं मालूम हुआ। मैं उस समय एक विशेष ही प्रकार के आनन्द से अभिभूत हो रहा था।

एक मील या उससे ऊपर मैं उस बीहड़ भूमि में नालियां और झाड़ियां नांघता हुआ चला गया। उसके बाद मुझे कुछ सम भूमि मिली तब मैं ब्रेक का उपयोग करने में समर्थ हुआ। मोटर के रुकने के पहले ही धक्के से उछल कर मैं एक पेड़ पर जा गिरा, परन्तु उसकी चाल इतनी कम पड़ गई थी कि मुझे उसके धक्के से उतनी अधिक साङ्घातिक चोट पहुँचने की सम्भावना नहीं रह गई थी। हाँ, यदि दो एक मिनट पहले मैं गिरा होता तो उसका परिणाम अवश्य ही भयङ्कर होता। जब मैं ऊपर हवा में उछल गया था तब मैं भयभीत नहीं हुआ था। मुझे उस समय आनन्द के शीघ्र उठनेवाले भाव अवश्य अनुभव होने लगे थे।

मैं कई घंटों तक बेहोश पड़ा रहा। मुश्किल से मेरी देह में एक भी हड्डी मज़बूत रह गई होगी। मुझे बहुत ही गहरी भीतरी चोट लगी थी। उदाहरण के लिए मेरा हृदय अपने स्थान से चार इञ्च हट गया था। जब मुझे होश हुआ उस समय भी मैं न तो हिल सकता था और न कुछ बोल ही सकता था। मैं केवल अपनी आँखें खोले हुए अपने चारों ओर देख भर रहा था कि क्या हो रहा है। डाक्टर लोग अपना सिर हिला हिला कर कह रहे थे कि मेरे बचने की कोई आशा नहीं है। उन्होंने यह जानने को कि मुझको कहाँ कहाँ चोट लगी है मुझे ख़ूब हिलाया-डुलाया, पर उससे मुझे कुछ कष्ट न हुआ। उन्होंने यह कहा कि यदि मैं मर जाता तो बहुत अच्छा होता। मुझे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं मालूम पड़ती थी। उनकी इस बात से भी कि मैं नहीं बचूँगा, मुझे ज़रा भी क्षोभ या खेद नहीं हुआ। मुझे इस बात का भय नहीं मालूम हुआ कि वे मुझे मर जाने देंगे, क्योंकि मुझे मरना अत्यन्त ही आनन्ददायक प्रतीत हो रहा था।

जो भाव मेरे हृदय में उठ रहे थे वे अत्यन्त ही शान्ति-दायी और आनन्द-व्यञ्जक थे। जब मैं जीवितावस्था में था तब कभी मुझे ऐसे आनन्द का उपभोग नहीं प्राप्त हुआ था। जो चोट मुझे लगी थी उसका मुझे ज़रा भी अनुभव नहीं हो रहा था। मेरा मन बिलकुल स्वच्छ था। मैंने सोचा कि यदि मेरा मन इसी प्रकार पहले भी स्थिर रहा होता तो यह दुर्घटना कदापि न होने पाती। इसके बाद मैंने यह गणना की कि मैं किसी मोटर को बेच कर एक महीने के भीतर ही १,००,००० फ्रैंक किस तरह पैदा कर सकता हूँ। मैं मर रहा था। अतएव मैंने सोचा कि अब मैं अपनी यह व्यवस्था कार्य में परिणत नहीं कर सकता।

मैं पूर्ण आनन्द में पड़ा था और विचित्र प्रकार के भाव मेरे मन में उठ रहे थे। मैंने सोचा कि मैं एक बहुत ही शीघ्रगामी मोटर पर सवार हूँ। यह उस मोटर से भी शीघ्रगामी था जिस पर मैं अभी सवार था और जिससे मैं इस सङ्कट में पड़ गया था। वह उड़ सी रही थी। उसके मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट भी नहीं थी। परन्तु जब मैंने अपने चारों ओर निगाह डाली तब पूर्वोक्त विचार जाता रहा और मैंने समझा कि मैं एक रबड़ की सड़क पर चल रहा हूँ। मोटर विचार ही के द्वारा चल रहा था। जब जैसी चाल मैं चाहता तभी वह उस चाल में चलने लगता था। जिस स्थान में पहुँचने की इच्छा मैं करता, तुरन्त वहाँ पहुँच जाता। कभी कभी उसकी चाल का हिसाब लगा कर मैं अपने मन को प्रसन्न करता। मैंने अपनी घड़ी निकाल ली और पहाड़ी पर के एक बड़े भारी महल की ओर निगाह डाली। वह वहाँ से बीस मील के लगभग रहा होगा। मैंने वहाँ जाने की इच्छा की। बात की बात में मेरा मोटर उस महल के आंगन में जा खड़ा हुआ। मैंने घड़ी को देखा दो ही सेकेंड में मैं उस महल में जा पहुँचा था। मेरे मोटर की चाल साठ मील प्रति मिनट की थी। परन्तु इतना ही नहीं, मैं उसे इससे भी तेज़ दौड़ा सकता था।

मैं सदा अपना मोटर दौड़ाता ही नहीं रहा। कभी कभी मैं उसे अपनी कल्पित चिकनी सड़क पर धीरे धीरे चला कर मनमोहक दृश्यों का आनन्द भी उपभोग करता था।

इसके बाद मैं स्वप्नावस्था में प्राप्त हो गया। उस समय मैं अपने मित्रों तथा कुटुम्बियों से बातचीत करने लगा या उनके साथ रह कर अपना समय चुपचाप बिताने लगा। ऐसा भी समय आता था जब मैं कुछ भी विचार

नहीं करता था। मेरा मन बिलकुल स्थिर हो जाता था। यह बात तभी होती जब मुझे इस बात का बोध होता कि मोटर की दुर्घटना के कारण अब मैं मर रहा हूँ। मुझे विश्वास होता है कि यह वही समय रहा होगा जब मैं मृत्यु के बिलकुल ही निकट था। मैं उस समय संसार के आनेवाले लोक से तुलना करता। उस समय भी मुझे किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता था। मैं मर रहा हूँ, यह जान कर मुझे उसकी भयङ्करता का अनुभव कुछ भी न हुआ, जैसा कि जीवितावस्था में उसके आगमन की सूचना से प्रायः बोध हुआ करता है। मुझे मालूम हुआ कि कष्ट, श्रम, चिन्ता और दुःख सदा के लिए लुप्त हो गये थे। जब मैं चङ्गा होने लगा तब यह देख कर कि पीड़ा और दुःख से मैं व्यथित हो रहा हूँ देखनेवालों को आश्चर्य-जनक हुआ। मैं उस समय को सदा स्मरण करूँगा जब मैं मृत्यु-मुख में पतित समझा गया था, क्योंकि मैं उसे अपने जीवन का सबसे बढ़कर आनन्दप्रद अवकाशकाल समझता हूँ।

गणेशप्रसाद चौबे

हमारी स्थिति।

लड़कपन तो मुकाम खूब रहा।
दुःख थे; पाप का पर नाम न था॥
नीचता से या दुराचारों से,
झूठ से, बद से कोई काम न था॥
पैर दुनिया में पहला रखते ही।
पाप का सामना हुआ हम से॥
जीत उसकी हुई, तब नीचता का।
काम वह कौन, जो रहा हम से॥
सो रही थीं कुवासनायें सब।
नींद से मानों एक साथ जगीं॥
हर क़दम पूरी उन्हें करने लगे।
लालसायें जो दिल के हाथ लगीं॥
हो गये दूर यों मुकाम से हम।
दूर तुमसे भी होते जाते हैं॥
फिर भी लोगों का यही कहना है—
ख़ूब! हम आगे बढ़ते जाते हैं॥
उतर पाये न झाड़ से जो इधर।
उधर फल तक न जब पहुँच पाये॥
फ़ायदा कौन सा है चढ़ने में?
जब न दोनों में कोई हाथ आये॥
लौट सकते नहीं मुकाम पर अब।
युक्तियाँ सैकड़ों भी गढ़ने से॥
न आगे होती पहुँच मंज़िल तक।
बाज़ आये हम ऐसे बढ़ने से॥

रामानुज

विविध विषय।

१—हिन्दी की सामयिक कविता।

कहा जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। समाज की जैसी अवस्था होती है तदनुकूल साहित्य का निर्माण होता है। यदि हम किसी देश की यथार्थ अवस्था जानना चाहते हैं तो हमें उसका तत्कालीन साहित्य देखना चाहिए। परन्तु क्या साहित्य समाज का अनुगामी ही होता है? यदि साहित्य केवल समाज का अनुगमन ही करे तो उससे विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं है। साहित्य समाज के भविष्य-पथ का प्रदर्शक होता है। वह समाज की गति को निर्दिष्ट कर देता है। अतएव हम साहित्य के दो विभाग कर सकते हैं, एक तो सामयिक साहित्य जो समाज का अनुसरण करता है और दूसरा स्थायी साहित्य जो समाज के भविष्य भाग्य का विधाता है। सामयिक साहित्य समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह उसकी रुचि के अनुकूल ही चलता है, पर स्थायी साहित्य को समाज के विरुद्ध भी चलना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे पहले पहल उसकी उपेक्षा की जाती है, फिर उपहास किया जाता है और अन्त में उस पर घोर आघात भी किये जाते हैं। यदि वह इन सबका सामना कर सका तो समझना चाहिए कि वह चिर-काल तक जीवित रहेगा।

हिन्दी में आज-कल सामयिक कविताओं ही की धूम

है। देश के सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो आन्दोलन हो रहे हैं उन्हीं का अनुसरण कर कविताओं की रचना की जाती हैं। जिधर समाज की आकृष्टि होती है उधर कवियों की भी दृष्टि जाती है। ऐसी रचनायें निरर्थक नहीं होतीं। इनसे तत्कालीन भावों का अच्छा प्रचार हो जाता है। पर यहीं उनकी उपयोगिता का अन्त हो जाता है। अब हम हिन्दी-साहित्य की आधुनिक कविताओं पर विचार करना चाहते हैं।

वर्तमान हिन्दी-काव्यों की तीन विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता यह है कि अब कविताओं के लिए खड़ी बोली ही प्रयुक्त की जाती है। खड़ी बोली के पक्षपाती उसका पक्ष-समर्थन इसी लिए करते हैं कि उसके द्वारा गद्य और पद्य की भाषा कभी एक हो जायगी। व्रज-भाषा की प्रान्तीयता को हटा कर वे हिन्दी में राष्ट्रीयता का समावेश करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि कविता प्रासादिक होने के कारण जनता के लिए बोध-गम्य हो जायगी और तब उसके द्वारा लोगों में सुरुचि फैलेगी। यह सच है कि हिन्दी के प्राचीन काव्यों में भाव और माधुर्य की प्रचुरता है। परन्तु भाव और माधुर्य का ठेका न तो व्रज-भाषा ने लिया है और न खड़ी बोली ने ही। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि गद्य और पद्य की भाषा कभी एक नहीं हो सकती। कोई कितना भी कवित्व-पूर्ण गद्य क्यों न लिखे, वह भाषा पद्य के लिए उपयुक्त हो ही नहीं सकती। गद्य को पद्य में परिणत करते ही उसका स्वरूप बदल जाता है। न तो गद्य की मधुरता पद्य में आ सकती है और न पद्य की मधुरता गद्य में ही। हिन्दी-साहित्य में खड़ी बोली की कविताओं की जो वृद्धि हो रही है उसका कारण ढूँढ़ने के लिए हमें वर्तमान समाज की ओर ध्यान देना चाहिए। भारतवर्ष के लिए यह युग परिवर्तन-काल है। अँगरेज़ी शिक्षा का प्रभाव भारत पर खूब पड़ा। अँगरेज़ी शिक्षा की बदौलत भिन्न भिन्न प्रान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ रहा है। वर्तमान युग की नवीनता ने समाज को अस्थिर कर दिया। सभी लोग आत्मोन्नति के लिए कटि-बद्ध होगये हैं। उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तोष है। असन्तोष का यह भाव इतना तीव्र होगया है कि लोगों को भूतकाल का बन्धन असह्य है। अतएव जब कोई यह कहता है कि तुम्हारे भावों की अभिव्यक्ति के लिए इतना ही स्थान है, इससे अधिक तुम नहीं जा सकते, तब लोग उस निर्धारित सीमा को भङ्ग कर डालते हैं। सभी देशों में यही भाव कभी न कभी जागृत होता ही है। समाज में जब किसी नवीन भाव का विशेष प्राबल्य होता है तब वह उस भाव को व्यक्त करने के लिए नवीन पथ ढूँढ़ निकालता है। बौद्ध-काल में प्राचीन संस्कृत का स्थान प्राकृत ने ले लिया। इसका कारण यह नहीं है कि संस्कृत-भाषा अनुपयुक्त है। बात यह है कि बौद्ध-धर्म के सार्वजनिक भावों के लिए सार्वजनिक भाषा की ज़रूरत थी। इसी लिए प्राकृत का प्राबल्य हुआ। बौद्ध-धर्म का पतन होने पर संस्कृत-साहित्य का पुनरुद्भव हुआ परन्तु शीघ्र ही उसका प्रचार अत्यन्त परिमित हो गया। हिन्दी में जब तक भक्तिवाद का प्राबल्य था तब तक व्रज-भाषा का आदर था। परन्तु जब व्रज-भाषा के साहित्य ने काव्य-कला के चमत्कार पर अपनी शक्ति लगा दी तब वह सार्वजनिक न होकर परिमित हो गया और अब राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति के लिए खड़ी बोली उपयुक्त समझी जाती है। खड़ी बोली की प्रचार-वृद्धि से भारत की वर्तमान अवस्था सूचित होती है।

खड़ी बोली के काव्यों में अभी कला का चमत्कार नहीं देखा जाता। हमारे कविगण स्पष्ट शब्दों में स्पष्ट बातें कहते हैं। उन्होंने अपनी कविता-कामिनी का मुख किसी अवगुण्ठन से नहीं ढका है। दो एक को छोड़ कर प्रायः सभी कवि आचार्य के आसन पर बैठ कर लोगों को कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देते हैं। उनकी सम्मति है कि कवियों का काम मनोरञ्जन नहीं, शिक्षा-दान है। अतएव शिक्षा के नाम से वे स्कूलों की दीवालों पर चिपकाने योग्य उपदेशों के गट्ठे हिन्दी के पाठकों पर लाद रहे हैं। कोई कवि करुणा-व्यञ्जक स्वर से उपदेश देता है तो कोई निदेश-सूचक वाक्यों में शिक्षा प्रदान करता है। अब कुछ समय से राष्ट्रीय गानों की गर्जना सुनाई दे रही है। राष्ट्रीय भावों की पोषक जो कवितायें हिन्दी के पत्रों में छपती हैं उनमें से अधिकांश 'खूँ' और 'कलेजे' से लदफद रहती हैं। उनमें उर्दू-हिन्दी का संमिश्रण देख कर यह कोई भी कह सकता है कि अब हिन्दू-मुसलमान की एकता स्थापित हो गई है।

हिन्दी कविताओं में धर्म-शास्त्र की शिक्षा देख कर यह प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दू-समाज की इतनी दुरवस्था हो गई है कि कवि उपदेशक का काम करे। क्या शिक्षा देने का काम गद्य-लेखकों से नहीं लिया जा सकता? कविता-कामिनी को राजनीति के दलदल में फँसाने की अपेक्षा क्या यह उचित नहीं है कि कीचड़ उलचने का यह काम हिन्दी के गद्य-लेखक ही करें? जो बात गद्य में अच्छी तरह कही जा सकती है उसके लिए पद्य का आश्रय क्यों लिया जाय?

राष्ट्रीय गानों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कुछ समय से एक उदारचेता सज्जन यह चेष्टा कर रहे हैं कि हिन्दी में एक उत्कृष्ट राष्ट्रीय गान बन जाय। उसके लिए वे एक हज़ार रुपये तक देने के लिए तैयार थे। कई कवियों ने उनके पास कवितायें भेजीं भी। परीक्षकों ने यह निर्णय किया कि कोई भी कविता राष्ट्रीय गान का स्थान नहीं ले सकती। यह बात सच है कि एक हज़ार रुपये के ज़ोर से कोई भी श्रीमान् हिन्दी में बङ्किम बाबू उत्पन्न नहीं कर सकता। कविता के स्रोत में अनन्त छोटे छोटे कवि बह कर काल के गर्भ में लीन हो जाते हैं। तब किसी प्रतिभाशाली कवि का आविर्भाव होता है। यदि कभी हिन्दी में कोई कवि ऐसा राष्ट्रीय गान लिखेगा, जिसका प्रचार भारत के गाँव गाँव और घर घर में हो, तो कुबेर की विपुल धन-राशि भी उसका सम्मान नहीं कर सकेगी। उसके लिए भारतवासी अपने हृदय में अक्षय मन्दिर निर्माण करेंगे। उस कविता की परीक्षा करने का अधिकार छः सात विद्वानों की किसी समिति को न होगा। उसकी परीक्षा राष्ट्र करेगा और तभी वह राष्ट्रीय गान होगा।

२—भारतीय नाटकों का अभिनय।

जिन्होंने दूसरे देशों में नाटकों का अभिनय देखा है वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं तब यहाँ की भद्दी सजावट देख कर विस्मित हो जाते हैं। श्रीयुत जिनराजदासजी ने इस विषय में एक छोटा सा उपादेय लेख लिखा है। आप कहते हैं कि यहाँ विदेशी दृश्यों की नक़ल तो ज़रूर की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढङ्गा रहता है कि योरप की छोटी छोटी नाट्यशालाओं में भी इतनी बेढङ्गी चीज़ें नहीं रहतीं। जो लोग भारतवर्ष में नाटकों के लिए पर्दे रँगते हैं वे विदेशी नाटकों का अनुसरण करते हैं, परन्तु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञानता के कारण जनता उन्हीं से सन्तुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय नटों की वेश-भूषा। जो लोग राजा, सामन्त, राज-सेवक आदि का अभिनय करते हैं उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतीयों में कभी वैसे परिच्छद काम में लाये गये हैं, और हमें आशा है कि भविष्य में कोई वैसी भद्दी पोशाक पहनेगा भी नहीं। ग़नीमत यही है कि स्त्री-पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेष बदलने के लिए भारतीय नट चेहरे पर पलास्तर लगा कर निकलते हैं। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे में सफ़ेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है।

भारतीय रङ्गमञ्च के ये दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटकों का महत्त्व घट जाता है और उनका उद्देश निष्फल हो जाता है। इन दोषों को दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए। नाटकों में जिस युग का वर्णन है उसी के अनुरूप दृश्य दिखलाये जायँ। भारतीय रङ्गभूमि में जब किसी सड़क अथवा महल का दृश्य दिखाया जाय तब वेनिस के स्थान में जयपुर का दृश्य दिखलाना अधिक स[illegible]चित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्यों की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो, काम निकल जाता है। हमारी समझ में, इससे तो बेहतर यही होगा कि पर्दों का कोई झमेला ही न रहे, दर्शक कथा-भाग सुन कर अपने मन में ही दृश्यों की कल्पनायें कर लें। प्राचीन-काल में जब पर्दों का प्रचार नहीं था तब ऐसा होता भी था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिए उचित वेश-भूषा तैयार करने के लिए विशेष योग्यता की ज़रूरत नहीं है। ज़रा भी बुद्धि से काम लेने से यह बात समझ में आ सकती है कि किसके लिए कौन सा परिच्छद उपयुक्त है। परन्तु आज-कल तो सभी नाटक-मण्डलियाँ अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेस पहना कर और भड़कीला कोट डटा कर निकालना चाहती हैं। नक़ली दाढ़ी और

मूँछ से चेहरे के विकृत करना इसलिए आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें। परन्तु सर स्क्वायर बैन क्राफ्ट के समान प्रसिद्ध नट भी अपने यथार्थ रूप में रङ्ग-मञ्च पर आने से नहीं हिचकते।

भारतीय नाटकों की कई विशेषताएँ हैं। यदि नाटककार और नट उनके अभिनय में भारतीयता का ख़याल रक्खें तो उससे बड़ा लाभ हो। रवीन्द्रनाथ का एक नाटक, 'डाकघर' कलकत्ते में खेला गया था। उसमें भारतीयता का ख़याल किया गया था। इससे उसे सफलता भी अच्छी हुई।

जिनराजदासजी की उपर्युक्त बातें सचमुच ध्यान देने योग्य हैं। हिन्दी के कुछ नाटककार सङ्गीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे मौक़े बे मौक़े अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते हैं। राजा की कौन कहे, राजमहिषी तक अपने पद का गौरव भूल कर नाचने गाने लग जाती हैं। राज-सभा तो बिलकुल सङ्गीतालय हो जाती है। यह भी आक्षेप-योग्य है।

३—जापान के युवराज हिरोहितो।

जापान के युवराज राजकुमार हिरोहितो ने अभी हाल ही में इँगलेंड की यात्रा की है। आपने ८ वीं मार्च को कटोरी नाम के जङ्गी जहाज़ पर सवार होकर अपने देश से प्रस्थान किया था। आपकी इस यात्रा का एक-मात्र उद्देश हमारे सम्राट् पञ्चम जार्ज की भेट ही रहा है। हाँगकाँग से लेकर जिब्राल्टर तक अँगरेज़ों के जो उपनिवेश मार्ग में आपको मिले हैं उनकी भी सैर आपने की। राज-कुमार के साथ उच्च राजकर्मचारियों का एक दल है। आपके साथ राजकुमार कान-इन भी हैं। ये राजघराने ही के हैं। इनका वंश चौदहवीं सदी के सम्राट् सुई-को से चला है। ये घुड़सवार सैन्य के एक उच्च सेनानायक हैं और इन्होंने चीन तथा रूस-युद्ध में भाग लिया था। जापान के इतिहास में यही पहला अवसर है जब उसके राजपरिवार के किसी विशिष्ट व्यक्ति ने अपने देश के बाहर पैर रक्खा हो।

युवराज हिरोहितो जापान के वर्तमान सम्राट् योशी-हितो के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपका जन्म सन् १९०१ की २९ वीं अप्रेल को हुआ था। इस हिसाब से आप अब बीस वर्ष के हो गये। प्रचलित प्रथा के अनुसार सन् १९१२ की ९ वीं सितम्बर को आप युवराज पद पर अभिषिक्त किये गये थे। टोकियो के पियर्स स्कूल में आपको प्रारम्भिक शिक्षा दी गई है। और सकाशू-इन के प्रसिद्ध-विद्यालय में अपनी उम्र के अठारहवें वर्ष तक आप शिक्षा पाते रहे। इसके बाद आपकी शिक्षा का भार कुछ चुने हुए विशिष्ट अध्यापकों को सौंपा गया, जिसकी निगरानी करने के प्रसिद्ध जल-सेनानायक काउन्ट टोगो प्रधान शिक्षक बनाये गये। ऐसे ही नर-पुङ्गवों

जापान के युवराज हिरोहितो।

के निरीक्षण में युवराज को शिक्षा दी जा रही है। सन् १९१६ में आपको जल तथा स्थल सेनाओं में कमीशन मिला और इस समय आप मेजर तथा नायब सेनापति के पद पर नियुक्त हैं। सैनिक कार्यों में आप बड़ी दिलचस्पी के साथ कार्य करते हैं। क्यूश्यू नाम के टापू में जो नक़ली लड़ाई अभी हाल में हुई थी उसमें आप भी शामिल हुए थे।

जापान-सम्राट् के प्रायः रुग्ण रहने के कारण युवराज ने उनके डिप्टी की हैसियत से कई बार राज्य-सम्बन्धी कार्यों

में भी योग दिया है। आपने अपने यहां की पार्लियामेंट का सेशन भी खोला है और सिंहासन पर से व्याख्यान भी दिया है। इसके सिवा पिछले वर्ष आपने राज्य-सम्बन्धी सारे कार्यों में सभापतित्व के आसन को सुशोभित किया और उनके सञ्चालन में अपनी प्रतिभा का ख़ासा परिचय दिया। इसके सिवा आपने अपने राज्य के कारख़ानों, अस्पतालों तथा दूसरी संस्थाओं का निरीक्षण करके उनकी आर्थिक दशा से अपनी सहानुभूति भी प्रकट की है। आप फ्रेञ्च अच्छी तरह जानते हैं और अँगरेज़ी में भी थोड़ी बहुत बातचीत कर लेते हैं। मतलब यह कि आपने अपनी इसी बीस वर्ष की उम्र में वह योग्यता प्राप्त कर ली है जो आपके उच्च पद के लिए सब प्रकार से उपयुक्त है।

युवराज का शील-स्वभाव भी सब प्रकार से प्रशंसनीय है। अपने शिक्षा-काल के सहपाठियों से आपकी मित्रता पूर्ववत् बनी है। यद्यपि आपका स्वभाव गम्भीर है, तो भी सरलता और हास्य के प्रेम का अभाव नहीं है। जब आप लोगों से मिलते हैं तब आपकी स्वाभाविक विनम्रता और सज्जनता का पूरा परिचय मिल जाता है। आप अपने परामर्शदाताओं पर पूर्ण विश्वास करते हैं। आपका यह गुण वंश-परम्परागत है। आपके पितामह का भी ऐसा ही स्वभाव था। वे भी अपने मन्त्रियों और परामर्शदाताओं का पूर्ण विश्वास करते थे। राजकुमार आमोद-प्रिय भी हैं। घोड़े की सवारी में आप बहुत ही कुशल हैं। तलवार चलाने में आप सिद्धहस्त हैं। यह तो जापान की एक प्रसिद्ध कला ही है। मल्ल-विद्या का जापान में बहुत अधिक प्रचार और आदर है। इस कला से भी राजकुमार को प्रेम ही नहीं है किन्तु आप उसके विशेषज्ञ समझे जाते हैं। टोकियो के क्यूगी क्वान नामक प्रसिद्ध अखाड़े में आप प्रायः आया जाया करते हैं।

जापान का राजवंश संसार में सबसे अधिक प्राचीन राजवंश है। योरप के हैप्सबर्ग आदि प्राचीन राजघराने उसके सामने कल के मालूम पड़ते हैं। जैसे यह प्राचीन है वैसे ही भगवान् करे भविष्य में भी चिरस्थायी रहे। न तो साम्राज्य का ही कोई राष्ट्र-विप्लव उसे ध्वंस कर सका और न बाहरी कोई शक्ति ही उसे पदच्युत कर सकी। जापानी लोग अपने सम्राट् को केवल संसारी सम्राट् ही नहीं मानते, किन्तु वे उसे ईश्वर के तुल्य पूजते हैं। उनका विश्वास है कि उनके सम्राट् के वंश का उद्भव स्वयं जगत्कर्ता से हुआ है। यह राजवंश बिना उच्छेद हुए आज तक ज्यों का त्यों चला आ रहा है। उसकी अधीनता में राष्ट्र का पराभव कभी नहीं होगा। वहाँ के लोगों की यही धारणा है। अतएव वे अपने सम्राट् के पार्थिव शरीर को पवित्र मानते हैं, उसका अस्तित्व अनन्त शक्ति पर निर्भर समझते हैं और उसकी मर्यादा की रक्षा करना वे अपना एक-मात्र कर्तव्य जानते हैं। यह जापान का राष्ट्रीय मत है। इसकी शिक्षा वहां के लोगों को बचपन ही से दी जाती है। अपने सम्राट् का आज्ञा-पालन तथा उसकी शुभ कामना ही जापानियों के जीवन का एक उत्कृष्ट सिद्धान्त है। उसकी ५,७०,००,००० प्रजा, जो संसार की किसी भी समुन्नत राष्ट्र के समकक्ष है, अपने सम्राट् की भक्ति करना अपना एक-मात्र धर्म मानती है।

४—विज्ञान की उन्नति।

रस्किन ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है, 'विज्ञान की उन्नति का यही फल हुआ है कि उससे प्राण-संहारक यन्त्रों के आविष्कार हुए।' एक दूसरे विद्वान्, जार्ज गिसिंग, ने कहा है, 'मैं विज्ञान से डरता हूँ और उससे मेरी घृणा भी , क्योंकि मेरा यह विश्वास है कि अभी दीर्घकाल तक वही मानव-जाति का सबसे प्रबल शत्रु रहेगा।' इसी तरह अन्य कई विद्वानों ने भी विज्ञान को मनुष्यों का संहारक ही माना है। उनका कथन है कि उसी से हमारा जीवन अव्यवस्थित हो रहा है। परन्तु अब विज्ञान की गति रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। लोग चाहे उसकी निन्दा करें या प्रशंसा, उसकी उत्तरोत्तर उन्नति ही होती जायगी। गत पचास वर्षों में विज्ञान की आश्चर्य-जनक उन्नति हुई। इस काल में जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं उतने पहले कभी नहीं हुए। सच तो यह है कि हम विज्ञान के द्वार तक पहुँच चुके हैं और अब शीघ्र ही हम उन शक्तियों का पता पा लेंगे जो अभी मनुष्यों के लिए कल्पनातीत हैं। इन शक्तियों का उपयोग मानव-समाज की कल्याण-वृद्धि में किया जायगा या नहीं, यह समाज के नेता सोचें। विज्ञान का इस प्रश्न से सम्बन्ध नहीं है। हमारा तो यह कर्तव्य है कि हम अपने को उन शक्तियों के उपभोग करने

के योग्य बनावें जिन्हें वैज्ञानिक प्रकृति के अनन्त राज्य से ला रहे हैं। यदि हम योग्य होंगे तो विज्ञान मानव-जाति के लिए अवश्य श्रेयस्कर होगा। यदि युद्धों में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का दुरुपयोग किया जाता है तो उसका उत्तरदायित्व विज्ञान पर नहीं है। उसी तरह यदि प्रकृति के समस्त सौन्दर्य से युक्त गाँव के स्थान में तङ्ग सड़क, दुर्गन्धपूर्ण नाली और गन्दे मकानों से युक्त और दरिद्रता-ग्रस्त नगर बस जाय तो उसे हम विज्ञान की उन्नति नहीं कहेंगे। यह तो मनुष्यों की स्वार्थपरायणता और लोभ का फल है। इसलिए विज्ञान की निन्दा करने के स्थान में हमें मनुष्यों में सद्धर्म का प्रचार करना चाहिए। धर्म ही से मानव-जाति ठहर सकेगी। धर्माधर्म का ज्ञान लुप्त हो जाने से मनुष्यों का शीघ्र ही संहार हो जायगा। वह समय दूर नहीं है जब एक ही मनुष्य के पास इतनी शक्ति हो जायगी कि वह सिर्फ़ एक बटन दबा कर एक समूचे नगर को नष्ट कर देगा। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग होने लगेगा तो सचमुच प्रलय-काल उपस्थित हो जायगा।

इँग्लेंड के एक विज्ञान-विशारद की यह सम्मति है।

५—नक़ली रेशम।

अभी हाल में जापानियों ने ऐसे नक़ली मोती तैयार किये हैं जिनके आगे असली मोती भी नहीं ठहर सकते। ये वैसे ही टिकाऊ, सुन्दर और पानीदार होते हैं जैसे असली मोती होते हैं। इन नक़ली मोतियों को देख कर इँग्लेंड के असली मोतियों के व्यवसायी घबड़ा गये हैं। यद्यपि नक़ली मोती बहुत दिन से बन रहे हैं, पर जैसे नक़ली मोती जापानियों ने तैयार किये हैं वे असली मोतियों से किसी बात में कम नहीं हैं। कम हैं तो केवल मूल्य में। वे असली मोतियों की अपेक्षा मूल्य में बहुत सस्ते पड़ते हैं।

इसी तरह अब नक़ली या कृत्रिम रेशम तैयार करने की चेष्टा की जा रही है। युद्ध के पहले जर्मनों ने इस बात का प्रयत्न किया था और अपने उद्योग में वे लोग अब बहुत कुछ सफल भी हो गये हैं। कृत्रिम रेशम पशुओं के मांस का बनता है।

पहले मांस को एक प्रकार के तरल पदार्थ में भिगोते हैं, इससे उसके रेशे अलग हो जाते हैं। इसके बाद वे एक दूसरे प्रकार के तरल पदार्थ में डाले जाते हैं जिससे उनमें तनाव और रेशमी जिलो आ जाती है। इस तरह वे रेशे ५ सेन्टीमीटर के लम्बे हो जाते हैं। यद्यपि वे कुछ कड़े होते हैं और जङ्गली रेशम के सदृश मालूम पड़ते हैं तो भी ऐसी आशा की जाती है कि अधिक अनुभव के बाद उनकी ये त्रुटियाँ भी दूर हो जायँगी और यह कृत्रिम रेशम असली रेशम से टक्कर लेने लगेगा।

योरप में सस्ता मांस भी पर्याप्त परिमाण में मिल सकता है। जिन पशुओं का मांस खाने के अयोग्य समझा जाता है वह वहाँ सस्ता मिलता है। अतएव इस मांस से कृत्रिम रेशम अधिक परिमाण में तैयार हो सकता है और लागत निकाल कर उसके व्यवसाय में भी लाभ हो सकता है। इसके सिवा उस मांस के बचे हुए अंश को दूसरी बातों के उपयोग में लगाया जा सकता है। ऐसी दशा में कोई आश्चर्य नहीं है कि उद्योग-प्रेमी योरप के व्यवसायी कृत्रिम रेशम बनाना प्रारम्भ करके अपने प्रयत्न में लग जायँ और इस तरह जापानियों की भाँति वे असली रेशम के व्यवसायियों के प्रतिद्वंद्वी बनें।

६—साहित्य और स्वास्थ्य-रक्षा।

हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कुछ समय से एक नया आयोजन हो रहा है। हिन्दी के दो तीन साहित्य-सेवियों ने साहित्य को स्वास्थ्य-रक्षा के साथ मिला दिया है। आजकल हिन्दू-आयुर्वेदशास्त्र की बड़ी दुर्दशा है। कुछ विद्वान् उसके पुनरुद्धार के लिए बड़ी चेष्टा कर रहे हैं। जगह जगह पाठशालायें खोली जाती हैं। समय समय पर आयुर्वेद-सम्मेलन कराये जाते हैं। वहाँ अच्छे अच्छे विद्वान् उपस्थित होकर आयुर्वेद-शास्त्र की महिमा बतलाते हैं। यद्यपि शिक्षित भारतवासी पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली पर अनुरक्त हैं तथापि अशिक्षितों में शायद एक भी ऐसा न निकलेगा जो आयुर्वेद-शास्त्र पर अचल श्रद्धा न रखता हो। यदि यह बात न होती तो जो चिकित्सक-चूड़ामणि आठ-दस आने की दवा में संसार के सभी रोगों का निवारण करने का दावा करते हैं उनका विज्ञापन देना बिलकुल निष्फल होता। परन्तु ऐसे विज्ञापन-दाताओं की संख्या बेतरह बढ़ रही है। इसके साथ ही वैद्यविद्या का गुप्त रहस्य समझानेवाले विद्वानों का भी अभाव नहीं है।

कोई विद्वान् अपने भाई-बहनों को गुप्त सन्देश देने के लिए व्यग्र हो उठा है तो कोई हिन्दी-साहित्य में काम-शास्त्र का अभाव देख उसकी पूर्ति के लिए चिन्तित हो रहा है। जो प्राचीनता के पक्षपाती हैं वे संस्कृत-साहित्य के लुप्त ग्रन्थों का उद्धार करते हैं और जो अँगरेज़ीदाँ हैं वे अँगरेज़ी ग्रन्थों के आधार पर नवजीवन और दीर्घायु प्राप्त करने का उपाय बतलाते हैं। अब स्त्री-शिक्षा के दो एक प्रेमियों ने स्त्रियों के गुप्त रोगों को दूर करने का बीड़ा उठाया है। एक ओर तो वे स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिए मासिक पत्र के प्रकाशन में दत्तचित्त हैं, दूसरी ओर उनके गुप्त रोगों के निवारणार्थ आयुर्वेदशाला और रसायन-शाला स्थापित कर अक्षय पुण्य-सञ्चय कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि स्त्री-शिक्षा के ये प्रेमी विद्वान् आयुर्वेद-शास्त्र में बड़ा दख़ल रखते होंगे, वैद्य-विद्या के ज्ञानोपार्जन में इन्होंने दो चार साल किसी सद्वैद्य के पास ज़रूर ही शिक्षा ली होगी। तभी तो वे रसायन-शाला खोल रहे हैं। हमने तो यह सुना है कि एकाध विद्वान् अपनी स्त्री की आड़ में बैठ कर भारतीय स्त्रियों की शारीरिक और मानसिक उन्नति का स्तुत्य कार्य कर रहे हैं। ऐसे पर्दानशीन वैद्यों का हाल हमने तीर्थराज में ही आकर सुना। हम उन्हें इस कार्य की सफलता पर बधाई देते हैं।

७—एक ईसाई भक्त।

साधु सुन्दरसिंह संन्यासी हैं। आपकी जन्म-भूमि पञ्जाब है। जब आप सोलह वर्ष के थे तभी आप ईसाई मत में दीक्षित होगये। ईसाई हो जाने पर भी आपने अपना भारतीय वेश परित्याग नहीं किया। ईसा-धर्म का प्रचार करने के लिए आपने संसार का परित्याग कर संन्यास-व्रत धारण किया। आप भारतीय संन्यासियों के समान गेरुवा वस्त्र पहनते हैं। आपकी उम्र ३१ वर्ष की है। योरप में आज-कल सभी अपने को ईसाई कहते हैं, परन्तु यदि सच पूछा जाय तो वहाँ ईसाई-धर्म की पूरी अवहेलना की जाती है। साधु सुन्दरसिंह पदस्खलित ईसाई-जाति को धर्म-विहित सत्य का पथ बतलाने के लिए, उसे भगवान् ईसामसीह का उपदेश स्मरण कराने के लिए, योरप गये। इसके पहले आप समग्र भारतवर्ष घूम चुके थे। नेपाल, तिब्बत और अफ़ग़ानिस्तान में भी ईसाई-धर्म का प्रचार करने के लिए आप गये थे। यह काम यों ही नहीं होगया। आपको बड़ी बड़ी विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। तिब्बत में एक बार आप मृत्यु के द्वार तक पहुँच गये थे। एक अलौकिक उपाय से आपकी जीवन-रक्षा हुई। जब तिब्बती लोगों को यह मालूम हुआ कि आप ईसाई हैं तब उन्होंने आपको एक बड़े भारी गढ़े में डाल दिया। वहाँ जब किसी को प्राण-दण्ड की सज़ा होती थी तब वह उसी गढ़े में डाल दिया जाता था। गढ़े के मुख पर लोहे का दरवाज़ा लगा था और उसकी चाबी एक लामा के पास रहती थी। वहाँ से छुटकारा पाना बिलकुल असम्भव था। ऐसे अन्ध-कूप में फेंके जाने पर भी आप नहीं घबड़ाये। नीचे गिरने से आपके हाथ भी टूट गये, आप बिलकुल निस्सहाय होगये। पर आप ईश्वर की ही प्रार्थना में निरत रहे। दो दिन तक आप उसी अवस्था में पड़े रहे। तीसरे दिन, रात्रि के समय, किसी ने आपको एक लकड़ी के सहारे से ऊपर खींच लिया। अँधेरे में आप उसे देख नहीं सके, पर उसके स्पर्श-मात्र से आपका दुःख दूर होगया और हाथ भी ठीक होगये। दूसरे दिन गाँव में फिर आप ईसाई-धर्म का उपदेश देने लगे। यह देख कर सब लोग चकित होगये। लोगों ने लामा को ख़बर दी। लामा ने आकर देखा कि मृत्यु-कूप का दरवाज़ा बिलकुल बन्द है। उस दिन से लोग आप पर श्रद्धा करने लगे। आप तिब्बत में निरापद घूमने लगे।

साधु सुन्दरसिंहजी कहा करते हैं कि भक्ति, विश्वास और भगवदुपासना से मनुष्य नीरोग और निरापद रहेगा। भगवान् उस पर सदैव सदय रहते हैं और उसका कल्याण ही करते हैं। मनुष्य मोहान्ध होने से उन्हें पहचान नहीं सकता। परमेश्वर के अनन्त प्रेम-स्रोत से यह समस्त संसार उद्भासित है, परन्तु जिस प्रकार नदीतल में रह कर भी पत्थर का हृदय सूखा ही रहता है उसी प्रकार मनुष्य का हृदय भी भगवान् की करुणा-धारा से वञ्चित रहता है।*

*सङ्कलित।

८—नागार्जुन का स्थिति-काल।

पूने के प्राच्य-विद्या-विशारदों के सम्मेलन में डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणजी ने नागार्जुन के विषय में एक महत्त्व-पूर्ण लेख पढ़ा था। नीचे उसी का सारांश दिया जाता है।

कुशानवंश का आधिपत्य ईसा के ५० वर्ष पहले सन् ३५० ईसवी तक रहा। उसी समय आन्ध्रों का भी प्रभुत्व बढ़ा। उनका यह प्रभुत्व ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक रहा। तिब्बती और चीनी ग्रन्थों से विदित होता है कि कनिष्क (अथवा कणिक) कुशानवंश के सभी राजाओं के लिए व्यवहृत होता था जिस प्रकार, सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर की राय में, सातवाहन आन्ध्रवंश के सभी राजाओं का नाम था। संस्कृत में त्रिपिटक को क्रम-बद्ध करने के लिए बौद्ध विद्वानों की चौथी समिति जालन्धर में बैठी थी। इस समिति के संरक्षक कुशानवंश के एक कनिष्क थे। जान पड़ता है कि इसी कनिष्क के पुत्र के लिए प्रसिद्ध बौद्ध-विद्वान् अश्वघोष ने 'महाराज कणिक-लेख' लिखा था। इसका अनुवाद तिब्बत के एक बौद्ध-विश्व-कोश में अभी तक सुरक्षित है। उसमें कनिष्क-सुत सूर्यवंशोत्पन्न कहा गया है और उसे देव का अनुसरण करने के लिए उपदेश दिया गया है। यह देव शब्द देवता के अर्थ में व्यवहृत हुआ है और इससे आर्यदेव की ओर भी इशारा किया गया है। कनिष्क-सुत आर्यदेव का सम-सामयिक था और उसके पूर्वजों को भारतवर्ष में राज्यशासन करते कितने ही वर्ष बीत चुके होंगे, तभी तो वह सूर्यवंशोद्भव कहा गया।

नागार्जुन अश्वघोष का समकालीन था। उसने आन्ध्र-वंश के किसी सातवाहन नरपति को एक पत्र लिखा था। इसका भी अनुवाद तिब्बती भाषा में विद्यमान है। उसमें नरपति के नाम का स्पष्टोल्लेख है। वह नाम है उदयिभद्र। आज तक आन्ध्र-वंश के जितने नरेशों का पता लगा है उनमें उदयिभद्र नाम का कोई राजा नहीं है। सम्भव है, यह कोई स्वतन्त्र अधिपति न रहा हो, कोई क्षमताशाली सामन्त राजा ही रहा हो।

कुमार जीव के एक चीनी शिष्य ने लिखा है कि आर्यदेव का आविर्भाव बुद्ध-देव के निर्वाण-पद प्राप्त करने के ८०० वर्ष बाद हुआ था। ईसा के ४८० वर्ष पूर्व बुद्ध का निर्वाण-काल माना जाता है। इस हिसाब से आर्यदेव और उसका समकालीन कवि अश्वघोष सन् ३२० ईसवी के लगभग हुए होंगे। तब नागार्जुन का स्थितिकाल सन् ३०० में माना जा सकता है और कनिष्क का शासन-काल भी इसी समय में होना चाहिए, क्योंकि उसी के संरक्षण में बौद्धों की चतुर्थ समिति सम्मिलित हुई थी। यह समय मान लेने पर राजतरङ्गिणी का यह कथन भी सार्थक हो जाता है कि कनिष्क और मिहिरकुल (सन् ५१५ ईसवी) के मध्यवर्ती बारह नरेश हुए। लामा तारानाथ ने लिखा है कि नागार्जुन नेमिचन्द्र नामक अपरान्तक के अधिपति के शासन-काल में हुए थे। उसकी मृत्यु के बाद मगध देश में दो और छोटे छोटे राजाओं की प्रभुता रही। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने सन् ३१९ ईसवी में गुप्त-साम्राज्य स्थापित किया।

कनिष्क की बौद्ध-समिति ने बौद्धों में संस्कृत-साहित्य का प्रचार किया। आन्ध्र-वंश के पिछले राजाओं ने भी संस्कृत-साहित्य की उन्नति के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। गुप्तवंश के राजाओं के शासन-काल में ब्राह्मणों ने भी संस्कृत-साहित्य की उन्नति की। संस्कृत-साहित्य के इस पुनरुद्भव-युग को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं। पहले काल में नागार्जुन (सन् ३०० ईसवी,) आर्य्यदेव सन् (३२० ईसवी) और अश्वघोष (सन् ३२० ईसवी) हुए। दूसरे काल में प्रशस्तपाद, वात्स्यायन (सन् ४०० ईसवी) और शबर स्वामी हुए। तीसरे काल में दिङ्नाग (सन् ५०० ईसवी), कालिदास (५३० ईसवी) और वराहमिहिर (५०५–५८५ ईसवी) हुए। पुराणों की रचना इसी काल में हुई।

संस्कृत-साहित्य के पुनरुद्भव-काल का पहला ग्रन्थकार नागार्जुन था। नागार्जुन का नाम वैद्यक-शास्त्र और रसायन-शास्त्र में जितना प्रसिद्ध है उतना ही दर्शन-शास्त्र में है। नागार्जुन का जन्म विदर्भ में हुआ था। उस समय आन्ध्र-वंश का सातवाहन राज्य कर रहा था। कृष्णा नदी के तीर पर त्रिपर्वत की एक गुहा में नागार्जुन ने कुछ समय तक चिन्तन किया। अमरावती-स्तूप के पास एक बुद्ध-

मूर्ति पर जो लेख खुदा है उससे यह विदित होता है कि नागार्जुन विदर्भ देश में अवश्य रहते थे। इस लेख की लिपि सातवीं शताब्दी की है। सन् ४०१ के परवर्ती तो नागार्जुन हो ही नहीं सकते, क्योंकि इसी समय कुमारजीव ने चीनी भाषा में उनका जीवन-चरित लिखा था। अतएव यही मानना अधिक समुचित होगा कि नागार्जुन सन् ३०० ईसवी में हुए।

नागार्जुन ने न्याय-शास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। जान पड़ता है, वात्स्यायन ने उनके ही एक ग्रन्थ—विग्रह-व्यावर्तनी कारिका—से अपने न्याय-भाषा में कुछ अवतरण उद्धृत किये हैं। नागार्जुन का कीर्ति-स्तम्भ है उनका माध्यमिक दर्शन। पक्षपात-रहित विद्वानों की राय है कि शङ्कराचार्य का मायावाद उसी से मिल गया है। सच तो यह है कि नागार्जुन भारतवर्ष का अरिस्टाटिल था।

पुस्तक-परिचय।

१—भारत में दुर्भिक्ष—बम्बई में एक गाँधी हिन्दी-पुस्तक-भंडार खुला है। वहाँ से हिन्दी-गौरव-ग्रन्थमाला का प्रकाशन होता है। अभी तक इस ग्रन्थ-माला में तेईस, चौबीस ग्रन्थ गूँथे जा चुके हैं। 'भारत में दुर्भिक्ष' उसका बीसवाँ ग्रन्थ है। श्रीयुत पण्डित गणेशदत्त शर्मा ने इसकी रचना की है। पुस्तकारम्भ में पटना-कालेज के प्रोफ़ेसर पण्डित राधाकृष्ण झा, एम० ए०, ने एक छोटी सी भूमिका लिखी है। आपकी राय है कि 'लेखक ने इसमें देश-दशा का सच्चा चित्र दिखाया है, और बड़ी सफलता से दिखाया है। समूची क़िताब प्रौढ़ विचारों और गवेषणा-पूर्ण सिद्धान्तों से भरी पड़ी है। व्यर्थ अतिरञ्जित बातें न लिख कर पण्डितजी ने शुद्ध, सरल भाषा में सर्व-सम्मति से स्थिर सिद्धान्तों का वर्णन किया है। मैंने अब तक देशी भाषा में कोई ऐसी पुस्तक नहीं देखी है।' अतएव पुस्तक की उत्तमता में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। पुस्तक २५२ पृष्ठों में समाप्त हुई है। छपाई और काग़ज़ साधारण है। जिल्द मनोरम है। मूल्य जिल्द बँधी हुई पुस्तक का २।) है।

२—पथिक—यह एक खण्ड-काव्य है। श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी ने इसकी रचना की है। इसका पहला संस्करण शीघ्र ही बिक गया। इससे जान पड़ता है कि लोगों ने इसे पसन्द किया। पुस्तक के अन्त में हिन्दी के बड़े बड़े विद्वानों की सम्मतियाँ दी हुई हैं। सभी ने इसकी प्रशंसा की है। अँगरेज़ी-काव्यों के मर्मज्ञ एक विद्वान् ने लिखा है कि इसकी मौलिकता के सम्मुख सहृदय पाठक को अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि शैली का रिवोल्ट आव् इस्लाम स्मरण हो आता है। शायद आप ही की यह राय है कि यह ग्रन्थ एम० ए० और बी० ए० में पढ़ाये जाने योग्य है। जिस काव्य के विषय में विद्वानों की यह धारणा है उसकी उत्तमता का निर्णय करना हमारे समान अल्पज्ञों के लिए असम्भव है। कदाचित् यही कारण है कि हम इसका पाठ कर मुग्ध नहीं होगये। जो कला-कोविद होते हैं वे जीर्ण-शीर्ण कुटीर में भी सौन्दर्य का दर्शन कर लेते हैं। परन्तु मूढ़ रत्नाकर में भी सिर्फ़ खारापन देखता है। हमारी पहुँच इसके रत्नों तक नहीं है।

❋

३—संसारनां सुख—यह अहमदाबाद के सस्तुं साहित्यवर्धक कार्य्यालय की प्रकाशित पुस्तक। वहीं से मिलती है। जिल्ददार है। काग़ज़ पतला और छपाई साधारण है। पृष्ठ-संख्या ३२० से भी अधिक होने पर मूल्य इसका केवल ।।) है। अँगरेज़ी भाषा के नामी ग्रन्थकार सर जान लबक के प्लेज़र्स आफ़ लाइफ़ नामक पुस्तक के आधार पर गुजराती भाषा में इसकी रचना की गई है। लेखक हैं—डाक्टर हरिप्रसाद व्रजराज देसाई। जीवन को सुखकर बनाने के कोई दो दर्जन साधनों का वर्णन इस पुस्तक में हैं। इस देश के अधिकांश निवासियों का जीवन दुःख में ही कटता है। अतएव ऐसे देशवालों के लिए इस प्रकार की पुस्तक पढ़ना और उसमें वर्णन किये गये साधनों की सिद्धि की योजना करना विशेष लाभदायक है। यह कोरा अनुवाद नहीं, अपेक्षित अंशों का अनुवाद करके लेखक ने उदाहरण इत्यादि अपने निज के कल्पित—अपने देश की दशा के अनुरूप—दिये हैं। जो अंश अपने लिए अनुपयोगी समझा है उसे छोड़ दिया है। आवश्यकता होने पर, प्रसङ्ग

के अनुसार, नया मज़मून जोड़ा भी है। इस कारण इस पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है।

❋

४—वैज्ञानिक अद्वैतवाद—यह काशी की ज्ञान-मण्डल ग्रन्थमाला का दसवाँ ग्रन्थ है। बाबू रामदास गौड़, एम० ए० ने इसकी रचना की है। पुस्तक नौ प्रकरणों में विभक्त है। पहले में देश की कल्पना है, दूसरे में काल की कल्पना है। तीसरे में जगत् की सृष्टि और लय का वर्णन है। चौथे में वस्तु की सत्ता पर विचार किया गया है। पाँचवें में आत्म और अनात्म का निर्णय है। छठे में अनात्म की एकता पर आधिभौतिक विचार दिये गये हैं। सातवें में व्यावहारिक वेदान्त है। आठवें में उपासना की विवेचना है। अन्तिम प्रकरण में अद्वैत के विषय में अनुभवी पुरुषों के वचन उद्धृत किये गये हैं। यही पुस्तक का संक्षिप्त परिचय है। पृष्ठ-संख्या २०७। मूल्य सजिल्द पुस्तक का १॥≈) है।

❋

५—हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी की कुछ पुस्तकें—कलकत्ते की हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी ने कुछ किताबें भेजी हैं। (१) **आरोग्य-साधन**—यह १२६ पृष्ठों की पुस्तक है। इसमें महात्मा गाँधी के बीस वर्षों का अनुभव सञ्चित है। यह उन्हीं की एक गुजराती पुस्तक का अनुवाद है। मूल्य ।-) है। (२) **मैं नीरोग हूँ या रोगी?**—यह जर्मनी के प्रसिद्ध जल-चिकित्सक लुई कूने की एक पुस्तक का स्वतन्त्र अनुवाद है। यह ४८ पृष्ठों में समाप्त हुई है। मूल्य ।) है। (३) **हिन्द स्वराज्य**—यह महात्मा गाँधीजी की उस पुस्तक का अनुवाद है जिसकी चर्चा आजकल खूब हो रही है। पुस्तक में दिव्य विचार सन्निहित हैं। ९० पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य ।-) है। (४) **लाल-फीता**—यह श्रीयुत प्रेमचन्दजी की एक छोटी कहानी है। मूल्य -)है। कहने की ज़रूरत नहीं कि कहानी अच्छी है। (५) **पहली पोथी**—इसको बाबू रामदास गौड़ ने लिखा है। यह पुस्तक इसी लिए लिखी गई है कि इससे मज़दूरों और किसानों में अक्षर-ज्ञान बढ़े। ७ पृष्ठों की पुस्तिका का दाम)॥ पैसा है। इस पुस्तक में दो चार ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका अर्थ समझने के लिए शायद लोगों को कोश देखने की ज़रूरत पड़े।

इन पुस्तकों के सिवा असहयोगमाला की कुछ छोटी छोटी पुस्तकें भी आई हैं।

❋

६—योग-भक्ति-सार—इसे माहेश्वरी श्रीकृष्णदास धूत इन्दौर निवासी ने बना कर प्रकाशित किया है। यह १४० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मूल्य ।≈) है। यह काव्य है, कम से कम इसकी भाषा पद्यात्मक है। भूमिका भी पद्यों में लिखी गई है। पुस्तकारम्भ में कहा गया है:—

सभी जीव संसार के भोगन चाहत सुक्ख।
श्रीकृष्ण नहीं चाहते मृत्यु संकट दुःख॥

लेखक का कथन है कि जो इस पुस्तक का उपयोग करेगा वह रोग-निर्मुक्त हो जायगा।

चित्र-परिचय।

सरस्वती के इस अङ्क में वर-दान नामक चित्र दिया जाता है। यह चित्र हमें टेहरी (गढ़वाल) के कुँवर विचित्र-शाह के अनुग्रह से प्राप्त हुआ है। इस चित्र में यह दिखाया गया है कि ब्रह्मा हंस पर सवार होकर अपने भक्तों के पास आये हैं और उन्हें वर-प्रदान कर रहे हैं।

भ्रम-संशोधन।

'सम्राट् खारवेल' शीर्षक जो लेख अप्रैल के अङ्क में निकला है उसके लेखक श्रीयुत रामरखसिंह सहगल नहीं हैं, किन्तु श्रीयुत द्वारकाप्रसाद मिश्र हैं। कृपा कर पाठक सुधार लें।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at The Indian Press Ltd., Allahabad.

शिव-प्रतिज्ञा।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।
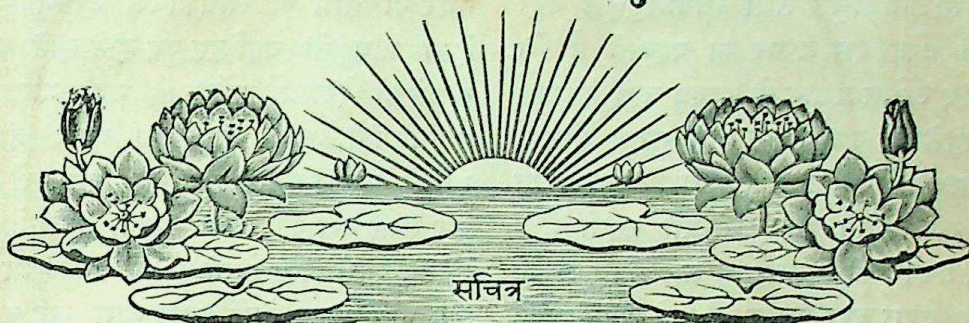
भाग २२, खण्ड २] अगस्त १९२१—श्रावण १९७८ [संख्या २, पूर्ण संख्या २६०

अमरीका की मातायें।

क्या अमरीका और भारतीय माताओं में कुछ अन्तर है? क्या वे भारतीय स्त्रियों से उत्तम होती हैं? क्या वे भारतीय माताओं की भाँति स्वार्थहीन पतिव्रता तथा परिश्रमी होती हैं? क्या वे सभी निःस्वार्थ-भाव से अपनी सन्तान का लालन-पालन करती हैं और विपत्ति में उसकी रक्षा करती हैं? क्या वे आदर्श मातायें हैं?

भारत की भाँति अमरीका में भी बुरी और भली दोनों प्रकार की मातायें हैं। सभी मातायें ऐसी नहीं हैं जो अपनी सन्तान को शिक्षित, सुचरित्र और आज्ञाकारी बनाने में समर्थ होती हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो विलास-प्रिय, आलसी तथा दुर्बल होती हैं। उनको अपने बच्चों को आज्ञा-पालन की शिक्षा देना नहीं आता। जब उनको क्रोध आता है तब वे उन बेचारों पर थप्पड़ों की बौछार करती हैं और जब वे रोते हैं तब उनको मिठाई देकर मनाती हैं। लड़के चाहे बाहर कहीं फिरते रहें उनको इस बात का पता तक नहीं रहता। जब वे लौट कर घर आते हैं तब उनके लिए थप्पड़ और मिठाई तैयार रहती है। इस प्रकार के व्यवहार से बच्चे धृष्ट हो जाते हैं। अमरीका की कुछ स्त्रियों में और भी कई अवगुण होते हैं। कुछ ऐसी युवतियाँ भी हैं जो इस प्रकार अप्राकृत रूप से अपना जीवन व्यतीत करती हैं कि उनका शरीर अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य हो जाता है। इनमें अधिकांश सन्तान ही उत्पन्न करना नहीं चाहतीं। बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी हैं जो अनेक सन्तान उत्पन्न करके अपना परिवार बढ़ाना नहीं चाहतीं। ये शृङ्गार करने, नाटक देखने

और देश भ्रमण करने में ही मग्न रहती हैं। इनको अपनी सन्तानों का निरीक्षण करने के लिए समय ही नहीं रहता। फल यह होता है कि इनकी सन्तान धृष्ट, आलस्यप्रिय तथा अयोग्य होती है। पर ये सारे अवगुण विशेषतः नगर की स्त्रियों में पाये जाते हैं, क्योंकि उनका जीवन अप्राकृतिक होता है। उनका भोजन उचित तथा नियमानुकूल नहीं होता। वे वस्त्र इस प्रकार का पहनती हैं कि उनका शरीर उचित प्रकार से स्वस्थ नहीं रहता। सायंकाल होते ही उनके झुण्ड के झुण्ड होटलों और नृत्यालयों में जाते हैं और वे वहाँ बहुत रात बीते तक खाती-पीती और नाचती रहती हैं। उनकी इस प्रकार की विलासिता का प्रभाव उनकी सन्तान पर बहुत बुरा पड़ता है। वे अपने बच्चों की कुछ भी देख-भाल नहीं करतीं। यहाँ तक कि उनको अपना दूध तक नहीं पिलातीं। उनको शीशियों द्वारा अप्राकृत रीति से दूध पिलाया जाता है। इसलिए मा का दूध पीनेवाले बच्चों की अपेक्षा उनकी मृत्यु-संख्या का परिमाण अधिक होता है। दूसरे गाय आदि का दूध पीने से बच्चों को कई प्रकार के रोग हो जाने का भी डर रहता है। माताओं की विलास-मग्नता का एक परिणाम यह होता है कि बच्चों के पालन-पोषण का भार दूसरे के हाथ सौंपा जाता है। तब स्वभावतः इनके पालन-पोषण तथा शिक्षण में बहुत सी त्रुटियाँ रह जाती हैं।

परन्तु अमरीका में अधिक संख्या अच्छी माताओं ही की है। अमरीका के पुरुष विवाह के पश्चात् नगर के पास बाहर ऐसे स्थान में रहते हैं जहाँ उनको खूब स्वच्छ वायु और धूप मिल सके। शहर के शोर-गुल तथा भीड़-भाड़ से बचने के लिए वे सपरिवार अलग रहते हैं। अच्छी मातायें सन्तानों के प्रति अपने दायित्व को भले प्रकार समझती हैं। उनके पालन-पोषण में वे लोक-प्रथा की नहीं, किन्तु वैज्ञानिक नियमों की सहायता लेती हैं। सन्तान होने के बाद वे अपनी आजीविका का व्यवसाय भी बहुत सोच विचार कर चुनती हैं। उनको अपनी सन्तानों की भलाई का विचार सर्वप्रथम होता है। वे स्वास्थ्य पर बहुत ही ध्यान रखती हैं। यदि अमरीका के किसी नगर या ग्राम के सार्वजनिक उद्यान में जाकर देखा जाय तो वहाँ हृष्ट-पुष्ट छोटे छोटे बच्चे हँसते खेलते ही दिखलाई पड़ेंगे। उनकी मातायें उनके खाने, पीने, वस्त्र आदि का बहुत ही उचित रूप से प्रबन्ध करती हैं। धनी परिवारों को छोड़ कर सभी घरों की मातायें अपनी सन्तानों के साथ खाती, पीती और सोती हैं। वे उनका भार नौकरों पर नहीं छोड़ देतीं, सारा काम खुद करती हैं। वे उनको सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हैं, उनको हवा खिलाने के लिए अपने साथ घुमाती हैं, सायंकाल चित्रनाटक (वायस्कोप) दिखाने को ले जाती हैं, उनकी स्वास्थ्य-रक्षा के ज्ञान के लिए पुस्तकें पढ़ती हैं, उन्हें व्याख्यान सुनाने ले जाती हैं, स्वास्थ्य के नियमों पर स्वयं भी चलती हैं और डाक्टरों तथा शिक्षित दाइयों की सम्मतियाँ लेती रहती हैं। वे अपने भोजन को शुद्ध तथा वैज्ञानिक नियमों के अनुकूल बनाने का पूरा ध्यान रखती हैं। अमरीका में शुद्ध दूध का प्रचार खूब है। जैसा शुद्ध और ताज़ा दूध अमरीका में मिलता है वैसा संसार के किसी दूसरे देश में शायद ही मिलता हो। वहाँ के बालक-बालिकाओं के बलवान और हृष्ट-पुष्ट होने का यह भी एक कारण है।

सन्तानों के स्वास्थ्य की देख-भाल जितनी अमरीका की मातायें करती हैं उतनी और किसी देश की मातायें नहीं करतीं। वहाँ की माताओं ने मातृविज्ञान में जितनी उन्नति की है उतनी शायद ही कहीं की माताओं ने की हो। इसका फल यह हुआ है कि अमरीका के सब प्रान्त

में स्वस्थ, सुन्दर और प्रसन्नमुख बालक पाये जाते हैं। यह बात वहाँ की माताओं की योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सन्तानोत्पत्ति का समय स्त्रियों के लिए बड़ा विपत्तिपूर्ण होता है। प्रसव-काल में शिक्षित दाइयों और औषध के प्रबन्ध के अभाव के कारण सहस्रों माताओं और शिशुओं को काल के गाल में जाना पड़ता है। अमरीका की स्त्रियों ने मताधिकार पाने के बाद ही अपने देश में मदिरा और अन्य मादक पदार्थों का विक्रय पिछले साल से बन्द करा दिया है। माताओं और बच्चों की रक्षा के लिए क़ानून बनाने का अब वे बड़े ज़ोर शोर से आन्दोलन कर रही हैं। सरकार की ओर से माताओं और शिशुओं की स्वास्थ्य-रक्षा के प्रबन्ध के लिए अमरीका की व्यवस्थापिका सभा में एक क़ानून पेश किया गया है। इस क़ानून के अनुसार अमरीका की सरकार डेढ़ करोड़ रुपये प्रति वर्ष व्यय करेगी। इसके सिवा अमरीका के प्रत्येक प्रान्त की ओर से चालीस हज़ार रुपये ख़र्च किये जायँगे। इस धन से अमरीका के प्रत्येक प्रान्त के प्रत्येक भाग में, ग्राम ग्राम प्रसूतिका-गृह बनवाये जायँगे और स्त्रियाँ प्रसव-काल के कुछ पूर्व उनमें आकर रहेंगी। वे वहीं बच्चे प्रसव करेंगी। वहाँ उनके लिए डाक्टरों और शिक्षित दाइयों का पूरा प्रबन्ध रहेगा। इस क़ानून के कारण प्रत्येक स्थान में ऐसी संस्थाओं की संख्या क्रमशः इतनी हो जायगी कि अमरीका की स्त्रियों को प्रसव के समय, उसके पूर्व या पश्चात्, उचित सावधानतापूर्वक रहने का अवसर प्राप्त होगा और डाक्टरों और दाइयों के अभाववश उन्हें किसी प्रकार की विपत्ति या कष्ट न भोगना पड़ेगा।

मातृ-विज्ञान के विद्वानों का मत है कि गर्भावस्था में यदि शिक्षित दाई की सहायता स्त्रियों को मिल जाय तो शिशुओं की मृत्यु-संख्या पहले की संख्या से आधी से भी कम हो जाय। ग्रामों में प्रसूति-गृहों की विशेष आवश्यकता रहती है, क्योंकि वहाँ न तो डाक्टर मिलते हैं न शिक्षित दाइयाँ ही। अमरीका में सरकारी "बाल-रक्षा-विभाग" के एक कार्यकर्त्ता ने इस नये क़ानून के लाभों के विषय में कहा है:—

"हर ज़िले के मध्यवर्त्ती स्थानों में, जहाँ लोग सहज में जा सकें, चिकित्सालयों का स्थापन करना इस क़ानून का पहला काम होगा। वहाँ स्त्रियाँ डाक्टरों से सम्मति और औषध लेने आ सकेंगी और असमर्थ रोगियों को देखने के लिए डाक्टर और दाइयाँ उनके घर भी जा सकेंगी। यद्यपि बहुत से स्थानों में अब भी माताओं और शिशुओं के स्वास्थ्य-रक्षा-भवन हैं, परन्तु केवल कुछ ही स्थानों में इनके होने से काम नहीं चलेगा। इनको देश में सर्वत्र स्थापित करने ही से मातृ-रक्षा और शिशु-रक्षा पूर्ण प्रकार से हो सकेगी"।

सरकारी "बाल-रक्षा-विभाग" ने अमरीका की ग्राम्य सार्वजनिक संस्थाओं से चार बातों के प्रबन्ध के लिए कुछ साल पहले प्रस्ताव किया था। वे ये हैं:—

(१) प्रत्येक ज़िले के मुख्य ग्राम में शिक्षित दाइयों द्वारा सञ्चालित एक प्रसूतिका-गृह की स्थापना। क्रमशः नये स्थानों में भी इनको स्थापित करना, जिससे देश में सर्वत्र माताओं और शिशुओं के सहज और कठिन रोगों की चिकित्सा हो सके। (२) इन चिकित्सालयों में माताओं को गर्भावस्था के समय जिन बातों की सावधानी रखनी चाहिए उनके बताने का प्रबन्ध हो। (३) प्रत्येक ज़िले के अस्पताल में एक भाग गर्भवती स्त्रियों के लिए नियत हो। यदि हो सके तो उनके लिए एक विशेष चिकित्सालय बनवाया जाय। साङ्घातिक रोगों से पीड़ित स्त्रियों के लिए वहाँ पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए। (४) प्रसव के समय

प्रत्येक स्त्री को शिक्षित दाई मिल सके, इसका भी प्रबन्ध हो।

ऊपर कहा गया है कि अमरीका में कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो सन्तान उत्पन्न करना ही नहीं चाहतीं। जिसमें उनके सन्तान न हो इसके लिए वे वैज्ञानिक उपाय भी बहुत करती रहती हैं। परन्तु साधारणतः अमरीका की स्त्रियाँ एक-दम निःसन्तान तो नहीं, पर हाँ बहुत सन्तानवाली नहीं होना चाहतीं। इसका कारण यह नहीं कि वे लालन-पालन के परिश्रम से घबड़ाती हैं, या वे नृत्य-गान, भोज आदि को सन्तानोत्पत्ति तथा उनके पालन-पोषण से अधिक महत्त्व देती हैं। परन्तु इसका कारण यह है कि वे इस बात को जान गई हैं कि बड़े परिवार की अपेक्षा छोटे परिवार में ही अधिक सुख है। वे इस बात को नहीं मानतीं कि सन्तानोत्पत्ति ही विवाहिता स्त्री के आत्मिक गुण-प्रकाश का एक प्रधान चिह्न है। वे जानती हैं कि अधिक पुत्र-पुत्रियों का पालन-पोषण तथा शिक्षण उतनी अच्छी तरह नहीं हो सकता जितनी कि उनके कम होने से होता है। केवल बालकों के होने ही से माता-पिता सुखी नहीं होते। उनके हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, प्रसन्न-चित्त तथा गुणवान् होने ही से माता-पिता को वास्तविक आनन्द होता है। जितना समय, शक्ति, सावधानता और धन पाँच छः पुत्र-पुत्रियों के पोषण तथा शिक्षण में व्यय किया जाता है यदि उतना ही एक दो सन्तान पर किया जाय तो ये एक दो उन पाँच छः की अपेक्षा सब प्रकार से श्रेष्ठ होंगे और इसलिए अपने माता-पिता के विशेष आनन्द के कारण होंगे। यह उनका सिद्धान्त है। सन्तान उत्पन्न करना जितना सहज है उनका पालन-पोषण उतना ही कठिन है। अमरीका की स्त्रियाँ सन्तान के प्रति अपने दायित्व को अच्छी तरह समझती हैं, इसलिए वे इतनी ही सन्तान चाहती हैं जिसका वे भली भाँति पोषण तथा जिसको शिक्षित कर सकें। वहाँ का साधारण स्थिति का परिवार बहु-संख्यक सन्तान को शिक्षादान भली भाँति नहीं दे सकता, क्योंकि ज्यों ज्यों वे बड़े होने लगते हैं त्यों त्यों उनका ख़र्च भी अधिक होता जाता है। इस कारण उनको १५ या १६ वर्ष की उम्र ही में परिवार के काम में सहायता देने के लिए स्कूल से हटा लेना पड़ता है। इससे उनकी शिक्षा अधूरी ही रह जाती है और इसी कारण अमरीका के साधारण स्थिति के लोग बहुत बालकों का होना पसन्द नहीं करते और आवश्यकता से अधिक सन्तान उत्पन्न न हो, इसका वे वैज्ञानिक रीति से प्रबन्ध भी करते हैं।

बालकों की शिक्षा।

मातृ-विज्ञान नया शास्त्र है। इसके लेखकों में अभी अनेक विषयों में मत-भेद है। परन्तु सब का लक्ष्य है एक ही। सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि शिक्षा-प्रणाली चाहे कैसी हो, परन्तु उससे बालक की मानसिक, नैतिक और शारीरिक शक्तियों का पूर्ण रूप से विकास होना चाहिए। बालक यथासम्भव मिथ्या भाषण न करे, स्वस्थ रहे और काम की बातों की शिक्षा पावे—इन बातों का ध्यान उसकी माता को रखना पड़ता है। बालकों को उत्तम विचार और उच्च आदर्श सिखाना माता का काम है।

बालक का सारा दिन खेलने में व्यतीत होता है। ढोल पीटना, खिलौने के हाथी, घोड़ों पर चढ़ना, परियों और तिलस्मातों की कहानियाँ पढ़ना, बाइसिकल पर चढ़ना आदि उसको बहुत अच्छा लगता है। अमरीका में खेलों ही के द्वारा बालकों की कल्पना-शक्ति और बाहु-बल की वृद्धि की जाती है और भाषा, ज्ञान तथा नई वस्तुओं का बनाना सिखाया जाता है।

बालक के लिए संसार की सब बातें नई हैं। बालक जन्म ही से पूर्वजों के अनेक गुणों का उत्तराधिकारी होता है। ज्यों ज्यों उसकी अवस्था बढ़ती है, उन गुणों का उसमें क्रमशः विकास होता है। जब तक बालक के ध्यान में कोई बात न बैठ जाय तब तक किसी आज्ञा अथवा आदर्श को वह स्वीकार नहीं करता। माता को उसे प्रत्येक बात का कारण बताना और उसके प्रत्येक प्रश्न का उचित उत्तर देना चाहिए।

बालकों की शिक्षा में तीन बातें बड़ी उपयोगी होती हैं जिनका उनके जीवन के प्रत्येक कार्य्य में काम पड़ता है। वे ये हैं:—(१) उनकी इच्छा-शक्ति (२) शारीरिक शक्ति और (३) साहस। माता को इनका प्रयोग प्रति दिन की साधारण बातों में समझाना चाहिए। बालक अपनी इच्छा-शक्ति का ज्यों ज्यों व्यवहार करेगा त्यों त्यों उसकी शक्ति बढ़ेगी। माता को स्वास्थ्य-रक्षा, स्वच्छता, व्यायाम आदि की शिक्षा उसको देनी चाहिए। अपनी शक्ति में भरोसा रखना, प्रत्येक काम के करने का साहस करना और आत्म-निर्भरता की शिक्षा उसके लिए बहुत आवश्यक है। नित्य की प्रत्येक बात में उसको इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। उदाहरणतः, यदि बालक को कड़वी दवा देनी हो तो उससे कहा जाय, "औषध और तुममें देखें किस की जीत होती है? तुम इस दवा को जीत कर पी सकते हो। यह दवा तुमसे जीत जायगी और तुम इससे हार कर भाग जाओगे"। यदि बालक अधिक मिठाई माँगता हो तो उससे यह कहा जाय, "तुमको आज मिठाई बहुत मिल चुकी है। यदि और चाहते हो तो और भी मिल सकती है, पर यदि अधिक खाओगे तो तुम बीमार पड़ जाओगे। यदि आज खाकर कल पछताना हो तो भले ही और ले लो"। डर जाने पर उसे साहस दिलाने के लिए "वह लड़का केवल तुमको डराता है। तुमको उससे कभी नहीं डरना चाहिए। यदि वह तुम्हें मारने आवे तो तुम भी उसे मारो। तुम तो उससे अधिक बलवान् हो" इत्यादि।

इन्हीं छोटी छोटी बातों से बालक का चरित्र-गठन किया जाता है। उसको बातों ही से हम साहसी और वीर बना सकते हैं। बातों से ही वह कायर बन जाता है। माता का काम उसको मनुष्य बनाना है। माता का धर्म है कि वह उसके प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विचार पर ध्यान रक्खे।

बालकों की शिक्षा में और एक बड़ी ध्यान देने योग्य बात यह है कि बालकों की रुचि देख कर उनको उसी प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए। यदि किसी की रुचि कल-काँटे में हो तो उसको यन्त्र-विद्या (Engineering) में अधिक सफलता होगी। यदि किसी को गाने-बजाने की अधिक इच्छा रहती हो तो वह गान-विद्या में शीघ्र पारङ्गत हो सकता है। इसी भाँति दूसरी बातें भी समझ लेनी चाहिए।

माता बालक को सुचरित्र, बलवान् और आदर्शवान् बना कर उसकी बाक़ी शिक्षा का काम विद्यालय के हाथ समर्पण करती है। विद्यालय में और बालकों के मिलने से उसको मनुष्यत्व की, नेतृत्व की, मिलनसार बनने की तथा सामाजिक बातों की शिक्षायें मिलती हैं। विद्यालय में उसकी प्रत्येक शक्ति तथा गुण की परीक्षा होती है और वह अपने प्रश्नों को आप हल करना सीख जाता है। युवावस्था का स्वाभाविक लक्षण विद्रोह है। नवयुवक-सामाजिक नियमों को और माता-पिता की आज्ञाओं को न मानने में अपना गुण समझते हैं। उनके शिक्षक उनकी इस स्वतन्त्रता की इच्छा का विचार कर उनके लिए नियम बनाते हैं और उनको समझाते हैं।

घर पर लड़के-लड़कियों को अनेक प्रकार के कामों का भार देकर उनको अपनी ज़िम्मेदारी से काम करने की शिक्षा दी जाती है। प्रत्येक विषय में

उनकी सलाह ली जाती है। इससे उनकी विचार-शक्ति बढ़ती है। धनोपार्जन करने में वे उत्साहित किये जाते हैं। इससे वे स्वावलम्बी होना सीखते हैं। उनको स्कूल तथा पड़ोस के लड़कों से मिलने का पूरा अवसर दिया जाता है। नाई, मोची, बढ़ई आदि के लड़कों से मिल कर उनको समता की एक नई प्रकार की शिक्षा मिलती है। घर पर उनके माता-पिता के उपदेशों, शिक्षा की पुस्तकों और नियमित आदर्शों से उनका चरित्र-गठन होता है।

अमरीका की माताओं ने अपनी सन्तान की शिक्षा के लिए ऐसी सात बातें निश्चित करली हैं जिनसे यदि उनको आदर्श मातायें कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। वे सात बातें ये हैं:—

(१) अमरीका की मातायें अपनी सन्तान की क्रीड़ा, अध्ययन आदि में संगिनी बनती हैं, न कि शासिका।

(२) बालकों को खेलने में किसी प्रकार की रोक टोक नहीं है। चाहे खेल में उनके कपड़े फट जायँ या मैले हो जायँ या उनको चोट ही लग जाय तो भी वे धमकाये नहीं जाते या उन्हें किसी तरह की ताड़ना नहीं दी जाती। उनको सब विषयों में आत्म-विकास के लिए मौक़ा दिया जाता है। उनके किसी कार्य्य में कोई हस्तक्षेप या बाधा नहीं देता। उनको अपने इच्छानुसार काम करने की स्वतन्त्रता रहती है।

(३) बालकों को देश-भक्त होना, सत्य बोलना, आत्म-सम्मान रखना, साहसी बनना, दूसरों के अधिकारों का मान करना, धन का मूल्य समझना आदि बातों की घर पर शिक्षा दी जाती है।

(४) कष्ट में अत्यन्त हताश न होना और गिर पड़ने से चोट लग जाने पर भी हँसते रहने की शिक्षा।

(५) घर के बाहर संसार की बातें जानना; प्रकृति के सौन्दर्य का बोध; पशु, पक्षी, पुष्पलता, वृक्ष आदि से परिचय; ऐतिहासिक गाथाओं का पाठ; इतिहास और साहित्य का ज्ञान आदि।

(६) शरीर को पुष्ट और बलवान् बनानेवाले खेलों का जानना; यथा तैरना, घोड़े पर चढ़ना, तीर-कमान और बन्दूक चलाना, मल्ल-युद्ध और गेंद का खेल आदि।

(७) छुट्टी के समय खूब जी भर कर खेलना, धूम मचाना और ताण्डवनृत्य करना, परन्तु काम के समय काम करना; नियम उल्लङ्घन के दण्ड को सहर्ष स्वीकार करना, न्यायपरता और पितृ-मातृ-प्रेम (भक्ति नहीं प्रेम)।

बालकों को समुचित और पूर्ण प्रकार की शिक्षा के नियम इनसे उत्तम और कौन हो सकते हैं?

अमरीका में बालक-बालिकाओं की शिक्षा पर सरकार भी अधिक ध्यान देती है। वहाँ के बालकों की शिक्षा की तुलना यदि उसी उम्र के भारतीय बालकों की शिक्षा के साथ की जाय तो ज़मीन आसमान का अन्तर मालूम होगा। बच्चों का मस्तिष्क कोमल पल्लव के समान होता है। जब तक वे दोनों छोटे और हरे हैं, जिधर चाहे घुमाये जा सकते हैं। जिस प्रकार माली फुलवाड़ी की झाड़ियों को काट-छाँट कर उनको स्वेच्छानुसार सुन्दर बना सकता है उसी प्रकार अच्छा शिक्षक अच्छी शिक्षा के द्वारा बालक के मस्तिष्क को सुधार सकता है। बालकों को शिक्षा बहुत ही सावधानी और सुचारु रूप से दी जाती है, क्योंकि जैसे पौधा बड़ा होने पर इधर-उधर नहीं किया जा सकता उसी प्रकार बालक भी बड़ा होने पर कुछ नहीं सीख सकता। इसलिए बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा पर बहुत ध्यान दिया जाता है। इस विषय में माता-पिता भी खूब सचेत रहते हैं। यह शिक्षा उनको कई प्रकार से दी जाती है।

भिन्न भिन्न खेल इस प्रकार से बनाये गये हैं कि उनसे बालकों की नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक उन्नति हो। अमरीका के बालक घर ही पर स्कूलों से कहीं अधिक कई प्रकार की शिक्षा पा लेते हैं। घर पर उनके माता, पिता उनको बहुत सी बातों की शिक्षा देते हैं। वे स्वयं उनके साथ खेलते हैं। उनके पिता उनको बचपन में ही नाव खेना, घोड़े पर चढ़ना, तैरना आदि सिखा देते हैं। खेलने के बहाने वे उनको स्वस्थ, साहसी तथा शक्तिवान् बना देते हैं। अमरीका की मातायें तो अपने बालकों के साथ बालक के समान खेलती हैं। इन खेलों में उनका यही ध्यान रहता है कि बालक की मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक उन्नति हो। वे इस प्रकार की शिक्षा से उनकी शोभा बढ़ाती हैं, सुन्दर और बहुमूल्य आभूषणों से नहीं। वे उनको अपने साथ अजायब-घर, मैदान, सङ्गीतालय, नाटक, बायस्कोप आदि में ले जाती हैं और इस तरह उनको विना अध्ययन ही अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करा देती हैं। वैज्ञानिकों ने बहुत सोच-विचार कर ऐसे अनेक खेल निकाले हैं जिनसे बालक आपही आप व्याकरण, भूगोल, ज्योतिष-शास्त्र, रेखा-गणित, अङ्क-गणित आदि सीख जाते हैं।

बालकों के मनोरञ्जन के लिए छोटी छोटी कहानियाँ कही जाती हैं। वे इन कहानियों को बड़े चाव से अपनी माता से कहते हैं। इस तरह उनको बोलने की शिक्षा दी जाती है और इससे स्मरण-शक्ति भी बढ़ती है। बालकों को टाइप राइटर चलाना बताया जाता है, जिससे उनको अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान और शुद्ध लिखना आदि शीघ्र ही आ जाता है।

उनकी शिक्षा की उन्नति का एक कारण यह है कि उन्हें शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता। दण्ड के बदले उन्हें अच्छे आचरण की शिक्षा दी जाती है और सुचरित्रता के लिए पुरस्कार दिया जाता है। इन रीतियों से उनकी शिक्षा की उन्नति बड़ी शीघ्रता से होती है। जो बातें बालक अपनी छोटी अवस्था में सीखते हैं उनको वे बहुत दिनों तक याद रखते हैं।

बालक-बालिकाओं को अपने देश अमरीका की भक्ति करने और उसके गौरव के जानने की शिक्षा भी उनकी मातायें देती हैं। वे उनको अपने देश का इतिहास और देश के वीरों की कहानियाँ पढ़ाती हैं, राष्ट्रीय गीत सिखाती हैं, जातीय उत्सवों में भाग लेने के लिए उत्साहित करती हैं और अमरीका के महापुरुषों ने अपने देश के लिए जो आदर्श बनाये हैं उन आदर्शों को चिर-जीवित तथा चिर-उन्नत रखने का उपदेश देती हैं। फल यह होता है कि बाल्य-काल ही से देश-प्रेम की शिक्षा पाकर बड़े होने पर अमरीका का प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने देश का स्वार्थ पहले देखता है। आवश्यकता पड़ने पर वह तन, मन, धन से देश-सेवा करता है। ऐसी वीर-प्रसविनी वीर मातायें भारत में भी हुआ करती थीं। अब वह समय शीघ्र आ रहा है जब हमको स्त्री-शिक्षा अनिवार्य करके आदर्श मातायें और आदर्श स्त्रियाँ बनाने के लिए प्रबन्ध करना पड़ेगा। तभी भारत का गौरवरूपी सूर्य्य उदय होकर भारत की प्राचीन कीर्ति संसार में फिर फैलावेगा।

रामकुमार खेमका

शिक्षा-सम्बन्धिनी सरकारी समालोचना।

उँटी बहुत ही छोटा प्राणी है। वह भी सुरक्षित जगह में अण्डे देता है, और अण्डों से निकल कर जब तक बच्चे बड़े और इस योग्य नहीं हो जाते कि वे अपना खाद्य आप ही प्राप्त कर सकें तब तक वह उनके लिए दाने चारे का भी प्रबन्ध कर रखता

है। चिउँटियों के बिलों में सेरों अनाज पाया जाता है—विशेष कर उन बिलों में जिनमें चिउँटियाँ अण्डे देती हैं। शहद की मक्खियों का भी यही हाल है। वे भी अपने बच्चों की जीवन-रक्षा और उदर-पूर्ति का बहुत ही अच्छा प्रबन्ध कर रखती हैं। पुस्तकों में पढ़ा है कि वे एक प्रकार की गायें तक पालती हैं। ये गायें मक्खियों के बच्चों को एक बहुत ही मधुर रस अपने मुँह से निकाल निकाल कर पिलाती हैं। जब तक बच्चे समर्थ नहीं हो जाते तब तक उनकी खूब देख-भाल होती है।

पशुओं का भी प्रायः यही हाल है। वे भी अपनी सन्तान की रक्षा करते हैं और सर्वथा निःस्वार्थ-भाव से करते हैं। मनुष्य को तो यह आशा भी रहती है कि हमें अपनी सन्तति से किसी समय सहायता मिलेगी। पर शेरनी और बिल्ली इत्यादि हिंस्र पशुओं को इस तरह की कोई आशा नहीं रहती; उन्हें इतना ज्ञान ही नहीं कि वे सहायता के भाव को समझ सकें। फिर भी, ये प्राणी शिकार के लिए निकल जाते हैं और पहले अपने बच्चों को खाना देकर तब खुद खाते हैं। बात यह कि, ईश्वरी निर्देश के अनुसार, वे अपनी सन्तति को सर्वथा इस योग्य कर देते हैं कि वे अपना पेट आप ही पाल सकें और अपनी रक्षा भी आप ही कर सकें।

मनुष्य ऊँचे दरजे का प्राणी है। उसमें बुद्धि है; सारासार विचार की शक्ति है। किसी में कम है, किसी में अधिक। अफ़्रीका के, तथा कुछ और देशों और टापुओं के, अधिकांश निवासी असभ्य हैं। पशुओं में और उनमें थोड़ा ही अन्तर है। तथापि वे भी अपनी सन्तति को तीर चलाना, शिकार खेलना, मछली मारना आदि सिखा कर उसे अपने सदृश बना देते हैं। जो देश सभ्य हैं उनकी ज़िम्मेदारी बढ़ी हुई है। अपनी सन्तान को अपने योग्य शिक्षा देना उनका कर्तव्य है। वे असभ्य नहीं जो खेत जोतने या हिरन का शिकार करके पेट भर लेने से ही कृतार्थ समझे जा सकें। उनकी पहुँच जहाँ तक है—उनमें ज्ञान का जितना अधिक अंश है—उसके अनुसार ही उनका धर्म्म है कि वे अपने बाल-बच्चों को शिक्षित करें।

शिक्षा से ही मनुष्य में मनुष्यत्व आता है। जो शिक्षित नहीं—शिक्षा न पाने से जिनकी बुद्धि का विकास नहीं हुआ—उनमें और पशुओं में थोड़ा ही अन्तर है। इस कारण प्रत्येक सभ्य मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी सन्तान को शिक्षा देकर या दिला कर उसे मनुष्यत्व की प्राप्ति का पात्र बनावे। सच तो यह है कि जब तक मनुष्य में अपनी सन्तति को समुचित शिक्षा देने की योग्यता या सामर्थ्य न हो तब तक विवाह करके सन्तानोत्पादन करने का उसे अधिकार ही नहीं। सन्तान को जन्म देकर उसे भेड़-बकरियों की तरह संसार में अशिक्षित छोड़ देना गुरुतर अपराध है। इसी से पश्चिमी देशों के अधिकांश निवासी तब तक विवाह नहीं करते जब तक पत्नी का अच्छी तरह पालन करने और सन्तति को समुचित शिक्षा देने का सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर लेते।

सन्तान को समुचित शिक्षा देने का महत्त्व इस देश के प्राचीन निवासी भी अच्छी तरह समझते थे। आठ दस वर्ष की ही उम्र में वे अपने लड़कों को गुरुगृह भेज देते थे। विद्यारम्भ-सम्बन्धी संस्कार को वे एक बड़ी बात समझते थे। उस समय वे अपने बच्चों का दूसरा जन्म हुआ समझते थे। इसी से उन्हें वे "द्विज" की पदवी देते थे। दस दस बीस बीस वर्ष तक वे उन्हें घर से बाहर कर देते थे। जब द्विजन्मा बालक वयस्क और विद्वान् होकर गुरुगृह से लौटते थे तब समावर्तन नामक एक और संस्कार होता था। विद्याध्ययन को इतना महत्त्व देनेवाला संस्कार क्या कभी किसी और प्राचीन देश में भी प्रचलित था? राजाओं को भी इस बात का बहुत ख़याल रहता था कि उनकी प्रजा मूर्ख न रह जाय। पुरानी पोथियों में किये गये उल्लेखों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं। राजा इस बात का गर्व करता था कि उसके राज्य में कोई अपढ़ नहीं। सुनते हैं, भोज ने यह घोषणा करा दी थी कि उसके राज्य में अपढ़ आदमी अपने मस्तक पर चन्दन का खौर या टीका न लगावे।

समय के फेर से विद्या का महत्त्व लोग भूलने लगे। पुरानी प्रथायें विस्मृत होने लगीं। विद्याध्ययन-विषयक संस्कार खेल हो गये। विदेशी राजाओं—और स्वदेशियों ने भी—अपना इतिकर्तव्य भुला दिया। वे प्रजा के हित की ओर कम, अपने स्वार्थ की ओर अधिक ध्यान देने लगे। गुरुगृह और बड़ी बड़ी पाठशालायें धीरे धीरे टूट गईं। फल यह हुआ कि इस देश में अविद्यान्धकार का दौर-दौरा दिन पर दिन बढ़ता ही गया।

अपनी सन्तति को शिक्षा देना यद्यपि माता-पिता का ही प्रधान कर्तव्य है, तथापि अलग अलग शिक्षा-दान का प्रबन्ध करना प्रत्येक कुटुम्ब के लिए सुभीते की बात नहीं। यह प्रबन्ध जन-समुदाय के लिए होने से ही सुभीता हो सकता है। इसी से इस काम को सभ्य देश के राजा या शासक अपने हाथ में लेते हैं। प्रजा उन्हें अपने सुभीते के लिए ही अपना राजा या शासक बनाती है। इसके लिए वह खर्च भी करती है। वह जिसे अपना राजा, शासक या प्रतिनिधि चुनती है उससे कहती है—हम लोग तुम्हें इसलिए यह पद देते हैं कि तुम हमारी रक्षा का प्रबन्ध करो; हमारे बाल-बच्चों की शिक्षा के लिए शिक्षालय खोलो; बीमारों के इलाज के लिए शफ़ाख़ाने खोलो; उद्योग-धन्धों और व्यापार की वृद्धि करो—इत्यादि। इसके लिए कर के रूप में तुम्हें हम काफ़ी धन देंगे। देखना, इसमें त्रुटि न होने पावे। विद्या और शिक्षा से ही मनुष्य में मनुष्यता आती है। अतएव, देखो, विद्यादान के काम को ख़ूब सावधानी से करना।

ऊपर, राजाओं के कर्तव्य के विषय में जो कुछ लिखा गया वह केवल कल्पना-प्रसूत है। पर इस शिक्षोन्नति के समय में सभ्य जनसमुदाय उस कर्तव्य को वैसा ही समझता है। राजा को वह देवता नहीं समझता। वह उसे अपने दिये हुए धन की बदौलत भोग-विलास में लिप्त रहनेवाला कुँवर-कन्हैया नहीं जानता। उसे वह अपना रक्षक, सुपथदर्शक, हितचिन्तक समझता है। जन-समुदाय अपने राजा या अपने प्रतिनिधि को कर्तव्य-च्युत होने पर स्थानच्युत भी कर सकता है; उसे दण्ड तक देने का अधिकार उसे प्राप्त रहता है। इसी से कितने ही नये नये राजा बना और कितने ही बिगड़ा करते हैं।

हिन्दुस्तान में अँगरेज़ी राज्य का आरम्भ हुए सौ वर्ष से भी अधिक हुआ। इस राज्य के अधिकारियों ने, आरम्भ में, शिक्षादान की ओर ध्यान तो दिया, पर बहुत ही कम। पहले की शिक्षा-सम्बन्धिनी रिपोर्टें भी अब प्राप्य नहीं। पर इधर चालीस पचास साल से शिक्षा देने का काम कुछ विशेष व्यवस्थित विधि से होता है। इसका भी हिसाब रक्खा जाता है कि किस साल कितने स्कूल और कालेज थे, उनमें कितने छात्र शिक्षा पाते थे, इस काम में सरकार ने कितना खर्च किया था।

इस देश में, हर सूबे में, शिक्षा-विभाग का एक एक अध्यक्ष रहता है। वह डाइरेक्टर आव् पबलिक इन्सट्रक्शन कहाता है। वह हर साल अपने महकमे की एक रिपोर्ट तैयार करता है। उसमें शिक्षा-विषयक सभी बातों की समालोचना रहती है। उस रिपोर्ट पर विचार करके प्रान्तिक गवर्नमेंट अपना मन्तव्य प्रकट करती है और सर्व-साधारण की अवगति के लिए उसे प्रकाशित करती है। अब, कई साल से, भारतीय प्रधान गवर्नमेंट ने "बेरू आफ् एजुकेशन" नाम की एक संस्था अपनी अधीनता में संस्थापित की है। यह संस्था समस्त देश की शिक्षा की देख-भाल रखती है। इसके अध्यक्ष, या बड़े साहब, एजुकेशनल कमिश्नर कहाते हैं। ये साहब पूर्वोक्त प्रान्तिक डाइरेक्टरों की रिपोर्टें पढ़ कर, उनके आधार पर, अपनी ओर से भी नमक मिर्च लगा कर, एक और रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं। उसमें सारे देश की शिक्षा की समालोचना रहती है। इस तरह की १९१९-२० (मार्च १९२० तक) की एक रिपोर्ट, १९२१ ईसवी के जून महीने में, अब, जाकर प्रकाशित हुई है। गवर्नमेंट का कहना है कि देश में पढ़े-लिखे और काफ़ी समझ रखनेवाले आदमी कम हैं। अधिकांश अपढ़ हैं। वे अपने हित-अनहित को ख़ुद नहीं समझ सकते। गवर्नमेंट ऐसे भोले-भाले और अपढ़ आदमियों की माँ-बाप बनती है और कहती है कि इन लोगों की बेहतरी और बेहबूदी का ख़याल उसी को सबसे अधिक है। अतएव, देखिए, माँ-बाप की स्थानापन्न गवर्नमेंट अपनी भोली-भाली रिआया के लिए कितनी और किस प्रकार की शिक्षा देती है और ख़र्च कितना करती है। ये बातें, थोड़े में, हम "बेरू आफ़ एजुकेशन" की पूर्वोक्त, १९१९-२० वाली रिपोर्ट, से ही देते हैं—

कोई ६० वर्ष हुए जब, अर्थात् सन् १८६० ईसवी के लगभग, सारे भारत में केवल १० लाख छात्र शिक्षा पाते थे। १८८० में उनकी संख्या २० लाख, १९०० में ४०

लाख, १९१० में ६० लाख और १९२० में कहीं जाकर ८० लाख हुई। देखिए, कितनी मन्थर गति से—कछुवे की गति से भी धीमी गति से—छात्रों की संख्या बढ़ी अर्थात् शिक्षा-प्रचार की गति के वेग ने वृद्धि पाई। कोई ६० वर्ष में १० लाख के ८० लाख छात्र स्कूलों और कालेजों में पहुँचे! जानते हैं आप आबादी के हिसाब से यह औसत कितना पड़ा। यह पड़ा फ़ी सदी ३ से कुछ ही अधिक! अर्थात् १०० मनुष्यों में से कुछ अधिक तीन ही मनुष्यों की शिक्षा का प्रबन्ध हो सका। अच्छा इनकी पढ़ाई में ख़र्च? जनाबे वाला, सन् १८७० के लगभग सरकार एक ही करोड़ रुपया शिक्षा-विभाग के लिए ख़र्च करती थी। पर कोई ५० वर्ष में उसने उसे बढ़ा कर चौदह करोड़ से भी कुछ अधिक कर दिया है! माँ-बाप इससे ज़ियादह और क्या करते?

यह हम लोगों के लिए बड़े अफ़सोस की बात है और सुसभ्य अँगरेज़ी गवर्नमेंट के लिए बड़ी लज्जा की। कारण यह कि शिक्षा-दान का समुचित प्रबन्ध करना गवर्नमेंट का बहुत बड़ा कर्तव्य है। उसे चाहिए कि प्रजा से प्राप्त धन का काफ़ी अंश वह इस काम के लिए ख़र्च करे, क्योंकि शिक्षा ही की बदौलत प्रजा अपने सुख के साधनों की विशेष प्राप्ति और वृद्धि कर सकती है। पर गवर्नमेंट ने अपने इस कर्तव्य की अब तक बहुत कुछ अवहेलना की है। प्रजा से कर के रूप में अनन्त धन लेकर उसका बहुत ही थोड़ा अंश उसने उसे शिक्षित बनाने के लिए ख़र्च किया है। सन्तोष की बात है कि उसने अब कहीं अपना ध्यान इस त्रुटि की ओर जाने दिया है और प्रजा के प्रतिनिधियों के बहुत कुछ कहने सुनने और बहुत कुछ हो-हल्ला मचाने से शिक्षा के प्रचार और तदर्थ व्यय के विस्तार की योजना कर देने की कृपा की है। प्रान्तीय शिक्षा-विभागों को उसने अब प्रजा के प्रतिनिधि-स्वरूप मन्त्रियों के अधीन कर दिया है। इस दशा में यदि यथेष्ट शिक्षा-प्रचार न हो तो गवर्नमेंट कम, मन्त्रिवर्ग ही अधिक उत्तरदाता समझा जायगा।

युद्ध के कारण १९१८-१९ में ११ हज़ार छात्र कम हो गये थे। पर १९१९-२० में उनकी संख्या में २½ लाख से भी अधिक की वृद्धि होगई। अर्थात् ३१ मार्च १९२० को ८२,०६,२२५ छात्र शिक्षा पाते थे। इसका मतलब यह हुआ कि पिछले साल से २,६९,६४८ छात्र बढ़ गये। यह वृद्धि फ़ी सदी ३¾ के बराबर हुई। पर आबादी के हिसाब फ़ी सदी ३·३६ से अधिक बच्चों को फिर भी शिक्षा नसीब न हुई!

इस संख्या-वृद्धि का ब्योरा लीजिए—

(१) कालेजों में ६३,८३० से ६५,९१६ छात्र हो गये

(२) माध्यमिक स्कूलों में १२,१२,१३३ से १२,८१,८१० छात्र हो गये

(३) प्रारम्भिक मदरसों में ५९,४१,४८२ से ६१, २३,५२१ छात्र हो गये

शिक्षालय भी बढ़े, पर विशेष नहीं। शिक्षालयों की वृद्धि का फ़ी सदी औसत २·८ ही पड़ा; पर छात्रों की वृद्धि का फ़ी सदी औसत पड़ा ३·८ का। सब मिला कर शिक्षालयों—अर्थात् स्कूलों, कालेजों और मदरसों—की संख्या थी २,०२,९८१। उनमें से पुरुषों (बच्चों और युवकों) के शिक्षालय थे १,७८,२४३ और लड़कियों तथा स्त्रियों के २४,७३८। किस तरह के शिक्षालय कितने थे और उनकी संख्या में वृद्धि कितनी हुई, यह नीचे देखिए—

	वर्तमान संख्या	वृद्धि की संख्या
(१) कालेज	२१६	७
(२) हाई स्कूल	२,११३	१२७
(३) अँगरेज़ी और देशी भाषाओं के मिडिल स्कूल	३,२९५	१७
(४) देशी भाषाओं के मिडिल स्कूल	३,३००	४१५
(५) प्रारम्भिक स्कूल	१,५५,३५४	५,०७३
(६) विशेष प्रकार के स्कूल	४,०९०	३८९

सो संख्या तो ज़रूर सब प्रकार के स्कूलों की बढ़ी, पर अधिक वृद्धि हुई प्रारम्भिक ही स्कूलों की। इससे सिद्ध हुआ कि शिक्षा-विषयक बदली हुई अपनी अधिक उदार नीति के कारण गवर्नमेंट ने देहात में जो नये नये मदरसे और मकतब अधिक खोले हैं उसी से यह संख्या इतनी बढ़ गई है। अतएव इससे यह नहीं सूचित होता कि विद्या या शिक्षा की विशेष वृद्धि हुई है। जो नये मदरसे बढ़े हैं उनमें तो अभी अधिकतर इक्का एक और अलिफ़-

बे या कक्का-किक्की ही पढ़नेवाले छात्र होंगे। ख़ैर, सरकार ने अपनी मन्थर गति के तेज़ तो कर दिया। यह गति यदि अधिक न बढ़ी, इतनी ही रही, तो भी, सम्भव है, ट, फ, करनेवाले ये छात्र ऊँचे दरजों में पहुँच कर कुछ पढ़-लिख जायँ।

शिक्षा के सम्बन्ध में अपना प्रान्त बड़ाही अभागा है। सीमाप्रान्त को छोड़ कर और सभी प्रान्त उसके आगे हैं; सभी में आबादी के हिसाब से फ़ी सदी अधिक छात्र शिक्षा पाते हैं। कुछ सूबों का हिसाब नीचे देखिए—

मदरास	फ़ी सदी	४·१८
बम्बई	,,	४·४८
बङ्गाल	,,	४·२८
ब्रह्मदेश	,,	४·७५
बिहार और उड़ीसा	,,	२·४५
मध्यप्रदेश और बरार	,,	२·५७
आसाम	,,	३·४७
पञ्जाब	,,	२·१५
संयुक्त-प्रदेश	,,	२·१५

देखिए, बिहार, मध्यप्रदेश और आसाम तक अपने प्रान्त से आगे हैं। पञ्जाब और अपने प्रान्त की दशा एक सी है। हाँ, अपने प्रान्त के गवर्नर साहब ने अब अपनी कृपादृष्टि का पात कुछ अधिक विस्तृत कर दिया है। इसी से १६१६-२० में उसके पिछले साल से फ़ी सदी ८¾ छात्र अधिक शिक्षा पाने लगे हैं। यदि उन्नति का यह क्रम बराबर जारी रहा तो, आशा है, कुछ बरसों में साक्षरता की विशेष वृद्धि हो जाय। अपने प्रान्त में छात्रों की विशेष वृद्धि प्रारम्भिक मदरसों ही में हुई है। माध्यमिक स्कूलों में तो उनकी संख्या उलटी कम होगई है। इसका कारण डाइरेक्टर साहब ने बीमारी और महँगी आदि बताया है। यह कारण ठीक हो सकता है। पर क्या शिक्षा की महर्घता भी इस कमी का कारण नहीं?

शिक्षा-दान में, रिपोर्ट के साल, सब मिला कर १४,८८,६६,६६० रुपया ख़र्च हुआ। वह इस प्रकार—

	रुपये
(१) प्रान्तिक गवर्नमेंट का दिया हुआ	६,३१,६२, २३३
(२) म्यूनीसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों का दिया हुआ	२,१३,०१,२३६
(३) फ़ीस से प्राप्त हुआ	३,६८,८०,४५६
(४) और ज़रियों से प्राप्त हुआ	२,७५,५३,०२६

सो, कोई १५ करोड़ रुपये में से सरकार ने अपने ख़ज़ाने से केवल ६ करोड़ ३१ लाख रुपया ख़र्च किया। बाक़ी रुपया अन्य द्वार से प्राप्त हुआ। अतएव यदि सरकार या और कोई यह समझे कि शिक्षा-विस्तार का सारा श्रेय सरकार को ही है तो उसकी यह समझ भ्रमात्मक होगी। ३½ करोड़ रुपये से भी अधिक रुपया तो केवल फ़ीस से वसूल हो जाता है। २¾ करोड़ से भी अधिक चन्दे या ख़ैरात वग़ैरह से मिलता है। हाँ, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया भी अब कुछ कुछ देने लगी है। परन्तु कोई कोई प्रान्त ऐसे हैं कि वे उस रुपये से यथेष्ट लाभ नहीं उठाते। उदाहरण के लिए अपने प्रान्त को बड़ी गवर्नमेंट ने पहले २ करोड़ १४ लाख रुपया दिया था। पर उसके बाद और रुपया उसने शायद इसी कारण नहीं मञ्जूर किया, क्योंकि पहले दिया हुआ रुपया ही नहीं ख़र्च किया गया।

वर्तमान विश्वविद्यालयों की पढ़ाई आदि में परिवर्तन करने की ख़ूब योजनायें हो रही हैं। इन योजनाओं का कारण कलकत्ता-विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में नियत किये गये कमिशन की रिपोर्ट है। लखनऊ में एक नया विश्वविद्यालय खुल रहा है। ढाके का विश्वविद्यालय शायद अब तक खुल भी गया होगा। इधर इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में भी बहुत कुछ उथल-पुथल किये जाने का प्रबन्ध हो रहा है। रङ्गून और नागपुर में भी विश्वविद्यालयों की स्थापना होनेवाली है।

माध्यमिक शिक्षा देनेवाले स्कूलों की संख्या में ५५६ की वृद्धि हुई। सब मिला कर वे ८,७०८ हो गये। उनमें शिक्षा पानेवाले छात्रों की संख्या भी बढ़ कर १२,८१,८१० होगई—अर्थात् ६१, ६७७ छात्र अधिक शिक्षा पाने लगे। पिछले साल इन स्कूलों के लिए ३३, ६५, ८११ रुपये कम ख़र्च किये गये थे; रिपोर्ट के साल ख़र्च की रक़म बढ़ कर

४,००,३७,७१४ होगई। सो इस प्रकार की शिक्षा के लिए कोई ३३२ लाख रुपया अधिक ख़र्च हुआ।

धनी या मध्यवित्त लोग चाहते हैं कि देहात में जो मिडिल स्कूल हैं उनमें अँगरेज़ी भी पढ़ाई जाय। पर अन्य लोग इसके ख़िलाफ़ हैं। वे कहते हैं कि ज़रा सी अँगरेज़ी पढ़ कर हमारे लड़के क्या करेंगे। उससे हमें कुछ भी लाभ नहीं। आप हमारे लड़कों को देशी भाषाओं में ही शिक्षा दीजिए। इस झगड़े को सरकार अब तक हल नहीं कर पाई। तथापि उसने परीक्षा के तौर पर संयुक्त-प्रान्त, बम्बई, ब्रह्मदेश, पञ्जाब और सीमा-प्रान्त के कुछ मिडिल-स्कूलों में ऐच्छिक रूप से अँगरेज़ी की पढ़ाई का भी प्रबन्ध कर दिया है। वहाँ जिसका जी चाहे अपने लड़कों, लड़कियों को थोड़ी सी अँगरेज़ी भी पढ़ लेने दे। यह प्रबन्ध बहुत अच्छा हुआ। इससे सब प्रकार के लोगों को सुभीता रहेगा। सम्भव है, धीरे धीरे ऐसे स्कूल ही लोगों को अधिक पसन्द आवें। यदि ऐसा हुआ तो केवल अँगरेज़ी या केवल देशी भाषाओं के द्वारा शिक्षा देनेवाले मिडिल-स्कूलों की ख़ैर न समझिए। वे बिलकुल ही न टूट जायँगे तो बहुत कम तो अवश्य ही हो जायँगे।

माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों के वेतन में विशेष वृद्धि कर दी गई। कहीं कहीं तो कुछ अध्यापकों के वेतन दूने तक हो गये। जिन प्रान्तों में इन लोगों के वेतन अब तक नहीं बढ़े वहाँ भी बढ़ाने की तजवीज़ हो रही है। बड़ी बात है—

भूखे भगति न होहि गुपाला

१९१८-१९ में प्रारम्भिक मदरसों की संख्या १,५०,२७१ थी। १९१९-२० में बढ़ कर वह १,५५,३४४ होगई। अर्थात् ५,०७३ मदरसे बढ़े। इसी तरह इन मदरसों में पढ़नेवाले छात्रों की संख्या में भी १,९२,०३९ की वृद्धि हो गई। पिछले साल कुल छात्रों की संख्या ५९,४१,४८२ थी। रिपोर्ट के साल वह ६१,३३,४८२ हो गई। ख़ुशी की बात है, सबसे अधिक वृद्धि अपने ही प्रान्त में हुई। यहाँ इस प्रकार के मदरसों में २,१७७ की वृद्धि हुई और छात्रों में ७६,०९७ की। यह सर हरकोर्ट बटलर की कृपा का प्रभाव है। जब से आप इस प्रान्त के कर्णधार हुए हैं तभी से आपका ध्यान शिक्षा-प्रचार की ओर है। यही कारण है जो शिक्षा-दान के सम्बन्ध में तरह तरह के परिवर्तन हो रहे हैं; नये नये विश्वविद्यालयों की सृष्टि हो रही है; हर प्रकार की शिक्षा की समुन्नति की योजनायें की जा रही हैं। अपना प्रान्त शिक्षा-प्रचार में बहुत पिछड़ा हुआ भी है। यदि बटलर साहब की इतनी कृपा न होती तो निरक्षरता का घोर अन्धकार पूर्ववत् ही बना रहता।

रिपोर्ट के साल एक बात नई हुई। वह है ज़बरदस्ती शिक्षा देने के सम्बन्ध में क़ानून बनना। इस तरह के क़ानून प्रायः सभी बड़े बड़े प्रान्तों में "पास" हो गये हैं। कहीं कहीं तो ये क़ानून म्यूनीसिपैलिटियों ही की हद के भीतर कारगर होने के लिए बनाये गये हैं, पर कहीं कहीं—उदाहरणार्थ बङ्गाल में—इनकी दौड़ म्यूनीसिपैलिटियों की हद के बाहर तक भी है। कुछ निर्दिष्ट शर्तें पूरी होने पर, इन क़ानूनों के अनुसार, माँ-बाप को अपने बच्चे ज़बरदस्ती स्कूल भेजने पड़ते हैं। यदि इस तरह के क़ानून सभी प्रान्तों में "पास" हो जायँ और उनकी व्याप्ति सार्वत्रिक हो जाय तो निरक्षरता का बन्धन ढीला हो जाने की बहुत कुछ सम्भावना है।

कहीं कहीं प्रारम्भिक शिक्षा-दान मुफ़्त भी कर दिया गया है, यह भी सन्तोष की बात है। ख़ैर, सैकड़ों वर्ष बाद, गवर्नमेंट ने बलवत् शिक्षा देने और यत्र तत्र प्रारम्भिक शिक्षा को मुफ़्त कर देने की ओर क़दम तो बढ़ाया।

कृषि, व्यापार-व्यवसाय, कला-कौशल और यञ्जीनियरी की शिक्षा के प्रचार के विस्तार की ओर भी सरकार का ध्यान कुछ अधिक गया है। इस प्रकार के शिक्षा-दान की प्रणालियों में कहीं कहीं नूतनता भी उत्पन्न की गई है, शिक्षालय भी बढ़ाये गये हैं और विशेष उपयोगिनी योजनाओं से भी काम लिया गया है।

लड़कियों के मदरसों में १,३५९ की वृद्धि होकर उनकी संख्या २२,८६२ होगई। साल के अन्त में १३,०६,११३ लड़कियाँ उनमें पढ़ती थीं। अर्थात् पिछले साल की अपेक्षा उनकी संख्या में ६३,५९३ की वृद्धि हुई। पर इस वृद्धि से किसे सन्तोष हो सकता है? ब्रिटिश भारत की १२ करोड़ स्त्रियों में सिर्फ़ १३ लाख स्त्रियों या लड़कियों ही को शिक्षा मिलना सन्तोष की तो नहीं, सन्ताप की बात अवश्य है।

सौ स्त्रियों में केवल एक लड़की का स्कूल जाना हम लोगों के और सभ्यशिरोमणि सरकार के भी कर्तव्य-पालन का प्रखर प्रमाण है। यदि हम लोग अपनी लड़कियों को शिक्षा देना चाहते और गवर्नमेंट उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करती तो स्त्रियों में इतनी अविद्या कदापि न पाई जाती।

हमारे मुसलमान भाइयों की शिक्षा के विषय में सरकार कुछ विशेष दत्तचित्त रहती है। यह इसलिए कि उनमें शिक्षा की बहुत कमी है। मूर्ख और कमज़ोर सन्तति पर मां-बाप की अधिक कृपा का होना अस्वाभाविक भी नहीं। इसी से मुसलमानों की शिक्षा के लिए गवर्नमेंट ने विशेष विशेष नियम बना दिये हैं, जगह जगह मकतब खोलने का प्रबन्ध कर दिया है, नई नई योजनायें करके शिक्षा-प्राप्ति के साधनों की वृद्धि कर दी है। फल भी इसका अच्छा हुआ है। १९१८-१९ में १६,२६,४३९ ही मुसलमान-छात्र शिक्षा पाते थे। पर अगले साल—१९१९-२० में—उनकी संख्या बढ़ कर १७,६४,८६८ होगई।

यह है एक साल की सरकारी रिपोर्ट का सारांश। इसमें सन्देह नहीं कि पहले की अपेक्षा सरकार अब शिक्षा-दान की ओर अधिक ध्यान दे रही है, पर विषय के महत्त्व को देखते, उसका यह प्रवर्द्धित प्रयत्न भी काफ़ी नहीं—काफ़ी क्या नहीं, काफ़ी की हद से योजनों दूर है। सरकार को चाहिए कि वह अपने देश—अपने टापू—को देखे; योरप के अन्यान्य देशों की ओर भी आंख उठावे; अमेरिका और जापान के शिक्षा-प्रचार का अवलोकन करे। जब इन सब देशों में फ़ी सदी दो चार निरक्षर आदमी मुश्किल से मिल सकते हैं, तब भारत में फ़ी सदी तीन ही चार शिक्षितों का मिलना सरकार की सुनीति के विस्तृत भाल पर बहुत बड़े कलङ्क के टीके का परिचायक है। क्या कारण है जो १०० वर्ष से भी अधिक शासन करने पर भी अँगरेज़ी गवर्नमेंट यहां यथेष्ट शिक्षा-प्रचार नहीं कर सकी? कारण है, केवल उसकी नीति। यदि वह अपने कर्तव्य का समुचित पालन करती तो निरक्षरता का यहां इतना अखण्ड राज्य न रहता। जब और और कम महत्त्व के कामों के लिए सरकार को पचास पचास, साठ साठ करोड़ रुपये हर साल ख़र्च करने को मिल जाते हैं तब शिक्षा के सदृश परमोपयोगी काम के लिए यह कहना कि रुपये की कमी के कारण इसकी उन्नति नहीं हो सकती, ऐसी बात है जो किसी भी समझदार की समझ में नहीं आ सकती।

अस्तु। अब अनेक कारणों से समय ने पलटा खाया है। सरकार की नीति भी अब कुछ उदार हो चली है। शिक्षा-प्रचार का काम भी अब प्रजा के प्रतिनिधियों ही के ऊपर छोड़ दिया गया है। इससे आशा होती है कि यदि बाधक नीति की कर्कश कशा भीतर ही भीतर न चली तो दो ही चार साल में अशिक्षा का अन्धकार धीरे धीरे विरल हो जायगा। ईश्वर करे ऐसा ही हो!

महावीरप्रसाद द्विवेदी

बाजीराव पेशवा।

अपने पिता की मृत्यु के बाद बाजीराव सन् १७२० में पेशवा के पद पर नियुक्त हुआ। शिवाजी के स्वाधीन राज्य पर छत्रपति शाहू का आधिपत्य प्रथम पेशवा ने ही अपने अनवरत परिश्रम से जमा दिया था। शाहू का विरोधी दल ताराबाई की अधीनता में गृह-युद्ध जारी किये रहा, परन्तु विजय-लक्ष्मी शाहू ही को वरण किये रही। यद्यपि प्रथम पेशवा ने शाहू के विरोधियों को परास्त कर दिया था और वे इतने बल-सम्पन्न नहीं थे कि अपनी ओर से युद्ध छेड़ कर शाहू का सामना करते, तो भी मरहटा-राज्य के सिंहासन का स्वत्व उन्होंने अभी तक नहीं परित्याग किया था। शाहू को मरहटा-राज्य से निकाल बाहर करने का उनका भाव अभी ज्यों का त्यों बना था। अर्थात् बाजीराव की नियुक्ति के समय शाहू का प्रतिद्वन्दी अपनी घात में तैयार खड़ा था। वह बिलकुल निस्तेज नहीं हो गया था। इसके सिवा पड़ोस में आसफ़जाह ने दिल्लीश्वर से राजविद्रोह करके अपने स्वाधीन राज्य की नींव रक्खी थी। पेशवा के लिए यह

दूसरी भय की बात थी। परन्तु बाजीराव ऐसा-वैसा आदमी नहीं था। वह अपने समय का अद्वितीय राजनीतिज्ञ और रण-कला-कुशल था। उसके जीवन की घटनाओं की ओर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि शिवाजी को छोड़ कर मरहटों में उसके समान योग्य पुरुष दूसरा नहीं हुआ है। पूना से लेकर दिल्ली तक उसकी विजय-वैजयन्ती उड़ती रही।

जिस समय बाजीराव ने पेशवाई का पद ग्रहण किया था उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मद शाह आसीन थे। सैयदों का प्राधान्य इसके कुछ ही पहले विनष्ट हुआ था। शाही दरबार में कोई भी ऐसा प्रत्युत्पन्नमति राजपुरुष नहीं था जो शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर साम्राज्य में व्यवस्था स्थापित करता। स्वयं बादशाह इतना क्षमताहीन हो गया था कि वह भी कुछ कर-धर न सकता था। दरबार के अमीर-उमरा अपने अपने प्राधान्य के लिए परस्पर द्वन्द मचाये हुए थे। उधर प्रान्तिक सूबेदार शाही दरबार की इस परिस्थिति से स्वाधीन भाव व्यक्त करने लगे थे। मालवा और गुजरात का सूबेदार आसफ़जाह तो इतना शक्ति-सम्पन्न हो गया था कि उसने दक्षिण में जाकर मुग़ली सूबों पर स्वतन्त्र भाव से अपना अधिकार जमा लिया था। मुग़ल-दरबार की यह स्थिति बाजीराव की निगाह से न छिप सकी और उसने उससे तुरन्त लाभ उठाने का निश्चय किया।

परन्तु बाजीराव अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करे तो कैसे करे। उसे तो अभी वे अधिकार भी न प्राप्त हुए थे जो उसके पिता को प्राप्त थे। इसके सिवा मरहटा-शासन में प्रतिनिधि का दरजा सबसे ऊँचा था और वह पेशवा से ईर्ष्या रखता था। परन्तु मनस्वी अपने निश्चय से कभी नहीं डिगता। अतएव बाजीराव के मुग़ल-साम्राज्य पर आक्रमण करने का प्रस्ताव उपस्थित करने पर प्रतिनिधि ने घर की तथा बाहर की कठिनाइयाँ बतला कर उसका विरोध दृढ़ता के साथ किया, परन्तु पेशवा ने छत्रपति को अपने प्रस्ताव की उपयोगिता तथा उसका महत्त्व इस प्रकार से समझाया कि उसने मुग़ल-साम्राज्य पर आक्रमण करने का आदेश उसको दे दिया। अपने इस पहले ही कार्य से पेशवा ने छत्रपति को अपनी ओर कर लिया। यही नहीं उसने अपने प्रतिद्वन्दी को पहले ही वार में नीचा दिखा कर अपना प्राधान्य भी क़ायम कर लिया।

जब आसफ़जाह साम्राज्य का वज़ीर-पद परित्याग कर दक्षिण चला गया था और वहाँ के मुग़ल-राज्य को अपने क़ब्ज़े में करके स्वतन्त्र हो बैठा था तब बादशाह ने मालवा की सूबेदारी राजा गिरधर और गुजरात की सर बुलन्दख़ाँ को प्रदान की। इन नव-नियुक्त सूबेदारों ने अपने अपने प्रान्तों से आसफ़जाह के कर्मचारियों को बलपूर्वक हटाना शुरू कर दिया और उनके स्थान पर ये अपना प्राधान्य क़ायम करने लगे। इसी गड़बड़ी में बाजीराव ने मालवे पर चढ़ाई कर दी। मालवे में आसफ़जाह की उतनी सेना नहीं रह गई थी जो राजा गिरधर का सामना कर सके, अतएव उसने अपने प्रान्त पर सरलता से अधिकार कर लिया। परन्तु मरहटों के आक्रमण की कठिनाइयाँ उसे बहुत समय तक झेलनी पड़ीं। उधर गुजरात में आसफ़जाह के चाचा हामिदख़ाँ के पास कुछ सेना थी और उसने सर बुलन्दख़ाँ का सामना भी किया। इसके सिवा अपनी सहायता के लिए उसने पेशवा से मदद माँगी जो कि चौथ और सरदेशमुखी के वादे पर तुरन्त दी गई। परन्तु सर बुलन्दख़ाँ ने हामिदख़ाँ को परास्त करके गुजरात पर अपना अधिकार जमा लिया। पर यहाँ भी मरहटे अपने कार्य-क्षेत्र से न हटे। वे नव-नियुक्त सूबेदार

से लड़ते ही रहे। इस प्रकार पेशवा ने जो आक्रमण मुग़ल-साम्राज्य के इन प्रान्तों पर किया था उसका वेग नव-नियुक्त सूबेदार न सँभाल सके और युद्ध-भूमि में विजय-लक्ष्मी मरहटों ही को बराबर मिलती रही।

बादशाह से विद्रोह करके आसफ़जाह ने हैदराबाद को अपनी राजधानी बना कर दक्षिण का सम्पूर्ण मुग़ल-राज्य अपने क़ब्ज़े में कर लिया था। वह वहाँ अपना अधिकार मज़बूत करने में लगा था। अतएव मालवे और गुजरात के मामले में हस्तक्षेप करने की हिम्मत उसे न हुई। परन्तु वह यह नहीं चाहता था कि मरहटे शक्ति-सम्पन्न और प्रभावशाली हो जायँ। वह औरंगज़ेब का ज़माना देखे हुए था, अतएव मरहटों की इस शक्ति-वृद्धि से वह विशेषरूप से चिन्तित हुआ। वह उन्हें भेद-नीति-द्वारा शक्तिहीन करने का उपाय सोचने लगा। तदनुसार उसने प्रतिनिधि को लिखा कि जो चौथ तथा सरदेशमुखी मरहटों को दक्षिण के प्रान्तों से मिलती है उसके बदले में मैं देश तथा वार्षिक नक़द रक़म देने को तैयार हूँ। यह प्रस्ताव उसने पेशवा का प्रभाव विनष्ट करने के मतलब से किया था। परन्तु मरहटों में उस समय बाजीराव का प्राधान्य था। अतएव उसके विरोध करने पर आसफ़जाह का प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ, परन्तु फल यह ज़रूर हुआ कि पेशवा और प्रतिनिधि का मनोमालिन्य बढ़ गया।

जब आसफ़जाह को अपनी इस चाल से विशेष लाभ न हुआ और उसने देखा कि मालवे में पेशवा दिन प्रति दिन प्रबल पड़ता जा रहा है तब उसने दूसरा कुचक्र चलाया। उसने मरहटा-राज्य के दूसरे दावीदार शम्भा और शाहू में युद्ध करा देने का प्रयत्न किया। उसने शाहू और शम्भा दोनों को लिखा कि जो चौथ तथा सरदेशमुखी दक्षिण के प्रान्तों से मरहटों को मिलनी चाहिए वह किसको दी जाय। अतएव तुम लोग अपना अपना हक़ प्रमाणित करो। इस चाल का अर्थ शाहू और बाजीराव दोनों ने समझ लिया और वर्षा-ऋतु की समाप्ति के बाद ही पेशवा ने तुरन्त आसफ़जाह पर चढ़ाई कर दी। उसने उसके राज्य में प्रवेश करके बुरहानपुर को जा घेरा। पेशवा के आक्रमण करने से आसफ़जाह ने प्रकट-रूप से शम्भा का पक्ष ले लिया और बुरहानपुर की रक्षा के लिए वह स्वयं रवाना हुआ। इसी बीच में पेशवा बुरहानपुर का घेरा उठा कर द्रुतगति से गुजरात पर चढ़ गया, क्योंकि वहाँ के सूबेदार सर बुलन्दख़ाँ ने चौथ देना अभी तक स्वीकार न किया था। गुजरात में लूट-खसोट करके वह फिर दक्षिण को तुरन्त लौट पड़ा और आसफ़जाह से आ भिड़ा। उसने शत्रु-सेना के आस पास के देश को ऐसा उजाड़ दिया कि उसे रसद तथा अन्यान्य आवश्यक सामग्री मिलना दुर्लभ हो गया। मरहटों की इस प्रकार की युद्ध-शैली से व्याकुल होकर आसफ़जाह ने बाजीराव से सन्धि का प्रस्ताव किया। उसने शम्भा का पक्ष परित्याग कर दिया और मरहटों के लाभ की दूसरी सुविधायें कर देने का भी वचन दिया। युद्ध-भूमि में आसफ़जाह को इस प्रकार पराभूत करके पेशवा ने सन् १७२६ में नर्मदा पार की और मालवा में अपने स्वत्व क़ायम करने के लिए वह फिर पूर्ववत् डट गया।

इधर पेशवा की अनुपस्थिति में प्रतिनिधि ने शम्भा पर आक्रमण कर दिया और युद्ध में परास्त कर उसको सन्धि करने के लिए बाध्य किया। हार जाने पर शम्भा ने मरहटा-राज्य के सिंहासन के अपने दावे को छोड़ दिया। उसे कोल्हापुर का राज्य मिल गया। इसके सिवा राजा की पदवी और शाहू का दर्जा भी उसे प्राप्त रहा। यद्यपि शम्भा को इस प्रकार वशवर्ती करने का सारा

श्रेय प्रतिनिधि ही को मिला, पर उसका प्राधान्य पेशवा के प्रताप के आगे न जम सका।

मालवा में जो सफलता बाजीराव ने प्राप्त की थी उसके कारण मरहटा-शासन में वह सर्व-प्रधान हो गया था। उसकी इस उन्नति को देख कर मरहटा-शासन के दूसरे प्रधान प्रधान सूत्रधार उससे मन ही मन जलने लगे थे। प्रतिनिधि तो खुल्लमखुल्ला उसका विरोधी हो गया था, परन्तु वह उसका कुछ बना बिगाड़ न सकता था। इसके सिवा भोंसला और सेनापति भी उससे ईर्ष्या करते थे। भोंसला दक्षिण के प्रान्तों की चौथ वसूल करने को नियुक्त था और सेनापति गुजरात में सैन्य सञ्चालन का कार्य कर रहा था। गुजरात में जो सफलता प्राप्त हुई थी उसकी भी कीर्ति पेशवा ही को मिली। इसी से सेनापति पेशवा से रुष्ट हो गया था। पेशवा भी इस समय इतना प्रभावशाली हो गया था कि राज्य का सारा कार्य उसी ने अपने हाथ में ले लिया था। छत्रपति शाहू उसी का कहना मानते थे। इसी कारण दूसरे लोग पेशवा से असन्तुष्ट थे।

अपनी नीति में असफल होने से तथा युद्ध में पराजित होकर भी आसफ़जाह हतोत्साह न हुआ। बाजीराव का पराभव करने के लिए आसफ़जाह ने मरहटों के सेनापति को फाँसा। मरहटों के सेनापति का पद दबारी-वंश के हाथ में ही सदा से रहा है और उक्त वंश का सरदार उस समय गुजरात में मरहटों की सेनाओं का सञ्चालन कर रहा था। सेनापति भी बाजीराव की समुन्नति से मन ही मन जलता था। अतएव वह आसफ़जाह के चकमे में आ गया। उसने सेनापति से वादा किया था कि यदि तुम बाजीराव को पदच्युत करने के लिए उस पर आक्रमण करोगे तो हम तुम्हारी मदद करेंगे। तदनुसार सेनापति ने इस बात की घोषणा कर दी कि में बाजीराव के अधिकार से छत्रपति को मुक्त करने के लिए उस पर आक्रमण करूँगा। वह इस कार्य के लिए सैन्य-सङ्ग्रह भी करने लगा। इस समाचार को सुन कर पेशवा बहुत ही चिन्तित हुआ। उस समय उसके पास इतनी सेना नहीं थी कि वह सेनापति को दमन कर सके। इसके सिवा सैन्य सङ्ग्रह करने का अवसर भी नहीं था। अतएव जितनी सेना उसके पास थी उसी को लेकर उसने तुरन्त गुजरात को प्रस्थान किया। बड़ौदा के समीप ही दोनों सेनाओं का मुक़ाबला हुआ। युद्ध में पेशवा की जीत हुई और सेनापति मारा गया। इसके बाद उसने स्वयम् उसके अल्पवयस्क पुत्र को शाहू की ओर से सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया। उसकी ओर से यह प्रतिज्ञा की गई कि गुजरात की आय में से आधा भाग वह छत्रपति को पेशवा के द्वारा सदा अदा करता रहेगा। इस विद्रोह-दमन में पेशवा ने अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति से काम लिया था। उसने केवल अपनी वीरता ही पर भरोसा करके थोड़ी सेना से सेनापति पर आक्रमण किया था। उस समय सेनापति के पास ३५,००० सैन्य-दल था। पेशवा ने अधिक सैन्य सङ्ग्रह करने में अपना समय नष्ट न किया। इस कारण आसफ़जाह को सेनापति की सहायता करने का अवसर ही न मिला।

बाजीराव चाहता तो आसफ़जाह को उसके कुचक्रों के लिए अच्छी तरह दण्ड दे सकता था। परन्तु उसका कार्य-क्षेत्र इतना विस्तीर्ण हो गया था कि उसने किसी स्थानिक युद्ध में अपने को फँसाना उचित नहीं समझा। मालवा में उसके तीन प्रधान कर्मचारी ऊदाजी पवाँर, मल्हारराव होल्कर और रानोजी सेंधिया मरहटी सेनाओं का सञ्चालन कर रहे थे। गुजरात में सेनापति की नाबालिगी के कारण मरहटी सेना का सञ्चालन पिलकाजी गायकवाड़ के हाथों में था और इधर

बरार तथा उसके आगे के देशों की चौथ वसूल करने का काम भोंसला कर रहा था। मरहटी सेना के इन वीर सञ्चालकों को लेकर पेशवा आसफ़-जाह को मिट्टी में मिला सकता था, परन्तु उसने ऐसा करना उचित नहीं समझा। उसने आसफ़जाह से समझौता कर लेने ही में लाभ समझा। आसफ़-जाह भी इस बात से भयभीत हो गया था कि कहीं ऐसा न हो कि बाजीराव बादशाह से, जो उसके विरुद्धाचरण से उस पर रुष्ट था, दक्षिण की सूबे-दारी प्राप्त करले। अतएव उन दोनों नीतिज्ञों में सन्धि होगई। यह गुप्त सन्धि थी। आसफ़जाह ने वादा किया था कि पेशवा के मालवा तथा और आगे मुग़ल-राज्य पर आक्रमण करने पर वह किसी तरह की छेड़-छाड़ न करेगा, उलटा यदि कोई मरहटा सरदार पेशवा के विरुद्ध अस्त्र धारण करेगा तो वह पेशवा के स्वार्थों की रक्षा करेगा। इस प्रकार का समझौता कर चुकने के बाद पेशवा ने नर्मदा पार करने की फिर तैयारी की।

मालवा और गुजरात में जो युद्ध मरहटी सेनायें वहाँ के सूबेदारों से कर रही थीं उनमें उन्हीं की विजय होती रही। जब गुजरात के सूबेदार सर बुलन्दख़ाँ मरहटों के आक्रमणों से घबड़ा गया तब उसने चौथ तथा सरदेशमुखी देना स्वीकार कर लिया। परन्तु जब इस बात की सूचना बादशाह को मिली तब उसने उसके समझौते को अस्वीकृत ही न कर दिया, किन्तु उसको पदच्युत करके उस प्रान्त की सूबेदारी जोधपुर के स्वाधीन राजा अभयसिंह को प्रदान कर दी। अभयसिंह ने सर बुलन्दख़ाँ को गुजरात से निकाल बाहर किया। इसके बाद उसने मरहटों पर आक्रमण करके उनसे बड़ौदा ख़ाली करा लिया। परन्तु जब इतने पर भी मरहटों ने गुजरात को न छोड़ा तब उसने पिलकाजी का वध करवा दिया। इस पर उसके पुत्र तथा भाई ने अधिक सैन्य लेकर गुजरात में उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने ऐसा ज़ोर बाँधा कि अभयसिंह को जोधपुर भाग जाना पड़ा। फलतः गुजरात पर मरहटों का अधिकार हो गया। इधर मालवे में राजा गिरधर सन् १७२९ में लड़ाई में मारा जा चुका था और उसका भाई दयाराम भी, जो उसका उत्तराधिकारी हुआ था और मरहटों से बराबर लड़ता रहा, सन् १७३२ में युद्ध में मारा गया। इस पर बादशाह ने इलाहाबाद के तत्कालीन सूबेदार मुहम्मदख़ाँ बंगस को मालवा की भी सूबेदारी प्रदान कर दी। उसने मालवे में आकर बुँदेलखण्ड के राजा छत्रसाल पर आक्रमण किया। इसी अवसर पर छत्रसाल ने बाजीराव को अपनी सहायता के लिए बुलाया था। तदनुसार पेशवा ने नर्मदा पार करके मालवा पर फिर चढ़ाई की।

बाजीराव ने मुहम्मदख़ाँ को युद्ध में परास्त करके उसे एक क़िले में आश्रय लेने को बाध्य किया। बादशाह अपने सूबेदार की सहायता कुछ भी न कर सका। उसकी स्त्री की प्रार्थना पर रुहेल-खण्ड से उसके पुत्र और सम्बन्धियों ने आकर सूबेदार की रक्षा की और वह वहाँ से इलाहाबाद भाग गया। इस सहायता के उपलक्ष्य में छत्रसाल ने झाँसी का राज्य पेशवा को दे दिया और अपनी मृत्यु के बाद अपने राज्य का तृतीयांश भी दे देने का वचन दिया।

मुहम्मदख़ाँ की इस पराजय पर बादशाह ने मालवे की सूबेदारी आमेर के राजा सवाई जयसिंह को प्रदान की, परन्तु यह भी मरहटों को मालवा से न निकाल सका। तब इसने बादशाह की स्वीकृति से सन् १७३४ में मालवे की सूबेदारी स्वयं पेशवा ही को अर्पण कर दी। इतने समय तक युद्ध जारी रखने के बाद जब मरहटों का अधिकार मालवा और गुजरात पर अच्छी तरह हो गया तब बाजीराव ने बादशाह से स्वीकृति प्राप्त करने के लिए उस पर

दबाव डालने की प्रक्रिया आरम्भ की। इसलिए अपने सरदारों को आगरे तक बढ़ कर आक्रमण करते रहने का आदेश देकर वह दक्षिण को लौट गया। इधर सेंधिया और होल्कर ने मुग़ल-राज्य पर बढ़ बढ़ कर आक्रमण करना जारी रक्खा। जो बादशाही सेना उनका दमन करने को भेजी जाती थी वह उनका कुछ भी बना-बिगाड़ न सकती थी।

सन् १७३६ में बाजीराव फिर मालवे में आया और सन्धि की बातचीत उसने स्वयं अपने हाथों में ले ली। जब उसने देखा कि बादशाह बिलकुल ही क्षमता-रहित हो गया है तब उसने अपनी माँग भी बढ़ा दी। उसने चम्बल के दक्षिण का सारा देश जागीर के रूप में और मथुरा, इलाहाबाद और बनारस के तीर्थ-स्थान माँगे। परन्तु, यद्यपि बादशाह युद्ध में अपने शत्रुओं का सामना करने में असमर्थ था तो भी राजनैतिक चाल में वह चूकनेवाला नहीं था। बादशाह ने पेशवा को राजपूतों से चौथ लेने का अधिकार प्रदान कर दिया और इस मद की जो रक़म उसे आसफ़जाह से मिलती थी उसमें वृद्धि करने का भी अधिकार उसे दे दिया गया। पेशवा ने बादशाह की इन शर्तों को तो स्वीकार कर लिया, पर वह अपनी पहली माँगें ज्यों की त्यों बनाये रहा। बादशाह ने सोचा था कि उन अधिकारों के देने से मरहटों से राजपूतों तथा आसफ़जाह से युद्ध आरम्भ हो जायगा और इस प्रकार वह तथा उनका राज्य मरहटों के आक्रमणों से बचा रहेगा। बात भी वही हुई, परन्तु मरहटे भी अपने कार्य-क्षेत्र में डटे ही रहे। इधर बादशाह के राज-कर्मचारियों ने आसफ़जाह से लिखा-पढ़ी शुरू की। आसफ़जाह तुरन्त बादशाह के पक्ष में हो गया, क्योंकि वह स्वयं मरहटों की शक्ति-वृद्धि से भयभीत था। अतएव उसने बादशाह का पक्ष ग्रहण करने में ही विशेष लाभ समझा।

बाजीराव की गति-विधि के भयङ्कर परिणाम को समझ कर ही शाही दरबार के राजनीतिज्ञों ने विद्रोही आसफ़जाह को अपने पक्ष में कर लेना उचित समझा था। बादशाह की ये राजनैतिक चालें बाजीराव से छिपी नहीं थीं। अतएव वह अपनी सेना को आगे ही बढ़ाता गया। यहाँ तक कि उसकी सेना का अग्रभाग यमुना पार करके अन्तर्वेद के देश में होल्कर के नायकत्व में लूट-मार करने लगा और स्वयं पेशवा भी आगरे के समीप आ पहुँचा था। उसके शिविर से आगरा केवल ४० मील रह गया था। इस स्थिति को देख कर अवध के सूबेदार वज़ीर सआदतख़ाँ ने अपने प्रान्त से निकल कर होल्कर पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर यमुना के पार खदेड़ दिया। इस विजय के कारण यह ख़बर उड़ा दी गई कि मरहटे हार कर दक्षिण को ससैन्य भाग रहे हैं। यह सुन कर पेशवा बहुत ही उत्तेजित हो गया और इस कलङ्क को धोने के लिए उसने अपनी स्वाभाविक द्रुत गति से दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। जो सेना कमरुद्दीनख़ाँ की अधीनता में उसका सामना करने को आई थी वह उस समय मथुरा में पड़ी थी। उसे अपने दाहने १४ मील का अन्तर देकर पेशवा आगे को बढ़ गया और धावे पर धावे करता हुआ वह दिल्ली के सामने जा पहुँचा। उसकी उपस्थिति से राजधानी में ख़लबली मच गई, पर पेशवा ने दिल्ली पर आक्रमण न किया। वह तो केवल बादशाह को अपनी उपस्थिति से भयभीत भर करना तथा यह बताना चाहता था कि पेशवा भाग नहीं गया है। परन्तु जब उसने यह देखा कि उसकी सेना राजधानी में लूटमार मचा देगी तब उसने राजधानी से कुछ दूर हट कर मोर्चा बाँध दिया। इससे शाही सेना को उत्साह मिला और उसने राजधानी से निकल कर मरहटों पर आक्रमण किया। परन्तु मरहटों ने उस सेना का ऐसी वीरता से सामना किया कि शाही सेना भाग कर

राजधानी में फिर जा घुसी और उसकी भारी हानि हुई। इस समय तक सआदतखाँ भी अपनी सेना लेकर कमरुद्दीनखाँ से आ मिला और तब ये दोनों सरदार दिल्ली की रक्षा के लिए उधर को लौट पड़े। बाजीराव का उद्देश सिद्ध हो गया था। अतएव उसने वहाँ ठहरना अपने लिए लाभदायक न समझ कर अपनी फ़ौज को लौट पड़ने की आज्ञा दे दी।

पेशवा के दक्षिण वापस आजाने के पहले ही आसफ़जाह सन् १७३७ में दिल्ली जा पहुँचा। बादशाह ने उसे साम्राज्य के सम्पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिये और उसके पुत्र गाज़ीउद्दीन को मालवा तथा गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। परन्तु साम्राज्य-सरकार इतनी शोचनीय स्थिति को पहुँच गई थी कि आसफ़जाह केवल ३४,००० सेना नियुक्त कर सका। परन्तु उसके पास एक बहुत ही अच्छा तोपख़ाना था। इसके सिवा सआदतख़ाँ के भतीजे सफ़दरजङ्ग के नायकत्व में सहायता के लिए एक दूसरा सैन्य-दल भी था। इस साज-सामान से मरहटों का सामना करने के लिए आसफ़जाह ने मालवा को प्रस्थान किया। उधर बाजीराव ने भी ८०,००० सैन्य-दल लेकर नर्मदा पार की। आसफ़जाह भूपाल के क़िले के समीप अपना मोर्चा बाँध कर मरहटों के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा।

परन्तु मरहटे मोर्चा बाँध कर युद्ध करने में अभ्यस्त नहीं थे। अतएव उन्होंने सदा की भाँति शत्रु-सैन्य के आस-पास का देश उजाड़ना शुरू कर दिया। उन्होंने इस बात की भी सख़्त निगरानी रक्खी कि मुग़ल-सैन्य को बाहर से किसी प्रकार की सहायता न मिलने पावे। लगभग एक महीने तक चारों ओर से मरहटों से घिरे रहने के कारण और सफ़दरजङ्ग की सेना से सम्बन्ध टूट जाने से आसफ़जाह अपना मोर्चा त्याग करने को बाध्य हुआ। अतएव वह उत्तर की ओर लौट पड़ा। यद्यपि उसने अपना बहुत सा सामान भूपाल में ही छोड़ दिया था तो भी जो भारी तोपख़ाना उसके पास था उसके कारण वह शीघ्रगति से भाग न सकता था। यद्यपि तोपों के भय से मरहटे मुग़ल-सेना पर सहसा आक्रमण करने का साहस न कर सकते थे तो भी वे अपनी घुड़सवार सेना लिये मुग़ल-सेना के अग़ल-बग़ल तथा आगे पीछे प्रतिक्षण उपस्थित रहते थे और अवसर पाते ही मार-काट मचा देते थे। अपनी इस दुर्दशा को देख कर आसफ़जाह ने बाजीराव से सुलह की प्रार्थना की। पेशवा और उसके बीच यह तय हुआ कि चम्बल और नर्मदा के बीच का सारा देश मरहटों को मिल जायगा। बादशाह से इसकी स्वीकृति तथा ५० लाख रुपये दिला देने का वचन देकर आसफ़जाह ने अपना पिण्ड मरहटों से छुड़ाया।

इस समझौते के हो जाने पर आसफ़जाह कुशलपूर्वक दिल्ली वापस चला गया और पेशवा ने मालवा और गुजरात पर अपना अधिकार फिर जमा लिया। परन्तु इसी बीच में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण कर दिया। परन्तु जब लूट-मार करके नादिरशाह अपने देश को वापस चला गया तब पेशवा बादशाह की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए फिर सचेष्ट हुआ। अभी तक बादशाह ने अपनी स्वीकृति उस सन्धि पर न की थी जो सन् १७३६ में आसफ़जाह ने उसके साथ की थी। अतएव उसने युद्ध की फिर तैयारी की। परन्तु इस बार उसने उत्तर-भारत में युद्ध करने का विचार न किया। क्योंकि गायकवाड़ और भोंसला उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे और उसे अधिकार-च्युत करने के प्रयत्न में लगे थे। अतएव दक्षिण में ही रह कर उसने युद्ध करने का निश्चय किया। उसने भोंसला को करनाटक

पर चढ़ाई करने के लिए भेज दिया। इसके बाद उसने आसफ़जाह के पुत्र नासिरजंग पर चढ़ाई की जो बुरहानपुर में था। पहले तो पेशवा ने उसे घेर लिया, परन्तु सहायता मिल जाने के कारण नासिरजङ्ग ने मरहटों पर उलटा आक्रमण कर दिया और उनका व्यूह भेद करके वह निकल गया। यही नहीं वह पूना की ओर अग्रसर भी हुआ। अपनी स्थिति मज़बूत न देख बाजीराव ने उससे समझौता कर लिया। इस समय बाजीराव बड़ी कठिनाइयों में फँसा हुआ था। यही पहला अवसर उसके जीवन में उपस्थित हुआ था जब उसने स्वयं शत्रु से सन्धि का प्रस्ताव किया हो। नासिरजंग से मेल करके उसने फिर नर्मदा पार की। परन्तु सहसा वहीं उसकी मृत्यु सन् १७४० में होगई।

यह बात बिलकुल ठीक है कि मरहटे औरङ्गज़ेब से अपनी स्वतन्त्रता के लिए लगातार २५ वर्ष तक लड़ते रहे और बादशाह उनका दमन न कर सका। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों ने मरहटों में गृह-युद्ध मचाये रखने की भेद-नीति से ही सदा काम लिया। जब बाजीराव पेशवा के पद पर नियुक्त हुआ तब उसने गृह-युद्ध ही में फँसा रहना ठीक न समझ मुग़ल-साम्राज्य के देशों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। उसकी नीति का केवल एक यही परिणाम न हुआ कि निरन्तर युद्ध करते रहने के कारण उसकी शक्ति बढ़ गई, किन्तु चम्बल से लेकर करनाटक तक मरहटों की धाक जम गई। उसका प्राधान्य यहाँ तक बढ़ गया था जैसा कुछ लोग कहते हैं कि बाजीराव ही वास्तव में मरहटा-राज्य का शासक बन गया था, शाहू तो उसके हाथ की कठपुतली था। परन्तु यह बात ज़रूर ठीक है कि पेशवा अपनी क्षमता और योग्यता के कारण मरहटा-शासन में सर्वश्रेष्ठ कर्मचारी बन गया था और भोंसला, सेनापति तथा प्रतिनिधि उसकी उन्नतावस्था देख कर मन ही मन जलते थे। परन्तु अपने इन शत्रुओं को पद-भ्रष्ट करने की हिम्मत कभी उसकी न हुई, क्योंकि छत्रपति का वरदहस्त जैसे पेशवा के ऊपर था वैसे ही उन पर भी था। अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्ध काम करने का औद्धत्य पेशवा ने कभी नहीं दिखाया। यह बात नहीं कि वह सेनापति और भोंसला का विनाश-साधन नहीं कर सकता था। जब उसकी विजय का डङ्का मुग़लों की दिल्ली के फाटक से लेकर दक्षिण में करनाटक तक बज रहा था तब वह क्या नहीं कर सकता था। परन्तु पेशवा अहर्निश मरहटा-शक्ति की समुन्नति में ही लगा रहा। यदि राज्य के दूसरे कर्मचारी पेशवा से द्वेष न रख कर उसकी सहायता में ही कटिबद्ध रहे होते तो पेशवा बहुत कुछ कर गुज़रता। निस्सन्देह बाजीराव के समान बुद्धिमान, कर्तव्य-परायण और वीर मरहटों में दूसरा फिर कोई न हुआ और जो ईर्ष्या की आग उसके समय में सुलग उठी थी और जिसे वह अपनी सहनशीलता से सदा दबाये रहा वह उसकी मृत्यु के बाद दिन प्रति दिन उग्र ही पड़ती गई और अन्त में मरहटा-साम्राज्य उसी में भस्मसात् हो गया।

हरिनन्दन भट्ट.

रस्किन।
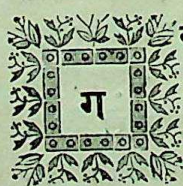
गत शताब्दी के अँगरेज़ी साहित्य के इतिहास में कारलाइल और रस्किन के नाम ख़ूब प्रसिद्ध हैं। इन्होंने आधुनिक व्यापार-पद्धति और सम्पत्ति-शास्त्र पर जो विचार प्रकट किये हैं उनसे मनुष्यों का विचार-स्रोत ही बदल गया है। यह सच है कि पहले अपनी विलक्षणता

के कारण वे लोगों को ग्राह्य प्रतीत नहीं हुए। परन्तु अपनी असाधारणता ही से उन्होंने लोगों के चित्त को आकृष्ट कर लिया और अब सभी मननशील लोग यह समझ गये हैं कि उनके विचारों में सत्य का सूक्ष्म तत्त्व निहित है। सम्पत्ति-शास्त्र विज्ञान है, कम से कम उसका आदर्श ऐसा है कि वह विज्ञान के अन्तर्गत हो सकता है। रिकार्डो और ज़ेम्स मिल सम्पत्ति-शास्त्र के आचार्य हैं। उन्होंने उसकी जैसी विवेचना की है उससे यही मालूम होता है कि सम्पत्ति-शास्त्र का उद्देश उन सिद्धान्तों और नियमों का क्रमबद्ध वर्णन करना है जिनके आधार पर आधुनिक व्यापार-पद्धति स्थित है। अर्थात् अर्थ की प्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न व्यवसाय-शील जातियाँ जिन नियमों से मर्यादित होकर व्यावसायिक समर-क्षेत्र में अवतीर्ण होती हैं उनका स्पष्टीकरण ही सम्पत्ति-शास्त्र है। यह व्यवसाय के दाव-पेचों का वर्णन करता है, उनकी धार्मिकता अथवा अधार्मिकता का निर्णय नहीं करता। इस शास्त्र के सिद्धान्तों का थोड़ा बहुत ज्ञान सभी को है। मनुष्यों की सभी इच्छायें पार्थिव श्री के केन्द्रीभूत होती हैं। मनुष्य को तभी सन्तोष होता है जब कम परिश्रम से अधिक लाभ होता है। वह यही चाहता है कि सबसे सस्ता ख़रीदे और सबसे महँगा बेचे। भिन्न भिन्न वस्तुओं की जैसी माँग और पूर्ति होती है तदनुकूल उनका मूल्य निर्धारित होता है। सम्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि में मनुष्य एक ख़रीदने और बेचनेवाली मशीन है जो इसी तरह की अन्य मशीनों से लड़ती-झगड़ती रहती है। सम्पत्ति-शास्त्र का मनुष्य केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि और लोभ-वासना की पूर्ति के लिए यत्न करता है। उसका यथार्थ जीवन कितना ही पवित्र, निर्लोभ और निष्काम क्यों न हो, व्यवसाय के क्षेत्र में वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि ही के लिए सचेष्ट रहता है। सबसे सस्ता ख़रीदना और सबसे महँगा बेचना, यही उसका एक-मात्र ध्येय होता है। यदि उसकी गति कभी अवरुद्ध होती है तो न्यायान्याय के विचार से नहीं, किन्तु पारस्परिक स्पर्धा, माँग और पूर्ति के नियम से। रस्किन ने इसी शास्त्र के विरुद्ध लेख लिख कर सत्य का प्रचार किया है। सच तो यह है कि सत्य की ही खोज में रस्किन को सम्पत्ति-शास्त्र का खण्डन करना पड़ा। सिर्फ़ सम्पत्ति-शास्त्र नहीं, किन्तु साहित्य-कला और धर्म की भी उन्होंने अच्छी तरह परीक्षा की। पहले पहल लोगों ने उनके सिद्धान्तों का उपहास किया, परन्तु आज साहित्य, धर्म, कला अथवा सम्पत्ति-शास्त्र का ऐसा कोई भी आचार्य नहीं है जो यह कहे कि उसका शास्त्र उसी रूप में आज तक विद्यमान है। यह सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि रस्किन ने विचार-स्रोत की गति बदल दी है।

जान रस्किन का जन्म सन् १८१६ में हुआ था। १८४२ में वे आक्सफ़र्ड विश्व-विद्यालय के बी० ए० हुए। १८४३ से १८५६ तक उन्होंने कला की समीक्षा की। उनका Modern Painters नामक ग्रन्थ इसी का परिणाम है। १८५७ में उनका ध्यान सम्पत्ति-शास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उस समय सर्वश्रेष्ठ कला-कोविदों में उनकी गणना होने लगी थी। जब उनका सम्पत्ति-शास्त्र-विषयक लेख प्रकाशित हुआ तब लोगों ने यही समझा कि यह रस्किन की अनधिकार चेष्टा है। अभी तक कुछ ऐसे लोग हैं जिनका यही विश्वास है। परन्तु रस्किन का यह दृढ़ विश्वास था कि सत्य की अभिव्यक्ति में ही कला का महत्त्व है। उसका उद्देश यही है कि वह मानव-जीवन को उदार और उन्नत करे। जब मानव-समाज की सेवा ही कला का एक-मात्र लक्ष्य है तब यह सम्भव नहीं कि कला की परीक्षा करने के बाद रस्किन का चित्त मानव-समाज की ओर न झुके। रस्किन ने देखा कि समाज के

अस्तित्व की रक्षा करना पहला कर्तव्य है। जब समाज ही नहीं रहेगा तब किसे उन्नत करने की चेष्टा की जायगी? अतएव रस्किन समाज-सुधार के लिए कटिबद्ध हुए। श्रमजीवियों की दुरवस्था देख कर उनकी सेवा में उसने अपनी विशाल सम्पत्ति अर्पण कर दी और उन्हीं के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। इसी से जान पड़ता है कि रस्किन के विचार कितने उन्नत थे।

रस्किन पर दो मनुष्यों का प्रभाव खूब पड़ा, एक तो टर्नर का और दूसरा कारलाइल का। कारलाइल अँगरेज़ी का बड़ा ही क्षमता-शाली लेखक है। उसने अपने समकालीन विद्वानों के भी चित्तों को विक्षिप्त कर दिया था। इँग्लेंड के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक सभी क्षेत्रों में उसने उत्क्रान्ति पैदा कर दी थी। यदि कुछ लोग कारलाइल के विरोधी थे तो अधिकांश लोग उसके अनुयायी थे। रस्किन अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में ही कारलाइल की शक्ति पर मुग्ध हो गया था। परन्तु जब वह चालीस वर्ष का हुआ तब उस पर कारलाइल का प्रभाव पूर्ण-रूप से परिलक्षित होने लगा। चालीस वर्ष की अवस्था तक रस्किन कला की चर्चा में निरत रहा। परन्तु इसके बाद उसने सौन्दर्य-बोध को गौण स्थान देकर कर्तव्य-ज्ञान को ऊँचा किया। यह सम्भव नहीं था कि रस्किन का विचार कार्य-रूप में परिणत न हो। जब किसी विषय पर उसका दृढ़ विश्वास हो गया तब उसके छोटे छोटे कामों में भी उसका वही विश्वास दृग्गोचर होने लगा। रस्किन यह देख कर क्षुब्ध होता था कि लोग उसके भाषा-सौन्दर्य और शब्द-चित्रण पर मुग्ध होते हैं, परन्तु उसकी शिक्षा पर विचार नहीं करते। अतएव रस्किन ने अपने 'माडर्न पेंटर्स' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन बन्द कर दिया और 'अन टू दिस लास्ट' नामक लेख प्रकाशित किया। इसमें उसके विचार स्पष्ट रीति से प्रकट किये गये।

वर्तमान युग में धनवानों और दरिद्रों की जैसी अवस्था है उसे देख कर रस्किन को धन की लालसा कभी नहीं हुई। रस्किन के पिता की गणना धनियों में थी। उसकी मृत्यु के बाद रस्किन को १,५७,००० पौंड तो नक़द मिले और स्थावर सम्पत्ति अलग ही। परन्तु उसको सम्पत्ति से कुछ भी सुख नहीं हुआ। उसने एक जगह लिखा है—"मेरे पास जितना है उतने का मैं उप-योग ही नहीं कर सकता। परन्तु मेरे घर के बाहर कितने ही लोग भूखों मर रहे हैं। मेरे पास इतनी अधिक मलाई है कि मैं अपने दोस्तों को बाँटता फिरता हूँ, पर मेरे घर के बाहर कितने ही बच्चे दूध न पाने के कारण मर जाते हैं।" यही सोच कर रस्किन ने अपनी कुछ सम्पत्ति अपने सम्बन्धियों को दे डाली और कुछ को अच्छे काम में खर्च करने के लिए दान कर दिया। रस्किन का यह दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही परिश्रम का फल ग्रहण करना चाहिए। पूर्वजों की अर्जित सम्पत्ति को विना प्रयास पाकर उसे अपने भोग-विलास में खर्च करना मनुष्यत्व की सीमा के बाहर है। श्रीमान् के पुत्र अपने हाथों से कोई काम करना अपने लिए अपमान-जनक समझते हैं। इतना ही नहीं, उनकी यह भी धारणा हो गई है कि ऐसे कामों में बुद्धि की ज़रूरत नहीं पड़ती। अतएव उन्हें कर लेना बड़ा सरल है। रस्किन ने उन्हें ऐसे कामों का महत्त्व बत-लाया। जब वह आक्सफोर्ड में अध्यापक था तब उसने सड़क बनाने के लिए लड़कों को उत्साहित किया। इसका फल यह हुआ कि लड़कों ने अपनी छोटी टोलियाँ बना लीं और वे बड़े प्रेम से सड़कों की मरम्मत करते। इसके सिवा रस्किन ने नाली साफ़ करनेवालों की एक समिति खोली। इसमें

जो लड़के सम्मिलित होते थे वे अपने हाथों से नालियाँ तक साफ़ करते थे। रस्किन वाक्शूर नहीं था और न वह परोपदेश में पाण्डित्य ही प्रदर्शित करना चाहता था। जो कुछ वह कहता उसे स्वयं करता। अपनी शिक्षा का पहले वही अनुयायी होता। उसका यह भी कहना था, Half of my power of ascertaining facts of any kind connected with the arts is in my stern habit of doing the thing with my own hands till I know its difficulty अर्थात् जिस काम का मुझे अनुभव करना है उसे मैं स्वयं अपने हाथों से करके देख लेता हूँ कि वह कितना कठिन है। इसी लिए अपने शिष्यों से सड़क कुटवाने के पहले वह स्वयं जाकर पत्थर फोड़ने का काम करता रहा। उसने एक पत्थर फोड़नेवाले के पास जाकर इसकी शिक्षा ग्रहण की। इसी तरह एक झाड़ू देनेवाले ने उसे नाली साफ़ करना सिखलाया।

जब रस्किन इस तरह का काम करने लगा तब लोगों ने उसका उपहास किया। पर उसने लोगों की निन्दा की परवाह नहीं की। मज़दूरों की दुरवस्था का चित्र उसके चित्त-पटल पर अङ्कित हो गया था। अतएव जिससे उनकी दशा सुधर जाय वही काम वह करता था। उसने देखा कि मज़दूरों को रहने के लिए कम ख़र्च पर मकान नहीं मिलते। तब उसने एक गली में एक बड़ा भारी मकान लिया और मज़दूरों को कम किराये पर साफ़ कमरे देने लगा। इसी तरह उसने एक दूकान भी खोली, जहाँ मज़दूरों को सस्ते दाम पर अच्छी चीज़ें दी जाती थीं। पुतलीघरों में मज़दूरों की बड़ी दयनीय दशा है। अतएव रस्किन ने चर्खा चलवाना चाहा। उसने कुछ चर्खे और करघे ख़रीद कर कुछ लोगों को दिये। उससे लोगों ने ऊनी कपड़े तैयार किये। डेलीन्यूज़ ने लिखा था कि इन कपड़ों में ख़राबी यही है कि ये जल्दी नहीं फटते। यह कारख़ाना शायद अभी तक जारी हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

रस्किन ने जितने उपर्युक्त काम किये वे सब उसकी उदारता के फल थे। उनका प्रभाव चिर-स्थाई नहीं हो सकता था, परन्तु उनसे यह लाभ हुआ कि रस्किन को दरिद्रों की अवस्था का अच्छा अनुभव हो गया। उसने अर्थ-शास्त्र के तत्कालीन आचार्यों के ग्रन्थों का भी मनन किया। उसने अब कला की चर्चा करना बिलकुल ही छोड़ दिया और इँगलेंड के राजनैतिक, व्यावसायिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करना आरम्भ किया। अच्छी तरह विचार करने के बाद उसने यह निश्चय किया कि वर्तमान समाज की दुरवस्था का सबसे बड़ा कारण यह है कि लोग सम्पत्ति, मूल्य, सम्पत्ति-शास्त्र आदि शब्दों का यथार्थ मर्म नहीं समझ सके हैं। यदि लोग सम्पत्ति-शास्त्र के तत्त्वों को हृदयङ्गम कर लें तो आज समाज की स्थिति बदल जाय। धनियों और दरिद्रों के बीच में जो एक अप्राकृतिक व्यवधान है वह दूर हो जाय। यह समझ कर रस्किन ने सम्पत्ति-शास्त्र के तत्त्वों का प्रचार करने की चेष्टा की। "Unto this Last" नामक निबन्ध में उसने अपने सम्पत्ति-शास्त्र-विषयक विचार प्रकट किये। इस निबन्ध में चार अध्याय हैं। पहले पहल यह 'कार्नहिल मेगेज़ीन' नामक एक सामयिक पत्र में प्रकाशित हुआ। उस समय उक्त पत्र का सम्पादक थेकेरी था। जब उसके दो अध्याय प्रकाशित हुए तब पाठकों ने इतना हल्ला मचाया कि सम्पादक ने रस्किन से लेख बन्द कर देने की प्रार्थना की। अब रस्किन के विचार सुनिए।

अर्थ-शास्त्र का पहला सिद्धान्त यह है कि सब से सस्ता ख़रीदना और सबसे महँगा बेचना। सभी व्यापारी इसे उचित समझेंगे। परन्तु रस्किन ने लिखा है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में इस

सिद्धान्त से अधिक निन्दनीय कोई भी बात नहीं है। जब बाज़ार का भाव ख़ूब सस्ता हो तब ख़रीदना चाहिए। पर यह तो सोचो, चीज़ें सस्ती कब होती हैं? अगर तुम्हारा घर टूट जाय और लकड़ियाँ बरबाद हो जायँ तो तुम्हें उनको सस्ते भाव से बेचना पड़ेगा। इसी तरह अगर भूकम्प हो जाय और सब मकान गिर पड़ें तो ईंटें सस्ती हो जायँगी। नाश के बाद अगर तुम चीज़ें सस्ती ख़रीद सके तो क्या तुम नाश को लाभदायक समझोगे? यह समझ रक्खो कि अगर कोई चीज़ कौड़ी मोल बिक रही है तो उसके पीछे विपत्ति का भूकम्प ज़रूर हुआ है। किसी का घर नष्ट हो गया होगा, किसी का जीवन बरबाद हो गया होगा। जब चीज़ें ख़ूब महँगी हों तभी बेचना चाहिए। पर तुम अपनी चीज़ों के लिए मनमाना दाम कब लोगे? अगर आदमी भूख के मारे मर रहा है तो वह दो पैसे की रोटी के लिए एक रुपया दे आवेगा। जब भीषण दुर्भिक्ष में हज़ारों मरने लगते हैं तब तुम अपने अन्न का भाव ख़ूब बढ़ा सकते हो। तुम कहते हो कि हम धनवान् हैं, हमने अपने परिश्रम से धन उपार्जन किया है। पर यह समझ रक्खो कि अगर रात न होती तो दिन न होता। सैकड़ों दरिद्र हैं, इसलिए तुम धनवान् हो। तुम्हारे पास दो रुपये हैं तो समझ लो कि तुम्हारे किसी पड़ोसी की जेब दो रुपये से ख़ाली है। उसे रुपयों की ज़रूरत है, इसी लिए तुम्हारे रुपयों का मूल्य है। बिना हज़ारों को दरिद्र बनाये तुम धनवान् नहीं हो सकते। अगर वे दरिद्र न हों तो तुम धनवान् हो ही नहीं सकते। अतएव किसी राष्ट्र का धन उसके करोड़पतियों से निश्चित नहीं किया जाना चाहिए। सम्भव है कि दस-पाँच धन-कुबेरों के रहने से राष्ट्र बिलकुल दरिद्र हो। सर्वसाधारण की अच्छी अथवा बुरी स्थिति देख कर हम किसी राष्ट्र को धनी अथवा दरिद्र कह सकते हैं। धन का अर्थ सुस्थिति है। अतएव वही राष्ट्र सम्पत्तिशाली है जिसमें अधिकांश लोगों की स्थिति अच्छी है। जिन पर राष्ट्र के शासन का भार है उनका यह कर्तव्य है कि वे अपनी जाति में उदार और उन्नत पुरुषों की वृद्धि करें। धन की उपयोगिता सिर्फ़ इतनी है कि उसके द्वारा मनुष्य अपने परिश्रम के लिए जीविका प्राप्त करता है। जीवन की हानि से धन का सङ्ग्रह होता है।

रस्किन के इन विचारों से बड़े बड़े विद्वान् चकित हो गये। उन्होंने रस्किन से पूछा कि आप करना क्या चाहते हैं। तब रस्किन ने एक व्यवस्था तैयार की और अपने एक ग्रन्थ में भूमिका के रूप में प्रकाशित किया। उसमें सबसे पहली बात यह थी कि सरकार अपने ख़र्च से जगह जगह ट्रेनिङ्ग स्कूल खोले। ये स्कूल सरकार ही के संरक्षण में रहें, पर इनमें सभी बालकों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार रहे। उनमें ऊँच-नीच का ख़याल न रक्खा जाय। इनमें तीन बातें सिखाई जायँ। पहला, स्वास्थ्य के नियम, दूसरा दया और न्याय; तीसरा, कोई उद्योग-धन्धा जिसे सीख कर बालक अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह कर सके। रस्किन की व्यवस्था की दूसरी बात यह थी कि सरकार की ओर से कारख़ाने स्थापित हों, जहाँ सभी तरह की ज़रूरी चीज़ें तैयार की जायँ और मज़दूरों को उचित वेतन दिया जाय। तीसरी बात यह कि जो लोग निठल्ले हैं उनकी जाँच की जाय। अगर उन्हें कोई काम न मिलता हो तो उन्हें काम दिया जाय। अगर वे कोई काम करना न जानते हों तो उन्हें काम सिखाया जाय। जो जिस काम के लिए उपयुक्त हो उसे वही काम दिया जाय। अगर कोई रोगी हो तो उसकी चिकित्सा के लिए सुव्यवस्था की जाय। जो लोग शक्ति-हीन हैं, जिनसे किसी तरह का काम हो ही नहीं सकता, उनके लिए अच्छी सुविधा कर

दी जाय जिससे उनका जीवन और अधिक दुःख-कर न हो ।

रस्किन की यह व्यवस्था कैसी है, इस पर हम अपनी सम्मति नहीं दे सकते । नीचे हम उसके कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं । ये वाक्य उसने इँग्लेंड के मज़दूरों के लिए कहे थे, पर उसका यह कथन भारतीय मज़दूरों के लिए भी बिलकुल सार्थक है ।

Meat! perhaps your right to that may be pleadable, but other rights have to be pleaded first. Claim your crumbs from the table if you will, but claim them as children, not as dogs, claim your right to be fed, but claim more loudly, your right to be holy, perfect and pure.

अर्थात् तुम्हें रोटी पाने का हक़ है, पर तुम्हारे दूसरे भी हक़ हैं, जिन पर तुम्हें पहले ध्यान देना चाहिए । अगर तुम चाहते हो तो रोटी के टुकड़े माँगो । पर कुत्ते की तरह मत माँगो । माँगो तो बच्चे की तरह । तुम अपने उदर-भरण के हक़ के लिए लड़ो पर उससे अधिक तुम इस बात के लिए लड़ो कि सच्चरित्र और पवित्र जीवन व्यतीत करने का भी अधिकार है ।

नवीनचन्द

अरबी का आदि-कवि ।

अरबी भाषा में कविता का जन्म कब हुआ था, इस बात में मत-भेद है । भिन्न भिन्न विद्वानों की भिन्न भिन्न रायें हैं । परन्तु इस बात में मत-भेद नहीं है कि वर्त्तमान ढँग की अरबी-कविता की नीव डालनेवाला मुहलहिल है । मुहलहिल के बाप का नाम रबीअः था । मुहलहिल के समय में अथवा उससे पहले जो अलङ्कृत भाषा बोली जाती थी और बेतुके ढँग की जो कविता होती थी उसका सुधार मुहलहिल ही ने किया था । यहाँ तक कि आज भी वही शैली प्रचलित है । इसी कारण उसका नाम भी मुहलहिल पड़ गया ।

हज़रत मुहम्मद साहब के जन्म से लगभग ७० वर्ष पहले मुहलहिल का जन्म हुआ था । अरब में उसका कुल प्रतिष्ठित माना जाता था । उसका भाई कुलैब अरब का एक प्रसिद्ध सरदार था । वह बड़ा वीर था । उसने अपने जीवनकाल में अनेक युद्ध किये थे । यमन देश की फ़ौजों को हराने के कारण उसका बड़ा नाम हो गया था । लोगों पर उसकी धाक जम गई थी । अतएव अभिमान से अभिभूत होकर उसने सर्व-साधारण में यह मुनादी फिरवा दी कि मेरी चरी में किसी का पशु चरने को न आवे और न मेरे ऊँटों के साथ किसी के ऊँट चरने आवें । मेरे जङ्गल में मेरे सिवा कोई दूसरा आदमी किसी जीव का शिकार भी न करे । इसी तरह के और भी कई एक आदेश उसने लोगों को दिये थे ।

एक दिन जरम समुदाय का एक मनुष्य जस्सास की फूफी के यहाँ आकर ठहरा । उसकी ऊँटनी चरती हुई कुलैब की चरी में जा पहुँची । कुलैब ने उसे बाणों से घायल करके उसके थन काट लिये । वह ऊँटनी ख़ून से डूबी हुई अपने मालिक के पास आ खड़ी हुई । मेहमान की ऊँटनी का बुरा हाल देख कर जस्सास की बुआ बहुत ही शोकातुर हुई । जस्सास को भी बड़ा क्रोध हुआ । उसने अपने समुदाय के लोगों को एकत्र किया और कुलैब को जा घेरा । कुलैब अपने हाते ही में था । जस्सास ने उसको एक ऐसा नेज़ा मारा कि उसका काम वहीं तमाम हो गया ।

अपने भ्राता कुलैब के शोक में मुहलहिल ने कुछ पद्य कहे हैं । कुछ लोगों का ख़याल है कि सबसे पहले जो पद्य मुहलहिल ने कहे हैं वे वही शोक-सूचक पद्य हैं । उन पद्यों का भाव समझने के लिए पहले दो बातों का जान लेना अत्यन्त आवश्यक है । पहली बात तो यह है कि अरब में जब किसी समुदाय के

लोग युद्ध के लिए तैयार होते थे और अपने दल के लोगों को एकत्र होने के लिए उस सम्बन्ध की सूचना देना चाहते थे तब वे किसी ऊँचे स्थान पर अग्नि प्रज्वलित किया करते थे। दूसरी बात यह कि किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु पर अमीर-ग़रीब और छोटी-बड़ी सभी स्त्रियाँ रुदन करके मृत-प्राणी के लिए शोक करती थीं।

अब हम मुहलहिल के उन पद्यों का भावानुवाद आगे देते हैं जो उसने अपने भाई की मृत्यु के शोक में कहे हैं:—

"ऐ मेरे भाई कुलैब, मुझे यह समाचार मिला कि तेरी मृत्यु के बाद वह अग्नि प्रज्वलित की गई जो लड़ाई के समय प्रज्वलित की जाती है और सभा में वाद-विवाद भी हुआ।

प्रत्येक बड़े मामिले में लोगों ने वार्तालाप किया और यदि तू उपस्थित होता तो वे न बोल सकते।

यदि तू चाहे तो उन स्त्रियों को देख सकता है जो शोक का वस्त्र धारण किये और सिर खोले तेरे शोक में छाती और मुँह पीट रही हैं।

"प्रत्येक रोनेवाली तेरे लिए विलाप कर रही है। जो कुलीन नारी तेरे शोक में सिसिक सिसिक कर रोती है मैं विवश होने के कारण उसको रोक नहीं सकता।

कुलैब के पश्चात् मुहलहिल ने अपने समुदायवालों को इकट्ठा किया और शत्रुओं को जा घेरा। मुहलहिल स्वयं अपने दल का सरदार था। शत्रुओं की ओर जस्सास का भाई सेनापति था। शत्रुओं के बहुत से लोग लड़ाई में मारे गये। मुहलहिल को विजय प्राप्त हुई। यद्यपि शत्रुओं के कई एक नामी योद्धा युद्ध में मारे गये तो भी निर्णय जल्दी न हो सका। लड़ाई जारी ही रही। जस्सास के भाई और भतीजे आदि सभी मारे गये। कई समुदाय के लोग खप गये। जस्सास को जान बचाना कठिन हो गया। अतएव लोगों ने उसे शाम देश को भाग जाने की सलाह दी। किसी जासूस ने यह बात मुहलहिल के कानों तक पहुँचा दी। इस पर उसने तीस जवान जस्सास को पकड़ने के लिए भेजे। उन जवानों को जस्सास के साथियों से घोर युद्ध करना पड़ा। मुहलहिल के केवल दो जवान जीवित बचे। जस्सास के साथियों में भी केवल दो ही बच सके। यद्यपि जस्सास पकड़ा न गया, तो भी युद्ध में वह सख़्त ज़ख़्मी हुआ और मैदान से भाग न सका।

जब जस्सास आहत होने से मर गया तब उसके पिता ने एक दूत मुहलहिल के पास भेज कर कहा कि तुम अपने ख़ून का बदला ले चुके, अब लड़ाई बन्द करो। परन्तु मुहलहिल ने एक न मानी। उसने युद्ध न बन्द किया। शत्रुओं तथा उनके साथियों को वह बराबर विध्वंस करता रहा। यह युद्ध बहुत दिनों तक चलता रहा और बहुत कुछ सर्वनाश हो चुकने के बाद बन्द हुआ। ऐतिहासिकों का कहना है कि यह लड़ाई ४० वर्ष तक जारी रही। अरब के इतिहास में यह लड़ाई 'युद्ध वसूस' के नाम से प्रसिद्ध है। वसूस जस्सास की बुआ का नाम था जिसके मेहमान की ऊँटनी को कुलैब ने घायल किया था। इतिहास में यह घटना बहुत विख्यात है।

मुहलहिल के पद्य बड़े ज़ोरदार हैं। वह स्वयं वीर पुरुष था। इस कारण उसके वीर-रस के पद्य बड़े मनोरञ्जक तथा उत्तेजक हैं। अपनी प्रभुता पर वह कहता है:—

हम उच्च कुल के हैं। हमारे कुल को कभी कोई कलङ्क नहीं लगा। हमारे मुख उस समय भी उज्ज्वल हो रहते हैं जब किसी दुर्घटना से सारे नगर में अशान्ति छा जाती है।

हमारी जाति के लोग जो व्रत धारण करते हैं उसे पूरा करके ही रहते हैं। यदि कोई किसी को वचन देता है तो वह उसका पालन भलीभाँति करता है। हमारे

जाति के लोग जब युद्ध में प्रवृत्त होते हैं तब वे मार-काट से मुँह नहीं मोड़ते।

हमारी जाति के लोग यदि किसी शुभ कार्य्य के लिए बुलाये जायँ तो वे तुरन्त आ मौजूद होंगे। परन्तु दुष्कर्म में भाग लेना सर्वथा उनके स्वभाव के विरुद्ध है।

यदि किसी की ओर से हमारी जाति के लोगों के हृदय में वैमनस्य हो तो वे उसको दूर किये बिना नहीं सोते। पर यदि शत्रुओं के हृदयों में हमारे लिए वैमनस्य हो तो हम ज़रा भी विषाद नहीं करते और सुख की नींद सोते हैं।

मुहलहिल ने जो कविता का वृक्ष लगाया वह उसके बाद भी ख़ूब फूलता और फलता रहा। सारे अरब में कविता की धूम मच गई। यहाँ तक कि उस धूम की गूँज आज भी संसार में व्याप्त है। कविता की बदौलत वहाँ वे काम हुए जिनके होने की आशा नहीं की जा सकती थी। अरब का प्राचीन इतिहास भी कविता ही की बदौलत मालूम हुआ है। इसी कारण अरब कविता का पिटारा कहलाता है।

महेशप्रसाद

वर्षा।

('बाणासुर-पराभव काव्य' से उद्धृत)

मन्दाक्रान्ता छंद

धीरे धीरे समय निकला ग्रीष्म का दुःखदायी।
आई वर्षा सुखद जग को व्योम में मेघ छाये॥
यों ही सारे दिवस दुख के काल पा बीतते हैं।
मर्यादा है सुख-दुख-मयी घूमती चक्र जैसी॥१॥
दर्शाते हैं गगन-तल में मेघ भीमच्छटा को।
मानों सेना अमरगण की युद्ध को आ रही हो॥
नाना रङ्गी जलद नभ में दीखते हैं अनूठे।
योद्धा मानों विविध रँग के वस्त्र धारे हुए हों॥२॥
देती जैसी द्युति कटक में आयुधों की दिखाई।
वैसी ही है झलक दिखती दामिनी की घनों में॥
होता है ज्यों रव समर में घोर वाद्यादिकों का।
त्यों ही भारी गरज नभ में मेघ भी हैं सुनाते॥३॥
छाया ऐसा निविड़ तम है वारिदों से धरा पै।
मानों पृथ्वी गगन मिल के एक ही हो गये हों॥
हो जाता है उदित नभ में इन्द्र का चाप वैसे।
योद्धा जैसे विजय पर हैं राष्ट्र-झण्डा उठाते॥४॥
थी जो पृथ्वी तपित अति ही सूर्य के अंशुओं से।
धीरे धीरे घन अब उसे आर्द्रता दे रहे हैं॥
जैसे कोई विकल अति ही मोह की वृद्धि से हो।
पावे ज्ञानी सहृद जन से शांति विज्ञान द्वारा॥५॥
जैसे पाता तृषित जन है तृप्ति पानी पिये से।
वैसे उर्वी मुदित घन के वारि से हो रही है॥
शोभा पाती विविध रँग के शस्य से मेदिनी है।
मानों कान्ता रुचिर तन पै वेष-भूषा किये हो॥६॥
शोभाशाली तरुगण हुए वृद्धि से पल्लवों की।
जैसे होते सुकृति जन हैं, धर्म की ओजवाले॥
लोनी लोनी लखित लिपटी हैं लताएँ द्रुमों से।
जेताओं को विजय पर हों हार मानों चढ़ाए॥७॥
छाया शैलों पर तृण हरा दृष्टि को मोहता है।
बाँधे होवें हरित रँग के शैल मानों दुपट्टे॥
शोभा दीखे अवनि तल पै लाल इन्द्राणियों की।
माणिक्यों से जटित महि हो चारु अत्यन्त मानों॥८॥
खद्योतों की चमक दिखती यामिनी में अनूठी।
मानों वृक्षों पर बहुत से दिव्य तारे उगे हों॥
वापी, नाले, सरि, सर सभी को भरा नीरदों ने।
जैसे पूरे वणिक् भरते कोष व्यापार द्वारा॥९॥
मण्डूकों के विकट रव से पूरिता हैं दिशाएँ।
मानों नीराशय स्तुति करें हर्ष से नीरदों की॥
फूले चम्पा प्रियक सुमना सल्लका केतकी हैं।
वर्षा मानों विभव अपनी सम्पदा को दिखाती॥१०॥
भौंरे होते मुदित उनसे छोड़ के एक चंपा।
जैसे छोड़े बुध जन सदा सङ्ग दोषी जनों का।
गुंजारें वे मधुर स्वर से पुष्प का सार लेते।
मानों अर्थी विशद यश-हों गा रहे दानियों का॥११॥
पीहू पीहू अविरत रटें मग्न हो हो पपीहे।
ऊँची केका ध्वनि कर शिखी मोद से नाचते हैं॥

ये वर्षा के परम सुख से मोद पा वारिदों को ।
मानों मीठे निज निनद से आशिषें दे रहे हों ॥१२॥
ठंडा ठंडा पवन बहता चित्त को शांति देता ।
धीरे धीरे मधुर उसमें पुष्प की गंध आती ॥
ऐसी वर्षा तृषित जग को हर्ष देती पधारी ।
सारे प्राणी प्रमुदित हुए उष्णता के सताये ॥१३॥

गोविन्ददास

जापान का गार्हस्थ्य जीवन ।

अनेक लोगों की यह धारणा है कि जापान पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करके अपना जातीय सामाजिक जीवन गँवा बैठा है और वह पूर्ण रूप से पूर्व का एक योरपीय देश बन गया है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। निस्सन्देह जापान अब पहले का जापान नहीं है, उस पर पाश्चात्य सभ्यता का पूरा प्रभाव पड़ चुका है, परन्तु उसका जातीय जीवन अभी ज्यों का त्यों बना है। अपने जातीय जीवन को पवित्र बनाये रखने के लिए जिन साधनों की देश-काल के अनुसार आवश्यकता थी उन्हें उसने ज़रूर ग्रहण किया। योरप का विज्ञान और व्यापार-तत्त्व सीख जाने से यद्यपि जापान आज संसार की महा-शक्तियों में गिना जाता है और विदेशियों के संयोग में निरन्तर रहने के कारण उसने अनेक बातों में पाश्चात्यों का अनुकरण कर लिया है तो भी उसका गार्हस्थ्य जीवन उसी का है। उस पर पाश्चात्य सभ्यता की छाप नहीं पड़ने पाई। उसके इस प्रकार अपना जातीय जीवन अपनाये रहने के कारण उसकी शान के ख़िलाफ़ कोई पाश्चात्य जाति उसे असभ्य कहने का साहस नहीं कर सकती। क्योंकि वह सब प्रकार से बल-सम्पन्न है। उसका धर्म भी अभी तक वैसा ही अछूता बचा है। जापानी लोग अपने घर से साहब बन कर निकलते हैं। आफ़िस और यात्र में वे योरपीय पोशाक धारण करते हैं और उस ढँग से रहते भी हैं। परन्तु जहाँ घर आये कि फिर जापानी के जापानी। घर में वे अपनी पोशाक पहनते हैं, अपने ही ढङ्ग का भोजन करते हैं और उसी भाँति रहते हैं जैसे उनके बाप-दादे सदा रह रहे हैं। जापान का बढ़ई जब आरी चलाने लगता है तब वह योरपीयों की भाँति उसे पहले आगे को नहीं झेलता, किन्तु अपनी ही ओर को खींचता है, मछलियाँ कटोरे जैसे बर्तन में ही परोस कर खाई जाती हैं, तश्तरियों का व्यवहार नहीं होता कमरे में पहले पति प्रवेश करता है तब उसकी पत्नी और चिट्ठी पर पता लिखने का अभी वही पुराना ढङ्ग प्रचलित है, पहले स्थान का नाम तब पानेवाले का नाम लिखा जाता है। मतलब यह कि जापान अभी जापान ही है। उसकी ऊपरी योरपीय तड़क भड़क से यह अनुमान कर लेना कि जापान योरपीय सभ्यता का पक्का शिष्य हो गया है, ठीक नहीं।

जापान में भूकम्प बहुत आते हैं। इसलिए वहाँ वैसी ही इमारतें बनानी पड़ती हैं जो भूकम्प से विनष्ट न हों और यदि हो भी जायँ तो विशेष क्षति न उठानी पड़े। अधिकतर वहाँ के मकान एक ही मंज़िल के होते हैं। उनकी छतें भी नीची होती हैं और वे लकड़ी के बनाये जाते हैं। कमरे की दीवारें काग़ज़ से मढ़ी रहती हैं। उनमें सामान कुछ नहीं रहता। बिलकुल ख़ाली पड़े रहते हैं। जापानी लोग ज़मीन ही पर बैठते उठते और उसी पर बैठ कर खाते-पीते और सोते हैं। योरप की भाँति मेज़ और कुर्सियों का उपयोग जापानी घरों में अभी तक प्रचलित नहीं हुआ है। उनके घर काठ के होने तथा अपनी बनावट के कारण हवादार होते हैं। फ़्रांस में जब कोई आदमी आत्महत्या करना चाहता है तब वह प

अँगेठी सुलगा कर और अपना कमरा अच्छी तरह बन्द करके सो रहता है, बस समाप्त! पर जापानी घरों में यह बात नहीं हो सकती। वहाँ अँगेठी सुलगा कर कोई भी शौक से सो सकता है। उनके हवादार होने की यह एक ख़ूबी है। उन्होंने अपने घरों को योरपीय घर नहीं बना डाला।

जहाँ जापानियों की अनेक बातों से योरप का प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट होता है वहाँ यह बात दर्शक को बहुत ही आश्चर्यजनक प्रतीत होगी कि जापानियों के ऐश-बाग़ अभी तक जापानी ढँग के ही लगते हैं। उन पर भी पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव नहीं पड़ने पाया। जापानी स्वभावतः आमोद-प्रिय होते हैं। पर उन्हें अपने ही ढँग के बाग़-बग़ीचे पसन्द हैं। वे योरपीय ढँग के पार्क वग़ैरह नहीं पसन्द करते। जापानी माली अपने बाग़ योरपीय ढँग से फूलों की क्यारियों तथा घास के मैदानों से नहीं सजाता। वह केवल प्रकृति की नक़ल करता है और अपने बाग़ की रचना में उसी का अनुसरण करता है।

जापानी भोजन-कृत्य।

जापान में किसी के घर एकाएक जा खड़ा होना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा जाता है, यहाँ तक कि होटलों में भी इस नियम की रक्षा की जाती है। होटल में यात्रियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है उसका कुछ वर्णन यहाँ किया जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी होटल में ठहरने को जाता है तब दरवाज़े के बाहर ही से उसे दो-एक बार ज़ोर से खखारना पड़ता है। इसके बाद 'क्षमा करना मैं आता हूँ' कह कर वह द्वार पर जा खड़ा होता है। इतने में उसका स्वागत करने को होटल के भीतर से तीन चार लड़कियाँ और स्त्रियाँ तुरन्त आ जाती हैं। जब आगन्तुक उन्हें देखता है तब वह उन्हें भूमिष्ट हुए प्रणाम करते ही पाता है। अर्थात् किसी को द्वार पर आया जान कर जापानी तुरन्त ही उसके स्वागतार्थ दरवाज़े पर आ जाते हैं, आगन्तुक को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। शेकहेंड प्रणाली का प्रचार यद्यपि उन स्थानों में हो गया है जहाँ विदेशियों का आवागमन है, तो भी वहाँ की प्रचलित प्रणाली यही है जो ऊपर

बताई गई है। अभ्यर्थना के बाद आगन्तुक का जूता स्वागतार्थ उपस्थित लड़कियों या नौकरों में से कोई एक खोल देता है। क्योंकि जूता पहने हुए घर के भीतर जाने की रीति वहाँ नहीं है। इसके बाद नौकर यात्री को ले जाकर एक ख़ाली कमरे में बिठा देता है और फिर उसके लिए चाय रोटी लाई जाती है। यदि आगन्तुक वहाँ की रीति रवाज जानता होगा तो उसी अन्तर में वह काग़ज़ के दो छोटे छोटे पैकटों में कुछ रुपये बाँध कर अपने पास रख लेगा। इनमें से एक पर वह 'चाय का मूल्य' और दूसरे में 'नौकर को इनाम' लिख देगा। इसके सिवा 'कुछ नहीं है,' यह भी उनके ऊपर लिख देना पड़ेगा।

देती है। वह बहुत ही विनम्र होकर कहती है कि आपने मुझे बहुत दे दिया। मेरा होटल तो बहुत ही छोटा है। आपको इसमें आराम ही कम मिलेगा। गन्दा भी है और यहाँ के नौकर भी ठीक काम नहीं करते। उसके बाद एक जवान स्त्री एक टोकरी सी लेकर आती है। उसमें पंखे, नारंगियाँ रुई के छोटे छोटे तौलिये और चावल की रङ्गीन रोटियों का एक बक्स रक्खा रहता है। यह सब सामान एक कपड़े के काग़ज़ से ढँका रहता है और जापानी अक्षरों में उस पर कुछ लिखा भी रहता है। यह सब कुछ आगन्तुक के दिये हुए रुपयों की रसीद है। इस भेंट को आगन्तुक स्वीकार कर लेता है
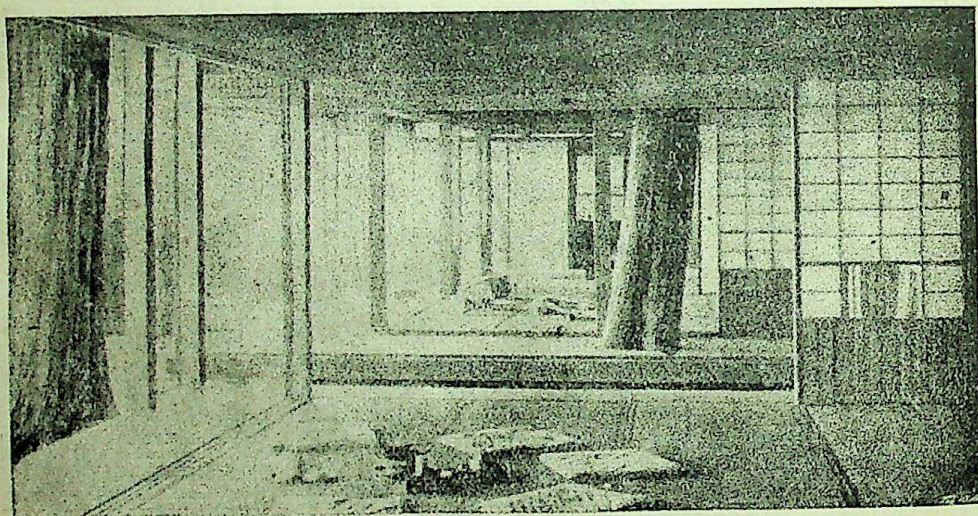
जापानी घर का भीतरी दृश्य।

इतने ही में नौकरानी चाय-रोटी लेकर आ जाती है और आगन्तुक खाना शुरू कर देता है। जब नौकरानी चाय लेकर दूसरी बार आती है तब वह उन पैकटों की ओर विशेष ध्यान नहीं देती, पर जब वह वापस जाने लगती है तब वह उन्हें उठा ले जाती है। इसके बाद ही होटल-स्वामिनी आ पहुँचती है और जो कुछ रुपये उन पैकटों में रख दिये जाते हैं उनके लिए वह आगन्तुक को धन्यवाद

पर वह उसे उस समय खोल कर देख नहीं सकता। दाता के सामने ही भेंट को खोल कर देखना वहाँ शिष्टाचार के विरुद्ध है। जब होटलों में इस प्रकार का सद्व्यवहार ठहरनेवालों के साथ किया जाता है तब गृहस्थ लोग अपने अतिथियों के साथ कैसा बर्ताव करते होंगे यह सहज में ही अनुमेय है।

जापानी स्नान भी जापान की एक ख़ास बात है। इसका अनुभव वहाँ के होटलों में विदेशी को

भली भाँति हो सकता है। जब कोई विदेशी जापानी स्नान का आनन्द लेने की इच्छा प्रकट करता है तब होटल का नौकर स्नान के समय की जापानी पोशाक ले आता है और स्नानेच्छु को ख़ुद ही पहनाने भी लगता है। क्योंकि विदेशी लोग उस पोशाक को विना बताये ख़ुद नहीं पहन सकते। परन्तु वह पोशाक इस ढङ्ग की बनी होती है कि उसके पहनते समय किसी प्रकार की बेपरदगी नहीं होती। जब वह पोशाक पहना दी जाती है तब उसके कपड़े तह लगा कर वहीं रख दिये जाते हैं जहाँ उसका बिस्तरा लगा होता है। इसके बाद नौकर उसे स्नानागार में ले जाता है। वहाँ वह अपनी नई पोशाक उतार देता है। दो घड़े गरम जल लिये नौकर उपस्थित रहता है। एक स्टूल पर बैठ कर वह नौकर की सहायता से अपनी देह पर साबुन लगाता है और फिर नौकर उसकी देह भले प्रकार मलता है। इसके बाद वह हम्माम में घुसता है। यह हम्माम फ़र्श के बीचोंबीच काठ का बना होता है। उसके नीचे उसका पानी गरम रखने को आग बराबर जला करती है। पानी मामूली से अधिक गरम रहता है। इच्छानुसार देर तक उसमें डुबकी लगाये रहने के बाद वह बाहर निकल आता है। बाहर आकर स्वच्छ जल से वह फिर स्नान करता है। इस बार भी नौकर उसकी देह मलता है। वह उसके कन्धे और गर्दन के ऊपर थपकियाँ भी लगाता है। इस तरह स्नान की प्रक्रिया समाप्त होती है। इस जापानी स्नान से शरीर की सारी थकावट दूर हो जाती है और आलस्य हट कर देह में फ़ुर्ती आ जाती है।

जापानी होटलों में यात्री को अपने माल-असबाब के लिए विशेष चिन्तित नहीं रहना पड़ता। जब उसे बाहर जाना पड़ता है तभी वह अपने कपड़े पहन कर जाता है। नहीं तो होटलों में उसे सब आवश्यक चीज़ें प्रस्तुत रहती हैं। कपड़े पहनने को मिलते हैं—यहाँ तक कि स्लीपर और दाँत साफ़ करने का ब्रश भी मिलता है। ब्रश लकड़ी के होते हैं और वे एक ही बार उपयोग में लाये जाते हैं। इसके बाद वे बीच से तोड़ कर फेंक दिये जाते हैं। हाँ, यात्रियों को एक जोड़ा चादर और तकिया अपने साथ ज़रूर रखना चाहिए। जापानी लोग अपने बिस्तर पर चादर नहीं बिछाते। उनका तकिया तो विदेशियों के लिए एक तमाशा है। वहाँ बिस्तर तभी बिछाया जाता है जब उसकी आवश्यकता होती है। नहीं तो वह लपेटा हुआ अलग एक स्थान में रक्खा रहता है। बिछौना भी गद्दे का ही होता है। उनका तकिया

जापान में भेंट-प्रदान की प्रथा।

लकड़ी का होता है, और विदेशियों को उसका उपयोग सीखना पड़ता है। परन्तु जापानी लोगों को अपना देशी तकिया पसन्द नहीं है, अतएव उसके स्थान में उन्होंने योरपीय ढँग के तकियों का व्यवहार शुरू कर दिया है। तो भी अपनी वस्तु का आदर करनेवाली जापानी स्त्रियाँ तकिया की लकड़ी का बहिष्कार नहीं किया चाहतीं। उन्होंने कुछ परिवर्तन करके उसे अपने मतलब का बना लिया है और इस तरह वे अपने लकड़ी के तकिये को योरपीय ढँग में परिणत करके अपने काम में लाती हैं।

जब यात्री किसी जापानी होटल से विदा होने
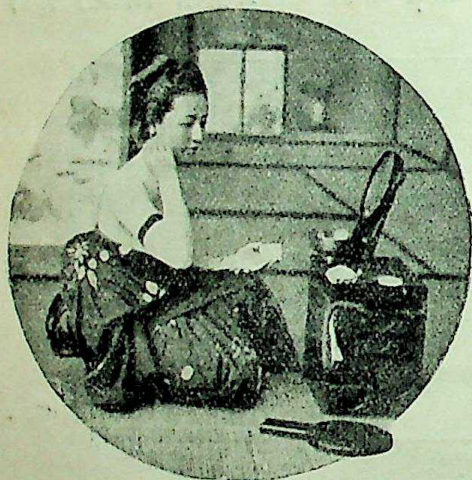
जापानी स्त्री की शृङ्गार-प्रक्रिया।

लगता है तब उसे अपने बिल की साधारण रक़म देख कर उसे बड़ा आश्चर्य होता है। उस बिल पर केवल भोजन का ख़र्च लिखा रहता है और वह भी असली मूल्य से कुछ ही अधिक। उसमें कमरे का किराया, नौकरों का पारिश्रमिक आदि बातें नहीं लिखी रहतीं। पर बिल का काग़ज़ ख़ूब लम्बा रहना चाहिए, उस पर लिखी चाहे दो ही एक सतरें हों। यह बात आवश्यक समझी जाती है। होटल में दाख़िल होते समय जो उपर्युक्त रुपयों के पैकेट दिये जाते हैं उन्हीं में उन सब मदों का ख़र्च समझ लिया जाता है जो बिल पर नहीं लिखे रहते। जितना धन वह पहले दे देता है उसी के अनुसार उसके साथ व्यवहार किया जाता है और उसको सुख पहुँचाने के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर दी जाती है।

जापानी लोग भोजन भी विचित्र ढँग से करते हैं। चाहे भोजन होटल में किया जाय चाहे किसी गृहस्थ के घर में, परन्तु भोजन करने की जापानी ही रीति सर्वत्र प्रचलित है। चावल जापानियों का मुख्य खाद्य है। उनके भोजन में कई प्रकार से बनाई हुई मछलियाँ भी परोसी जाती हैं। दाल, अण्डे और मुर्ग़ी भी वे लोग खाते हैं। बाँस के किल्ले तथा समुद्री शाक की तरकारी उन्हें बहुत प्रिय है। चाय, चावल की शराब, लेमनेड और जौ की शराब वहाँ के जातीय पेय पदार्थ हैं। जापानी लोग भोजन करने के लिए अर्द्ध गोलाकार मण्डल बना कर बैठते हैं। भोजन करते समय वे लोग बीच बीच में अपने ओठों से एक प्रकार की आवाज़ कर देते हैं। अर्थात् वे ज़ायका लेकर खाते हैं। यद्यपि इस प्रकार की प्रक्रिया बाहरवालों को अच्छी नहीं लगती, पर वहाँ इसका प्रचार है। जब वे लोग भोजन कर चुकते हैं तब अन्त में फिर चावल माँगते हैं। इससे यह समझा जाता है कि लोग अब भले प्रकार खा पी चुके, किसी को किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं है। तब दो एक प्याला खा लिये जाने की आशा से चावल फिर परोसा जाता है। जापानी लोग छुरी काँटे से भोजन नहीं करते। वहाँ उनका प्रचार ही नहीं। वे लोग दो छोटी छोटी लकड़ियों (Chopsticks) से भोजन करते हैं। इनका प्रयोग वे ऐसी कुशलता के साथ करते हैं कि देखनेवाले आश्चर्य करने लगते हैं। वे अपने खाने की चीज़ें अपनी इन लकड़ियों से इस प्रकार उठा कर खा लेते हैं कि क्या मजाल जो

एक भी वस्तु गिर जाय। भोजन-कार्य बड़ी देर तक होता रहता है। जब सब लोग भोजन कर चुकते हैं तब जो टुकड़े बच जाते हैं उन्हें नौकर उठा कर छोटे छोटे सुन्दर सन्दूकों में रख देते हैं। जब अभ्यागत अपने घर जाने लगते हैं तब एक एक बक्स प्रत्येक व्यक्ति को दे दिया जाता है।

घर की जापानी नौकरानी।

गृहस्थों में यह प्रथा है कि पहले मर्द भोजन करते हैं, उनके बाद स्त्रियाँ भोजन करती हैं। तम्बाकू देशी पाइपों में भर कर ही पीने का रवाज है, पर अब नई रोशनीवालों में सिगरेट का भी खूब प्रचार हो गया है।

जापानियों की रीति-रस्मों से बहुत कुछ शिक्षा मिल सकती है। जो कुछ वे लोग करते हैं सब विधि से करते हैं। एक कपड़ों ही की बात लीजिए। जापानियों के पहनने के कपड़े एक ही तर्ज़ के होते हैं। उनके कपड़ों में अधिक सिलाई की भी ज़रूरत नहीं रहती। उनका किमोनो १० पेन्स की ही सिलाई में तैयार हो जाता है, कपड़े का मूल्य भले ही १५०) रुपये हो। जैसे कपड़ों के सिलाने में वैसे ही मकान बनाने में भी वे उपयोगिता और मितव्ययता का ध्यान विशेष रीति से रखते हैं। वे अपने दालानों, कमरों आदि की लम्बाई चौड़ाई का हिसाब चटाइयों से ठीक करते हैं। ये चटाइयाँ लम्बी-चौड़ी एक-सा होती हैं। वे यह नहीं कहते हैं कि हमारा कमरा इतना लम्बा-चौड़ा है। वे उसकी लम्बाई-चौड़ाई चटाइयों से बताते हैं।

जापानियों में एक और भी विचित्रता है। वे अँगरेज़ी बड़े शौक से पढ़ते हैं। परन्तु जो लोग उनका ढँग नहीं जानते उन्हें उनकी अँगरेज़ी सुन कर बहुधा कठिनाई उठानी पड़ती है। क्योंकि वे अपनी ही भाषा के मुहाविरों का अनुवाद अपनी अँगरेज़ी में कर देते हैं, जिससे कभी कभी कुछ का कुछ हो जाता है। जैसे किसी ने पूछा—Shall I not have to wait a long time? यदि उत्तरदाता का यह मतलब होगा कि हाँ, आपको इन्तिज़ार करना होगा तो वह 'No' कहेगा। यह उत्तर जापानी ढँग का है। परन्तु ऐसी भूल केवल उन्हीं जापानियों से हो जाती है जिनका सम्पर्क विदेशियों से कभी नहीं होता। इस समय जापान में अँगरेज़ी का ख़ासा प्रचार है।

जापान में बालक-बालिकाओं की वर्षगाँठ के दिन बड़ा उत्सव किया जाता है। जिस दिन जापानी बच्चे जन्म ग्रहण करते हैं वही उनकी जन्म-तिथि नहीं मानी जाती। जापान में लड़कों की वर्षगाँठ का दिन ५ वीं मई और लड़कियों की ३ री मार्च नियत है। इन्हीं तारीखों में राष्ट्र के सारे बालक-बालिकाओं की वर्षगाँठ का महोत्सव मनाया जाता है, वे पैदा चाहे जब हुए हों जब कोई बच्चा जन्म लेता है तब वह उसी समय एक वर्ष की

उम्र का मान लिया जाता है। यदि उसका जन्म किसी साल की ३१ वीं दिसम्बर को हुआ हो तो दूसरे साल की जनवरी से उसकी उम्र दो वर्ष की बताई जायगी। अस्तु वर्ष-गाँठ के समय जापानी लोग बड़ा उत्सव करते हैं। बालकों की वर्षगाँठ के दिन प्रातःकाल होते ही बड़े शहरों में काग़ज़ की रङ्ग विरङ्गी छोटी बड़ी मछलियाँ बाँसों पर बाँधी हुई प्रत्येक घर में फहराने लगती हैं। लड़कों को रङ्ग विरङ्गे कपड़े पहना कर लोग गलियों में घूमने को निकलते हैं। उस दिन निस्सन्देह बहुत ही आनन्द-दायक दृश्य देख पड़ता है। लड़कियों की वर्ष-गाँठ में इसी प्रकार का उत्सव होता है, पर उस दिन गुड़ियों और खिलौनों की धूम मचती है।

जापान में विवाह की प्रथा भी पाश्चात्य सभ्यता से अछूती बची है। जापानी युवक एक समय एक ही स्त्री के साथ विवाह करने का अधिकारी है। वह अपनी स्त्री को विवाह के बाद अपने ही परिवार के साथ रखने को बाध्य है। वहाँ उसकी स्त्री को अपने से बड़े कुटुम्बियों का आज्ञा-पालन करना पड़ता है। यदि वर अकेला ही हुआ तो उसे अपनी ससुराल में आकर रहना पड़ता है। मतलब यह कि उनमें से किसी एक को किसी एक के कुटुम्ब में अवश्य रहना पड़ता है। इसके सिवा किसी का किसी के साथ विवाह करा देने के लिए एक मध्यस्थ अवश्य होना चाहिए। मध्यस्थ केवल उनको विवाह-बन्धन में बाँध कर तथा वैवाहिक क्रिया सम्पन्न कराके ही छुट्टी नहीं पा जाता, किन्तु उसे जीवन भर उनका पथ-प्रदर्शक, परामर्श-दाता और मित्र बन कर भी रहना पड़ता है।

गिरिजाशङ्कर वाजपेयी

भ्रष्ट तारा।

(१)

खूब भीड़ है, अतएव गोलमाल अनिवार्य होना ही चाहिए। अर्थी और उसका कपड़ा भी बहुत ख़ूबसूरत तथा क़ीमती है। इत्र और गुलाबजल की सुगन्धि से हवा भी कुछ भारी हो गई है। मुनीब गुमाश्ते और नौकर-चाकर सभी मौजूद हैं। ज़मींदार के दोनों पुत्र भी आज नङ्गे पाँव जा रहे हैं। पृथ्वी माता का इतना सम्मान उन्होंने अपने जीवन में शायद ही कभी किया हो। मुट्ठी भर भर बीच बीच में पैसे, दुअन्नी और चवन्नी भी लुटाई जा रही हैं। उन्मत्त भिखारी चिल्ला चिल्ला कर बाज़ की तरह उन पर टूटे पड़ते हैं। 'राम नाम सत्य है' की ध्वनि से आकाश फटा सा पड़ता है। सड़क के दोनों तरफ़ आदमियों का ताँता बँधा है।

यह ज़मींदार-गृहिणी की श्मशान यात्रा है। ग़रीब पिता के घर तुम्हारा जन्म हुआ। बालपन में माता-पिता और भाई-बहन के स्नेह के सिवा तुम्हारे पास कुछ भी सम्पत्ति न थी। विवाह के दिन भी ईश्वरदत्त रूप को छोड़ कर तुम्हारे अङ्ग में कोई आभूषण न था। फिर किस पुण्य के प्रभाव से तुम्हारी अन्तिम बिदा के दिन इतनी धूमधाम हुई? जिस ग़रीब घर में, तुम्हारा जन्म हुआ था, यदि वहीं तुम्हारे सब दिन कटते तो क्या इतनी धूमधाम होती? वहाँ तो घरवालों का रोना-चिल्लाना सुन कर लोगों का हृदय हिल जाता। न मालूम कितने मनुष्यों की सुख-शान्ति तुम्हारी चिता के साथ भस्म हो जाती। सब कुछ होता, पर ऐसी मृत्यु-शय्या न मिलती। क्या साथ में इतने आदमी जाते, शहर के आदमी क्या इस तरह आँखें फाड़ फाड़ कर तुम्हारी तरफ़ देखते? तुम्हारे चारों तरफ़ का भीषण कोलाहल आकाश में इस तरह व्याप्त होकर क्या मनुष्यों को तुम्हारी अन्तिम यात्रा का पता देता? तो क्या आज तुम सौभाग्यवती नहीं गिनी जाओगी? तुम विख्यात रायपरिवार की बहू हो, महामहिम ज़मींदार पार्वतीचरण राय की लाड़ली छोटी रानी हो! फिर तुम्हारी चिता की अग्नि के साथ ही हमारे मन की अग्नि भी क्यों नहीं शान्त

होती? क्या हम जैसे दरिद्र आदमी का भाग्य तुम्हारे साथ ऐसी मज़बूत डोरी से बँधा है कि हम उसे खोल ही नहीं सकते? तुम पार्वतीचरण राय की छोटी रानी, हम न जाने कहाँ के एक दरिद्र मास्टर। तुम्हारे लिए हमारे हृदय में आग भभक रही है—यह क्या कम स्पर्धा की बात है!

हज़ारों आदमी जा रहे हैं। उन्हीं में एक हम भी जा रहे हैं, किन्तु बहुत बच कर। रायपरिवार के लोगों के साथ हम चलने के योग्य नहीं।

हठात् सामने कुछ बाधा हुई और सब रुक गये। ट्राम-गाड़ी या उसी तरह की कोई चीज़ आगे खड़ी थी। दो मिनट के लिए रास्ता रुक गया। आस-पास के भी सब आदमी इसी भीड़ में मिल गये। हाथ में किताब और कापी लिये हुए दो चश्माधारी नवयुवक—सम्भवतः कालिज के छात्र—भी भीड़ को ठेल कर आगे जा रहे थे, किन्तु शव को देखते ही चौंक उठे। धीरे से एक ने दूसरे से कहा—अहा, मरने पर इतनी शोभा है तब पहले न मालूम कितनी रही होगी। इतनी रूपवती तो केवल चित्रों ही में देखी थी। मनुष्य भी इतना रूपवान् होता है यह बात मैं पहले नहीं जानता था। न मालूम किसके घर में अँधेरा किये जा रही है!"

एक दूसरे मनुष्य ने हमारी तरफ़ इशारा करके कहा—"चुपचाप जाइए, मालूम पड़ता है यही इनके पति हैं।" लड़के फ़ौरन भीड़ में मिल गये। ट्राम भी घंटी देकर चल दी। हम लोग फिर चलने लगे।

हम इनके स्वामी हैं! तुम्हारी अवस्था कम है, इसी कारण तुम्हारे मन में यह ख़याल पैदा हुआ। यदि दो भले आदमी तुम्हारी बात सुन लेते तो क्या कहते। हमारी आँखें लाल हो रही हैं, बाल अस्तव्यस्त हो रहे हैं, पागल की तरह अर्थी के साथ जा रहे हैं, यह सब देख कर ही क्या तुमने यह समझ लिया कि हम इनके पति हैं। इस संसार में वास्तविक प्रेमी ही प्रेम का अधिकारी नहीं होता, यह बात तुमने अभी तक नहीं सीखी। रुपया, पैसा और कुल-मान के सामने प्रेम? हम इनके कोई नहीं। ये राजरानी होगईं और हम पचास रुपये महीने के स्कूल मास्टर!

देखते देखते श्मशान भी आगया। चन्दन की चिता तैयार थी। उसी पर शव रख दिया गया। मानों शापभ्रष्टा इन्द्राणी फिर नन्दन को वापस जा रही है। हमने उसको कई बार देखा है, किन्तु हँसते हुए कभी नहीं देखा मानों चिता-शय्या पर वह आज पहली ही बार हँस रही है। अधिक देर नहीं लगी। मुख की अग्नि के साथ ही उसके काले बालों से हज़ारों अग्नि-शिखायें काली नागनियों की तरह उड़ कर गरज उठीं। हम चले आये, और क्या देखते! सब काम विधिसहित और कुलमर्यादा के अनुसार होता है या नहीं, यह अब रायपरिवार के बाबू लोग देखें।

(२)

जब प्रवेशिका परीक्षा के सिंहद्वार को पार करके हमने कालेज में प्रवेश किया तब हमने तथा हमारे घरवालों ने भूल कर भी मन में यह नहीं सोचा था कि हमें पचास रुपये महीने की स्कूलमास्टरी करके जीवन काटना पड़ेगा। हमारी माँ को अपने हाथ में सोने का गहना पहनने का भी कभी सुयोग नहीं मिला, किन्तु यह उनका दृढ़ विश्वास था कि उनकी पुत्रवधू हाथों में हीरे के कंगन अवश्य पहनेगी। क्योंकि जब उनके अमर को प्रथम परीक्षा ही में छात्र-वृत्ति मिली तब अधिक पढ़ कर क्या वह जज नहीं हो जायगा? हमारी वह जजी किसके भाग्य में थी, मालूम नहीं। हीरे के कंगन एक स्त्री के हाथ में देखे ज़रूर थे, किन्तु वह हमारी पत्नी न थी। पर माँ ने अपना विश्वास उसी तरह दृढ़ रक्खा। उनके लाड़ले बेटे को उसका भाग्य इस तरह वञ्चित कर सकता है, यह बात आँखों से देख कर भी वे मानना नहीं चाहती थीं।

हमारे पिता को अपने पिता से एक पुराना मकान, एक तालाब और दो तीन निखट्टू आत्मीय ही उत्तराधिकार-स्वरूप मिले थे। उस मकान में रहने और अन्नध्वंस करने का पैतृक अधिकार उन्हें भी मिला था। इसी लिए उनके मन में हमारे प्रति ज़रा भी कृतज्ञता का भाव न था। हम भी उसकी प्राप्ति की बात मन में न ला सकते थे। प्राण-पण से चेष्टा करके जो थोड़ा-बहुत पिताजी कमाते थे उसी से माताजी किसी तरह घर का ख़र्च चलाती थीं। बाक़ी आदमी खाने और ख़ाली पड़े रहने ही से निश्चिन्त हो जाते थे। इस आमदनी से हमारी कलकत्ते की पढ़ाई का ख़र्च चलना कठिन था। किन्तु रुपये की कमी से हमारे जज

होने में बाधा पड़ेगी, माता को यह बात सह्य न हुई। उन्होंने अपनी भावी पुत्रवधू के उज्ज्वल अलङ्कारों का ख़याल करके ख़ुशी ख़ुशी बक्स से अपने सब गहने निकाल कर हमारे हाथ में दे दिये। उन्हीं को बेच कर हम कलकत्ते के मनुष्य-सागर में तैरने लगे। हमें आशा थी कि भविष्य में मा के गहने सूद सहित वापस कर सकेंगे। अब माता को गहनों की आवश्यकता नहीं है, यह ख़याल करके ही हम उस ऋण से उद्धार हुए हैं। मन को यही समझा कर सन्तोष दे लेते हैं कि यदि माता को उनके गहने मिल भी जाते तो भी वे हमें ही वापस कर देतीं।

हमारी जवानी के प्रारम्भ के दिन एक गली के तङ्ग तिमंज़िले मकान में कटे थे। मेस के अनेक लड़कों को रुपये का ज़ोर था। वे ख़ूब आनन्द के साथ बाहर घूमते फिरते थे और हम जैसे ग़रीब लड़के परनिन्दा और दुनिया भर की वस्तुओं पर अपना मतामत प्रकट करके ही अपने मन का बोझ हलका कर लेते थे। बड़े आदमियों को कलकत्ते आकर अपने गाँव का घर भूल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है, किन्तु पुस्तकों के बोझ से लदे हुए, प्रकाश-वायुहीन एक छोटे से कमरे में रह कर हमारा मन केवल अपनी जन्मभूमि के खुले विशाल हृदय पर जा पड़ने को व्याकुल हो उठता था। इसी लिए बहुत दिनों तक कलकत्ते में रहने पर भी हम अनेक विषयों में अमर ही बने रह कर अपने गाँव को वापस गये थे। राजधानी के इस निरानन्द छोटे कमरे में हम अपने मन को किसी तरह भी न लगा सके।

इसी तरह कई वर्ष बीत गये। आख़िर एक दिन परीक्षा देकर और एक कैनवस का बेग हाथ में लेकर हवड़ा स्टेशन में गाड़ी पर सवार हुए। माता की दी हुई पूँजी हमें बी० ए० तक तो पार लगा लाई, किन्तु अब कुछ भी पास नहीं रह गया था। पास हो जाने पर कहीं कोई नौकरी तलाश कर लेंगे और कलकत्ते आकर फिर एम० ए० क्लास में पढ़ने की कोशिश करेंगे—यही सोच कर घर को चले थे। ट्रेन में बैठे बैठे हम यही हिसाब लगा रहे थे कि परीक्षा के पर्चों में हम कुल कितने नम्बर पा सकेंगे। यदि अच्छे नम्बर में पास हो गये तो नौकरी की भी आवश्यकता न रहेगी, एक आध छात्रवृत्ति भी मिल सकती है।

शाम होते होते हम अपने गाँव पहुँच गये। स्टेशन से हमारा मकान नज़दीक था। अँधेरा हो जाने के कारण दूर से हमें अपना गाँव न दीख पड़ता था, किन्तु मन के नेत्रों से हमें अपने मकान का चित्र दीखने लगा। मकान पहुँचते ही सब घरवाले हमें घेर कर खड़े होगये। हमें देखते ही माता सदा प्रसन्नता से गद्गद हो जाया करती थीं, किन्तु आज वे हमें और भी अधिक प्रसन्न मालूम पड़ीं। सभी लोग किसी कारण से अधिक प्रसन्न हो रहे थे। बङ्गाल की निरानन्द देहात में ख़ुशी की घटना एकाध बार छोड़ कर कभी नहीं होती, इसी लिए हमें इस बात को मालूम करने में अधिक देर न लगी कि क्या मामला है। छोटे भाई-बहन भी उस बात को कहने के लिए उतावले हो रहे थे। हमारा विवाह पक्का हुआ है, लड़की तो ग़रीब की ही है, किन्तु सुन्दरी इतनी है कि आसपास कहीं किसी ने ऐसी सुन्दरी लड़की नहीं देखी। हमारी माता बिलकुल नहीं चाहती थीं कि रुपये के लोभ से किसी काली और कुरूप लड़की से हमारा विवाह किया जाय। केवल रूप के कारण ही वे ऐसे ग़रीब घर में विवाह करने को राज़ी होगई थीं। बातचीत क़रीब क़रीब पक्की होगई थी, केवल लड़की को देखना और पिता की स्वीकृति लेना बाक़ी था।

इतनी बातचीत हो जाने के बाद पिता की सम्मति लेने का एक विशेष कारण था। पिता कार्यवश बाहर ही रहते थे। केवल महीने में एक बार घर आते थे। माता चिट्ठी लिखना नहीं जानती थीं, कुशलक्षेम देने का काम भी प्रबोध ही करता था। किन्तु विवाह की बात माता ने प्रबोध से लिखवाना उचित न समझा। उन्होंने सोचा कि वह लड़का है, सब बातें ठीक ठीक समझा कर न लिख सकेगा और वे बीच ही में बिगड़ कर कार्य में बाधा डाल देंगे। माता को आशा थी कि पिता के घर आने पर सब बातें उन्हें स्वयं समझा कर वे राज़ी कर लेंगी। इस प्रस्ताव से पिता कुछ अधिक ख़ुश न होंगे, इस आशङ्का से ही मालूम पड़ता है कि वे माता की अपेक्षा अधिक समझदार थे। वे भविष्य में हमारे जज हो जाने की बात पर अधिक विश्वास न करते थे।

जो हो, पिता के आने में तब भी बहुत विलम्ब था, किन्तु उनके न आने से लड़की के देखने में तो कुछ बाधा

थी। दिन निश्चित हो गया। हम, प्रबोध तथा गाँव के और दो एक लड़कों ने लड़की के पित्रालय की ओर प्रस्थान किया। हम आज-कल के पढ़े-लिखे नये लड़के ठहरे, अतएव माता ने वैसा ही प्रबन्ध कर दिया था।

लड़की के पिता ग़रीब हैं, यह बात उनके मकान को देखते ही मालूम होगई। बैठक के कमरे में दो तख़्त पड़े थे। उन पर दो फटे क़ालीन और मैली चादरें बिछी थीं। इसके सिवा वहाँ और किसी असबाब का नामोनिशान तक न था। लड़की के पिता तथा दो एक अड़ोसी पड़ोसी विनय और अभ्यर्थना करके सब त्रुटियों के संशोधन करने की चेष्टा करने लगे। किन्तु जो वस्तु वास्तव में सब त्रुटियों का संशोधन करती वह तब भी न दिखाई पड़ी।

यथारीति कुछ जलपान किया। किन्तु हमारा मन चञ्चल हो उठा कि यह भूमिका कब तक बँधती रहेगी? अपने पाँव खड़े होने के पहले अपना विवाह न करेंगे—यह सङ्कल्प और नव-युवकों की तरह हमारा भी था, किन्तु जिस बात ने हमें अपने सङ्कल्प से गिराया था उस बात की सत्यता के प्रमाण में इतनी देर लगते देख कर हमारे धैर्य का बाँध टूटने लगा। किन्तु हमारे साथी बिलकुल निश्चिन्त थे।

एकाएक बराबर के कमरे में स्त्रियों के आने की आहट मालूम पड़ी। अनेक मीठे स्वर एक ही साथ सुनाई पड़े। जिस समय गोधूलि (सायङ्काल) का वसन्ती प्रकाश पृथ्वी पर एक विचित्र मायालोक फैला रहा था उसी समय किवाड़ खुले और एक लड़की हमारे सामने आकर खड़ी हो गई।

पिता की ग़रीबी और लड़की की ख़ूबसूरती—दोनों बातें एक साथ मालूम होगईं। मँगनी के दो चार आभूषण लड़की के अङ्ग पर थे, किन्तु उन सबको लड़की के सौन्दर्य्य ने इस तरह झेंपा दिया था कि उन पर नज़र ही न पड़ती थी। लड़की को देख कर यह विश्वास न होता था कि उसने इसी खँडहर में जन्म लिया है। किन्तु साथ ही यह भी ख़याल हुआ कि किसी धनी के महल में यह इतनी सुन्दरी भी न दिखाई पड़ती। जिस समय वह हमारे सामने आकर खड़ी हुई उस समय ऐसा मालूम हुआ कि मानों गोधूलि की समस्त सुनहली आभा सारी पृथ्वी को वञ्चित करके केवल इसी के शरीर में फूट पड़ी है और सायङ्काल के तारे भी आकाश छोड़ कर इसी लड़की के नेत्रों में जगमगा रहे हैं।

सुना था कि लड़की की अवस्था १२,१३ वर्ष है, किन्तु देखने पर मालूम हुआ कि यह समाजभीत माता-पिता की बात है, सच नहीं। हमारे एक साथी ने लड़की से पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है?'। उसने जवाब दिया—'सुरमा'। उसके इस उत्तर से साधारण मनुष्य तो यही समझते कि उसका नाम सुरमा है; किन्तु उसके गले की स्वरभङ्गी ने हमें यह भी बता दिया कि वह केवल बाहर से ही ज्योतिर्मयी नहीं है, बल्कि उसके अन्दर भी ज्योति की कमी नहीं है।

सुरमा चली गई, हम भी उठ खड़े हुए। कन्या के पिता को यह भी बतला दिया कि उनकी लड़की परीक्षा में पास होगई। घर पहुँचते पहुँचते ख़ूब अँधेरा हो गया, किन्तु तब भी हमारे मन से गोधूलि नहीं हटी थी।

लड़की पसन्द आगई, यह बात सुन कर माता बहुत प्रसन्न हुईं। प्रबोध के मुँह से सुरमा के रूप का वर्णन सुनते सुनते घरवाले खाना-पीना तक भूल गये। हमसे भी पूछपाँछ हुई, किन्तु हम उन्हें सन्तुष्ट न कर सके। लड़की के नेत्र कैसे हैं, रङ्ग कैसा है, इन सब प्रश्नों का उत्तर हम ठीक ठीक न दे सके। हमारे हृदय में जिस सुनहली आभा की प्रतिमा का चित्र मुद्रित हो गया था, उसे हम शब्दों द्वारा न समझा सके।

घरवालों की बातचीत और हावभाव से मालूम पड़ता था कि विवाह की बात पक्की होगई है। हमारे हृदय में जो सुनहली आभा गोधूलि छोड़ गई थी उसमें हम इतने व्यस्त थे कि परीक्षाफल का उद्वेग भी जाता रहा।

हठात् पिता भी घर आगये। माता ने यथासाध्य नम्रता के साथ उनसे सब बातें कहीं, भावी पुत्रवधू के रूप-रङ्ग का भी यथासाध्य वर्णन किया, किन्तु वे पिता को मुग्ध न कर सकीं। वे रूप से रुपये को ज़ियादह मानते थे, इसलिए यह सम्बन्ध उन्हें बिलकुल नापसन्द हुआ। ख़ूब वाद-विवाद हुआ। हमारे मन की आनन्द-रागिनी इस कर्कश कोलाहल में मन मार कर चुप होगई।

माता ने रोने की शरण ली। वे एक प्रकार से ज़ुबान दे चुकी हैं। बात न रहने से क्या होगा? पिता कुछ कुछ

पसीजे भी, किन्तु पूरी तरह नहीं। आख़िरकार पिता के फुफेरे भाई राधारमण इस विपत्तिसागर में मल्लाहरूप से आ डटे। उन्होंने हँस कर माता को दिलासा देते हुए कहा—'भाभी, क्या चिन्ता है। देखो, मैं पाँच मिनट में सब ठीक किये देता हूँ। हमारे भाई साहब बड़े सीधे आदमी हैं, दुनियादारी क्या जानें। वैसे ही गोरखधन्धा कर रहे हैं'। पिता को उन्होंने किस तरह राज़ी किया, यह बात तब नहीं मालूम हुई, पीछे से पता लगा।

विवाह का दिन आ पहुँचा। माता ने बड़ी खुशी खुशी हमारा आरती करके हमें रवाना किया। घर में उस समय ख़ूब चहल-पहल थी। सभी के कान सुरमा के सौन्दर्य का वर्णन सुनते सुनते थक गये थे, केवल नेत्रों की ख़ूराक बाक़ी थी। आदमियों की इस उत्सुकता को देख कर हमारा मन विजयी की तरह आनन्द से भर गया।

गाँव कुछ ज़ियादह दूर न था, दिन छिपने से पहले ही पहुँच गये। पिता और चाचा गाड़ी में बैठे क्या परामर्श कर रहे हैं, उधर मन लगाते तो मालूम हो जाता, किन्तु हमारा मन तो उधर जाने को राज़ी ही न हुआ।

कन्यापक्ष के ग़रीब होने के कारण किसी को भी अधिक धूमधाम की आशा न थी। जितनी थी वह भी पूरी हुई या नहीं, सन्देह ही है। गाँव ही के दो चार रिश्तेदार मौजूद थे, इधर उधर दो एक मशालें तथा दीवालगीरें जल रही थीं। एक पुराना फटा हुआ शामियाना भी वहाँ की शोभा बढ़ा रहा था।

आदर-सत्कार की त्रुटि नहीं हुई। पिता और चाचा ने ख़ूब गम्भीर भाव से आसन ग्रहण किया। कन्या के पिता हाथ जोड़ कर सबको चलने के लिए उठाने लगे।

स्त्रियों की रस्म के लिए हमें मकान के भीतर जाना पड़ा। वहाँ स्त्रियाँ खचाखच भरी हुई थीं। उत्साह और आनन्द का मानों समुद्र उमड़ रहा था। मालूम नहीं वरण (हाथ) किसने लिया। देखने में तो सुरमा की माता ही मालूम पड़ती थीं। अन्दर के कार्य से निवृत्त होकर हम सभा में आये।

सबके सामने कन्यादान होने से ही कृत्य पूर्ण होता है। जो एक मास पहले गोधूलि के समय चुपचाप हमारे हृदय में पहुँच गई थी उसी को आज कितना कोलाहल करके हमारे पास लाया जा रहा है!

सभा में सुरमा के आते ही पिता और चाचा आगे आकर खड़े हो गये। कन्या को सिर से पैर तक ख़ूब ग़ौर से देख कर चाचा ने कहा, "कन्या के अङ्ग पर गहने दिखाई नहीं पड़ते, वे सब यहीं ले आइए। दस आदमियों के सामने ही देना अच्छा है।"

सुरमा के पिता ने क्षीण स्वर में कहा, "जितने देने की मुझ में शक्ति थी वे गहने तो कन्या पहने ही है।"

चाचाजी ने वज्र हँसी हँस कर कहा, "महाशय के साथ हँसी-दिल्लगी करने का सम्बन्ध तो है, किन्तु वह रिश्तेदारी क़ायम हो जाने के बाद कीजिएगा। अब गहने ले आइए जिससे यह शुभ कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाय।"

कन्या के पिता ने हाथ जोड़ कर कहा, "और अधिक देने की मुझ में शक्ति नहीं है। यह थोड़ा-बहुत जो कुछ है इसी को स्वीकार करके मेरा उद्धार कीजिए।"

चाचा की हँसी ओठों में ही लय होगई। उन्होंने कड़क कर कहा, "और कोई आदमी धोखा देने को नहीं मिला? एक तो बिना दहेज के ऐसा सुन्दर बी० ए० पास लड़का मिल गया। फिर भी सन्तोष नहीं। निराभरण कन्या को सभा में लाते हुए तुम्हें लज्जा भी नहीं आई! वर की सोने की घड़ी-चेन कहाँ है? यदि आप अपनी ख़ैर चाहते हैं तो सब सामान निकाल कर ले आइए। आपकी यह ठगी हमसे नहीं चलेगी। वर अभी उठ कर चला जायगा।"

कन्या के पिता ने हमारे पिता के हाथ पकड़ लिये और गिड़गिड़ा कर कहा, "आपकी दोहाई है। इस तरह ग़रीब ब्राह्मण को न मारिए। मुझसे इसी तरह तय हुआ था।"

हमारे पिता तो पूर्ववत् चुप ही रहे। चाचा ने गरज कर कहा, "महाशय, बातचीत किससे हुई थी? हमें तो मालूम नहीं! दहेज नहीं मिलेगा, न सही। कन्या और वर के गहने तो सब मिलेंगे, यही सोच कर आये थे। नहीं तो क्या हमें और लड़की नसीब न होती! जाइए, देर कीजिए।"

इसी समय कन्यापक्ष का कोई आदमी कह उठा, "

छोटे आदमी हैं, ज़ुबान देकर एक भले आदमी को इस तरह सताते हैं !"

मानों एक साथ दक्षयज्ञ भङ्ग होगया । "हैं ! स्वयं धोखेबाज़ी करके और फिर इतना अपमान ? चलो चलो, उठो उठो ।" हड़बड़ा के सब आदमी उठ खड़े हुए । हमें भी दो आदमी वरासन से खींच कर बाहर ले आये । धक्कम-धक्का में दो चार दीवारगीरें भी झनझना कर गिर पड़ीं । अन्दर से स्त्रियों के रोने चिल्लाने की आवाज़ आकर पुरुषों के कोलाहल में मिल गई । दिन भर भूखे रहने और उत्तेजना से हमारा शरीर बेक़ाबू हो गया । तब भी हमने मुँह घुमा कर देखा कि सुरमा वेदी पर उसी तरह बैठी है । उसका घूँघट खिसक गया है और वह आँखें फाड़ फाड़ कर हमारी ही तरफ़ देख रही है । हमने उसे पल भर ही देखा होगा कि इतने में अँधेरे में जा पहुँचे ।

हमारी गाड़ी घोड़े आदि सब दूर खड़े थे । इतनी जल्दी उनकी फिर ज़रूरत पड़ेगी, यह न जानने के कारण साईस वग़ैरह भी इधर-उधर चले गये थे । आदमी भेज कर उन्हें फिर बुलाने की कोशिश होने लगी । हमारे पिता और चाचा गरज गरज कर सैकड़ों गालियाँ देन लगे और इस तरह अपने तपे हुए मन को ठण्ढा करने लगे । केवल प्रबोध ही अकेला चुप था । शायद वह सुरमा का ख़याल करके दुःखित हो रहा था ।

कुछ विश्राम मिलने के बाद हमारी खोई हुई बुद्धि और विवेचना फिर वापस आगई । हमने यह क्या किया ? इन कठोर हृदयों की पाशविक लीला में हमने क्यों योग दिया ? उसी अन्धकार में सुरमा की व्यथित दृष्टि हमें दिखाई पड़ने लगी । हमने अपने मन में कहा—निष्ठुर, बर्बर, क्या तुमने यह अच्छा किया ?

सभी आदमी लौटने के प्रबन्ध में व्यस्त थे । हम उसी सुयोग में अपने दल से निकल आये । पिता और चाचा की नाराज़गी भी कोई वस्तु है, यह बात उस समय हम बिलकुल ही भूल गये । दौड़ते दौड़ते कुछ ही मिनटों में हम सुरमा के मकान के पास आ पहुँचे । दरवाज़े के पास आते ही हमने देखा कि अन्दर से दो आदमी आ रहे हैं और उनके मुख पर भोजन कर चुकने के चिह्न मौजूद हैं । उनमें से एक ने कहा, "कहाँ एक क्लर्क का लड़का और कहाँ राजा पार्वतीचरण राय ! बी० ए० पास होने से क्या होता है ? बहुत होता तो किसी स्कूल में मास्टर हो जाता । बस इतना ही न ! और राजाबाबू, जिनके दरवाज़े पर दस हाथी बँधे हैं । एक दो गहनों के लिए ही तो इतनी गड़बड़ हुई न ! अब लड़की का शरीर हीरे मोतियों ही से लदा रहेगा ।"

एक और आदमी मुँह से चादर हटाता हुआ बोला, "राजाबाबू की अवस्था ज़रा अधिक है । सो बड़े आदमियों की अवस्था ही क्या ? हमारा तो यह विश्वास है कि लड़की को देख कर बुड्ढे की राल टपक पड़ी । इसी लिए उसने सब बरातियों को धता बता दिया । उसी के नौकर की तो लड़की है, पहले ही ठीक कर लेता । लेकिन मालूम होता है कि पहले उसने लड़की को देखा नहीं था ।"

बराती गाड़ी-घोड़े ठीक ही कर रहे थे कि हम भी लौट आये । घर पहुँचने में कुछ अधिक देर न लगी ।

दो दिन बाद ही माता के रोने के स्रोत को बढ़ा कर हम कलकत्ते आगये । पास तो हो गये, पर अच्छे नम्बर में नहीं । एक नौकरी भी मिल गई, किन्तु एम० ए० होना भाग्य में नहीं था ।

(३)

पिता के देहान्त के बाद कुछ दिनों तक माता मकान ही पर रहीं । हम स्कूल की नौकरी तथा प्राइवेट ट्यूशन करके किसी तरह दोनों जगह का ख़र्च चलाने लगे । किन्तु इस तरह बराबर डबल ख़र्च करना हमारी शक्ति के बाहर था और फिर ऊपर से प्रबोध की पढ़ाई का ख़र्च । इसी कारण अपने स्वामिगृह का मोह त्याग कर माता को कलकत्ते आना पड़ा । हमारे पोष्य कुटुम्बियों को भी बाध्य होकर दूसरी जगह अपना ठिकाना ढूँढ़ना पड़ा । क्योंकि अब हम उनका ख़र्च चलाने में असमर्थ थे ।

गाँव का मकान यद्यपि टूटा-फूटा और पुराना था, लेकिन उसमें गुज़र के लिए काफ़ी जगह थी । प्रकृतिदत्त वायु और धूप की भी उसमें कमी न थी । किन्तु हम दोनों भाइयों ने प्राणपण से चेष्टा करके जो मकान कलकत्ते में लिया था उसमें सभी बातों का अभाव था । केवल मकान मालिक के लोभ का अभाव न था । इन सब बातों के होते हुए भी मेस के देखते वह अच्छा ही था । विधवा हो जाने

के कारण यद्यपि माता पहले की तरह अधिक हँसती बोलती न थीं तब भी वे कलकत्ते के इस अँधेरे मकान में कुछ न कुछ चाँदनी बनाये ही रखती थीं।

कलकत्ते में मनुष्यों का तो अभाव नहीं है, किन्तु बन्धुओं का अभाव है। हमारा मकान एक तङ्ग गली में है। गली के उस पार लाल रङ्ग से पुता हुआ एक बड़ा भारी मकान है और उसी के पास एक बड़ा बाग़ है। उस मकान का सदर दरवाज़ा तो सड़क पर है, किन्तु दास-दासियों के आने जाने के लिए गली की तरफ़ भी एक छोटा सा द्वार है। बाग़ में आने-जाने के लिए भी रास्ता है। हमारे छोटे भाई-बहनों ने बाग़ के मालियों के साथ खूब दोस्ती कर ली थी। वे प्रायः बाग़ से दो चार फल फूल ले आते थे। हम यह न जानते थे कि इस मकान में रहता कौन है। गली की तरफ़ की खिड़कियाँ बन्द रहती थीं।

एक दिन स्कूल से वापस आकर देखा कि तारा और मन्नू खूब मचल रहे हैं। सामनेवाले मकान में आज गाना और नाच है, वहीं जाने के लिए वे ज़िद कर रहे थे। किन्तु माता उन्हें किसी तरह भी भेजने को राज़ी न थीं। प्रबोध के साथ दोनों लड़कों को चिड़ियाख़ाना दिखाने के लिए भेज कर हमने बड़ी मुश्किल से माता का पिण्ड छुड़ाया।

स्कूल से आकर आराम लेने का हमें ज़रा भी मौक़ा न मिलता था। कुछ जलपान करके और छड़ी चादर ले कर हम प्राइवेट ट्यूशन के लिए तुरन्त चल दिया करते थे। रोज़ की तरह हम आज भी ट्यूशन के लिए रवाना हुए। गली में आकर देखा कि बड़ी धूमधाम हो रही है। बाग़ के लहलहाते हुए हरे मैदान पर एक दरबारी ख़ीमा खड़ा है। बिजली की चमक से सन्ध्या देश छोड़ कर भाग सी गई है। ख़ानसामों और दरवानों की दौड़धूप का कुछ ठिकाना ही नहीं है। कुर्सियाँ लगाने और खाने-पीने के सामान को ठीक करने का काम बड़ी सरगर्मी के साथ हो रहा है। हमें ज़ियादह रुकने का समय न था, अतएव हम अपने काम पर चले गये।

वापस आकर देखा कि मजलिस खूब ज़ोरों पर है। स्त्रियों का कण्ठ-स्वर बहुत ऊँचा उठा हुआ है। इत्र और गुलाबजल की सुगन्धि से रास्ता तक महक रहा है। तमाशाइयों की इतनी भीड़ है कि गली से होकर निकलना भी मुश्किल है। हमने देखा कि जो निमन्त्रित सज्जन दरवाज़े के सामने बैठे हैं उनमें से अनेक लोगों की अवस्था नाच और गान का उपभोग करने योग्य न थी। इन निमन्त्रित और अनिमन्त्रित सभी आदमियों ने वाह-वाह की आवाज़ से महल्ला भर सिर पर उठा रक्खा था।

जाने का रास्ता न मिलने के कारण हमें भी रुकना पड़ा। सारा मकान बिजली की रोशनी से जगमगा रहा था, अँधेरे का कहीं नाम-निशान तक न था। जो खिड़कियाँ कभी नहीं खुलती थीं वे भी आज खुली हुई थीं। अन्दर के प्रकाश से गली का अन्धकार भी ग़ायब हो गया था।

एकाएक एक स्थान पर हमारे नेत्र अटक गये। ऐं यह क्या! यह यहाँ कैसे? इस अजान पाषाणपुरी में यह हमारा चिरपरिचित प्रदीप कहाँ से चमक उठा? हमें यह मालूम ही न था कि यह हमारे इतने पास रहता है।

खिड़की का किवाड़ पकड़े जो इन्द्राणी मूर्ति खड़ी है वह निश्चय उस खँड़हर में देखी हुई सुरमा है, इस बात में हमें ज़रा भी सन्देह न हुआ। यद्यपि आज इसके सारे शरीर पर हीरे जवाहरात की अग्नि जल रही है, वह कोमल नवनीत-मुख सफ़ेद पत्थर की तरह कठिन हो गया है, उन्हीं काले काले नेत्रों से आज घृणारूपी बिजली गिरी पड़ती है, तब भी यह सुरमा ही है—इसमें हम भूल नहीं कर सके। गोधूलि की आभा में हमने उसे पहचाना था, किन्तु अँधेरे और उजियाले में हम उसे कहीं नहीं भूल सकते।

कुछ मिनट तक ज्वालामयी दृष्टि से बाग़ की तरफ़ देख कर सुरमा चली गई। उसके जाते ही खिड़की भी खट से बन्द होगई। पास ही खड़े एक आदमी से हमने पूछा—"महाशय, आज यहाँ क्या मामला है?" उसने कहा—"राजा पार्वतीचरण के बड़े पोते का आज अन्न-प्राशन है। इसी लिए इतनी ख़ुशी मनाई जा रही है। यह उन्हीं राजाबाबू के बड़े लड़के हैं।" हमने देखा कि राजाबाबू के बड़े पुत्र का रङ्ग-रूप-शरीर सभी ज़मींदार पुत्र के उपयुक्त है। सुरमा इनकी सौतेली मा है। उसी आदमी से हमने फिर पूछा, "और राजाबाबू कौन से हैं?"

"वे तो उठ बैठ भी नहीं सकते। यहाँ किसे दिखाऊँ? न मालूम वे किस तरह जीवित हैं। दो वर्ष हुए उन पर फ़ालिज गिरा था तभी से वे अपने दिन पूरे कर रहे हैं।"

सुरमा के नेत्रों में जो अग्नि देखी थी, मानों वह हमारे हृदय में लग गई। भीड़ को ठेलते ठेलते किसी तरह घर पहुँचे। इन उत्सव-मत्त अतिथियों का कोलाहल प्रेतों के चीत्कार की तरह हमें रात भर सुनाई पड़ता रहा।

पहले हमारा ख़याल था कि महल्ले की तरफ़ की खिड़कियाँ कभी खुलती ही नहीं। किन्तु अब उधर ध्यान रखने से कभी कभी वे खुली हुई दिखाई पड़ती थीं। लेकिन जिसको देखने के लिए दृष्टि रात दिन उसी तरफ़ लगी रहती थी वह केवल एक ही दिन दिखाई पड़ी। खिड़की खोल कर सिर्फ़ उसने हमारे मकान ही की ओर देखा था। तब क्या उसे भी पता लग गया है? पता लग भी गया तो क्या? वह राजरानी है और हम दिन भर खून पसीना एक करके महीने भर में कुल साठ रुपये कमानेवाले मास्टर हैं। किन्तु जितना मन को समझाते हैं उतना ही अपना अपराध मालूम पड़ता है—इस रानीगिरी के अभिशाप के दायी—ज़िम्मेदार—हमीं हैं।

दिन किसी न किसी तरह कट ही जाते हैं, चाहे राजसी ठाठ से काटो चाहे उपवास करके। समय किसी के लिए नहीं रुकता। माता अब फिर पहले की तरह प्रसन्न रहती हैं। प्रबोध ने एम० ए० की परीक्षा दी है, उसके लिए एक सुन्दरी बहू की खोज है। बहुत सी कन्याओं की देख भाल की गई। किन्तु माता को कोई लड़की पसन्द आई तो प्रबोध को नापसन्द और कोई प्रबोध को पसन्द आई तो माता को नापसन्द। माता धन की भूखी न थी, वह चाहती थीं केवल सुन्दरी बहू।

आधा वैशाख बीत चुका है। हमारा स्कूल बन्द है, किन्तु प्राइवेट छात्र अभी नहीं गये हैं। उनके यहाँ कभी कभी हाज़िरी देनी पड़ती है। ज्वर-तप्त आकाश की ओर देख कर घर से बाहर निकलने को जी नहीं चाहता, किन्तु नौकरी की माया भी एक ही चीज़ है, जाना ही पड़ता है। आज हमारे पड़ोसी की काली लड़की का विवाह है। वर मिल गया है, किन्तु सुना है कि बेचारे को मकान गिरवी रखना पड़ा है। जब हम उधर होकर जा रहे थे तब हमने देखा कि बाहर का काठ का जीर्ण द्वार गेंदे के फूलों और केले के पत्तों से सजाया गया है। दरवाज़े पर नौबत भी बज रही है। हमारे भी घर भर का निमन्त्रण था। तारा और मन्नू तो सज-सजा कर चले गये थे, किन्तु हम दोनों भाइयों ने रात को जाने का निश्चय किया था। राजाबाबू के मकान से टसर का लँहगा पहने हुए एक दासी निकली। उसके हाथ में सामान की एक थाली थी और विचित्र तरह के कपड़े पहने हुए एक लड़की भी साथ थी। ग़रीब आदमी के निमन्त्रण की रक्षा करने के लिए इतना काफ़ी है। हमें ज़ियादह वक्त न था, हमने अपना रास्ता लिया।

दो तीन लड़कों को पढ़ा कर जब घर को चले तब चिराग़ जल चुके थे। सीधे अपने पड़ोसी के यहाँ पहुँचे, घर तक न गये।

किन्तु यह क्या? एक मुहूर्त्त तक तो हमें यही ख़याल रहा कि हम सो रहे हैं और स्वप्नलोक के रास्ते से अपने जीवन की चिरस्मरणीय रात्रि में फिर गये हैं। बारातियों की वही पैशाचिक हड़ताल, लड़कीवाले की वही करुणापूर्ण विनती और स्त्रियों का वही करुण रुदन! किन्तु एक क्षण बाद ही बोध हुआ कि बङ्गाल में यह दृश्य दुर्लभ नहीं है। एक ही बार देख कर स्वप्न की शरण जाने की आवश्यकता नहीं।

जब हम वहाँ पहुँचे थे तब उस नाटक का पाँचवाँ अङ्क खेला जा रहा था। बाराती गोलमाल करके उठ गये। मालूम पड़ता है दहेज के रुपये कम पड़ जाने से ही यह नौबत पहुँची। भय के मारे लड़की वेदी पर औंधी पड़ी हुई है। उस तरफ़ किसी का ध्यान ही नहीं, सब आदमी इसी तलाश में हैं कि कोई वर मिल जाय। एक बार इच्छा हुई कि हम ही चले जायँ, ऐसा करने से हमारे पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा। किन्तु जिसका उद्धार करने जा रहे हैं, उसके जीवन पर कितना भारी बोझ लद जायगा, यह सोच कर पाँव आगे को न उठे। उपकार करने के स्थान में कितना भारी अपकार होगा। पर हृदय को हिला देनेवाला यह रोना अधिक नहीं सुना जाता था।

इसी समय एक साँवले लड़के ने आगे बढ़कर कन्या के पिता से कहा, "आप इतने कातर न हों। यदि आप मुझे अपनी कन्या देना चाहें तो मैं तैयार हूँ।"

किस ऐन्द्रजालिक के मोहन स्पर्श से क्षण भर में ही सब रङ्ग बदल गया? मरे हुए आदमी के शरीर में मानों फिर प्राणों का सञ्चार हो गया। हम एक कोने में खड़े खड़े उस तरुण जादूगर की ओर देखने लगे। जी चाहा कि दौड़ कर उसे हृदय से लगालें। भाई, आज तक तुम्हारे लिए हमने जो कुछ कष्ट सहा वह आज सब सार्थक होगया। हमारे मन का एक बड़ा भारी बोझ आज तुमने हलका कर दिया।

सम्भव है इससे माता को दुःख हुआ हो—उनकी इसी एक आशा पर दो बार तुषारपात हुआ। विवाह करके बहू को साथ लेकर प्रबोध मकान पहुँचा। माता को उसने अपने सिवा किसी दूसरे से संवाद भेजना न चाहा। हम भी उसके पीछे ही आकर खड़े हो गये।

द्वार खोलते ही माता चौंक कर खड़ी होगईं। उन्हें मामले को समझने में देर न लगी। मुँह बना कर चुपचाप खड़ी रह गईं। प्रबोध भी नीचा मुँह करके चुपचाप खड़ा हो गया। उसकी निरपराधिनी बहू मानों नृशंस पुरुषों के सब अपराधों को अपने सिर लेकर ज़मीन से मिलने की कोशिश करने लगी।

इस तरह चुप खड़े खड़े साँस घुटने लगी। आख़िरकार हमीं ने आगे बढ़ कर कहा, "माँ, मेरे इस दीन मुख की ओर देख कर इसे क्षमा करो। ऐसा न करने से मेरे जीवन का अभिशाप दूर न होगा। मैंने एक गृहस्थ पुरुष के घर में आग लगाई थी। मेरे भाई ने आज उसका प्रायश्चित्त कर लिया। तुम्हारे छोटे लड़के ने आज, तुम्हारे बड़े लड़के का उद्धार किया है, इसलिए तुम दुःख न करो।"

माता के नेत्रों से आँसू टपकने लगे। प्रबोध ने सस्त्रीक माता को प्रणाम किया। तारा और मन्नू भी हम लोगों को गम्भीर देख कर अब तक चुप थे। वे भी अब आकाश को बादलों से साफ़ देख कर फूले न समाये और नई बहू की अभ्यर्थना करके मकान के भीतर लिवा ले गये।

दूसरे दिन ही से बहू को देखने के लिए महल्ले भर की स्त्रियों ने आना जाना आरम्भ कर दिया। दिन भर मकान में स्त्रियों की भीड़ लगी रहती थी। इससे दिक़्क़त हुई हमें। मकान छोटा होने के कारण आई हुई स्त्रियों से पर्दा हो नहीं सकता था, इसलिए हमें अधिकतर मकान के बाहर ही रहना पड़ता था।

रात होगई। अब बहू को देखने कौन आवेगा—इसी आशा से दिन भर घूम घाम कर मकान पहुँचे। दरवाज़े में घुसते ही हमने देखा कि हमारा ख़याल ग़लत था। हमारे सामने ही लाल साड़ी पहने एक मूर्त्ति खड़ी थी। साड़ी के अन्दर से सोने की आभा फूट फूट कर बाहर निकल रही थी। यद्यपि वह हमारी तरफ़ को पीठ किये खड़ी थी तो भी हमें उसे पहचानने में देर न लगी। हम उसी जगह खड़े रह गये। हमारी दीन कुटी में आज रानी ने पदार्पण क्यों किया?

सुरमा हमें न देख सकी। दरवाज़े के पास पहुँचते ही उसकी दासी ने आवाज़ देकर कहा, "अम्माजी कहाँ हैं? रानीजी बहू को देखने आई हैं।"

कहारी ने झटपट निकल कर कहा, "आइए रानीजी! बहू इसी घर में हैं। अम्माजी मन्दिर में आरती लेने गई हैं, आती ही होंगी। घर में चल कर बैठिए।" तारा भी बाहर आकर खड़ी होगई।

उन सबके घर में चले जाने के बाद हम भी दबे पाँव अपने कमरे में पहुँचे। प्रबोध के कमरे के पास ही हमारा कमरा है। बहू को देखने के लिए सुरमा के आने का मतलब हमारी समझ में कुछ न आया।

हमने सुना कि सुरमा अपनी दासी से कह रही है कि 'तू बाहर क्यों नहीं जाती?' उसके जाते ही हमारी कहारी भी उसके साथ चल दी। भोजनालय के बरामदे में बैठ कर दोनों बातें करने लगीं।

सुरमा का स्वर फिर सुनाई दिया। वह स्वर इतना तीव्र और ज्वालामय था कि उसे सुन कर हम चौंक पड़े। बहू को लक्ष्य करके वह बोली—"देखूँ देखूँ, घूँघट तो खोलो, तुम कितनी रूपवती हो—देखूँ? तुम इस घर में किस ज़ोर से चली आई? तुम क्या मुझसे भी अधिक सुन्दरी हो? जो मेरी अवहेला करके मुझे आग में ढकेल आये, वही अपने आप तुम्हें सिर पर चढ़ा कर ले आये

किस गुण से ऐसा हुआ ? बहुत से रुपये दिये हैं या हीरे के गहने ? क्यों, कहाँ हैं ? निकालो, जल्दी निकालो। एक बार मैं देख तो लूँ कि तुम मुझसे किस बात में श्रेष्ठ हो।"

तारा तो डर कर रोने लगी। हम झटपट प्रबोध के कमरे के सामने पहुँचे। बहू गुड़िया मुड़िया हुई चौकी के एक कोने पर बैठी थी, भय के मारे उसका मुख सूख गया था। उसी के सामने सुरमा खड़ी थी उसके काले काले नेत्रों से मानों आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं।

हमने अन्दर घुस कर आवाज़ दी—"सुरमा।" हमारी आवाज़ से चौंक कर उसने हमारी तरफ़ देखा। फ़ौरन ही झपट कर वह हमारे सामने आकर खड़ी होगई और गुर्रा कर बोली, "बोलो, तुम्हीं बोलो। तुम्हारी बहू तो बोलना ही नहीं जानती। किस बात में अच्छा देखा—रूप में या गुण में ?"

हमने कहा, "सुरमा, तुम भूल रही हो। हमने विवाह नहीं किया है, यह हमारे भाई प्रबोध की बहू है।"

सुरमा चीत्कार करके रो उठी, "तुमने विवाह नहीं किया तो इससे क्या ?"

रोने की आवाज़ सुन कर उसकी दासी दौड़ कर आगई। सुरमा का सिर ढकते ढकते उसने हम से कहा, "बाबूजी, कुछ ख़याल न कीजिएगा। रानीजी की तबीयत कई दिन से बहुत अच्छी थी, इसी लिए साहस करके यहाँ ले आई। यहाँ आकर यह कर बैठेंगी, यह नहीं मालूम था। मुझसे सिर्फ़ इन्होंने इतना ही कहा था—'विधू, हमें बहू दिखाने के लिए ले चल।'" "मैंने सोचा क्या हर्ज है दिखा ही लाऊँ। सो यहाँ आकर इन्होंने यह गड़बड़ी मचा दी—दैया रे दैया।"

दासी सुरमा को पकड़ कर सदर दरवाज़े की तरफ़ ले चली। हमने दासी से पूछा, "इनकी कितने दिन से यह हालत है ?"

दासी ने दरवाज़े से निकलते निकलते कहा, "मुझे आये दो वर्ष हुए, मैं तो इन्हें इसी हालत में देख रही हूँ। राजाबाबू ने न मालूम कितनी दवादारू कराई, कोई भी कारगर न हुई।"

हम अपने कमरे में वापस आगये। आह! हमारे पाप का बोझ हलका होने वाला नहीं है। वह दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। अब सतयुग नहीं है कि एक के पुण्य से दूसरे का उद्धार हो जाय। किन्तु प्रायश्चित्त का उपाय कौन बतावेगा ?

दिन उसी तरह कटते हैं। एकाएक एक दिन सामने के मकान में कुछ गोलमाल सुनाई दिया। थोड़ी ही देर में सामने के बड़े दरवाज़े पर आदमी जमा होने लगे। नीचे जाकर हमने एक आदमी से पूछा, "क्या हो गया ?" मालूम हुआ कि गत रात्रि में हैज़े से सुरमा का देहान्त होगया। उसकी श्मशानयात्रा के आयोजन के लिए यह जमाव है।

हम उसी जगह खड़े रहे। जीवन के रास्ते में एक साथ न चल सके। मरने के रास्ते में कुछ आगे पहुँचा कर आगये*।

'प्रवीण'

प्राचीन भारतीय नरेशों की जीवन-चर्या।

कालिदास के स्थिति-काल का निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। अधिकांश विद्वानों की यह सम्मति है कि कालिदास गुप्तवंश के राजत्व-काल में हुए, पर अभी हाल में कुछ विद्वानों ने यह प्रमाणित किया है कि ईसा के पहले प्रथम शताब्दी में कालिदास का आविर्भाव हुआ था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास के समय में भारतवर्ष खूब उन्नतावस्था में था। कला-कौशल और वाणिज्य-व्यवसाय में तो वह खूब बढ़ा-चढ़ा था ही, उसकी राज-शक्ति भी प्रचण्ड थी। सभ्यता में वह संसार के सभी देशों में अग्रगण्य था। कालिदास के काव्यों में उसी सभ्यता का विशद चित्र अङ्कित

* श्री सीता देवी, बी० ए० की एक बँगला कहानी का अनुवाद।

किया गया है। यहाँ हम उन्हीं के वर्णन के आधार पर प्राचीन भारतीय नरेशों की जीवन-चर्य्या का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु-काल तक भारतीय नरेश अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करते थे, उनकी शासन-प्रणाली कैसी थी, उनके अन्तःपुर में किस प्रकार के आमोद-प्रमोद होते थे, प्रजा के साथ उनका कैसा व्यवहार था आदि बातों की चर्चा यहाँ की जायगी।

भारतीय नरेशों के लिए निस्सन्तान होना बड़ा ही क्लेशदायक था। उनका विश्वास था कि विशुद्ध सन्तति से इह-लोक और पर-लोक, दोनों में, सुख की प्राप्ति होती है। पितृ-ऋण से किसी मनुष्य का उद्धार तभी हो सकता है जब वह अपने पीछे कोई सन्तान छोड़ जाय, जो पितरों को पिण्ड-दान और तर्पण करे। पुत्र-प्राप्ति के लिए लोग तरह तरह के उपाय करते थे। उसके लिए यज्ञों तक का विधान था। यदि दैव की कृपा से राजमहिषी गर्भवती हुई तो उससे राजा और प्रजा दोनों को अपार आनन्द होता था। गर्भवती रानी की सेवा में बराबर नौ महीने तक कुशल और विश्वासपत्र राजवैद्य लगे रहते थे। उसकी सभी इच्छायें पूरी की जाती थीं। बालक के उत्पन्न होने पर कुलगुरु अथवा पुरोहित आकर उसका जात-कर्म आदि संस्कार कराता था। पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में खूब उत्सव किया जाता था। आमोद-प्रमोद में नृत्य और गान मुख्य था। राजे महाराजे अपने कैदियों को छोड़ कर हर्ष प्रकट करते थे। दान भी खूब दिया जाता था। बच्चे के लिए एक धाय रक्खी जाती थी। जब बालक कुछ बड़ा हो जाता तब उसका चूड़ा-कर्म होता। इसके बाद विद्यारम्भ कराया जाता था। पहले लिपि और संख्या-ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। ११ वर्ष की अवस्था में क्षत्रियों का उपनयन संस्कार होता था। तब तक शिक्षा घर ही पर दी जाती थी। नदी के द्वारा जैसे जलचर जीव समुद्र के भीतर घुस जाते हैं उसी प्रकार वर्णमाला की शिक्षा पाकर राजकुमार का प्रवेश शब्द-शास्त्र में हो जाता था। यज्ञोपवीत हो जाने के बाद राजकुमार को पढ़ाने के लिए बड़े बड़े विद्वान् नियुक्त होते थे। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति, इन चार विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देने के लिए एक दूसरा ही श्रेष्ठ योद्धा नियुक्त होता था। राजकुमार को ब्रह्मचारी बन कर शिक्षा-ग्रहण करनी पड़ती थी। शिक्षा-काल में उस को हिरन का चर्म पहनना पड़ता था। शिक्षा-काल समाप्त हो जाने पर गो-दान संस्कार होता था। तब विवाह होता था। पर राजकुमार की शिक्षा का अन्त यहीं न हो जाता था। सच पूछा जाय तो उसकी शिक्षा तभी प्रारम्भ होती थी जब राजकुमार युवराज के पद पर बैठाया जाता था। तब उसे राज्य के भिन्न भिन्न विभागों में, बड़े बड़े अधिकारियों की देख-रेख में, भिन्न भिन्न विषयों का अनुभव कराया जाता था। इसके बाद उसे सेना-नायक का पद सौंपा जाता था।

राजकुमार का विवाह खूब धूम-धाम से होता था। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास के समय में कन्या का पिता वर की खोज नहीं करता था, कम से कम वह वर की याचना तो नहीं करता था। बारात बड़ी धूम से जाती थी। गृह-प्रवेश करने के बाद वर को आसन दिया जाता था। फिर मधुपर्क और अर्घ्य आदि से उसकी पूजा की जाती थी। इसके बाद उसे रमणीय रत्न और रेशमी कपड़ों का एक जोड़ा दिया जाता था। वर को कपड़े पहना कर लोग वहाँ पहुँचाते थे जहाँ वधू बैठी रहती थी। वहाँ पुरोहित पहले हवन करता था। हवन समाप्त होने पर उसी अग्नि को विवाह का साक्षी करके वर और वधू का ग्रन्थि-बन्धन कर दिया जाता था। फिर पाणि-ग्रहण होता था। कन्या-दान हो जाने के

बाद वे दोनों प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे। प्रदक्षिणा खतम होने पर पुरोहित वधू को हवन करने की आज्ञा देता था। तब वधू अग्नि में धान की खीलें डालती। इसके बाद वर और वधू के सिर पर गीले अक्षत डाले जाते थे। पहले स्नातक गृहस्थ अक्षत डालते, फिर बन्धु-बान्धव, फिर सौभाग्यवती पुरवासिनी स्त्रियाँ। घर लौट आने पर विवाह का कङ्कण खोला जाता था।

राजा की मृत्यु हो जाने पर युवराज का राज्याभिषेक संस्कार होता था। अभिषेक के लिए चार स्तम्भ का एक मण्डप खड़ा किया जाता था। उसके बीच में एक ऊँची सी वेदी बनाई जाती थी। वहाँ पैतृक सिंहासन रक्खा जाता था। युवराज उसी पर जाकर बैठता था। तब तीर्थों के जल से भरे हुए सोने के कलश ले लेकर सब मन्त्री सामने खड़े होते। अभिषेक का आरम्भ होते ही तुरहियाँ बजाई जातीं। सबसे पहले दूब, जौ के अङ्कुर, बरगद की छाल और कोमल पल्लव थाली में रख कर बूढ़े बूढ़े सजातीय राजा की आरती उतारते। तदनन्तर वेदवेत्ता ब्राह्मण पुरोहित को आगे करके, अथर्ववेद का मन्त्र पढ़ कर, राजा के सिर पर जल की धारा छोड़ते। अभिषेक की क्रिया समाप्त हो जाने पर राजा ब्राह्मणों को अपार धन देता। क़ैदी और अपराधी बन्धन से उन्मुक्त किये जाते। गाय-बैल और तोते आदि पक्षी तक छोड़ दिये जाते थे।

कालिदास ने अपने रघुवंश में सभी राजाओं के दिग्विजय का उल्लेख किया है। इससे यह जान पड़ता है कि उस समय प्रत्येक हिन्दू राजा के चित्त में आसमुद्र क्षितीश बनने की अभिलाषा रहती थी। सारे देश को अपने आधिपत्य में लाकर उसे समृद्धिशाली और सुखी बनाना वह अपना कर्तव्य समझता था। जब राजा युद्ध के लिए प्रयाण करता तब पुरोहित आकर पवित्र मन्त्रोच्चारणपूर्वक राजा के शरीर पर जल छिड़कता। फिर वाजि-नीराजना की विधि की जाती थी और हवन किया जाता था। जब राजा जाने लगता तब उस पर पुरवासिनी स्त्रियाँ धान की खीलें बरसातीं। दिग्विजय कर लेने के बाद यज्ञ किया जाता था। इस प्रकार के यज्ञ हिन्दुओं के असीम राजनैतिक ज्ञान के परिचायक हैं। इस सम्बन्ध में वाजपेय और राजसूय यज्ञ ध्यान देने योग्य हैं। राजसूय यज्ञ करने से राज्य-पद मिलता था, पर वाजपेय करने से सम्राट्-पद मिलता था।

कालिदास ने यत्र तत्र राजाओं की भोग-विलासिता का वर्णन किया है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने राजा के अविश्रान्त परिश्रम का भी उल्लेख किया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में कञ्चुकी ने कहा है—'अथवाविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। कुतः।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिं दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥'

इससे यह जाना जाता है कि प्राचीन काल में भारतीय नरपति राज-काज में अपना कितना अधिक समय लगाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय राजा यथाकाल प्रबोधी थे। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के अनुसार राजा को तीन बजे उठ जाना चाहिए। जब राजा के सो कर उठने का समय होता तब सूत-पुत्र आकर उसका स्तुति-गान करते। राज-सभा में जाने के पहले राजा शृङ्गार करता था। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय राजाओं को लम्बे केश रखने का बड़ा शौक था। उनका यह केश-कलाप मोतियों की माला से बाँध दिया जाता था। शरीर पर चन्दन का लेप करके उस पर गोरोचन से बेल-बूटे बनाये जाते थे। उनकी पोशाक में दो ही वस्त्र रहते थे, एक पहनने के लिए और दूसरा ओढ़ने के लिए। राजा रत्न-जटित मुकुट सिर पर धारण करते थे, कानों में कुण्डल पहनते थे। गले

में पहनने के लिए मोतियों और रत्नों के हार थे। भुजाओं में केयूर या अङ्गद पहने जाते थे। हुएन-सांग ने लिखा है कि राजाओं के सिंहासन ऊँचे और तङ्ग होते थे। उनमें मोतियों की झालरें लगी रहती थीं। सिंहासन के नीचे रत्नों से भूषित एक पाद-पीठ रक्खा रहता था। राजा उसी पर पैर रखता था। सामन्त और उच्चपदाधिकारी उसी पर सिर रख कर प्रणाम करते थे। राजा शासक था और न्यायाधीश भी। धर्म-शास्त्र में पारङ्गत पण्डितों के साथ बैठ कर प्रति दिन वह स्वयं ही वादियों और प्रतिवादियों के अभियोगों को सुनता और उनका फ़ैसला करता था। प्रति दिन मन्त्रियों के साथ गुप्त मन्त्रणायें करने के लिए एक सभा होती थी। उसमें पहले वाद-विवाद होता था और तब कोई विचार स्थिर किया जाता था। ये सब बातें बड़ी गुप्त रक्खी जाती थीं। गुप्त भेद लेने के लिए जासूस रक्खे जाते थे। उनका काम शत्रुओं ही की ख़बर रखना नहीं था, किन्तु मित्रों का भी हाल-चाल देखते रहने की उन्हें आज्ञा थी। राजा को प्रति दिन अपनी प्रजा को दर्शन देना पड़ता था। जान पड़ता है, इसके लिए एक झरोखा बना रहता था। जब अग्निवर्ण अन्तःपुर में ही रहने लगा तब मन्त्रियों से बाध्य किये जाने पर उसे अपना पैर एक खिड़की में लटकाना पड़ा। प्रजा ने उसके पैरों ही के दर्शन से सन्तोष कर लिया।

राजा प्रायः अपनी राजधानी में ही रहा करते थे। नगर ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न होते थे। उसके चारों ओर एक परकोटा घिरा रहता था। वहाँ बड़ी बड़ी ऊँची अट्टालिकायें बनी रहती थीं। राज-मार्ग खूब चौड़े और साफ़ होते थे। उन पर पानी का छिड़काव किया जाता था। बावलियों की संख्या अगण्य थी। घर के भीतर दीवालों पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। भारतीयों को बाग़-बग़ीचे लगाने का बेहद शौक़ था। बाग़ों में स्त्री-पुरुष घूमने जाते थे। प्रत्येक नगर के आस-पास बाग़ बने रहते थे और उनमें वसन्तोत्सव के समय लोगों की ख़ूब भीड़ होती थी। इन बाग़ों के सिवा सभी श्रीमानों के घरों में पुष्पोद्यान होते थे। जब गरमी खूब पड़ने लगती थी तब अमीर ऐसे मकानों में रहते थे जिनमें जल के फ़ौवारे चला करते थे। फ़र्श पर चन्दन का छिड़काव किया जाता था। फूलों की शय्या बनाई जाती थी। नगर में सैकड़ों बड़े बड़े मन्दिर थे। उनमें देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित थीं जिनकी पूजा-अर्चना बड़ी धूमधाम से की जाती थी।

राजाओं को शिकार खेलने का भी ख़ूब शौक़ था। राजा राजसी ठाठ के साथ शिकार खेलने के लिए निकलता था। उसके साथ कितने ही शिकारी और कर्मचारी जाते थे। शिकार खेलने के लिए शिकारी कुत्ते पाले जाते थे। कभी कभी राजा के साथ कुछ स्त्रियाँ भी जाती थीं। मेगास्थनीज़ ने भी लिखा है कि शिकार के समय चन्द्रगुप्त को सैकड़ों स्त्रियाँ घेरे रहती थीं। अभिज्ञान-शाकुन्तल में ऐसी स्त्रियों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

राजाओं का अन्तःपुर सौन्दर्य और विलास का निवास-स्थान था। अन्तःपुर में द्वार-रक्षक का पद कञ्चुकी को दिया जाता था। जब राजा अन्तःपुर में हो तब उससे भेंट करने के लिए कञ्चुकी के द्वारा ख़बर भेजनी पड़ती थी। आवश्यक काम होने पर मन्त्री अन्तःपुर में जा सकता था। राजाओं में बहुपत्नी-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। सभी राजाओं की एकाधिक रानियाँ होती थीं। इनके सिवा दासियाँ भी वहाँ रहा करती थीं। अन्तःपुर में सदैव आमोद-प्रमोद होते रहते थे। नृत्य और सङ्गीत की धूम मची रहती थी। इसकी शिक्षा देने के लिए बड़े बड़े कला-कोविद नियुक्त होते थे। वाद्यों में मृदङ्ग और

वीणा का प्रचार था। स्त्रियाँ वीणा ही बजाया करती थीं। चित्र-कला में भी वे दक्ष होती थीं। स्त्रियाँ साड़ी पहना करती थीं। चोली का भी प्रचार था। पर्दे का रवाज नहीं था। तो भी बाहर निकलने पर स्त्रियाँ मुँह पर घूँघट डाले रहती थीं। उनके अलङ्कारों में काञ्ची और नूपुर मुख्य थे। वे आँखों में कज्जल और पैरों में महावर लगाती थीं। केशों को फूलों की माला से बाँधा करती थीं। फूलों के गहने पहनना उन्हें खूब पसन्द था। मदिरा का प्रचार था। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास के समय में शराब पीने की आदत खूब बढ़ गई थी। स्त्री-पुरुष दोनों खुल्लमखुल्ला शराब पीते थे।

कालिदास के समय में सामाजिक व्यवस्था वैसी ही थी जैसी आज-कल है। हिन्दू-समाज चार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मणों का बड़ा मान और आदर था। प्रत्येक वर्ण के मनुष्य अपने ही वर्ण में विवाह करते थे। सती की प्रथा का ज़ोर नहीं था। मिट्टी के बर्तन भी काम में लाये जाते थे। स्पर्शास्पर्श का विचार था।

राज्य-शासन का समस्त भार राजा ही पर था। वही अपने विस्तृत राज्य का निरीक्षण करता था। अपनी प्रजा के साथ राजा सदैव सद्व्यवहार करता था। शासन कठोरता से नहीं किया जाता था। राज्य की आमदनी का मुख्य द्वार भूमिकर था। उपज का छठा हिस्सा भूमिकर के रूप में लिया जाता था। प्रजा सन्तुष्ट और सुखी थी। वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नतावस्था थी। बड़े बड़े व्यापारी जहाज़ों पर चढ़ कर दूर दूर देश जाते और वहाँ व्यापार करते। चोरों और डाकुओं का कम भय था। चोरों को प्राण-दण्ड दिया जाता था। सोने के सिक्कों का प्रचार था। राज्य-कर्मचारी घूस लिया करते थे। सेना-विभाग की अच्छी व्यवस्था थी। सेना के चार भाग थे—पैदल, सवार, रथ और हाथी। शिक्षा का अच्छा प्रचार था। राजा विद्वानों का आदर करते थे।

भारतीय सभ्यता का यही चित्र कालिदास ने अङ्कित किया है। इस लेख के सङ्कलन करने में हमने द्विवेदीजी के हिन्दी-रघुवंश से सहायता ली है।

गङ्गाधरलाल श्रीवास्तव

कवि-रहस्य।

कवि होना बड़ा कठिन माना गया है। उसके लिए ईश्वर-प्रदत्त शक्ति चाहिए। कहावत प्रसिद्ध है कि कवि बनाया नहीं जाता, वह जन्म लेकर आता है। तो भी अभ्यास से लोग कवित्व-पूर्ण पद्यों की रचना कर सकते हैं। यह सच है कि ऐसी पद्य-रचना से कोई कवियों की पङ्क्ति में नहीं बैठ सकता। पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उसकी अच्छी क़द्र होती है। इसलिए वह सर्वथा निरर्थक नहीं कही जा सकती। हिन्दी के पत्रों में जो कवितायें छपती हैं उनके विषय में हम राय देने का साहस नहीं कर सकते। पर अँगरेज़ी पत्रों के विषय में हम इतना कह सकते हैं कि वे ऐसी रचनाओं की क़द्र करते हैं जो चटपटी हों। वहाँ करुण-रस की अपेक्षा हास्य-रस का आदर अधिक है। यह उचित भी है। भला, यह बात कौन पसन्द करेगा कि हम पत्र तो उठावें मन बहलाने के लिए, पर पढ़ते ही रोने लगें। इँगलेंड में एक स्त्री-कवि, मिस जेसी पोप की पद्य-रचना ऐसी होती है कि पढ़ने में तबीयत लग जाती है। अनोखी बातों को पद्य-बद्ध करने में वे बड़ी निपुण हैं। उन्होंने एक लेख में अपने कला-कौशल का रहस्योद्घाटन किया था। उन्होंने यह बात बतलाने की चेष्टा की थी कि जन्म-सिद्ध कवित्व-शक्ति के अभाव में भी

लोग चाहें तो कवि हो सकते हैं, कम से कम पद्य-रचना करके कुछ कमा सकते हैं। जब हमने यह लेख पढ़ा तब हमारी यह इच्छा हुई कि हम इसका मर्म पाठकों को सुना दें। सम्भव है, इससे किसी का कुछ उपकार हो जाय। पर अब हम सुनते हैं कि कलकत्ते में किसी उदारचेता सज्जन ने एक दूकान खोल दी है, जहाँ घर बैठे लोग कवि बना दिये जाते हैं। यह बड़ा अच्छा हुआ। कदाचित् यही कारण है जो अब हिन्दी के समाचार-पत्रों में कविताओं की खूब धूम रहती है।

पाश्चात्य देशों में पत्र-सम्पादकों का यह एक नियम हो गया है कि ज्यों ही किसी का कुछ नाम हुआ त्यों ही वे उसका रहस्य जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्यों के सभी कृत्यों में कुछ न कुछ रहस्य छिपा रहता है। यदि हम वह रहस्य जान लें तो उससे हम पूरा लाभ उठा लें। यह जानने की हमारी बड़ी इच्छा है कि हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि किस तरह कविता-रचना करते हैं। उनकी कविता-कामिनी का निवास-स्थान हृदय में है या मस्तिष्क में? वे भावों के उद्रेक से कविता लिखते हैं या मस्तिष्क की उत्तेजना से? अपनी रचना में उन्हें कभी अड़चन भी होती है कि नहीं? यदि कभी किसी तरह की अड़चन होती है तो वे उसे किस तरह पार करते हैं? किन्तु ये सब बातें जानने का कोई उपाय नहीं। अतएव वर्तमान हिन्दी-कविता का रहस्योद्घाटन करना सम्भव नहीं। एक बार हमें उसका आभास ज़रूर मिला था। हिन्दी के एक पत्र में कवि नाम का एक चित्र प्रकाशित हुआ था। उसमें दिखलाया गया था कि सरोवर के किनारे बैठ कर एक कवि कविता लिख रहा है। पर हम नहीं कह सकते कि हिन्दी के सभी कवि इस प्रथा का अनुकरण करते हैं। ख़ैर, हिन्दी के कवि अपने कला-कौशल गुप्त ही रक्खें। यहाँ हम अपने पाठकों को मिस जेसी पोप के कला-कौशल का रहस्य बतलाते हैं। यह आप उन्हीं के मुख से सुनिए। पर उनके कथन में हमने जगह जगह पर अपनी ओर से कुछ लिख दिया है। उसका उत्तरदायित्व हम पर है।

"सम्पादक महोदय ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं पाठकों को बतलाऊँ कि मैं किस तरह कविता लिखा करती हूँ। भला, यह भी किसी तरह बतलाया जा सकता है। कवि तो ईश्वरीय शक्ति की प्रेरणा से भावोन्मेष में कविता की रचना करता है। यदि मुझमें भी ईश्वरीय शक्ति का कुछ अंश होता तो मैं सम्पादक की इस प्रार्थना को अपमान-जनक समझती। पर बात यह है कि मुझमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा नहीं है। मैं तो तुक्कड़ हूँ। इसलिए सम्पादक महोदय का आज्ञा-पालन करना मेरे लिए दुष्कर नहीं है। सच तो यह है कि मेरी कला बड़ी सरल है, मुझे आश्चर्य इसी बात का है कि सभी लोग कवि क्यों नहीं हो जाते। पद्य-रचना से सबसे बड़ा लाभ यह है कि समय अच्छी तरह कट जाता है। जहाँ तबीयत घबराने लगी वहाँ एक कोने में बैठ कर कविता लिखने लगे। बस, समय कट गया। दूसरी बात यह कि अपने मित्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने का सबसे सुगम उपाय यही है और, सामयिक पत्रों के सम्पादकों की दया से इससे अर्थ की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार यह पद्य-रचना चतुर्वर्ग-प्राप्ति का साधन है।

कवियों के लिए दो चीज़ों की बड़ी ज़रूरत है एक तो बढ़िया फ़ाउन्टेन पेन, दूसरा कोरा काग़ज़। जो अभी छोटे कवि हैं उन्हें चाहे एकाध चीज़ की और ज़रूरत पड़े (उदाहरण के लिए एक कोश और मस्तिष्क)। पर प्रायः ऐसा होता है कि कोरे काग़ज़ पर दीर्घ-काल तक दृष्टि जमाये रहने से कविता के रूप में कुछ न कुछ प्रकट हो ही जाता है। काग़ज़ और क़लम के बाद कवि के लिए एकान्त स्थान होना चाहिए, मात्रा और छन्द का

ज्ञान होना चाहिए और मस्तिष्क में शब्दों का भाण्डार होना चाहिए, जिससे बार बार कोश देखने की ज़रूरत न पड़े। इसके साथ उसमें अदम्य उत्साह भी होना चाहिए। कवियों को तरह तरह की अड़चनों से सामना करना पड़ता है। उनसे घबड़ा कर कविता करना छोड़ नहीं देना चाहिए।

सबसे पहले कवि को यही सोचना पड़ता है कि क्या लिखूँ। जिसको यह सोचने की ज़रूरत पड़े उसमें यह सोचने की भी योग्यता होनी चाहिए कि क्या न लिखूँ। अर्थ की सिद्धि तभी होती है जब सम्पादकों के बाज़ार में जिन विचारों की क़द्र नहीं उन्हें दूर करने की शक्ति हो। कवि सिर्फ़ उन्हीं विचारों को पद्य-बद्ध करे जिनकी बिक्री होती है। कभी कभी मस्तिष्क में बिजली की तरह कोई विलक्षण विचार चमक उठता है। परन्तु ज्यों ही उसे काग़ज़ में व्यक्त करो, उसकी चमक जाती रहती है। कभी कभी विचार इधर से आता है और उधर से निकल जाता है। विचार बड़े ही चपल होते हैं। मैं तो यह समझती हूँ कि इन मछलियों को फन्दे में फँसाना सहज नहीं है। एक बार मुझे एक कविता के अन्तिम दो चरण बनाने थे। मुझे एक विचार की ज़रूरत थी। मैं फन्दा लिये बैठी ताक रही थी, यह आया, आ गया, तुरन्त ही फन्दे में फसाना चाहा। इतने में किसी ने बाहर से दरवाज़े को खटखटाया। मछली भाग गई। मैंने विरक्त होकर दरवाज़ा खोल दिया। छोटे छोटे कवियों को ऐसी ही बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसके लिए एकान्त स्थान की बड़ी ज़रूरत है।"

छन्द और मात्रा के साथ ही शब्दों की गति का भी ज्ञान बड़ा आवश्यक है। कहानी प्रसिद्ध है कि किसी ने एक जाट से कहा, "जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट"; जाट ने उत्तर दिया 'तेरे सिर पर कोल्हू'। उस आदमी ने कहा, "भाई, तुक तो नहीं मिला।" जाट बोला, "न मिले। मुझे क्या परवा।" पर कवि को इसकी परवाह करनी पड़ती है। इसके लिए उसे अपने कानों को शिक्षा देनी चाहिए।

लोग कहा करते हैं कि 'बात अनोखी चाहिए भाषा चाहे जैसी होय।' पर यह बात ठीक नहीं है। विचारों के लिए कोई कवि नहीं रुकता, रुकता है तो भाषा के कारण। हमारा यह ख़याल है कि मनुष्य के मस्तिष्क के दो भाग हैं, एक गद्य-भाग और दूसरा पद्य-भाग। बात पहले गद्य-भाग में आती है, फिर वह पद्य-भाग में जाती है और तब उसका रूप दिव्य हो जाता है। 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' गद्य-भाग का है और पद्य-भाग में उसका रूप हो जाता है 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः।' अच्छा, अब एक उदाहरण लीजिए।

गद्य-भाग—यह एक वृक्ष है। इसका नाम शाल है। देखो, यह कितना ऊँचा है, ज़मीन को फाड़ कर यह आकाश को छू रहा है। यहाँ चिड़ियाँ बसेरा करती हैं। यह ख़ूब हरा-भरा है। इसे देख कर आँखें ठण्डी हो जाती हैं। इसके नीचे मुसाफ़िर ठहर कर विश्राम करते हैं। यह ख़ूब मज़बूत झाड़ है। हवा इसे गिरा नहीं सकती। इसकी सुगन्धि हवा में फैल रही है। आओ, इस झाड़ को हम प्रणाम करें।

यदि हम इसे किसी पत्र-सम्पादक के पास भेजें तो वह इसे कूड़ा-कचरा समझ कर फेंक देगा। परन्तु जब हम इसे अपने मस्तिष्क के पद्य-भाग में भेजते हैं तब देखिए, इसका रूप कितना दिव्य हो जाता है। जो पढ़ेगा वही मुग्ध हो जायगा।

पद्य-भाग—

बहु कलकण्ठ खगों के आश्रय, पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव-भूतल को भेद गगन में उठनेवाले शाल, प्रणाम।
हरे भरे, आँखों को शीतल करनेवाले, तुम्हें प्रणाम।
छाया देकर पथिकों का श्रम हरनेवाले तुम्हें प्रणाम।
अटल अचल, न किसी बाधा से डरनेवाले, तुम्हें प्रणाम।
शुद्ध सुमन-सौरभ समीर में भरनेवाले, तुम्हें प्रणाम।

यह एक उत्कृष्ट कविता है। कविता में जो जो गुण होने चाहिए वे सब इसमें हैं। इसमें माधुर्य है, भाषा-सौष्ठव है और वह भाव है जो पाठक को क्षण भर पृथ्वी से हटा कर ऊँचे ले जा सकता है।

कविता का प्रधान गुण है भाव और भाषा की सरलता। छोटे कवियों के लिए यह सबसे बड़ा आवश्यक गुण है। आपको जो कुछ कहना हो साफ़ साफ़ कह दीजिए। मिस जेसी पोप ने यह बिलकुल ठीक कहा है—"The public won't waste time in pondering over the meaning of a minor poet; they will only suffer unintelligibility from a genius." भला, लोग किसी क्षुद्र कवि का अर्थ समझने का प्रयास क्यों उठावेंगे। हाँ, किसी प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि का अर्थ-गौरव न समझने पर सभी उसकी विलक्षणता पर मुग्ध हो जायँगे। भाव और भाषा की सरलता का एक बड़ा अच्छा उदाहरण नीचे दिया जाता है—

प्यारी बहिन सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें ख़ज़ाना।
है इस पर अधिकार तुम्हारे बेटे का मनमाना॥

यह तो सभी जानते हैं कि कवि अपनी कल्पना के ज़ोर से कविता लिखता है। पर यह बात शायद ही किसी को मालूम हो कि अख़बारों से कल्पना की गति बड़ी तीव्र हो जाती है। मतलब यह कि अख़बारों से कविता के लिए बड़ा मसाला मिल जाता है। अँगरेज़ी में एक कविता ख़ूब प्रसिद्ध है। उसका नाम है The Burial of Sir John Moore उसकी रचना उल्फ़ नामक एक कवि ने की है। इसी एक कविता से उल्फ़ का नाम अँगरेज़ी-साहित्य में अक्षय हो गया है। जब वह कविता पहले पहल प्रकाशित हुई तब कुछ लोगों ने समझा कि लार्ड बायरन ने उसकी रचना की है। बायरन ने कहा, "भाई, यह कविता मेरी नहीं है। यदि यह मेरी कविता होती तो मुझे इसका बड़ा गर्व होता।" जिस कविता की इतनी तारीफ़ है उसका मूलाधार अख़बार का एक कतरन था। लांगफ़ेलो नाम कवि ने अख़बार के एक कतरन पर एक बड़ी सर कविता लिखी है। खोज करने से ऐसे कित ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। हम हिन्दी कवियों को सलाह देते हैं कि वे अख़बारों मसाला सङ्ग्रह किया करें। तब उनके पास विचार की इतनी विशाल-राशि खड़ी हो जायगी कि भी कहने लगेंगे, 'बादल से चले आते हैं मज़ मेरे आगे।'

हिन्दी के कवियों के लिए अलङ्कारों का ए बड़ा झमेला है। नवीन छन्दों की अब काफ़ी संख हो गई है। पर अलङ्कार पुराने ही हैं। इसी से मे नहीं खाता। प्राचीन-काल के कवि प्राकृतिक दृश से अलङ्कारों की सृष्टि करते थे। अब नगरों वृद्धि होने के कारण कवि प्रकृति का आश्रय ग्रह नहीं कर सकते। उन्हें एक छोटे कमरे में कुर्सी बैठ कर अनन्त प्रकृति का विलास कल्पना द्वा देखना पड़ता है। इससे मस्तिष्क पर बड़ा ज़ पड़ता है। पाश्चात्य सभ्यता की वृद्धि से अब क अपनी कविता-कामिनी के पैरों में नूपुर के स्थ में बूट जकड़ देते हैं और कलाई में कङ्कण का स्थ रिस्टवाच के चमड़े के बन्द को दे डालते हैं। इस कविता-कामिनी का रूप स्वाभाविक हो जाता उनका भाषा-परिच्छद भी अल्पात्यल्प हो रहा बङ्गाल में हरिप्रसाद शास्त्रीजी ने इन क्षु कविताओं पर एक बार बड़ा रोष किया था पर हमारी समझ में वर्तमान कविता का स्वाभाविक रूप है। अब उदाहरण लीजिए। एक आधुनिक वियोगिनी का वर्णन करना वियोग-व्यथा के वर्णन में संस्कृत-शब्दों का अधि प्रयोग करना चाहिए। इससे गम्भीरता आ जा है। अतएव हम उसे यों कहेंगे 'नई भोली भाली जिसमें सुराग की लाली थी, अब ऐसी कुम्ह जैसी कैरवाली अथवा ग्रस्त-चन्द्र की उजियाली

यह मूर्छित पड़ी हुई है। बिलकुल चुप है, बोलती तक नहीं। हाय, हाय, इस कुमुद्वती को किसने जल से भिन्न किया, किसने अपने तीक्ष्ण करों से इसे छिन्न कर दिया। आँखें भर भर कर सखियाँ उसे जगा रही हैं। पर भयङ्कर, खरतर, शोक है। चैतन्य मोह से बढ़ कर है।" यह तो गद्य-भाग हुआ। अब इसे पद्य-भाग में ले जाइए। देखिए, कैसी अच्छी कविता बन कर निकलती है।

यह नई वधू भोली भाली,
जिसमें सुराग की थी लाली।
कुम्हलाई कि ज्यों कैरवाली—
या ग्रस्त-चन्द्र की उजियाली।
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई—
यह कुमुद्वती जल-भिन्न हुई।
भर भर कर भीति भरी अँखियाँ,
करती थीं उसे सजग सखियाँ।
पर शोक भयङ्कर खरतर था—
चैतन्य मोह से बढ़ कर था।

आप अपनी कल्पना के द्वारा कुर्सी-टेबिल से सज्जित एक कमरे को देखिए। बीचोंबीच एक कोच पड़ा है। उस पर सुशिक्षिता नायिका मौन पड़ी हुई है। आँखें वियोग के दुःख से बन्द हैं। इतनी कल्पना कर लेने के बाद आप उपर्युक्त पद्यों को पढ़िए। देखिए, कितना मौज़ूँ है। रस का विपर्यय अवश्य हो जायगा। करुण-रस हास्य-रस हो जायगा और हास्य-रस करुण-रस में परिणत हो जायगा। यदि हिन्दी के कोई कवि हास्य-रस का आचार्य होना चाहते हैं तो उनके लिए यह एक अच्छी कुञ्जी है।

बस, अभी कवि का इतना ही रहस्य हम जान सके हैं।

मौजी

डपोर शंख।

श्वेत वर्ण है अंग हमारा, अलग सभी से ढंग हमारा।
कहते हैं करते हम नहीं, जग अपयश का है ग़म नहीं॥ १॥
ऊपर उज्ज्वल भीतर काला, हमें मिला है काम निराला।
दो माँगे तो देते चार, वचन-मात्र का है सत्कार॥ २॥
जलधि बीच से हम हैं आये, आकर अपना रंग जमाये।
हैं डपोर शंखों के भूप, हृदय कुटिल है सुन्दर रूप॥ ३॥
वचन हमारा जिसको भाया, उसने निश्चित धोखा खाया।
पाप हमें है सच का कहना, सजग सभी से सब दिन रहना॥४॥
भेद सभी के लेते हम, अपने भेद न देते हम।
मिल कर भी अनमिल रहते हैं, पग पग पर परिभव सहते हैं॥५॥
जहाँ जहाँ पर हम जाते हैं, सभी वहाँ पर दुख पाते हैं।
पूजा लेकर देते नाम, सभी हमारे अद्भुत काम॥ ६॥
आशा के लासे से हम, किसको नहीं फँसाते हम।
निशिदिन करते यही तमाशा, किसे न हमसे हुई निराशा॥७॥
थे अछूत हो गये पवित्र, दिव्य चित्र है चरित विचित्र।
ऊँचा आसन हमें मिला है, ज्यों जवास मणि-भूमि खिला है॥८॥
चिन्तामणि है छोटा भाई, किन्तु चतुरता उसे न आई।
जो माँगे सो दे देता है, हमसे मन्त्र नहीं लेता है॥ ९॥
बातों के हम देते दान, देते मूढ़ हमें सम्मान।
किसने कब क्या हमसे पाया, है दुर्ज्ञेय हमारी माया॥१०॥
भड़कीला है ठाठ हमारा, "मतलब लेना" पाठ हमारा।
हमें दया का लेश नहीं है, अन्य दुःख से क्लेश नहीं है॥११॥
धोखे का है धर्म हमारा, कठिन क्रूर है कर्म हमारा।
जिसका हमने पकड़ा हाथ, लगी विपत्ति उसी के साथ॥१२॥

रामचरित उपाध्याय।

मोती।

समाचार-पत्रों के पाठकों को मालूम होगा कि गत मई मास में विलायत में मोतियों के सम्बन्ध में एक बड़ी सनसनी फैल गई थी, लन्दन के बाज़ार में कुछ समय से एक ख़ास प्रकार के जापानी मोती बिकने लगे हैं। अफ़वाह

उड़ी है कि ये मोती कृत्रिम हैं, प्राकृतिक नहीं—बस मोती के मालिकों और व्यवसायियों के होश काफ़ूर हो गये; क्योंकि उनकी कृत्रिमता का न तो कोई प्रमाण था, न पहचान थी। क्षीर-नीर का विवेक हो तो कैसे हो? ख़ैर।

+ + +

मोतियों की पैदाइश विशेषतः कुछ ऐसी सीपियों से होती है जो नातिशीतोष्ण प्रदेश के समुद्रों में पाई जाती हैं। सीपी के शरीर के दो भाग होते हैं—एक कोमल, दूसरा कड़ा। वास्तव में कोमल भाग ही शरीर है—कड़ा भाग तो उसका आवरण-मात्र है। इस कोमल भाग में समुद्र जल से "कैलसियम कार्बोनेट" नामक रासायनिक पदार्थ अलग कर देने की क्षमता है। इसी पृथक्कृत पदार्थ से उसके कड़े आवरण की सृष्टि होती है, और यह बात प्रत्येक सीपी में पाई जाती है। सच पूछिए तो जब तक यह अवस्था जारी रहती है तब तक 'मोती' नहीं बनता—मोती का निर्म्माण सीपी के जीवन में एक असाधारण घटना है। सीपी के पेट में स्वाति-नक्षत्र की जल-बूँद पहुँचने से मोती बनता है—यह बात हममें से बहुतों ने सुनी होगी। समीक्षा और परीक्षा से मालूम होता है कि तीस-चालीस सीपियों के बीच एक के ही पेट में मोती मिलता है। तो बात क्या है? स्वाति-नक्षत्रवाली बात में प्रकारान्तर से बहुत कुछ सत्यता है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सीपी के पेट में किसी बाहरी वस्तु के प्रवेश होने या उसमें किसी प्रकार की उत्तेजना पहुँचने या विकार उत्पन्न होने से ही वहाँ मोती की सृष्टि शुरू होती है। हो सकता है उसके पेट में बालू का एक कण पहुँच गया हो, सम्भव है कोई कीटाणु वहाँ जाकर उसे पीड़ा पहुँचा रहा हो। मोटी बात यह है कि सीपी उस दर्द को दूर करने के लिए उस स्थान को एक पदार्थ-विशेष से घेरना शुरू कर देती है। यह पदार्थ क्रमशः गोल रूप धारण करता जाता है और अन्त में यही मोती कहाता है। रासायनिक दृष्टि से यह मुख्यत "कैलसियम कार्बोनेट" है और पदार्थों में सीप क श्रेणी का है। सीपी के पेट में जितने विकार उत्पन्न होंगे उतने ही मोती भी बनेंगे। भारत महासाग की एक सीपी से ८७ मोती निकले थे। सीलोन क एक सीपी के पेट में ६७ मोती थे।

समुद्र के एक अच्छे मोती का विशिष्ट गुरुत्व २.६५० और २.६८६ होता है। 'एसिड' में मोती गल जाते हैं। क़िस्सा है कि मिश्र देश की रान क्लियोपैट्रा एक बड़े मोती को (Vinegar) सिरक में गला कर पी गई थी।

मोती विभिन्न आकार के होते हैं—कोई गोल कोई अण्डाकार और कोई नाशपाती की सी शक का। उनके रङ्ग भी तरह तरह के होते हैं। प उनका सबसे बड़ा गुण उनकी दमक है। मेक्सिक के मुहाने में काले मोती मिलते हैं। धनी लोग उन श्राद्ध-काल में पहनते हैं। पर यदि उनकी दम ठीक हो तो वे भी उतने ही महँगे बिकते हैं जित कि सफ़ेद मोती। अच्छे मोती में दाग़-दरार न होन चाहिए। और जवाहरात की अपेक्षा मोती जल्द न हो जाते हैं। हीरा खरादने से दीप्तिमान् बनाया ज सकता है, मोती नहीं। पुराने मोतियों में चमक-दम लाने के लिए कुछ लोग उन्हें समुद्र-जल में डुब देते हैं, कोई उन्हें मुर्गियों और बतकों से निगलवा हैं, पर सच पूछा जाय तो ऐसे प्रयत्न आज त सफल नहीं हुए। अतएव मोतियों को बड़े य से रखना चाहिए, पसीने और सङ्घर्षण से जहाँ त हो सके उनकी रक्षा करनी चाहिए।

मोतियों का साइज़ एक नहीं होता, हाँ ब साइज़ के मोती कम मिलते हैं। १९०३ में ईरान शाह के पास एक मोती था जिसकी लंबाई थी मिलिमिटर और मुटाई २५ मिलिमिटर। लड़ाई पहले आस्ट्रिया के बादशाह के ताज में एक मो

३०० करट वज़न का था। मास्को के अजायबघर में २८ करट वज़न का एक बिलकुल गोल, सफ़ेद मोती है। यह हिन्दुस्तान में मिला था। आस्ट्रेलिया के पास १८८६ में नौ बड़े और सफ़ेद मोती एक 'क्रास' के रूप में जुड़े हुए मिले थे। इनकी क़ीमत कूती गई थी १०,००० पौंड। हेनरी फिलिप होप नामक एक साहब के पास एक मोती ४५४ करट वज़न का था।

आभूषणों के अलावा मोती दवा के काम भी आते हैं। सुश्रुत में इनका ज़िक्र है। आयुर्वेद के अनुसार यह पहले जयन्ती के पत्रों या बकपुष्पों के साथ उबाल कर शुद्ध किये जाते हैं। फिर इनका चूर्ण बनाया जाता है। मोती की भस्म, मूँगे की भस्म के साथ विशेषतः मूत्र रोग और क्षय-रोग में दी जाती है। यूनानी हकीम भी इसे कई बीमारियों में देते हैं। उनका विश्वास है कि यदि मोती की अपरिपक्वावस्था में उसका लेप किया जाय तो कुष्ठ रोग दूर हो सकता है। कुछ लक्ष्मी के लाल मोती भस्म का, पान में चूने की जगह, व्यवहार करते हैं।

अति प्राचीन काल से ईरान की खाड़ी में मोती-वाली सीपियाँ मिलती हैं। इस व्यवसाय का प्रधान केन्द्र लङ्का है। यहाँ के मोती कुछ पीलापन लिये होते हैं। इनकी खपत विशेषतः बम्बई में होती है।

पर व्यवसाय-दृष्टि से सीपी-संग्रह का मुख्य स्थान है मनार की खाड़ी—भारतमहासागर में, भारत और लङ्का-द्वीप के बीच। वहाँ समुद्र में—तटभूमि से ६ और १२ मील के फ़ासले पर—बहुत सी रेतियाँ पड़ गई हैं और उनका सिलसिला लम्बाई में ६० मील तक चला गया है। यही रेतियाँ सीपियों की निवास-भूमि हैं। सीपियाँ कुछ लम्बे तन्तुओं के सहारे उनसे लटकी रहती हैं। साधार-

जिन सीपियों में कृत्रिम मोती तैयार हो गये हैं उन्हें ये जापानी बालिकायें निकाल कर ऊपर ले जारही हैं।
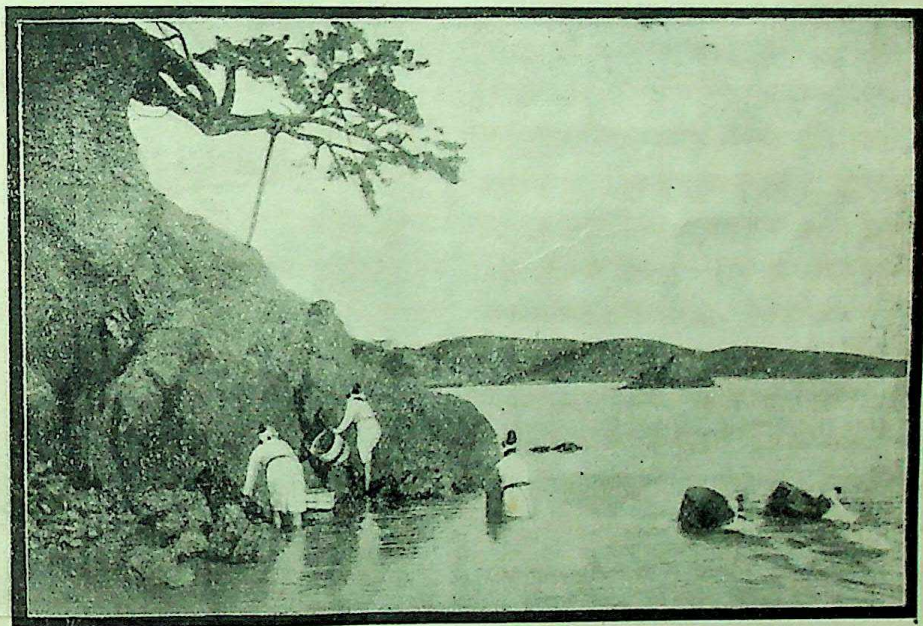
णतः वे जल की सतह से ३० और ६० फुट के बीच नीचे रहती हैं। पर वे सदा एक ही जगह नहीं रहतीं और यही कारण है कि कभी कभी उनका पता लगाना असम्भव हो जाता है।

इस प्रदेश में सीपी-सङ्ग्रह का काम कब शुरू हुआ, यह कोई नहीं जानता। १३३० ईसवी में यहाँ इस व्यवसाय में ८ हज़ार नौकायें लगी थीं। १६ वीं सदी में इस प्रदेश पर पोर्टुगीज़ों का अधिकार था। फिर डचों का अधिकार हुआ। ब्रिटिश आधिपत्य १७६४ से प्रारम्भ होता है। सरकार को इस समय इस व्यवसाय में खासा लाभ है।

एक जापानी विशेषज्ञ रंगरूप, आकार-प्रकार के अनुसार कृत्रिम मोतियों को अलग कर रहा है।

ऊपर के कोने के चित्र में दिखाया गया है कि सीपी के पेट में विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु किस प्रकार रक्खी जाती है।

सीपी-संग्रह की जो रीति इस समय प्रचलित है वह बहुत—बहुत—पुरानी है। काम मार्च-मास में शुरू होता है और क़रीब ६ हफ़्ते तक जारी रहता है। ६० से ७० नावें एक साथ काम करती हैं। सब आधी रात को तट से रवाना होती हैं और सुबह होते होते सीपियों की रेतियों के पास पहुँच जाती हैं। नाव पर एक व्यक्ति ऐसा अवश्य रहता है जो मगरों को मन्त्र-मुग्ध करना जानता है। कम से कम डुबकी लगानेवालों का उसमें अन्धविश्वास होता और बिना उसे नाव पर लिये वे जल में डुबकी लगाने का साहस नहीं कर सकते। कार्य्य-समय होने पर धड़ाके की आवाज़ होती है और डुबकी लगानेवाले अपना काम शुरू कर देते हैं। एक मोटे रस्से में कु

आधे मन का एक पत्थर बँधा रहता है। उसी को पकड़ कर गोताख़ोर नीचे जाता है। दूसरा नाव पर रस्से की निगरानी करता है। हद से हद गोताख़ोर नीचे ८० सेकंड तक रहते हैं, यद्यपि कोई कोई ६ मिनट तक भी रह गये हैं। एक मनुष्य दिन भर में ४० से ५० डुबकियाँ लगाता है और एक नाव रोज़ क़रीब बीस हज़ार सीपियाँ सङ्ग्रह करती है। दोपहर को फिर एक धड़ाका होता है और काम बन्द हो जाता है। नावें लौटती हैं। किनारे पर आकर सीपियाँ भूमि पर फैला दी जाती हैं। चतुर्थांश गोताख़ोरों को दे दिया जाता है। जब सीपियाँ ख़ूब सड़ जाती हैं तब उनके भीतर से खोज खोज कर मोती निकाले जाते हैं। फिर वे रूप रङ्ग, आकार-प्रकार के अनुसार अलग किये जाते हैं और नीलाम कर दिये जाते हैं।

मनार की खाड़ी के अलावा सीपियाँ और स्थानों में भी मिलती हैं। जर्मनी, इँग्लैंड और चीन में एक ख़ास तरह की मछली के पेट से भी छोटे मोती निकलते हैं। १६१६ में लिवरपुल में पता लगा था कि कुछ जानवरों के सड़े मांस में भी बहुत छोटे छोटे मोती पाये जाते हैं।

बर्मा-तट पर मर्गुई द्वीप-पुञ्ज के पास भी सीपी-संग्रह का काम होता है। आज-कल यह व्यवसाय विशेषतः जापानियों के हाथ में है। १६१२ और १६१७ के बीच वहाँ क़रीब ढाई लाख के मोती निकले थे। भारतवर्ष में मोतियों के व्यवसाय का प्रधान स्थान बम्बई है।

अब जापान के "कृत्रिम" मोतियों के सम्बन्ध में दो चार बातें लिखी जाती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि सीपी के पेट में विकार की उत्पत्ति ही मोती के निर्म्माण का एक-मात्र कारण है। कई सौ बरस पहले चीन-निवासियों ने सोचा कि यदि मोती की मा के पेट में यह विकार प्रकृति उत्पन्न कर सकती है तो मनुष्य क्यों नहीं कर सकता। तब से वे बराबर अपने यहाँ के मत्स्यविशेष के पेट में प्रयोग विशेष द्वारा विकार उत्पन्न कर उससे छोटे छोटे मोती प्राप्त करते आ रहे हैं। १८७६ में मिस्टर कोकीची मिकिमोटो नामक एक जापानी व्यवसायी और वैज्ञानिक का ध्यान इस ओर गया। १८६० में उन्होंने इस प्रक्रिया से कुछ मोती तैयार भी किये और टोकियो की प्रदर्शिनी में उन्हें दिखाया। पर पूर्ण सफलता उन्हें अभी न हुई थी, इसलिए आप परीक्षा करते ही गये। बहुत समय और धन ख़र्च करने के बाद आज से ६-७ बरस पहले उनका अभीष्ट सिद्ध हुआ। और तब से बाज़ार में ऐसे "कृत्रिम" मोती चलने लगे। इँग्लैंड में उन्होंने पारसाल अपना माल बेंचना शुरू किया।

जापान के कई द्वीपों के पास मिस्टर मिकिमोटो ने जल और स्थल का बहुत सा भाग ले रक्खा है। वहाँ सीपी-सङ्ग्रह का काम बालिकायें करती हैं। जुलाई और अगस्त में वे सीपियों की रेतियों पर पत्थर के छोटे-बड़े टुकड़े रख देती हैं। कुछ काल में उनके चारों ओर सीपियाँ लग जाती हैं। फिर वे टुकड़े हटा कर गहरे पानी में रक्खे जाते हैं और वहाँ तीन बरस तक रहते हैं। बाद को वे वैज्ञानिक प्रयोगशाला में लाये जाते हैं। वैज्ञानिक, सूक्ष्म-प्रयोग द्वारा, प्रत्येक सीपी के पेट में 'सीप' नामक पदार्थ का एक छोटा सा कण रख देता है। बस बाक़ी काम सीपी आपही कर लेती है, और चार बरस के बाद मोती तैयार हो जाता है। इस बीच में ये सीपियाँ समुद्र में ही रहती हैं। काम अच्छे मुनाफ़े का है, पर झञ्झट भी बहुत हैं। कई दफ़े सीपियाँ समुद्र से निकाली और उसमें रक्खी जाती हैं। सात बरस तक मोती की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस बीच में कितनी ही सीपियाँ मर जाती हैं, कितनी ही लापता हो जाती हैं। मिस्टर मिकिमोटो ने अपने सारे प्रयोगों का हाल गुप्त रक्खा है। सीलोन की

एक विलायती कम्पनी ने उनसे कुछ सीखने की चेष्टा की थी, पर उन्होंने कुछ सिखाया नहीं। आज तक संसार में यह किसी को नहीं मालूम कि मिस्टर मिकिमोटो रङ्गीन मोती कैसे तैयार करते हैं। उनकी प्रयोग-शाला के रहस्यों का पता कोई भी न पा सका।

इधर विलायत में कृत्रिम और प्राकृतिक मोतियों की पहचान निकालने की बड़ी चेष्टाएँ हो रही हैं। पहले कहा गया था कि "एक्स" किरणों की सहायता से कृत्रिम मोती पहचाने जा सकते हैं, पर बात झूठी साबित हुई। वास्तव में दोनों का सादृश्य विलक्षण है। और क्यों न हो? सीपी के पेट में विकार उत्पन्न होने से प्राकृतिक मोती निकलते हैं और कृत्रिम भी। फ़र्क यही है कि पहले में विकार प्रकृति उत्पन्न करती है और दूसरे में मनुष्य। और यही कारण है कि बहुत से लोग कृत्रिम को नक़ली कहना भी नहीं चाहते।

हृदय में रत्न धारण करने के कारण सीपी को कालकवलित होना पड़ता है। बहुत पहले एक अँगरेज़ कवि ने दर्द भरे दिल के साथ यह पूछा था कि—

इटली! इटली! इतनी छबि क्यों
धारण की तुमने, हा हन्त!

हाल में एक ईरानी कवि को इस चिन्ता से मर्मान्तक पीड़ा हुई है कि—

धूल जहाँ की कस्तूरी से
अधिक सुगन्धित होती
जिसके स्थल-जल में मिलते हैं
ढेर ढेर मणि-मोती
उसी देश का आज विदेशी
आपस में बटवारा
करने जाते—खड़ा देखता
मुल्क तमाशा सारा!

पर सीपी सा अभागा संसार में न तो कोई जीव है, न देश है। मोती के प्रसङ्ग में "प्रियप्रवास" की यह बात बिना याद आये नहीं रहती:—

ऊधो! सीपी सदृश न कभी—
भाग्य फूटे किसी का;
मोती जैसा रतन अपना
आह! कोई न खोवे,

पारसनाथसिंह

दलित कुसुम।

(१)

हो पड़े भूमि पर फूल आज, वह गया तुम्हारा कहाँ नाज़?
जो रङ्ग-रूप था गर्व-मूल, उस पर यह कैसी पड़ी धूल।

(२)

पहले करते सब लोग चाह, अब पड़े पड़े भर रहे आह।
जो लखते थे छबि बार बार, वे करते हैं पाद-प्रहार।

(३)

जो अलि करते थे सुरसपान, तजते न तुम्हें थे एक आन।
वे आते हैं अब कहाँ पास, करते थे जिनसे नित्य रास।

(४)

हो मस्त हँस रहे और फूल, करते न तुम्हारी याद भूल।
अब पछताते तुम यदपि खूब, तब गये किन्तु अघकूप डूब।

(५)

रक्खी न जातिवालों से प्रीति, उन पर सदैव हँस की अनीति।
उन काँटों के थे हाय! काल, थे बने तुम्हारे लिए ढाल।

(६)

सब सोच छोड़ अब करो ध्यान, उनका जो है करुणा-निधान।
वे देंगे तुमको शान्ति-दान, सर्वोपरि उनका कीर्ति-गान।

स्वामीदयाल श्रीवास्तव 'मधुव्रत'

विविध विषय।

१—भारतवर्ष में विज्ञान-मन्दिर।

विज्ञानाचार्य वसु महोदय के विज्ञान-मन्दिर को कलकत्ते में प्रतिष्ठित हुए चार वर्ष भी नहीं बीत पाये कि इसी बीच में उसने संसार के नामी नामी विज्ञानाचार्यों की सहानुभूति अर्जन करली। हमारे कथन की सत्यता इस संस्था के सदस्यों की सूची देखने से सिद्ध हो जाती है। 'रायल सोसाइटी आव् लन्डन' और पेरिस की 'अकेडेमी आव् साइन्सेज़' के सभापति, प्रसिद्ध पदार्थ-विद्याविद् लार्ड रेले, स्वीडेन के अध्यापक अरहीनिअस (Arrhenius), बर्लिन के अध्यापक हैबरलांट (Haberlandt), वायना के अध्यापक मोलिस (Molisch), और संयुक्त-राज्य अमरीका के अध्यापक मिलीकेन तथा स्टेन्ले हाल जैसे संसार-प्रसिद्ध विज्ञान-शास्त्री इस संस्था के सदस्य हैं। यही नहीं योरप और अमरीका की विज्ञान-सम्बन्धिनी विद्यापीठों से इस विज्ञान-मन्दिर की कार्य-वाही की माँग दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है और वसु महोदय के लेख के फ्रेंच, जर्मन आदि विदेशी भाषाओं में अनुवाद देखने के लिए पाश्चात्य देशों के विज्ञान-प्रेमी आतुर हो रहे हैं। मतलब यह कि विज्ञानाचार्य वसु ने अपने अद्भुत पाण्डित्य से आज संसार के नामी नामी विद्वानों को चकित कर दिया है और अपनी जन्म-भूमि भारत का मस्तक ऊँचा किया है।

भारतीय सरकार ने भी वसु महोदय का समादर किया है और उन्हें आर्थिक साहाय्य पहले ही से देती आई है। अब तो उसे भारत-मन्त्री से इस बात की अनुमति मिल गई है कि जो राजकीय दान इस विज्ञान-मन्दिर को सहायतार्थ मिलता है वह उसे अब सदा मिलता रहेगा। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इस सरकारी सहायता का परिमाण सर्वसाधारण की सहायता से द्विगुण रहा करेगा। ऐसा सुना जाता है कि जो रक़म स्वयं वसु महोदय अपनी ओर से इस मन्दिर को अर्पित करनेवाले हैं उसे मिला देने से इसकी आय दस लाख रुपये हो जायगी। यद्यपि इस विराट् संस्था के लिए इतनी आय पर्याप्त नहीं तो भी इतने ही अर्थ-साहाय्य से इस मन्दिर के अद्भुत आविष्कारों से संसार को बहुत अधिक लाभ पहुँचने की आशा है।

अध्यापक वसु को योरप से लौटे अभी केवल छः महीने हुए हैं, परन्तु आपने इतने ही अल्प समय में कई एक नये आविष्कार कर डाले। अभी तक आपने अपने यन्त्रों के द्वारा वनस्पतियों की परिवेदना-शक्ति ही का ज्ञान प्राप्त किया था, किन्तु अब आपको उनके ज्ञान-तन्तुओं का भी पता लग गया है। इसी तरह के जो दूसरे सूक्ष्म अनुसन्धान आपने हाल ही में किये हैं उन सबका विस्तृत विवरण मन्दिर की सामयिक पुस्तिका में शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

आपके विज्ञान-मन्दिर की संसार में ऐसी ख्याति होगई है कि योरप और अमरीका के पोस्ट ग्रेजुएटों ने खोज के नये विधान सीखने के लिए इस विज्ञान-मन्दिर में प्रविष्ट होने के लिए आवेदन-पत्र भेजे हैं। इसके सिवा अभी तक एक प्रसिद्ध फ़रासीसी विज्ञान-शास्त्री इस मन्दिर में रह कर अपनी ज्ञान-वृद्धि करते रहे हैं।

अध्यापक वसु ने अपना कार्य-क्षेत्र बढ़ा दिया है। कलकत्ते के विज्ञान-मन्दिर में उच्चश्रेणी की वैज्ञानिक खोज का काम होगा। गङ्गाजी के तट पर स्थित सिजबेरिया के विज्ञान-मन्दिर में कृषि-विज्ञान के अनुसन्धान का कार्य होगा। इस कार्य के लिए बङ्गाल सरकार का विशेष आग्रह है। और जो विज्ञान-मन्दिर आपने दार्जिलिंग में स्थापित किया है उसमें इस बात की परीक्षा की जायगी कि वहाँ के जलवायु में वनस्पतियों के जीवन की कैसी स्थिति है। इस अनुसन्धान के लिए पाश्चात्य देश के विज्ञानाचार्यों का आग्रह है। दार्जिलिंग की प्रकृति योरप की दशा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अतएव इस सम्बन्ध की जाँच अध्यापक वसु महोदय दार्जिलिंग के अपने मायापुरी के विज्ञान-मन्दिर में करेंगे। भगवान् करे आप अपने प्रयत्नों में आशातीत सफलता लाभ करें जिससे संसार का विशेष लाभ हो और भारत का गौरव बढ़े।

२—मुसलमान नरेशों के शासन-काल में शिक्षा-प्रचार।

एक अँगरेज़ी पत्र में इस विषय पर एक बड़ा अच्छा

लेख प्रकाशित हुआ है। उसी की कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं।

इस्लाम-धर्म के आविर्भाव होने के कुछ ही समय के बाद शिक्षा की उन्नति होने लगी। सौ दो सौ वर्ष में वहाँ कितने ही अध्यात्म और शिक्षा-शास्त्र के विद्वान् हुए। सभी अपने अपने विषयों में निष्णात थे। इस्लाम-धर्म के आविर्भाव-काल में भी वहाँ शिक्षा की प्रचार-वृद्धि की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यतियों के आश्रमों और गृहस्थ के घरों में भी शिक्षा दी जाती थी। मसजिदों में कितने ही छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। चैम्बर की इनसाइक्लोपीडिया में लिखा है कि बग़दाद, बसरा, कूफ़ा और बुख़ारा में, बड़ी बड़ी पाठशालायें स्थापित की गई थीं। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में बतलाया गया है कि मामूँ ने ख़ुरासान में एक बड़े भारी विद्यालय की स्थापना की थी। इसमें अच्छी योग्यता के ही अध्यापकों की नियुक्ति होती थी। अध्यापकों का धार्मिक विश्वास उनकी नियुक्ति में बाधक नहीं था। इसी लिए उस संस्था का प्रधानाध्यापक एक ईसाई विद्वान् था। इससे ख़लीफ़ा की धार्मिक सहिष्णुता भी प्रकट होती है। शिक्षा का एक दूसरा केन्द्र निशापुर नामक नगर में था। सुलतान महमूद के भ्राता अमीर नसर ने भी एक विद्यालय स्थापित किया था। भारत से सुलतान महमूद जो अनन्त धन-राशि लूट कर ले गया था उसका अधिकांश ग़ज़नी के एक विद्यालय की स्थापना में ख़र्च हुआ। अबूबक्र फ़ुरुक नामक एक विद्वान् के स्मारक रूप में एक और विद्यालय स्थापित हुआ था। इस विद्वान् की मृत्यु ४०६ हिजरी में हुई थी। निशापुर में विद्या का कितना प्रचार था, इसका अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि जब ५६६ हिजरी में उक्त नगर का नाश हुआ तब उसके साथ २५ विद्यालय और १२ पुस्तकालय नष्ट कर दिये गये।

निज़ाम-उल-मुल्क तूसी ने एक बड़े भारी विद्यालय की नींव डाली। इस संस्था को हम बग़दाद का आक्सफ़ोर्ड कह सकते हैं। यहाँ विदेश से भी कितने ही मुसलमान-छात्र आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। सादी और हाफ़िज़ की भी ज्ञान-पिपासा यहीं शान्त हुई। निज़ाम-उल-मुल्क ने इस विद्यालय के लिए लाखों रुपये ख़र्च किये। उसी ने मुसलमान-साम्राज्य में उदार शिक्षा के प्रचार के लिए ख़ूब प्रयत्न किया। उसी के उद्योग से कितने ही छोटे बड़े विद्यालय खोले गये। गिबन नामक एक विद्वान् का कथन है कि ६००० विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध उसी संस्था में होता था। उसमें ऊँच-नीच का विचार नहीं किया जाता था। श्रीमानों के पुत्रों की शिक्षा के लिए वहाँ उतनी ही सुविधा थी जितनी मज़दूरों के पुत्रों के लिए। अध्यापकों को अच्छा वेतन दिया जाता था। विद्यालय के साथ एक बड़ा भारी पुस्तकालय भी था।

६२५ हिजरी में एक ख़लीफ़ा ने अपने नाम से एक विद्यालय स्थापित किया। ६ वर्षों में विद्यालय का भवन बन कर तैयार हुआ। इसका ध्वंसावशेष अभी तक विद्यमान है। कहा जाता है कि इस विद्यालय के लिए जो किताबें ख़रीदी गई थीं वे १६० ऊँटों में लाद कर लाई गई थीं। २४६ विद्यार्थी वहीं रह कर शिक्षा पाते थे। उनके लिए स्नानागार बनाये गये। उनमें गरम पानी का भी प्रबन्ध था। एक अस्पताल भी था।

छठी शताब्दी में विद्या की अच्छी उन्नति हुई। शिक्षा-प्रचार के लिए तरह तरह की योजनायें की गईं। दो ख़लीफ़ों का नाम ख़ूब प्रसिद्ध है, एक तो नूरुद्दीन मुहम्मद और दूसरा सलाउद्दीन। सलाउद्दीन ने अलेक्ज़ेंड्रिया, केरो, यरूसलेम, दमस्कस आदि नगरों में विद्यालय स्थापित किये और उनका ख़र्च चलाने के लिए लाखों की सम्पत्ति दान दे डाली। एक विद्वान् का कथन है कि इन विद्यालयों के छात्रावासों में छात्रों को खाने-पीने आदि का सामान भी मुफ़्त दिया जाता था। अध्यापकों के वेतन आदि में १५ लाख रुपये ख़र्च हो जाते थे।

मुसलमानों में तुर्की नरेशों ने विद्या को ख़ूब प्रोत्साहन दिया। यों तो सभी राजाओं ने शिक्षा का प्रचार किया, पर सबसे अधिक काम मुहम्मद द्वितीय ने किया। उसने गाँव गाँव मकतब खोले। इससे प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचार हुआ। फिर उसने इतिहास, काव्य, तर्क-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र आदि विषयों की उच्च शिक्षा देने के लिए विद्यालय स्थापित किये। उसने एक विश्वविद्यालय भी खोला। इसका भवन ८७५ हिजरी में बन कर तैयार हुआ।

मुहम्मद के शासन-काल से बग़दाद के पतन-काल तक शिक्षा की बराबर उन्नति ही होती गई। दसवीं शताब्दी तक योरप में अविद्या का अन्धकार ही था। अरबों ने ही वहाँ ज्ञान-ज्योति का प्रसार किया। स्पेन में विद्यालयों की कीर्ति शीघ्र ही फैल गई।

फ़ान्स तथा अन्य देशों से भी सैकड़ों विद्यार्थी गणित और चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए स्पेन जाया करते थे। अरबों ने वहाँ १४ बड़े बड़े विद्यालय स्थापित किये। पाँच पुस्तकालय भी थे। उस समय यदि किसी मठ में ६०० पुस्तकों का भी सङ्ग्रह होगया तो वह बड़ी बात समझी जाती थी। परन्तु स्पेन में ख़लीफ़ा हकीम के पुस्तकालय में ६,००,००० से अधिक किताबें थीं। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि मुसलमान अधिपतियों को विद्या से कितनी अभिरुचि थी।

३—हिन्दी में अँगरेज़ी उपन्यास।

हिन्दी-साहित्य में उपन्यासों के तीन युग व्यतीत हो चुके हैं। पहले युग में काशी के उपन्यासों की धूम थी। दूसरे युग में कलकत्ता के उपन्यासों का प्रचार हुआ। तीसरे युग में बम्बई के उपन्यासों की अच्छी चर्चा हुई। इसका मतलब यह नहीं है कि जब काशी में उपन्यासों की रचना हो रही थी तब बम्बई से कोई उपन्यास प्रकाशित हुआ ही नहीं। सच पूछा जाय तो हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों के प्रकाशन का श्रेय इन्हीं तीन नगरों को है। जब से हिन्दी के वर्तमान साहित्य का उद्भव हुआ है तब से आज तक हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि इन्हीं तीन नगरों में हुई है। हमने केवल अपनी सुविधा के लिए हिन्दी के औपन्यासिक साहित्य को तीन युगों में विभक्त किया है। इन तीनों युगों में सदृशता है और विभिन्नता है। सदृशता है अँगरेज़ी उपन्यासों के अनुवाद में और विभिन्नता है उपन्यासों की शैली में। काशी के उपन्यासकारों में बाबू देवकीनन्दन खत्री और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी के नाम ख़ूब प्रसिद्ध हैं। कलकत्ता के उपन्यासों में अधिकांश बँगला उपन्यासों के अनुवाद हैं। बम्बई में लज्जारामजी की रचनायें प्रसिद्ध हैं। इसके सिवा बँगला के कई अच्छे अच्छे उपन्यासों के अनुवाद भी वहीं से प्रकाशित हुए। यहाँ हम केवल हिन्दी के अँगरेज़ी उपन्यासों पर विचार करना चाहते हैं।

हिन्दी में अँगरेज़ी के निम्नलिखित उपन्यासकारों के ग्रन्थ विद्यमान हैं:—(१) रेनाल्ड (२) कनन डायल (३) मेरी कुरेली (४) कालिन्स (५) गोल्डस्मिथ (६) शेरीडन (७) विक्टरह्यूगो (८) डूमा (९) जार्ज ईलियट (१०) हेगर्ड और (११) स्विफ़्ट। इनमें ह्यूगो और डूमा इँग्लेंड के लेखक नहीं हैं। इनके सिवा अँगरेज़ी की दो दो आने में बिकनेवाली पचीसों किताबें हिन्दी में अज्ञात रूप से विद्यमान हैं। कलकत्ते के जासूसी उपन्यासों में ऐसे ही ग्रन्थों की भरमार है।

हिन्दी के अधिकांश लेखक अँगरेज़ी उपन्यासों को हिन्दू-समाज के अनुकूल बना डालते हैं। हम इसे बुरा नहीं समझते, पर है यह काम टेढ़ा। यदि इस काम में हम ज़रा भी चूके तो उपन्यास का रूप बड़ा विकृत हो जाता है। The woman in white नामक अँगरेज़ी उपन्यास का अनुवाद हिन्दी में है। उसका नाम है शुक्ल-वसना सुन्दरी। उसमें अनुवादक ने बड़ी सफलता से अँगरेज़ी समाज को ब्राह्मसमाज में परिणत कर दिया है। एक दूसरा उपन्यास है प्रेमकान्त। यह गोल्डस्मिथ के विकार आव् वेकफ़ील्ड का रूपान्तर है। इसमें अनुवादक को सफलता नहीं हुई है। परिच्छद भारतीय होने से क्या हुआ, काया तो अँगरेज़ी ही है। मेरी कुरेली की इन्नोसेन्ट भी 'हृदय की परख' नामक उपन्यास में 'सरला' के रूप में अनुकूल नहीं जँचती। चित्रकार के साथ सरला का कोर्टशिप तो बहुत ही भद्दा है। जार्ज इलियट का सिलास मार्नर प्रेमचन्दजी के सुखदेव के रूप में भी अच्छा है। कनन डायल के शर्लाक होम्स गोपालरामजी के गोविन्द-राम बन गये हैं और अच्छे बन गये हैं। बात यह है कि जिन अँगरेज़ी उपन्यासों में अतिरञ्जित घटनाओं ही की प्रधानता है उनमें तो अनुवादक को सफलता हुई है, पर जिन उपन्यासों में कथा का गौरव समाज के आदर्श पर स्थित है उनके अनुवाद भद्दे होगये हैं। किसी भी देश के आदर्श को समझने के लिए पाठक को उदार-हृदय होना चाहिए। हिन्दू-समाज की दृष्टि में विधवा-विवाह गर्हित है और बहुपत्नी-विवाह दूषित नहीं है। पर अँगरेज़ी समाज का आदर्श इसके बिलकुल विपरीत है। अतएव जो अनुवादक अँगरेज़ी उपन्यासों को भारतीय समाज के आदर्श के अनुकूल बनाना चाहते हैं उनकी चेष्टा विफल होनी ही चाहिए।

हिन्दी में अभी तक जितने अँगरेज़ी उपन्यास के अनुवाद हुए हैं उनमें अधिकांश की शोभा अँगरेज़ी साहित्य में हो तो भले ही हो। पर हिन्दी में तो उनकी ज़रूरत है ही नहीं। जो दो चार अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद हुए हैं उनके भी अनुवादकों ने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय नहीं दिया। यदि ऐसी पुस्तकों का प्रचार है तो उससे यही सूचित होता है कि अभी समाज की रुचि परिमार्जित नहीं हुई है। हमें स्मरण है कि एक बार किसी विद्वान् लेखक ने इसी लोक-रुचि के बल पर यह लिखा था कि लोक-प्रियता किसी ग्रन्थ की उत्तमता की कसौटी है। हम नहीं समझते कि हिन्दी के लेखकों ने अभी लोक-रुचि को इतना परिमार्जित कर दिया है कि वे अपनी लोक-प्रियता का गर्व कर सकें। अभी हिन्दी में ऐसे लेखकों का अभाव नहीं है जो अँगरेज़ी की भ्रष्ट किताबों का अनुवाद न करते हों। उनके लेखक-पद प्राप्त करने ही से यह बात सिद्ध हो जाती है कि अभी हिन्दी में लोकप्रियता सफलता का चिह्न नहीं है।

जो लोग हिन्दी में अँगरेज़ी उपन्यासों का अनुवाद कर रहे हैं उन्हें एक बार समाज की आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिए। अनुवादों से लाभ अवश्य है। उपन्यासों के भी अनुवाद अनावश्यक नहीं हैं। अँगरेज़ी में संसार के सभी श्रेष्ठ उपन्यासकारों के ग्रन्थ विद्यमान हैं। हिन्दी के अनुवादकों को भी केवल ऐसे ही ग्रन्थों का अनुवाद करना चाहिए जिनसे हिन्दी-साहित्य की सचमुच श्री-वृद्धि हो।

४—दिल्ली के युद्ध का स्मृति-स्तम्भ।

भारत के इतिहास में १८०३ का साल बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी साल जेनरेल जेरार्ड लेक ने अँगरेज़ों की विजयपताका दिल्ली में उड़ाई थी। इसके पहले वहाँ सेंधिया का अधिकार था और मुग़ल-सम्राट् शाह-आलम उसके हाथों की कठपुतली बन गया था। परन्तु जब अँगरेज़ों और मरहटों में युद्ध छिड़ गया तब लार्ड वेल्ज़ली ने उत्तर भारत में सेंधिया से लड़ने के लिए अँगरेज़ी सेना भेजी। इसी सेना के नायक जेनरल लेक थे। इन्होंने सेंधिया की सेना को दिल्ली के युद्ध में पराजित करके मुग़ल राजधानी में अँगरेज़ी झण्डा गाड़ दिया। यही नहीं किन्तु विपन्न मुग़ल-सम्राट् भी कम्पनी के आश्रय में आने को बाध्य हुआ और उसके लिए कम्पनी की ओर से वार्षिक पेंशन नियत हो गई। इस तरह मुग़ल-सम्राट् का जो थोड़ा बहुत प्रभाव रह गया था वह भी सदा के लिए जाता रहा और भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्राधान्य निर्विवादरूप से स्थापित हो गया। इस दृष्टि से दिल्ली का यह युद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

दिल्ली के युद्ध का स्मृति-स्तम्भ।

इस युद्ध की स्मृति-स्थापना की ओर पहले पहल भूत-पूर्व वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज का ध्यान आकृष्ट हुआ। अतएव उन्होंने इसके निर्माण की आज्ञा दे दी। तदनुसार युद्धभूमि का स्थान खोजा गया और वहाँ स्मृति-स्तम्भ स्थापित किया गया। पूर्वोक्त युद्धभूमि दिल्ली से दक्षिण-पूर्व सात मील के
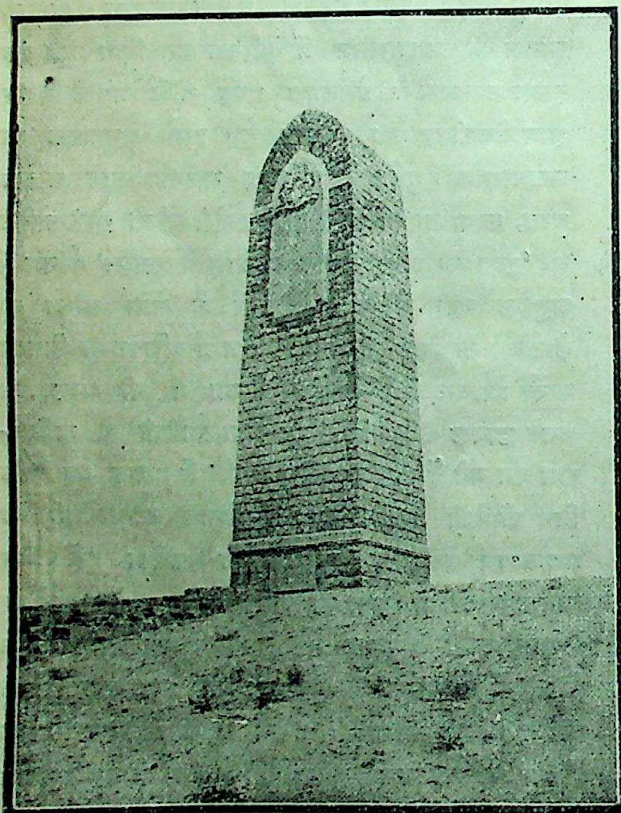
अन्तर पर 'परिपन' के मैदान में है। यह मैदान यमुना के बायें किनारे से तीन मील दूर है। जिस स्थान पर युद्ध हुआ था वहाँ २० फ़ुट ऊँचा एक बड़ा भारी धुस्स है। इसी धुस्स पर स्मृति-स्तम्भ स्थापित किया गया है। स्तम्भ पत्थर का बनाया गया है और उसकी ऊँचाई ४० फ़ुट है। नींव के पास वह १२ फ़ुट लम्बा और १० फ़ुट चौड़ा है। धुस्स की ऊँचाई मिला देने से वह मैदान से ६० फ़ुट ऊँचा हो जाता है। स्तम्भ के शिरोभाग में तथा उसकी नींव के पास स्मृति-सम्बन्धी बातें उत्कीर्ण की गई हैं। नीचे का विवरण उर्दू लिपि में है। दोनों शिलालेखों के अक्षर बड़े बड़े और स्पष्ट हैं। जिस धुस्स पर यह स्तम्भ स्थित है वह भी बहुत कुछ दुरुस्त कर दिया गया है। इस कारण इस स्थान की शोभा और भी बढ़ गई है। इसके पास ही छलेरा बांगर नाम का एक पुराना गांव भी है। यह स्तम्भ दिल्ली की जुम्मा मसजिद की चहारदीवारी से स्पष्ट देख पड़ता है। राजधानी की बड़ी बड़ी इमारतों के गुम्बज़ तथा मीनार यहाँ से भी उसी प्रकार दिखाईदेते हैं।

५—मीमांसा-दर्शन के प्राचीन भाष्यकार।

महामहोपाध्याय पण्डित गङ्गानाथ झा ने मीमांसा-दर्शन के भाष्यकारों के विषय में निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे।

जैमिनि के मीमांसा-सूत्रों पर श्रीशबरस्वामी का भाष्य सबसे प्राचीन है। पण्डितों में यह बात प्रसिद्ध है कि शबरस्वामी विक्रमादित्य के समकालीन थे। उनके विषय में जो श्लोक प्रचलित है उससे यह मालूम होता है कि विक्रमादित्य शबरस्वामी के पुत्र थे। यह बात कहाँ तक सच है, हम कह नहीं सकते। शबरस्वामी का नाम पहले आदित्य था। जैनों के भय से उन्होंने शबर का भेष धारण कर अर्बुदाचल पर तपस्या की। तब से उनका नाम शबर पड़ गया। आज-कल जो मीमांसा-शास्त्र प्रसिद्ध है उसका मूल शबरस्वामी का ही भाष्य है।

जैमिनि-सूत्रों के उपवर्ष आदि अन्य कई व्याख्याता थे। यह बात भली भांति प्रकट होती है। शबर-भाष्य में भगवान् उपवर्ष का नाम सम्मानपूर्वक लिया गया है, अन्य वृत्तिकार भी थे। श्लोक-वार्तिक में भवदास नामक प्राचीन वृत्तिकार का उल्लेख किया गया है। काशिका, न्यायरत्नाकर के देखने से भी इसकी पुष्टि होती है कि जैमिनि-सूत्रों की कई प्राचीन व्याख्यायें थीं। उनमें भर्तृमित्र का लिखा हुआ ग्रन्थ सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। उससे अर्वाचीन भवदास है। उपवर्ष उससे भी नवीन है।"

मीमांसा-दर्शन की टीका कुमारिल भट्ट ने लिखी है। वह प्राचीन ग्रन्थों में 'भट्टपाद', 'भट्ट' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इस टीका के तीन खण्ड हैं, प्रथम खण्ड श्लोक-वार्तिक, द्वितीय खण्ड तन्त्रवार्तिक, तृतीय खण्ड टुपटीका। श्रीभट्टपाद-द्वारा प्रवर्तित मीमांसा के अनुगमन करनेवाले अनेक ग्रन्थकर्ता हुए। उनमें ये प्रसिद्ध हैं:—

विधिविवेक, मीमांसानुक्रमणी ग्रन्थों के प्रणेता मण्डन मिश्र; शास्त्रदीपिका, तन्त्ररत्न, न्यायरत्नमाला आदि अनेक निबन्धों के प्रणेता पार्थ सारथि मिश्र; काशिकाकार सुचरित मिश्र; न्यायसुधाकार सोमेश्वर भट्ट।

इस शास्त्र के मतान्तर प्रवर्तन करनेवाले अन्य कई वार्तिककार थे, यह ऋजुविमला के वाक्यों से प्रकट होता है। इसके बाद प्रभाकर ने शबर-भाष्य पर बृहती नामक व्याख्या की रचना की। इस बृहती व्याख्या पर भी शालिकनाथ की ऋजुविमला नामक व्याख्या प्रसिद्ध है।

प्रभाकर कहाँ और कब हुए, इसका कुछ निश्चय नहीं हुआ है। कहा जाता है कि वे कुमारिल भट्ट के शिष्य थे, मण्डन मिश्र के साथ पढ़ा करते थे। उनकी बुद्धि विलक्षण थी। पण्डितों में उनके विषय में एक कथा खूब प्रसिद्ध है। कहते हैं कि किसी समय उन्होंने श्राद्धीय विषय में अपने गुरु से भिन्न मत प्रदर्शित किया। गुरुजी ने खूब प्रयत्न किया, पर वे उस मत का अनौचित्य नहीं बतला सके। कुछ दिनों के बाद छात्रों में ख़बर उड़ी कि गुरुजी का देहावसान हो गया। तब यह विचार उपस्थित हुआ कि किस मत से उनका और्ध्व दैहिक होना चाहिए। तब प्रभाकर ने कहा, "गुरुजी का ही मत ठीक है। मैंने तो सिर्फ़ विचार के लिए भिन्न मत उपस्थित किया था।" यह सुनते ही गुरुजी वहाँ आ गये और प्रभाकर के अपना मत परित्याग करने पर हर्ष प्रकट करने लगे। तब प्रभाकर ने कहा, "यह सच है कि आपने अपना मत मुझसे स्वीकार करा लिया, पर जीवित दशा में वह आपसे नहीं हुआ।" कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि प्रभाकर मीमांसा-दर्शन के बड़े भारी आचार्य हैं।

६—योरपीय महायुद्ध का भीषण परिणाम।

गत योरपीय महायुद्ध का परिणाम सभी को मालूम है। सैकड़ों वर्षों के प्राचीन आस्ट्रिया और तुर्क साम्राज्य

लुप्त हो गये। जर्मनी और रूस के दुर्दान्त नये साम्राज्य भी विनष्ट हो गये। परन्तु इस महायुद्ध में जितना नर-संहार हुआ है उसका अनुमान करने-मात्र से कलेजा कांप उठता है। इस महायुद्ध के हताहतों की पूर्ण संख्या का पता लगना तो असम्भव सा है, पर अभी फ़ान्स में जो मनुष्य-गणना हुई है उसे देखने से इस महायुद्ध के भीषण परिणाम की स्मृति फिर जागृत हो जाती है। सन् १९११ में जो मनुष्य-गणना फ़ान्स में हुई थी उसके अनुसार इस साल की गणना में ३,६०,००,००० की कमी है। यद्यपि यह बात ठीक है कि इन सबका संहार युद्ध ही में न हुआ होगा। इसके सिवा यह भी कहा जा सकता है कि फ़ान्स में प्रति वर्ष उतने आदमी नहीं पैदा होते जितने मरते हैं अर्थात् वहां मृत्यु-संख्या अधिक है। परन्तु इन दलीलों से यह बात बुद्धि में नहीं बैठती कि केवल १० वर्ष बाद ही सहसा तीन करोड़ साठ लाख मनुष्यों की कमी इस प्रकार हो जाय। निस्सन्देह इस कमी का कारण गत योरपीय युद्ध ही हो सकता है। सन् १९१९ में फ़ान्स की जन-संख्या का अन्दाज़ा किया गया था। उसके अनुसार लोगों ने समझा था कि फ़ान्स की आबादी ४,१५,००,००० होगी। परन्तु जब विधिसहित मनुष्य-गणना की गई तब उपर्युक्त अटकल अटकल ही निकली, उससे भी कम जन-संख्या पाई गई। जब अकेले फ़ान्स के जन-समुदाय का इस प्रकार संहार हुआ है तब दूसरे युद्ध-लिप्त राष्ट्रों की कितनी जन-हानि हुई होगी, यह सहज में ही अनुमेय है। निस्सन्देह गत महायुद्ध से योरप ध्वंस हो गया है, इस कथन में बहुत कुछ तथ्य है।

७—निखिल भारत अनाथाश्रम की अपील।

कालीघाट, कलकत्ते में उपर्युक्त नाम की एक संस्था तीन वर्ष से स्थापित है। इसके सभापति देशबन्धु चित्तरञ्जनदास हैं। आप ही के उद्योग से इस संस्था का कार्य सुचारु रूप से सम्पादित हो रहा है। परन्तु धनाभाव के कारण इसका काम चलता नहीं दीखता, क्योंकि न तो इसका कोई स्थायी कोष है और न वैसी सहायता ही मिल रही है कि इसका कार्य-क्षेत्र और बढ़ाया जाय। इसलिए उदार-चेताओं से यथाशक्ति सहायता प्रदान करने के लिए इस संस्था की ओर से एक अपील प्रकाशित हुई है।

इस समय इस आश्रम में २०० अनाथ बालक हैं। उनके भरण-पोषण तथा शिक्षण में लगभग २,५००) मासिक ख़र्च होते हैं। इसके सिवा इस आश्रम की ओर से विधवाओं और लँगड़े-लूलों को भी आश्रय देने की व्यवस्था है। संस्था उपयोगिनी है। आशा है, पुण्यात्मा जन इस आश्रम की सहायता करने के लिए प्रस्तुत होंगे। जो महाशय इसे सहायता देना चाहें वे उपर्युक्त आश्रम के अध्यक्ष के नाम से कालीघाट, कलकत्ते के पते पर लिखा-पढ़ी करें।

पुस्तक-परिचय।

१—महाराजा रणजीतसिंह—लेखक, श्रीयुत पण्डित नन्दकुमारदेव शर्मा, आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या ७+२५१ और मूल्य १।।) तथा जिल्द बँधी का २) है। प्रकाशक गाँधी-हिन्दी-पुस्तक-भंडार कालबादेवी, बम्बई। पुस्तक प्रकाशक को लिखने से मिल सकती है।

अभी तक हिन्दी में एक भी अच्छा जीवन-चरित नहीं लिखा गया है। अन्यान्य देशी भाषाओं में अच्छे जीवन-चरितों का अभाव नहीं। अच्छे जीवन-चरित कैसे होते हैं इसका नमूना हिन्दी में बँगला से अनुवादित 'ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' मौजूद है। काशी की मनोरञ्जक ग्रन्थ-माला में दो एक जीवन-चरित अच्छे प्रकाशित हुए हैं, पर वे 'ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' की टक्कर के नहीं हैं। तो भी वास्तविक वस्तु के अभाव में वही पर्याप्त हैं। समालोच्य पुस्तक भी ऐसी ही निकली है। पण्डित नन्दकुमारदेव शर्मा संक्षिप्त जीवनियाँ लिखने में सिद्ध-हस्त हैं। आपकी लिखी हुई कई एक छोटी छोटी जीवनियाँ ओंकार-ग्रन्थमाला तथा अन्यत्र भी प्रकाशित हुई हैं। वे मनोरञ्जक ही नहीं, किन्तु उपादेय भी हैं। अब आपका ध्यान बड़े आकार में तथा अच्छे ढँग से जीवन-चरित लिखने की ओर झुका है। आपका 'लोकमान्य तिलक' अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है और समालोच्य पुस्तक आपकी दूसरी रचना है। 'लोकमान्य तिलक' की भाँति आपकी यह रचना भी सुन्दर हुई है। इसके लिखने में जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकती है उसका उपयोग आपने पूर्णरूप से किया है।

शर्माजी ने अपनी इस पुस्तक में अनेक बातें सूत्र रूप में उल्लेख की हैं। इस कारण कहीं कहीं रचना में शिथिलता और फीकापन आगया है। उदाहरण के लिए मिसलों का विवरण ले लीजिए। इस प्रकरण में यह दोष विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इसके सिवा यदि महा-

राज रणजीतसिंह की शासन व्यवस्था पर एक अध्याय अलग लिख कर तथा उपसंहार में उनकी मृत्यु के समय की राज्य-स्थिति का उल्लेख करके ग्रन्थ समाप्त होता तो यह पुस्तक आपकी रचनाओं में अग्रस्थान पाती । ऐसा होते हुए भी हमें यह कहने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं कि 'महाराजा रणजीतसिंह' की रचना अच्छी ही नहीं हुई है, किन्तु इसके पढ़ने से उन अनेक बातों का ज्ञान भी हो जाता है जिनको जानने के लिए लोग अनेक अँगरेज़ी ग्रन्थों का अनुसन्धान किया करते हैं । इसके सिवा पुस्तक मनोरञ्जक है और इसकी भाषा परिमार्जित है ।

❀

२—राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त—यह हिन्दी राष्ट्रीय लता का प्रथम गुच्छा है । पण्डित मातासेवक पाठक ने इसकी रचना की है । पुस्तक २०३ पृष्ठों में समाप्त हुई है । काग़ज़ और छपाई अच्छी है । सुन्दर जिल्द बँधी हुई है । मूल्य १॥) है । "भारतीय पुस्तक एजेंसी" नारायणप्रसाद बाबू-लेन, कलकत्ता ने इसका प्रकाशन किया है ।

पुस्तक के नाम ही से सूचित होता है कि इसमें राज-सम्बन्धी सिद्धांतों की विवेचना है । इसमें आठ अध्याय हैं । अन्त में एक परिशिष्ट है । उसमें सोविट (बोल्शेविक) शासन-प्रणाली की चर्चा की गई है । पुस्तक के आरम्भ में लेखक महोदय का चित्र और चरित्र दोनों दे दिये गये हैं । इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में अभी ऐसे ग्रन्थों का अभाव है । हमें आशा है कि हिन्दी-भाषाभाषी प्रकाशक का उत्साह बढ़ावेंगे । इसका सुफल यह होगा कि इस ग्रन्थ में अभी जो बातें सूत्र रूप से दी गई हैं उनका विस्तृत विवेचन इसके दूसरे संस्करण में किया जायगा । भाषा सरल और सुन्दर है । विवेचना भी स्पष्ट है । पुस्तक सर्वथा सङ्ग्रहणीय है ।

❀

३—पार्वती—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या १६१, और मूल्य सादी का २), रङ्गीन जिल्द का २।) तथा रेशमी जिल्द का २॥), रुपये हैं । लेखक, श्रीयुत नवजादिक-लाल श्रीवास्तव । प्रकाशक, श्रीयुत रिखवदास वाहिनी, 'दुर्गाप्रेस', ७४ बड़तल्ली स्ट्रीट, कलकत्ता ।

यह एक शिक्षाप्रद पौराणिक उपाख्यान है । पार्वतीजी की जैसी कथा शिवपुराण में लिखी है उसके आधार पर इसकी रचना तो की ही गई है, पर कालिदास के कुमारसम्भव से भी सहायता ली गई है । मतलब यह कि पुराण और काव्य के संमिश्रण से इस 'पार्वती' की अवतारणा हुई है । सम्भवतः इसी कारण पार्वती का पौराणिक महत्त्व इस रचना में प्रकट नहीं होने पाया । इस रचना में पार्वती का जैसा चरित्र वर्णित है उससे उनके संसारी रूप का भव्य-दर्शन होता है । लेखक महोदय ने 'विलायती-सभ्यता-संकुल भारतीय स्त्रीसमाज' का लिहाज़ करके ही इस प्रकार की 'पार्वती' लिखी है । आप अपने प्रयत्न में खूब सफल हुए हैं । इस रचना के पहले भी आपके दो एक ऐसे ही पौराणिक उपाख्यान प्रकाशित हुए हैं, पर वे और ही प्रकार के थे । उनमें साधारण मनुष्यों की जीवन-घटनाओं ही का वर्णन करना था । पर इसमें जिसका चरित लिखा गया है वह हिन्दूसमाज में भगवती मानी जाकर पूजित है । इस बात से बचे रहने का जो प्रयत्न लेखक ने अपनी पुस्तक में किया है उससे पार्वती के उपाख्यान का महत्त्व जाता रहा, पर एक साधारण नारी के रूप में उनका चरित अवश्यमेव शिक्षाप्रद अङ्कित हुआ है । पुस्तक बहुत अच्छे ढँग से लिखी गई है और स्त्रियों के मतलब की है, पर विशेष करके उनके जो विलायती-सभ्यता-संकुल हैं । पुस्तक की भाषा सरल और सुन्दर है । काग़ज़ और छपाई भी अच्छी है, पर जो रङ्गीन या सादे चित्र इस पुस्तक में शोभा-वृद्धि के लिए लगाये गये हैं वे अच्छे नहीं हैं । न तो वे सुन्दर हैं और न स्वाभाविक ही हैं । इन्हीं के कारण पुस्तक भी मूल्यवान् होगई है ।

❀

४—सम्राट् हर्षवर्द्धन—लेखक, सम्पूर्णानन्द बी० एस-सी०, एल० टी० । प्रकाशक, गान्धी हिन्दी-पुस्तक भाण्डार, कालबादेवी, बम्बई । आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या ९७ और मूल्य आठ आने हैं । प्रकाशक से प्राप्य ।

सम्राट् हर्षवर्द्धन भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् हैं । इनके बाद फिर कोई ऐसा हिन्दू राजा नहीं हुआ जो भारत या उसके अधिकांश भाग पर अधिकार जमा कर देश के स्वातन्त्र्य की रक्षा करता । ऐसे ही सम्राट् के जीवन की चर्चा इस पुस्तक में संक्षेप के साथ दी गई है । पुस्तक सङ्ग्रह करने योग्य है । छपाई, काग़ज़ भी अच्छा है । यह हिन्दी-गौरव-ग्रन्थमाला की २३ वीं किताब है ।

५—असहयोग—कुछ समय हुआ असहयोग आन्दोलन की हँसी उड़ाने की दृष्टि से मदरास के मिस्टर एस० एम० माइकल ने नाटक के ढँग पर एक निबन्ध लिखा था उसी का अनुवाद तथा उसका उत्तर भी—हिन्दी भाषा में इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ है। पहले ये निबन्ध जबलपुर के कर्मवीर में प्रकाशित हुए थे। वही अब पुस्तकाकार छापे गये हैं। पुस्तक अच्छी है और पढ़ने लायक है। लेखक का नाम नहीं लिखा है। मूल्य ।) है। पता—ठाकुर उमरावसिंह चौहान, भारत-पुस्तक-एजेन्सी, दीक्षितपुरा, जबलपुर (सी० पी०)

६—हिन्दी-गौरव-नाटक—लेखक, पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी। प्रकाशक, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद। मूल्य ≡) है। प्रकाशक से प्राप्य।

पहले यह नाटक पूर्वोक्त नाम के प्रेस से निकलनेवाली 'प्रतिभा' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। अब यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। इस नाटक में न तो कोई नूतनता है और न यह ऐसा है कि नाटक कहा जाय। अँगरेज़ी के शब्दोच्चारण की त्रुटियाँ बता कर तथा हिन्दी-साहित्य से अपरिचित किसी व्यक्तिविशेष का उपहास करके इस नाटक में हिन्दी की गौरव-वृद्धि का व्यर्थ प्रयास चतुर्वेदीजी ने किया है। हिन्दी के अभिमानी भक्तों से उसकी रक्षा सदा वाञ्छनीय है।

७—आर्य्यमहिला-(सचित्र त्रयमासिक पत्रिका) सम्पादिका, खैरीगढ़ राजेश्वरी भारतधर्म लक्ष्मी महाराज्ञी श्रीमती सुरथकुमारी देवी (O. B. E., K. H. GoldMedalist).

इस पत्रिका का प्रकाशन भारतधर्ममहामण्डल, काशी से होता है। इसके तीसरे वर्ष की चौथी संख्या हमारे सामने है। पृष्ठ-संख्या ६६ है और लेख बीस हैं। पत्रिका का मुखपृष्ठ बहुत ही सुन्दर है। भगवती का रङ्गीन चित्र उसकी शोभा बढ़ा रहा है। भीतर भी पुरानी चाल का एक रङ्गीन चित्र है। इसके सिवा तीन और भी चित्र हैं। इसके लेख पढ़ कर हमें बड़ी निराशा हुई। हमारी समझ में यह बात न आ सकी कि इस पत्रिका का क्या उद्देश है। स्त्रियों के लिए ही इस पत्रिका का प्रकाशन हुआ है, यह बात इसके लेख पढ़ने से नहीं मालूम होती। इस अङ्क में कई एक लेख बहुत अच्छे निकले हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध स्त्रियों से ज़रा भी नहीं है। इसकी भाषा भी इतनी परिमार्जित है कि साधारण शिक्षा-प्राप्त स्त्रियाँ इस पत्रिका के उच्च विचार हृदयङ्गम ही नहीं कर सकतीं। अपनी बात की पुष्टि के लिए यहाँ हम एक वाक्य उद्धृत करते हैं:—

"उसमें सजीव, निर्जीव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी के प्रति प्रेम-विस्तार करते हुए मनुष्य के ऊपर ऋषि, देवता, पितृगण पर्यन्त में प्रेम विस्तारपूर्वक अन्त में सजीव निर्जीव सर्वत्र विराजमान परब्रह्म परमात्मा में आत्मनिमज्जन करके स्वरूप-प्रतिष्ठा है"।

इन प्रान्तों में स्त्रियों के लिए उपयोगी एक उच्च कोटि के मासिक पत्र की बड़ी भारी ज़रूरत है। रानी साहबा की ज़रा सी इच्छा करने पर इस अभाव की पूर्ति 'आर्यमहिला' से हो सकती है। सम्पादकीय टिप्पणियों में महामण्डल के कार्यों की घोषणा पढ़ कर और भी निराशा हुई। इस कार्य के लिए महा-मण्डल की निज की पत्रिका है। तब इसका अमूल्य स्थान इस कार्य में लगाया जाना उचित नहीं जँचता। इसका वार्षिक मूल्य कितना है तथा यह कब प्रकाशित होती है इसका पता प्रयत्न करने पर भी हमें नहीं लगा। ये थोड़े से शब्द इस उद्देश से लिखे गये हैं कि आर्यमहिला जैसी सुन्दर और श्रेष्ठ पत्रिका प्रकृत रूप धारण करके स्त्री-समाज का कल्याण साधन करे।

चित्र-परिचय।

शिव-प्रतिज्ञा।

सरस्वती के इस अङ्क में शिव-प्रतिज्ञा नाम का चित्र दिया जाता है। जब त्रिपुरासुर के अत्याचारों से संसार के प्राणी घोर कष्ट पाने लगे तब देवराज इन्द्र ब्रह्मा और विष्णु को लेकर शिव के पास गये। शिव ने इन्द्र की विनय सुन कर त्रिपुरासुर का संहार करने की प्रतिज्ञा की। इसी भाव को लेकर चित्रकार ने इस चित्र को अङ्कित किया है। यह चित्र हमें कुँवर विचित्रशाह, टिहरी (गढ़वाल), से प्राप्त हुआ है, एतदर्थ हम आपके कृतज्ञ हैं।

Printed and published by Apurva KrishnaBose, at The Indian Press, Ld., Allahabad.
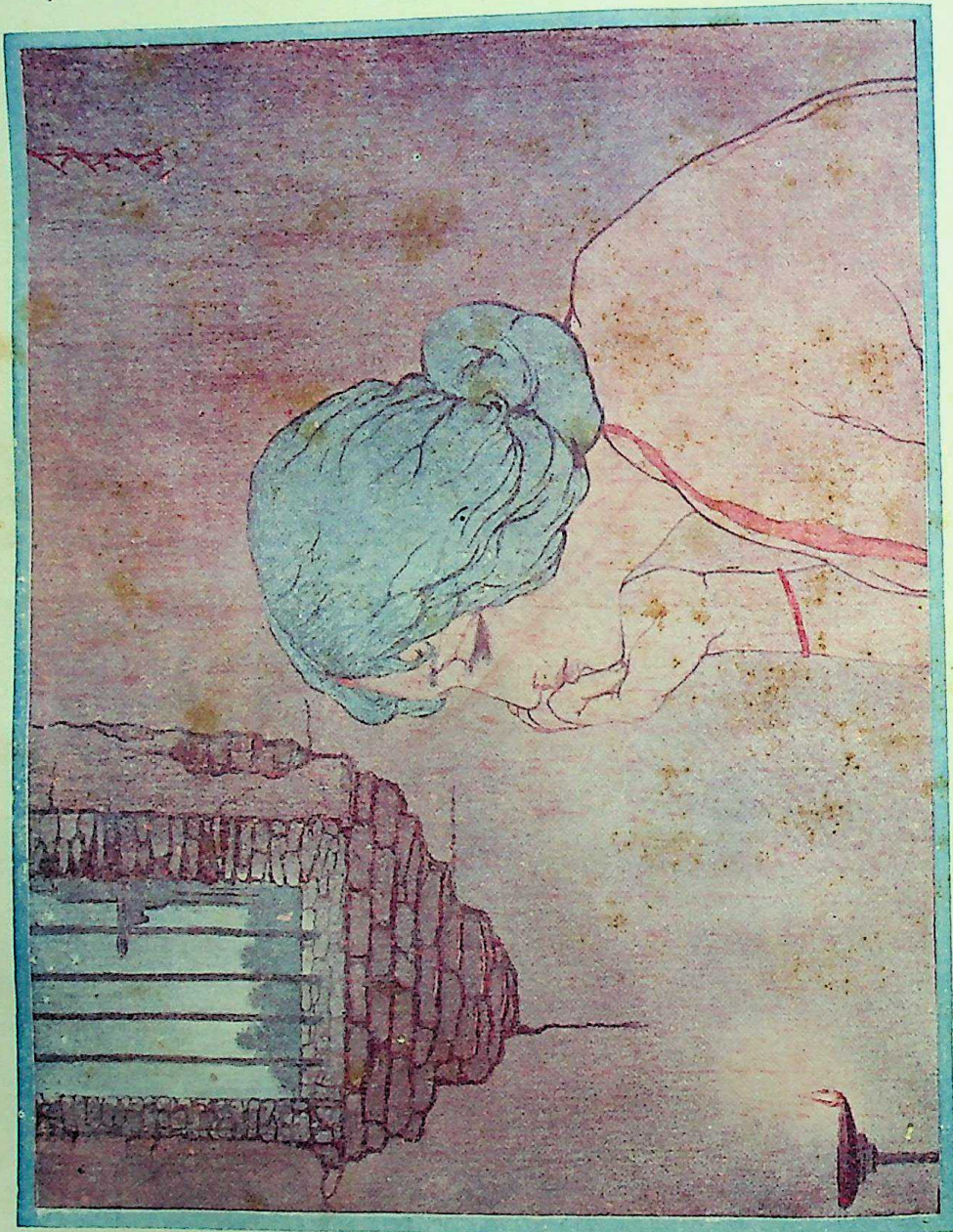
प्रतीक्षा।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।
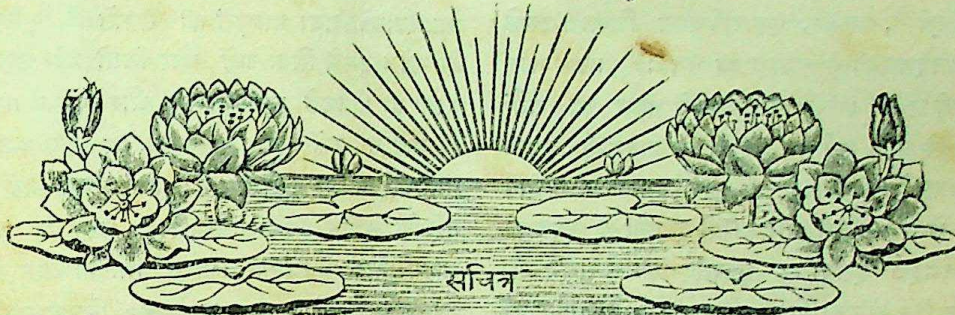
भाग २२, खण्ड २] सितम्बर १९२१—भाद्रपद १९७८ [संख्या ३, पूर्ण संख्या २६१

वाजिदअलीशाह।

ज हम एक ऐसे व्यसनी और कर्तव्य-पराङ्मुख बादशाह का संक्षिप्त चरित लिखते हैं जिसने अपने दुर्गुणों के कारण अपने पूर्वजों के उपार्जित राज्य को हमेशा के लिए खो दिया।

वाजिदअलीशाह का जन्म २२ जुलाई १८२२ को हुआ था। उनके पिता अमजदअलीशाह की मृत्यु होने पर, १३ फ़रवरी १८४७ को, उन्हें लखनऊ का तख़्त मिला। उस समय उनकी उम्र २५ वर्ष की थी। वाजिदअलीशाह को राजोचित शिक्षा नहीं मिली। उनका लालन-पालन विशेष करके स्त्रियों ही के बीच में हुआ। इसलिए उन्हें महलों के भीतर स्त्रियों, पुरुषत्वहीन पुरुषों, वेश्याओं और गाने-बजानेवालों के साथ रहने ही में अधिक आनन्द मिलता था। जिस समय वाजिदअली को गद्दी मिली कप्तान शेक्सपियर लखनऊ के रेज़िडेंट थे। उन्होंने वाजिदअली की गुणावली का कीर्तन अच्छी तरह करके गवर्नर जनरल को भेजा। उनके बाद कर्नल रिचमण्ड रेज़िडेंट हुए। उन्होंने भी अपनी रिपोर्ट में कप्तान शेक्सपियर के कथन का समर्थन किया और लिखा—"बादशाह की हालत अच्छी नहीं। वह दुर्व्यसनों में लिप्त है; उसे नीच आदमियों की ही सङ्गति अच्छी लगती है; उसे बहुत कम शिक्षा मिली है; वह समझता है कि सांसारिक सुखों का सबसे अधिक अनुभव करना ही मेरा परम कर्तव्य है। वह प्रजा के हानि-लाभ की कुछ भी परवा न करके अपने चाटुकार—ख़ुशामदी—आदमियों को बड़े बड़े अधिकार देता है। उनकी योग्यता का वह ज़रा भी ख़याल नहीं करता।" कर्नल रिचमण्ड के बाद, १८४९ ईसवी में, मेजर जनरल स्लीमन लखनऊ के रेज़िडेंट हुए। स्लीमन साहब न्यायप्रिय, योग्य, उदार, तजरिबेकार और हिन्दुस्तान के हितचिन्तक थे। अवध की दुर्व्यवस्था देख कर गवर्नर जनरल ने उनको यहाँ भेजा था। उन्होंने तीन महीने अवध में दौरा करके देश की दशा प्रत्यक्ष देखी और दिन-चर्या के रूप में उन्होंने सब बातें लिख लीं। यह दिनचर्या

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

दो जिल्दों में पीछे से प्रकाशित हुई। इसे पढ़ कर अवध की दुर्दशा का मूर्त्तिमान् रूप आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। हाकिमों और लुटेरों की निर्दयता, और प्रजा पर किये गये दारुण अत्याचारों, का वर्णन पढ़ कर दुःख, शोक, दया, करुणा और क्रोध आदि मनोविकारों से चित्त विकल हो उठता है।

१८०१ ईसवी में अँगरेज़ों और लखनऊ के बादशाह सआदतअलीख़ाँ ने, परस्पर, एक सन्धिपत्र लिखा। उसके अनुसार सआदतअली ने अवध का प्रायः आधा राज्य अँगरेज़ों को दे डाला। उस दस्तावेज़ में बहुत सी शर्तें हुईं। उनमें से एक शर्त यह भी थी कि बादशाह अपनी प्रजा पर न्यायपूर्वक राज्य करे—किसी पर अन्याय न होने पावे—और अँगरेज़ भीतरी और बाहरी दुश्मनों से अवध की रक्षा करें। १८३७ ईसवी में, मुहम्मदअली के समय में, यह सन्धिपत्र फिर से नया किया गया। इस दस्तावेज़ की कुछ शर्तें विलायत में बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्स ने मंजूर न कीं। बादशाह से कई लाख रुपये और अधिक लेने की जो शर्त थी वह भी इन्हीं में से थी। पर और सब शर्तें पूर्ववत् बनी रहीं। "तुम्हें अपनी प्रजा का अच्छी तरह पालन करना चाहिए"—यह शर्त वैसी ही रही। मुल्क बादशाह का, पर प्रजा-पालन की फ़िक्र अँगरेज़ों को! क्यों? हम हिन्दुस्तान के सार्वभौम राजा हैं, इसलिए। किसी के राज्य में प्रजा-पीड़न होने से हमारी भी बदनामी है।

जब कभी अँगरेज़ों को अवध में दुर्व्यवस्था देख पड़ी तभी उन्होंने यहाँ के बादशाहों को इस शर्त की याद दिलाई। एक दफ़े नहीं, कई दफ़े उन्हें इसकी याद दिलानी पड़ी। याद ही नहीं, समझाना, बुझाना और धमकाना तक पड़ा। परन्तु विशेष फ़ायदा न हुआ। वाजिदअली के गद्दी पर बैठने पर, नवम्बर १८४७ ईसवी में, हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिङ्ग लखनऊ आये। उन्होंने वाजिदअली से कहा कि रेज़िडेंट की सलाह से आप काम कीजिए। आपको दो वर्ष की मुहलत दी जाती है। इतने समय में आपको अपनी राज्य-प्रणाली में सुधार करना चाहिए। वाजिदअलीशाह ने गवर्नर जनरल के इस उपदेश के उत्तर में "जो हुक्म" कह कर लाट साहब को किसी तरह टाला। उनके चले जाने के बाद, कुछ दिनों तक, बादशाह ने अपने अधिकारियों को बुला कर दरबार में बैठना शुरू किया।

इस तरह महीने दो महीने यह दिखला कर कि मैं लाट साहब की आज्ञा के अनुसार काम करता हूँ वाजिदअलीशाह ने दरबार में आना बन्द कर दिया। अन्तःपुर से बाहर निकलने में उन्हें तकलीफ़ होने लगी। वे अपने रङ्गमहल में अपनी अनेक नई पुरानी बेगमों, और गाने-बजानेवालों तथा मसख़रों की सङ्गति में पूर्ववत् निमग्न हो गये। इसके सिवा उन्हें और किसी भी तरह चैन न आती थी। उनके शुभचिन्तकों और एक के बाद दूसरे रेज़िडेंटों ने उन्हें बहुत समझाया, पर सब व्यर्थ हुआ। धीरे धीरे वाजिदअलीशाह की विलासिता यहाँ तक बढ़ गई कि उन्होंने अपने अधिकारियों, शहर के अमीरों और राजघराने के आदमियों तक से मिलना और दरबार में आकर राज्य के काग़ज़-पत्र देखना बिलकुल ही बन्द कर दिया। रज़ीउद्दौला नामक एक नीच जाति का गायक था। उसने बादशाह को यहाँ तक अपने वश में कर लिया कि उसके सिवा और किसी को अपने पास भेंट के लिए आने की सख़्त मनाई वाजिदअली ने करदी। दुर्व्यसन-सेवी और दुःशील लोगों की सङ्गति से जो बुरे परिणाम होते हैं वे होने लगे और लखनऊ के अन्तिम "बादशाह सलामत" नीच से भी नीच और निन्द्य से भी निन्द्य दशा को जा पहुँचे!

अगस्त १८४६ में स्लीमन साहब ने लार्ड डलहौसी को एक पत्र लिखा। उसमें एक जगह आप लिखते हैं—

> "राज्य का काम-काज देखने के लिए मैंने बादशाह को कई पत्र लिखे, पर उनका कुछ भी असर बादशाह पर न हुआ। बादशाह अपना सारा वक़्त गाने-बजानेवालों की सङ्गति में, या उन औरतों के सङ्गति में जो वे लोग लाते हैं, खोता है। उसके मनोरञ्जन का एक-मात्र साधन यही लोग हैं। रज़ीउद्दौला सब गवैयों का सरदार है। पूरे आठ घण्टे बादशाह उसके मकान पर रहता है। यह मनुष्य अभी कुछ दिन पहले चार रुपये महीने पर एक वेश्या के यहाँ तबलची था। ये गवैये बहुत ही नीच जाति के हैं—इनमें से कुछ डोम भी हैं। अब यही लोग

मुल्क के मालिक बन गये हैं। बादशाह किसी से नहीं मिलता। वह राज्य से सम्बन्ध रखनेवाली बातें नहीं जानता और जानने की परवा भी नहीं करता। प्रजा उससे घृणा करती है।"

एक और जगह आप लिखते हैं—

"यदि बादशाह के साथी तबलची और हीजड़े चाहें तो बादशाह आज ही अपने वज़ीर को निकाल दे। और यदि कोई दूसरा आदमी वर्तमान वज़ीर से अधिक घूस देने पर राज़ी हो तो वे उसे निकाल कर कल करें। बादशाह दरबार में नहीं आता और अपना काम नहीं करता। इस कारण सब कहीं लूट-मार मची हुई है। वज़ीर और दरबार के आउरदे ही नहीं लूट मचा रहे, रिश्वत का बाज़ार सभी कहीं गरम है। महाराजा बालकृष्ण दीवान के पद पर है। वह सबसे अधिक घूसख़ोर है। बादशाही रुपया जो ठेकेदारों के नाम बक़ाये में रहता है उसका बहुत सा हिस्सा वह खा जाता है और जो कुछ रह जाता है उसे वह छोड़ देता है। लखनऊ में एक भी शाही दफ़्तर ऐसा नहीं है जहाँ रिश्वत न ली जाती हो।"

× × × ×

"हैदरी नाम का एक इतिहास है। वह गद्य में है। आज-कल 'बादशाह सलामत' उसका अनुवाद पद्य में करने लगे हैं। इसलिए लखनऊ के जितने कवि, कुकवि और सुकवि हैं सब बादशाह को रात के ९ बजे से ३ बजे तक घेरे रहते हैं। वज़ीर, स्त्रियाँ, गायक और दुश्चरित्र नपुंसकों को छोड़ कर यही लोग ऐसे हैं जिनकी पहुँच आज-कल बादशाह तक है। गत जनवरी में जब से मैं यहाँ आया हूँ तब से यही तमाशा हो रहा है"।

× × × ×

"बादशाह को यह डर लगा रहता है कि कहीं उसकी सबसे बड़ी बेगम उसे ज़हर न दे दे। वह उसे मार कर अपने बेटे को गद्दी पर बिठाना और अपने एक प्रेमपात्र को कानपुर से अपने पास बुला लेना चाहती है। बादशाह की दूसरी बेगम गवैयों के सरदार रज़ीउद्दौला से मैत्री रखती है। उसे ऐसा करने से रोकते बादशाह डरता है। वह समझता है कि कहीं वह भी न मुझे ज़हर देकर अपने मित्र के साथ रामपुर चली जाय"!

स्लीमन साहब ने एक ख़ानगी चिट्ठी इलियट साहब को लिखी थी। वह उनकी दिनचर्या में छपी है। उसमें आप कहते हैं कि मुझको यहाँ से निकालने के लिए १५ लाख रुपये ख़र्च किये जाने का विचार हो रहा है। लोग नहीं चाहते कि मैं किसी तरह के सुधार की कोशिश करूँ। इसी लिए अनेक षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं। मैंने सरकारी तौर पर जो चिट्ठी भेजी है उसमें लिखा है कि वज़ीर की सालाना नज़रों का टोटल औसत सात लाख रुपया है। पर अब वह बढ़ कर १२ लाख हो गया है।

११ सितम्बर १८५४ को, लखनऊ से बदली होने के समय, जो पत्र स्लीमन साहब ने लार्ड डलहौसी को लिखा था उसमें एक जगह आप कहते हैं—

"फ़ारिस के शाह की तरफ़ से वाजिदअली के नाम कुछ बनावटी चिट्ठियाँ पकड़ी गई हैं। उनमें हिन्दुस्तान जीत कर आपस में बाँट लेने की बात है। मैंने बादशाह से इस विषय में चर्चा की; पर बादशाह ने कहा कि मैं इन चिट्ठियों की बात बिलकुल नहीं जानता। कुछ भी हो, बादशाह का चित्त स्थिर नहीं; वह बहुत ही अव्यवस्थित हो रहा है। कुछ दिनों में, बात यहाँ तक बिगड़ जानेवाली है कि फिर उसका बनना असम्भव हो जायगा। वज़ीर और उसके आउरदों ने बम्बई और कलकत्ते में अपने एजंट रक्खे हैं। उनकी सहायता से वे सैकड़ों तरह के बहाने बतला कर बादशाह को लूट रहे हैं।"

अवध का गैज़ेटियर, अवध से सम्बन्ध रखनेवाले पारलियामेंट के काग़ज़-पत्र, इरविन, लारेन्स और स्लीमन आदि के लेख और शबाबे लखनऊ नामक अवध के नव्वाब वज़ीरों के समय के इतिवृत्त से वाजिदअलीशाह के समय का बहुत कुछ हाल मिलता है। पर जहाँ देखो वहाँ उनके दुर्व्यसनों ही का ज़िक्र है। इन सब पुस्तकों और लेखों से यह साबित होता है कि बादशाह न कभी किसी की शिकायत सुनता था, न किसी की नालिश फ़रियाद सुनता था और न किसी की रिपोर्ट ही को कभी आँख

उठा कर पढ़ता था। वह सिर्फ़ अपनी विषयवासनाओं की सेवा में रत रहता था। उसे न अपने कर्तव्य की परवा थी और न अपने को वह किसी बात के लिए ज़िम्मेदार ही समझता था। गाने-बजानेवालों, मसख़रों और स्त्रियों ही की सुहबत उसे पसन्द थी। वह अपने घर के ही काम-काज की देख-भाल न कर सकता था; मुल्क के कारोबार देखने की उसे कहाँ फ़ुरसत थी? कभी कभी वह अपने वज़ीर, अलीनक़ीख़ाँ, को अपने पास आने देता था। पर जब वज़ीर साहब बादशाह से मिलते थे तब इस तरह की बात-चीत करते थे जिससे यह साबित होता था कि जो कुछ बादशाह को करना चाहिए वह सब वह कर रहा था; और अधिक करने की उसे कोई ज़रूरत न थी। वह अपने भाई, चचा और शहर के रईसों और अमीरों से कभी न मिलता था। बादशाह की बनाई हुई कविता की तारीफ़ करने के लिए सिर्फ़ दो चार महाकवि उसके पास जाने पाते थे। जब कभी वह घोड़े या गाड़ी पर सवार होकर बाहर निकलता था तब यदि कोई साहस करके उसे कुछ लिख कर देना चाहता था तो वह पकड़ लिया जाता था। जिन लोगों पर सख़्ती होती थी; जिनकी रियासतें छिन जाती थीं; जिनके कुटुम्बी मार डाले जाते थे—वे कभी कभी अर्ज़ियाँ लेकर, बादशाह के बाहर निकलने पर, रोते चिल्लाते हुए उन्हें देने दौड़ते थे। पर वे लोग या तो क़ैद कर लिये जाते थे, या उन्हें और किसी तरह की सख़्त सज़ा दी जाती थी! लिखा लोगों ने ऐसा ही है। झूठ सच की राम जाने। बादशाह के बाप और दादे इत्यादि दरबार में आते थे। शाही ख़ानदान के आदमियों और अमीर-उमरा लोगों से वे मिलते थे। अर्ज़ियाँ और रिपोर्टें वग़ैरह वे या तो स्वयं पढ़ते थे या दूसरों से पढ़ा कर उन्हें सुनते थे। इसके बाद वे हुक्म लिखाते थे और अपने सामने ही सब काग़ज़-पत्रों पर अपनी मुहर करते थे। तख़्त मिलने पर कुछ दिनों तक वाजिदअलीशाह ने भी ऐसा ही क्रम जारी रक्खा। पर उन्होंने बहुत जल्द दरबार में आना बन्द कर दिया और मुहर वग़ैरह सब अपने वज़ीर को दे दिया। धीरे धीरे वज़ीरे-आज़म की भी हालत बादशाह ही की जैसी हो गई। लोगों की पहुँच उस तक भी मुश्किल से होने लगी। फल हुआ कि देश में अराजकता फैल गई और घूसख़ोर और लुटेरों की बन आई।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफ़सरों ने वाजिदअलीशाह को दो वर्ष की मुहलत दी थी। पर सुधार होना तो दूर रहा, राज्यप्रबन्ध में और भी अधिक अबतरी होती गई। एक साहब लिखते हैं कि बादशाह का सबसे बड़ा हौसला यह है कि "दुनिया भर में जितने आदमी बहुत ही अच्छा तबला बजाते हों, बहुत ही अच्छा नाचते हों, बहुत ही अच्छी कविता करते हों उनसे भी मेरा नम्बर बढ़ जाय। राज्य करने के वह बिलकुल योग्य नहीं। पर वह अपने मन में यह समझता है कि चाहे जो काम हो उसे और कोई आदमी उससे अच्छा नहीं कर सकता। इसी से वह राज़ी ख़ुशी अपना तख़्त किसी दूसरे को नहीं देना चाहता।"

एक और साहब लिखते हैं—"वह राज्य करने की अपनी परम अयोग्यता के नये नये उदाहरण हर रोज़ दिखाता है। अभी इसी मुहर्रम में, कई दफ़े, अपने गले में एक ताशा लटका कर वह गली गली उसे पीटता फिरा। इससे उसके कुटुम्बियों ने अपनी बड़ी बेइज़्ज़ती समझी। और लोगों को क्या? उन्होंने तो ख़ूब ही तमाशा देखा! दो तीन वर्ष से बादशाह के कुटुम्बवालों को जो मासिक मिलता था वह नहीं मिला। इससे बहुतों को अपने कपड़े-लत्ते तक बेच कर पेट पालना पड़ा।"*

कप्तान बर्ड लखनऊ के रेज़िडेंट के नायब थे। उन्होंने बादशाह से कई दफ़े कहा कि आप इन स्वार्थी, नीच और तुच्छ गाने-बजानेवालों को निकाल दीजिए; इनको अपने पास न आने दीजिए; इनके पास बैठने उठने से आप भी इन्हीं के स्वभाव के हो जायँगे; आपका सबसे बड़ा कृपापात्र रज़ीउद्दौला विश्वास के लायक़ नहीं—वह आपकी बेगम, सरफ़राजमहल, के यहाँ आता जाता है। पहले तो इस उपदेश का कुछ असर नहीं हुआ। पर जब ये लोग तरह तरह के जाल फैलाने और फ़रेब करने लगे तब

*The King every day manifests his utter unfitness to reign in some new shape. He, on several occasions, during the Moharram Ceremonies, which took place lately, went along the streets beating a drum tied round his neck, to the great scandal of his family and the amusement of his people. The members of his family have not been paid their stipends for from two to three years, and many of them have been reduced to the necessity of selling their clothes to purchase food. Sleeman's journey through Oudh Vol 2, page 389

बादशाह ने उन्हें क़ैद करके, जून १८५० में, गङ्गा-पार भेज दिया। जो कुछ माल-मत्ता उनके पास था वह भी छीन लिया। पर वे लोग पहले ही लाखों रुपये अपने अपने घर भेज चुके थे। नवम्बर में वाजिदअलीशाह ने सरफ़राजमहल से विवाह-बन्धन तोड़ दिया और उसे मक्के की हज के लिए भेज दिया। यह स्त्री सदाचारिणी न थी। उसके विषय में लखनऊ के रेज़िडेंट के अँगरेज़ी लेख का कुछ अंश नीचे, पादटीका में, यथावत् दिया जाता है।*

रज़ीउद्दौला, उर्फ़ गुलामरज़ा, रामपुर का रहनेवाला था। उसके साथी जितने तबलची, सारङ्गीवाले और गवैये वग़ैरह थे सब उसी तरफ़ के थे। गुलामरज़ा की एक बहन भी लखनऊ में थी। इन लोगों ने अजीब तरह के धोखे दे देकर बादशाह से रुपया वसूल किया। इसी धोखेबाज़ी के कारण बादशाह ने उन्हें निकाला। एक आदमी का नाम था सादिक़अली। वह फ़क़ीर के वेश में मुफ़्तीगञ्ज (लखनऊ) में आकर रहने लगा। उस समय वाजिदअलीशाह की तबीयत अच्छी न थी। आपका दिल धड़कता था। रज़ीउद्दौला ने बादशाह से कहा कि यहां एक परियों का राजा (आमिले-जिन्नत) आया है। आप उससे मिलिए; वह आपको ज़रूर अच्छा कर देगा। बादशाह कई दफ़े उससे मिला। अपने यहाँ नहीं, उसके घर पर। उसने बादशाह को बेतरह ठगा। एक कमरे में दो छतें लगा कर और दोनों छतों के बीच बैठ कर उसने अद्भुत अद्भुत तरह की बोलियाँ सुनाईं। परियों के मान-दान में बादशाह से उसने लाखों रुपये ऐंठे। रज़ीउद्दौला से बादशाह की बीमारी का सब हाल उसे मालूम ही हो गया था। इससे उसने रोग का कारण और उसकी सब व्यवस्था पूरी पूरी कह सुनाई। एक अद्भुत लिपि में उसने बादशाह को कई बार पत्र भी भेजे। बादशाह को यह सुझाया गया कि वे पत्र सब जिन्नती भाषा में हैं, क्योंकि जिनों के शाहंशाह (सादिक़अली) और लिपि में पत्र नहीं लिखते। महीनों तक ये तमाशे होते रहे और वाजिदअलीशाह को बेवक़ूफ़ बना कर ये लोग उसे लूटते रहे। इसकी ख़बर कहीं उमराव या अमरू बेगम को लग गई। उसने भण्डाफोड़ कर दिया। बादशाह ने सादिक़अली को पकड़ बुलाया। २ दिसम्बर १८४६ को जिनराज पकड़ आये। आकर आपने अपने सारे जाल का हाल साफ़ साफ़ कह सुनाया। उसने कहा कि सिर्फ़ रुपया कमाने के इरादे से मैंने यह सब किया है। इस फ़रेब में आपके कृपापात्र रज़ीउद्दौला और उसके साथी भी शामिल हैं। तब, रात को बादशाह ने वज़ीर और रज़ीउद्दौला दोनों को बुला भेजा और सादिक़अली से कहा कि जिस तरह तुम अपने घर पर आ मिले—जिन्नत बनते थे उसी तरह यहां भी बनो। एक कमरा इसके लिए तैयार किया गया। जब सब ठीक ठाक हो गया तब बादशाह उसके भीतर घुसा। घुसते ही एक ख़ौफ़नाक आवाज़ ऊपर से आई। पर छत में कहीं दर्ज़ न थी। ज़रा देर में "सलाम आलेकुम" सुनाई दिया और छतों के बीच परीराज प्रकट हो गये। उन्होंने दो एक आभूषण और प्रसाद वग़ैरह बादशाह को वहीं से बांटे और बांट कर फिर ग़ायब हो गये। तब बादशाह ने रज़ीउद्दौला की ख़ूब ख़बर ली और कहा कि तुम लोग पहले दरजे के नमकहराम हो। इसी तरह तुम सब मुझे ठगते रहे हो। रज़ीउद्दौला और उसके साथी सआदतअलीख़ाँ के रौज़े में रहते थे। वहाँ पहरा बिठा दिया गया और बिना तलाशी के किसी को आने जाने की सख़्त मनाई हो गई। पर रज़ीउद्दौला की बहन इसके पहले ही वहाँ से निकल भागी थी। इस घटना के बाद भी ये गन्धर्वराज, रज़ीउद्दौला, वहां बहुत दिनों तक रहे। बादशाह उसे निकालना चाहता था, पर उसकी इस इच्छा में अनेक व्याघात पैदा होते थे। अन्त में रेज़िडेंट के बहुत ज़ोर लगाने पर वाजिदअलीशाह को उससे नजात मिली।

बादशाह की मूर्खता की कौन कौन सी बात कही जाय। कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनको सुन कर बेहद घृणा होती है; पर आप उन्हीं में मग्न थे। उनके बिना आपको चैन ही न था। उन सबका लिखना

---

*She had long been co-habiting with the Chief singer, Ghulam Raza, and was known to be a very profligate woman. She is said to have given his Majesty to understand that she would not consent to remain in the palace with him without the privilege of choosing her own lovers, a privilege which she had freely enjoyed before she came into it, and could not possibly forego.

यहाँ मुनासिब न होगा। हाँ, एक छोटी सी बात यहाँ पर लिखी जाती है। वाजिदअलीशाह की माँ के पास एक परिचारिका थी। उस पर लखनऊ के बादशाह सलामत लुब्ध हो गये। आपने उस लौंडी से शादी करना चाहा। माँ ने बहुत समझाया, पर उसकी दाल न गली। जब बाहशाह की बेक़रारी बहुत ही बढ़ गई तब एक माया रची गई। आपकी माँ ने कहा कि इस लड़की की गरदन के पीछे साँपिन का चिह्न है। मनुष्य तो क्या, इस निशानवाला घोड़ा तक कोई नहीं रखता। मैं डरती हूँ कि यदि आप इसे अपनी बेगम बनावेंगे तो कहीं आप और आपकी औलाद दोनों पर आफ़त न आ जाय। पर असल मतलब बेगम का यह था कि वह उस लड़की को देना न चाहती थी और न वह लड़की ही बादशाह की बेगम बनना चाहती थी। माँ की बात सुन कर वाजिदअली ने कहा कि मेरे अनेक बेगमें हैं; सम्भव है, उनमें से भी बहुतों के साँपिन हो; और इसी सबब से मैं बीमार रहता होऊँ। बेगम ने कहा—"बेशक, हम लोगों का भी यही ख़याल है। पर आपके डर से हमने यह बात आपसे आज तक नहीं कही"। इस पर प्रधान हीजड़े बशीर को हुक्म हुआ कि तुम सब बेगमों की गरदनों की परीक्षा करो। परीक्षा का फल भयङ्कर हुआ। आठ बेगमों की गरदनों में यह सर्वनाशी निशान पाया गया। उनके नाम—निशात-महल, ख़ुरशेद-महल, सुलेमाँ-महल, हज़रत-महल, दारा बेगम, बड़ी बेगम, छोटी बेगम और हज़रत बेगम। फ़ौरन ही इनसे विवाह-बन्धन तोड़ दिया गया और हुक्म हुआ कि जो कुछ इनके पास हो लेकर ये महलों से चली जायँ! कुछ लोगों ने कहा कि मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू लोग सामुद्रिक-शास्त्र अच्छा जानते हैं। इस पर हिन्दू-पण्डित बुलाये गये। उन्होंने कहा कि गरम लोहे से साँपिन का सिर दाग़ देने से विपत्ति की सम्भावना दूर हो जायगी। पर बड़ी और छोटी बेगम को छोड़ कर और किसी ने अपना बदन जलाया जाना और विवाह-बन्धन तोड़ने के बाद रहना मञ्जूर न किया। अतः वे क्रोध में आकर फ़ौरन ही महलों से बाहर हो गईं!

सआदतअली के मरने पर लखनऊ के शाही ख़ज़ाने में १४ करोड़ रुपया ख़र्च होने से बच रहा था। उसके बेटे ग़ाज़ीउद्दीन ने उसमें से ४ करोड़ ख़र्च कर दिया और मुल्क से जो वसूल हुआ वह भी ख़र्च कर दिया। उसके बाद उसके बेटे ने बचे हुए १० करोड़ में से ९ करोड़ ३० लाख उड़ाया। रहा ७० लाख। इसमें से महम्मदअली ने ३५ लाख ख़र्च किया। अमजदअली ने बचे हुए ३५ लाख को बढ़ा कर ९२ लाख कर दिया। इसके सिवा कई लाख अशरफ़ियाँ भी ख़ज़ाने में थीं और बहुत सा रुपया गवर्नमेन्ट के प्रामिसरी नोट्स के रूप में भी था। वह सब वाजिदअलीशाह को मिला। आप १८४७ ईसवी में तख़्त पर विराजे। १८५१ तक आपने सारी अशरफ़ियाँ गला डालीं। शायद बेगमों के लिए उनके ज़ेवर बन गये। प्रामिसरी नोट्स भी सब आपने उड़ा डाले। और रुपया जो ख़ज़ाने में था वह भी सब आपने ख़र्च कर डाला। आपका ख़र्च आमदनी की अपेक्षा कोई २० लाख अधिक था! पाँच वर्ष में ५५ लाख रुपया आप पर, अपने नौकरों और शाही घराने के आदमियों का देना हो गया। उन लोगों को दो दो तीन तीन वर्ष की तनख़्वाह ही न दी जा सकी।

वाजिदअली के वज़ीरे-आज़म का नाम था अलीनक़ी ख़ाँ। वज़ीर साहब ने वाजिदअली और वाजिदअली के राज्य को ख़ूब ही मटियामेट किया। वज़ीर के विषय में स्लीमन साहब की राय सुनिए—"वज़ीर विश्वासपात्र आदमी नहीं है। इतना अयोग्य आदमी मैंने कभी नहीं देखा। क़ायदे से काम-काज करना क्या चीज़ है, वह जानता ही नहीं। गाने-बजानेवालों, वेश्याओं, हीजड़ों और ऐसे ही और नीच आदमियों को वह राज्य का रुपया बाँट रहा है। क्योंकि बादशाह के यहाँ ऐसे ही लोगों का अधिक आदर है। यही लोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में राज्य के बड़े बड़े ओहदों का उपभोग कर रहे हैं। कहीं भी आप जाइए, इन लोगों की प्रभुता का पता आपको अवश्य लगेगा। प्रजा को ये लोग उलटे छुरे से मूड़ रहे हैं। न ऐसा घृणित राज्य मैंने कभी देखा और न ऐसा अयोग्य बादशाह।"

वज़ीर ने अपनी लड़की बादशाह को व्याह दी थी। अपनी विज़ारत मज़बूत करने के लिए मानों उसने इस व्याहरूपी जाल में बादशाह को फँसा लिया था।

वह हमेशा बादशाह की तारीफ़ किया करता था। जो कुछ बादशाह करता था वज़ीर उसको अच्छा कहता था। वह अपनी बातों से बादशाह को सुझाता था कि न आपके समान लायक़ और कोई बादशाह ही हुआ और न आपका ऐसा अच्छा राज्य-प्रबन्ध ही कभी किसी ने किया। आपकी राज्य-प्रणाली सर्वथा निर्दोष है। इसे ऐसा ही जारी रखिए। वज़ीर साहब की यही पवित्र मन्त्रणा थी। इसी में उसका और उसके आडरदों का भला भी था।

वाजिदअलीशाह हमेशा अपने रङ्ग में मस्त रहते थे। उन्हें राज्य के काग़ज़ात देखने की फ़ुरसत ही न थी। रेज़िडेंट के भेजे हुए पत्र भी आप अकसर न देखते थे। उनके जवाब बहुधा और ही लोग, बिना उनसे पूछे, भेज दिया करते थे। एक दफ़े बादशाह अपने ख़वास से नाराज़ हो गया। उसका नाम था हसनख़ाँ। उसके घर की तलाशी ली गई। वहाँ काग़ज़ों के कई बंडल मिले। उनमें रेज़िडेंट के भेजे हुए भी कई लिफ़ाफ़े थे! उन पर "ज़रूरी" लिखा था। पर वे खोले तक न गये थे! यह हालत बादशाह की थी। वज़ीर साहब को भी राजकाज करने की कम फ़ुरसत रहती थी। जो काग़ज़ वह देखता था उस पर न अपने हाथ से हुक्म लिखता था और न दस्तख़त ही करता था। वह सिर्फ़ देखने की तारीख़ लिख देता था। महीना, साल और हुक्म उसके नायब, मुहर्रिर, दोस्त और मेहरबान इत्यादि लिखा करते थे। जब कोई त्योहार वग़ैरह आ जाता था तब काग़ज़ों के ढेर लग जाते थे। वज़ीर साहब हर मिसल के ऊपर सिर्फ़ २,३,१०,२१ इत्यादि देखने की तारीख़ के सूचक अङ्क लिख कर सबकी गठरी बना कर, उसे अपने सहायक मुलाज़िमों को भेज कर, निश्चिन्त हो जाते थे। उन काग़ज़ों में चाहे जैसी ज़रूरी बातें हों, वज़ीर साहब को कुछ परवा न थी। आपके नायब और विश्वासपात्र मुलाज़िम ही आपके लिए नज़रानों की फ़िक्र करते थे। जो कुछ वज़ीर को इस तरह मिलता था उसका हिस्सा वे लोग भी पाते थे। वे वज़ीर की नमकहलाली का पूरा पूरा ज्ञान रखते थे। इसलिए, वज़ीर उनको दण्ड भी न दे सकता था। प्रजापीडन-सम्बन्धी उनके बड़े बड़े अपराधों पर उसे धूल डालनी पड़ती थी। प्रजा भी ऐसों के ख़िलाफ़ शिकायत करने से डरती थी। राज्य से मालगुज़ारी का जो रुपया वसूल होता था उसका सिर्फ़ आधा तिहाई मुश्किल से ख़ज़ाने तक पहुँचता था। बाक़ी बीच ही में उड़ जाता था। क्योंकि पियादे से लेकर वज़ीर तक को उसमें से हिस्सा मिलता था।

जब देश में अराजकता की सीमा बहुत ही बढ़ गई तब लखनऊ के रेज़िडेंट स्लीमन साहब सब बातों को अपनी आँखों से देखने के लिए दौरे पर निकले। उन्होंने तीन महीने में अपना दौरा ख़तम किया। जो कुछ उन्होंने देखा उससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। देश में चोरों, डाकुओं और लुटेरों की इतनी अधिकता थी और उन लोगों का साहस यहाँ तक बढ़ गया था कि ख़ुद रेज़िडेंट साहब का ख़ेमा उन्होंने कई बार लूट लिया! साहब कहते हैं कि शाम के वक्त, अपने तम्बू के भीतर से मेरा निकलना मुश्किल हो गया है। मैं निकला कि सैकड़ों आदमियों ने मुझे घेर लिया। कोई रोता है, कोई चीख़ता है, कोई दुहाई देता है, कोई अरज़ी हाथ में लिये दिखा रहा है। पर मुझे खेद है, मैं इन लोगों की फ़रियादें नहीं सुन सकता। मेरा काम इतना ही है कि मैं इनकी शिकायतें दरबार तक पहुँचाऊँ। पर वहाँ कोई सुननेवाला भी तो हो। इन लोगों में से कितनी ही स्त्रियाँ हैं। इन स्त्री-पुरुषों के प्यारे से प्यारे कुटुम्बी और रिश्तेदार मार डाले गये हैं; इनके मकान जला दिये गये हैं; इनका माल, असबाब, रुपया, पैसा लूट लिया गया है; इनकी ज़मीन छिन गई है; इनके पके पकाये खेत काट लिये गये हैं। यह सब एक ही गाँव, या पास के गांवों, में रहनेवाले बदमाशों ने किया है। यही नहीं, किन्तु आमिल के ख़ीमे के साथ के आदमियों तक ने इन बेचारों को लूट कर इन्हें भिखारी बना दिया है। इस तरह के ज़ुल्म करते ये लोग ज़रा भी नहीं डरते। न इनको कोई सज़ा देनेवाला है, और न पता लगाने पर भी इनके पास से लूट का माल छीन कर उसके मालिक तक पहुँचानेवाला है।

शाही अफ़सरों में इतनी भी शक्ति नहीं कि वे शाही रुपया तो वसूल कर सकें। यदि बदमाश और ज़ालिम लुटेरों को वे पकड़ना भी चाहें तो पकड़ नहीं सकते। उनके पास पकड़ने के साधन ही नहीं! जो फ़ौज उनके पास है वह निकम्मी है; जो तोपें हैं वे भी निकम्मी हैं; जो जानवर हैं

वे भी अधमरे हो रहे हैं। कहीं कहीं तो शाही अफ़सर इन बदमाशों के मुखियों से मिले हुए हैं। उनकी सहायता से वे बाग़ी और बिगड़ैल तअल्लुक़ेदारों से शाही मालगुज़ारी वसूल करते हैं। ये बदमाश, तअल्लुक़ेदारों और मालगुज़ारों के मार डालते हैं। इस निर्दयता के लिए इन्हें इनाम मिलता है। और, शाही नाज़िम या आमिल मारे गये तअल्लुक़ेदारों की ज़मीन औरों के दे देते हैं!

स्लीमन साहब ने देश में अराजकता का जो हाल लिखा है वह बड़ा ही करुणाजनक और साथ ही कोपकारक है। उसकी सचाई पर विश्वास नहीं आता। पर जिस पुस्तक में देखिए सब कहीं वही प्राणहानि, वही लूट-खसोट, वही अग्निदाह, वही सर्वस्वापहरण! इससे यह कोई नहीं कह सकता कि जिस स्थिति का वर्णन किया गया है वह बिलकुल ही कपोलकल्पित है। उसमें अतिशयोक्ति हो सकती है, उसमें अतिरञ्जना हो सकती है; पर निर्मूलता नहीं। स्लीमन साहब कहते हैं—

"मुझे कोड़ियों अर्ज़ियाँ रोज़ लेनी पड़ती हैं। मैं देखता हूँ कि अर्ज़ी देनेवालों के होठ कँप रहे हैं और आँखों से आँसू टपक रहे हैं। क्यों? जो कुछ उनके पास था, लूट लिया गया है; उनके अज़ीज़ों का सिर काट लिया गया है या अत्यन्त ही दुःखदायक रीति से मारते मारते उनके प्राण निकाल लिये गये हैं; उनके घर समूल खोद डाले या जला दिये गये हैं। यह सब किया किसने? बदमाश लुटेरों ने। इन लुटेरों ने ये लोमहर्षण अत्याचार, अपने को कुलीन और इज्ज़तदार माननेवाले राजाओं और तअल्लुक़ेदारों की सहायता से किये हैं! जिन पर अत्याचार हुए हैं उन्होंने अत्याचारियों के कभी तकलीफ़ नहीं पहुँचाई; उनकी मरज़ी के ख़िलाफ़ कभी कोई काम नहीं किया; उनका कभी कोई अपराध नहीं किया। फिर भी इन पर यह ज़ुल्म क्यों? इसलिए कि उनके पास कुछ सम्पत्ति थी, जिसकी ज़रूरत उन अत्याचारी मनुष्यरूप राक्षसों को थी। इसलिए कि वे ऐसी ज़मीन के जोत बोकर अपना गुज़रान करते थे जिसे वे हत्यारे लुटेरे छीन लेना चाहते थे; या जिसे वे छोड़ कर भाग गये थे, या जिसे वे बेजोती बोई पड़ी रखने में अपना लाभ समझते थे। इन हमलों में स्त्री-पुरुष, बालक-बूढ़े किसी पर दया न दिखाई जाती थी। इन सर्वापहारी लुटेरों के दल के नायक बहुधा वे लोग थे जो अपने को पृथ्वीपति समझते हैं और जो इस बात का दावा करते हैं कि हम सूर्य और चन्द्रमा के वंशज हैं। मुसल्मान भी ऐसे दलों के मुखिया हैं। शाही अमलों से जिस तअल्लुक़ेदार की नहीं बनती—फिर चाहे वह अनबन जिस कारण से हो—वह समझता है कि बादशाह उसका शत्रु है; अतएव उसके प्रतिकूल हथियार उठाना और उसकी प्रजा का सर्वनाश करना उसका कर्तव्य है। जो लोग अँगरेज़ी फ़ौज में सिपाही या उहदेदार हैं वे अपनी शिकायतें रेज़िडेंट की मारफ़त कर सकते हैं। उनके सिवा और लोगों से यह कहना कि तुम किसी शाही अफ़सर के पास जाकर फ़रियाद करो मानों उसकी दिल्लगी करना है; मानों उसके ताज़े घावों पर नमक छिड़कना है। कोई आमिल, नाज़िर, चकलेदार या और कोई अफ़सर यह नहीं समझता कि बदमाशों और अत्याचारियों को पकड़ना और दण्ड देना उसका काम है। और, यदि वे पकड़ें भी तो उनको अपनी तरफ़ से खिलाना पड़ता है और अपनी तरफ़ से उनके रहने का प्रबन्ध भी करना पड़ता है। यदि वे उन्हें लखनऊ भेज देते हैं तो कुछ दिनों में वे अपनी रिहाई मोल लेकर फिर वापस आजाते हैं! फिर उनके ख़िलाफ़ सिर काटने, डाके डालने, आदमियों का अङ्ग भङ्ग कर डालने, स्त्रियों की बेइज़्ज़त करने और बड़े बड़े मकानों को जला कर ख़ाक कर देने इत्यादि के चाहे जितने और जैसे पक्के सबूत मिलें उनकी कोई परवा नहीं करता। एक अफ़सर की दी हुई सज़ा के हुक्म की इज़्ज़त दूसरा अफ़सर एक तिनके के बराबर भी नहीं करता"।

१२ जनवरी १८५० ईसवी को रेज़िडेंट साहब का एक पड़ाव नवाबगञ्ज में था। पानी बरसने के कारण साहब को दो एक दिन वहाँ रहना पड़ा। वज़ीरे-आज़म, अलीनक़ी ख़ाँ, भी उस समय वहीं दौरे पर थे। पर आपका प्रबन्ध ऐसा ख़राब था कि आपकी छोलदारियाँ वक़्त पर न आईं। इसलिए रेज़िडेंट साहब को लाचार होकर अपनी दो तीन छोलदारियाँ देनी पड़ीं। यदि वे इतनी कृपा न करते तो वज़ीर साहब को बरसते में पड़ा रहना पड़ता। तीन दिन के बाद वज़ीरे-आज़म तशरीफ़ ले गये। उनके आदमियों ने साहब की कृपा का बदला इस तरह दिया कि तम्बुओं

के प्रायः सभी रस्से वे काट ले गये। बाहर की कुछ क़नातें भी उठा ले गये; और भीतर के दो चार क़ालीन भी ग़ायब करते गये! उनके आदमियों ने जब रेज़िडेंट तक के माल पर हाथ मारा तब दूसरों के माल की तो बात ही न कीजिए। वे लोग जहां जहां ठहरे वहां वहां पास-पड़ोस के गांवों को उन्होंने बड़ी ही निर्दयता से लूटा। रेज़िडेंट के आदमी उनका मुँह ताकते रह गये। लूटने से वे उनको मना न कर सके। वे डरे कि कहीं लुटेरों में वे भी न शामिल समझे जायँ। आमिलों और चकलेदारों के आदमी इन लोगों से भी बदतर थे। जितने शाही अफ़सर थे प्रायः सभी इसी तरह लूट खसोट करते थे। न उनको प्रजा पर दया आती थी, न बादशाह के बदनाम होने ही की परवा उन्हें थी। इस ज़ुल्म को रोकने की कोई ज़रा भी चेष्टा न करता था। यदि कोई अफ़सर देखता कि किसी ग़रीब आदमी का छप्पर उसके आदमियों के सिर पर, तापने के लिए उठाया जा रहा है, या गन्ने, गेहूँ, ज्वार या धान से लहराता हुआ किसी का खेत चारे के लिए काटा जा रहा है, तो भी वह कुछ न कहता। मानों ये बातें इतनी तुच्छ थीं कि ध्यान देने योग्य ही न थीं।

जब कोई शाही पैदल फ़ौज या रिसाला "मार्च" करता था, या जब कोई शाही अफ़सर दौरे पर होते थे, तब वे चारा कभी मोल न लेते थे। उनको शाही हुक्म था कि वे जितना चारा चाहें प्रजा से मुफ़्त ले लें। यदि रिसाले में एक हज़ार घोड़े हों तो उन सबके लिए प्रजा ही चारा दे। लकड़ी भी मुफ़्त में देने का हुक्म उन्हें था। इन चीज़ों के लिए प्रति दिन आदमियों का एक दल बाहर निकलता था और जहां जो चीज़ मिलती थी ज़बरदस्ती ले आता था। ऐसे दलों के आदमी घास, भूसा और ईंधन ही न लेते थे, किन्तु और जो कुछ उनके हाथ लगता था वह भी छीन लाते थे। इस कारण जहां से फ़ौज निकलती थी, या जहां किसी अफ़सर का पड़ाव पड़ता था, वहां आस पास के गांवों में शायद ही किसी के दरवाज़े छप्पर रहने पाता हो। चारे की भी इतनी लूट होती थी कि बेचारे ग़रीब किसानों के जानवरों को भूखों मरने की नौबत आती थी।

शाही जमाने में कोई सात सौ अख़बारनवीस थे। उनका काम था कि जितनी बातें जानने लायक हों उनकी रिपोर्ट वे दरबार को करें। बहुधा ऐसी वारदातें होती थीं कि सैकड़ों आदमी मारे जाते थे; कितने ही गांव जला कर ख़ाक कर दिये जाते थे; लाखों रुपये का माल असबाब लुट जाता था—पर ये लोग ज़बान तक न हिलाते थे—एक हुरूफ़ तक काग़ज़ पर लिखने की मिहनत न उठाते थे। विद्रोही लोग उनका मुँह रुपये से बन्द कर देते थे। भारी भारी वारदातों का जब पता लगता था तब अख़बार-नवीसों की रिपोर्टें ढूँढ़ ढूँढ़ कर पढ़ी जाती थीं, पर उनमें ऐसी वारदातों का नामोनिशान तक न मिलता था। इन लोगों की तनख़्वाह में बादशाह का तीन हज़ार रुपया महीने में उठता था, अर्थात् साल भर में छत्तीस हज़ार। पर ये लोग इतना माल मारते थे कि कोई डेढ़ लाख रुपया ये दरबार के अफ़सरों और उनके आउरदों को उलटा हर साल नज़रों में दे डालते थे! जब इनकी रिपोर्टों में किसी घटना का उल्लेख न मिलता था तब इनसे कैफ़ियत मांगी जाती थी। पर डेढ़ लाख रुपया लेनेवालों की बदौलत उनका बाल न बांका होने पाता था। ये वैसे ही शेर बने रहते थे और विद्रोहियों के अत्याचारों को छिपाते चले जाते थे। ये अख़बारनवीस यदि रिपोर्ट करते भी थे तो कुछ फल न होता था। अवध-सम्बन्धी एक किताब में ऐसी १७ रिपोर्टों का हवाला है। उन सब पर वज़ीर के नाम दरबार का हुक्म हुआ कि रिपोर्ट की गई बातों की वह जांच करें और अत्याचारियों को दण्ड दें। परन्तु वज़ीर ने उन हुक्मों की रत्ती भर भी परवा न की; और चोर, बदमाश, लुटेरे पूर्ववत् लूट मार करते, आदमियों को मारते और गांवों को जलाते रहे।

बादशाह के नाज़िमों अर्थात् गवर्नरों को बहुत सी फ़ौज रखनी पड़ती थी। जहां जहां वे जाते थे फ़ौज उनके साथ रहती थी। कुछ तो लोगों को अपना प्रभुत्व दिखलाने के लिए वे फ़ौज लिये हुए घूमते थे और कुछ इसलिए कि बिना फ़ौज के बाहर निकलते वे डरते थे। पृथ्वी-पति लोग अकसर अपनी मालगुज़ारी न देते थे। अतएव नाज़िमों के वे शत्रु हो जाते थे और यदि उन्हें कमज़ोर पाते थे तो रास्तों में लूट लेते थे और मार तक डालते थे।

शाही फ़ौज बुरी दशा में थी। फ़ौज के कमांडर लखनऊ

में मौज किया करते थे और जिनकी बदौलत उनको यह पद मिलता था उनकी ख़ुशामद में लगे रहते थे। यहाँ तक कि फ़ौज यदि लड़ाई पर जाती थी तो भी वे बहुधा अपने विलासमन्दिर से बाहर न निकलते थे। जिस पलटन में ९०० जवानों का नाम था उसमें गिनने पर चार पाँच सौ आदमी मुश्किल से निकलते थे। फ़ौज के हथियार पुराने और बेकाम थे। गोली, बारूद अकसर बाज़ार से मोल लेनी पड़ती थी। तोपें इतनी पुरानी और मरम्मत-तलब थीं कि किसी बड़े अफ़सर की सलामी के समय वे अकसर फट जाती थीं। जिन बैलों और घोड़ों के लिए रोज़ दो दो सेर दाने के दाम दिये जाते थे उन्हें दो छटाँक भी न मिलता था! सिपाही की तनख़्वाह चार रुपये थी। उसमें से भी कुछ कट जाता था। उसको अपने ही पैसे से वरदी और हथियार वग़ैरह मोल लेना पड़ता था। सिपाहियों को दस दस बारह बारह महीने तक तनख़्वाह ही न मिलती थी। कभी कभी फ़ौजी अफ़सर उनके हथियार बेच दिया करते थे और जो कुछ उनसे वसूल होता था उसे सरकारी काम में लगा देते थे! इस दशा में भी फ़ौज से यह आशा की जाती थी कि वह बादशाह के लिए लड़े! लड़ाई के समय फ़ौज के सिपाही बहुधा ढूँढ़े ही न मिलते थे और यदि मिलते भी थे तो लड़ाई छिड़ते ही वे भाग खड़े होते थे।

शाही नाज़िम और उनके मुलाज़िम इतने अन्यायी और प्रजापीड़क थे कि वे तअल्लुक़ेदारों से अधिक मालगुज़ारी ज़बरदस्ती वसूल कर लेते थे। मालगुज़ारी वसूल करने के दो तरीक़े थे—इजारा और अमानी। इजारा एक तरह का ठेका था। जहाँ इजारे के द्वारा लगान या मालगुज़ारी वसूल होती थी वहाँ ठेकेदार ज़ुल्म करते थे और जहाँ अमानी के द्वारा वहाँ शाही मुलाज़िम प्रजा को लूटते थे। फिर इन मामलों की सुनवाई न होती थी। मामूली आदमियों की तो बात ही नहीं, बड़े बड़े राजा बरसों लखनऊ में पड़े रहते थे और फिर मूड़ मार कर अपने घर लौट आते थे। इसी कारण से जितने राजा, महाराजा, तअल्लुक़ेदार और ज़मींदार थे सबने फ़ौज रक्खी थी। सबने क़िले बना रक्खे थे। क़िले की बुर्जों पर सबने तोपें चढ़ा रक्खी थीं। जिनको अपनी इज़्ज़त का कुछ ख़याल था, जो अपना तअल्लुक़ा छीने जाने से बचा[ना] चाहते थे, जो अपने असामियों की रक्षा शाही मुलाज़िमों से करना चाहते थे—वे बाग़ी हो जाते थे; नाज़िमों [से] लड़ते रहते थे; मालगुज़ारी देना बन्द कर देते थे और यदि वे अपने को कमज़ोर पाते थे तो कभी जंगल में, कभी ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य में, भाग जाते थे। यदि उनकी रियासत किसी और को मिल जाती थी तो मौक़ा पा[कर] वे उस पर हमला करते थे। ऐसे हमलों में सैकड़ों आदमी काम आ जाते थे। ऐसे दङ्गे-फ़िसाद बराबर हुआ ही करते थे और बादशाही फ़ौज विद्रोहियों का पारिपत्य न कर सकती थी। अवध के वर्तमान तअल्लुक़ेदारों में से, सम्भव है, कुछ लोग इन्हीं पुराने—वाजिदअलीशाह के ज़माने के—तअल्लुक़ेदारों के वंशज हों। इस दशा में उनका यह कहना कि जङ्गलों को साफ़ करके हमने अपनी अपनी रियासतें पैदा की हैं, इस कारण हमीं इनके पुश्तैनी मालिक हैं, बड़ा ही कौतूहलजनक दावा है।

शाही मुलाज़िम ऐसे मक्कार, झूठे, धोखेबाज़ और अन्यायी थे कि उनका हाल सुन कर जी जल उठता है और आन्तरिक घृणा पैदा होती है। छोटे छोटे मुलाज़िमों ही की यह दशा न थी। नाज़िम, अर्थात् गवर्नर या कमिश्नर, तक बड़े बड़े घृणित काम करते थे। जिसके पास वे कुछ देखते थे उसे पकड़ लेते थे; उसे बड़ा ही भयङ्कर शरीर-दण्ड देते थे; किसी किसी को जान तक से मार डालते थे; उनके बाल-बच्चों की दुर्दशा करते थे; उनकी स्त्रियों को अपने घर में डाल लेते थे। जो कोई अपना घर द्वार बेच कर उनको ख़ातिरख़्वाह रुपया देता था या तो वह बचता था, या जो उनका मुक़ाबला करके अपने बाहुबल से अपनी रक्षा कर सकता था वह बच सकता था।

बाराबङ्की के ज़िले में रामदत्त पाँडे नाम का एक महाजन था। उसके पास कुछ इलाक़ा भी था। इलाक़े की मालगुज़ारी उसने पाई पाई चुका दी थी। उसने अस्सी हज़ार रुपया गोंड़ा के नाज़िम, महम्मद हुसैन, को कर्ज़ भी दिया था। एक बार वह अयोध्या जाने के लिए निकला। राह में उसने नाज़िम साहब से भी मिलना मुनासिब समझा। ८ नवम्बर १८५० को वह, तुलसीपुर के राजा के साथ, नाज़िम से मिला। वहाँ नाज़िम साहब ने उसे एकान्त में बुलाया। उसे विश्वा[स]

दिलाया गया कि अलग मिलने में कोई डर नहीं। नाज़िम साहब के सामने उसका बाल भी न बांका होगा। जब रामदत्त पाँडे नाज़िम से मिला तब उससे नाज़िम ने और रुपया कर्ज़ मांगा। रामदत्त ने देने से इनकार किया। बस वहीं उसका सिर उतार लिया गया। उसका डेरा लूट लिया गया। उसके साथी मार डाले गये। इतने ही से नाज़िम के सन्तोष न हुआ। उसने रामदत्त की रियासत पर हमला किया; कई गांव और क़सबे लूट लिये; कई जला दिये; सैकड़ों आदमियों को मार डाला और कोई १२ लाख रुपये का माल असबाब लूट ले गया। दरबार को उसने इसकी रिपोर्ट इस तरह की कि रामदत्त ने कई साल से सरकारी मालगुज़ारी न दी थी; जिन लोगों की उसने ज़मानत दी थी उनकी भी मालगुज़ारी अदा करने की उसने कोई चेष्टा नहीं की; बार बार माँगने पर उलटा उसने गुस्ताख़ी से भरे हुए जवाब दिये और ५०० हथियारबन्द आदमी ले कर वह मुझ पर चढ़ आया। मैंने उसका मुक़ाबला किया और बड़ी मुश्किलों में उसे मैंने मारा। इस बहादुरी पर खुश हो कर वाजिदअलीशाह ने अपने इस वीर और स्वामिभक्त नाज़िर को ख़िलत भेजी। पर गोरखपुर के अँगरेज़ मैजिस्ट्रेट, चेस्टर, साहब को सच्ची बात मालूम हो गई। उन्होंने रेज़िडेंट को लिखा। रेज़िडेंट की रिपोर्ट पर नाज़िम साहब निकाले गये। उन पर मुक़द्दमा चला। पहले तो वे भागे, पर पीछे से लाचार होकर वे लखनऊ में हाज़िर हुए। मालूम नहीं उनका क्या हुआ। पर बहुत सम्भव है कि उन्होंने अपनी रिहाई मोल लेली हो और वे बेदाग़ छूट गये हों।

गोंड़ा ज़िले में रघुबरसिंह नाम का एक ठेकेदार था। उसके और उसके मुलाज़िमों के अत्याचार का वर्णन, स्लीमन साहब की किताब में पढ़ कर, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अनेक इज़्ज़तदार आदमियों की इज्ज़त उन्होंने बिगाड़ दी। अनेकों को उन्होंने जान से मार डाला। घर फूँक देना, औरतों को उठा ले जाना; गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं को बेंच लेना तो उनके लिए कोई बात ही न थी। ये लोग जिनको क़ैद कर लेते थे उनको भयानक दण्ड देते थे। जब तक वे ख़ातिरख़्वाह रुपया न देते थे तब तक उनको प्रति दिन बहुत ही हृदयद्रावक दण्ड मिलता था। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों वस्त्रहीन करके बाँध कर पीटे जाते थे; माघ-पूस के जाड़ों में वे वैसे ही विवस्त्र बाहर डाल दिये जाते थे; उनके नाख़ूनों के भीतर जलती हुई लोहे की कीलें गाड़ दी जाती थीं; तेल से भीगा हुआ कपड़ा बांध कर मशाल की तरह उनके हाथ जलाये जाते थे; गीली बारूद लगा कर सूख जाने पर उनकी दाढ़ी में आग लगा दी जाती थी; अङ्गारे की तरह लाल दस्तपनाह से उनकी जीभें बाहर खींच ली जाती थीं और फिर उनमें छेद किये जाते थे!!! एक दो के नहीं, सैकड़ों की ऐसी ही दुर्दशा की जाती थी—स्त्रियों और बच्चों तक के ऊपर दया नहीं दिखाई जाती थी। जो लोग इस तरह मारते मारते मर जाते थे उनकी लाशें कहीं कीचड़ में, कहीं पुराने सूखे हुए कूवों में, कहीं काँटों में फेंक दी जाती थीं और उनके कुटुम्बी और रिश्तेदार उन्हें उठा कर ले जाने तक न पाते थे! इस तरह के घोर दण्ड और उपद्रव होने पर भी उनके शमन करने का कोई ठीक प्रबन्ध न होता था। बादशाह सलामत को अपने गाने, बजाने, और हीजड़ों बेगमों से ही फ़ुरसत न थी। आपके अफ़सर या तो इतने कमज़ोर थे कि ऐसे ऐसे ज़ालिम आदमियों का पारिपत्य ही न कर सकते थे, या वे ख़ुद ऐसे लोगों से मिले हुए थे। वे ख़ुद ही क्या कम निर्दयी, अन्यायी और प्रजापीडक थे!

जिस देश की ऐसी दुर्व्यवस्था हो उसमें चोरों, लुटेरों और डाकुओं का साम्राज्य होना सर्वथा स्वाभाविक है। वाजिदअलीशाह के ज़माने में इन लोगों का बेतरह प्राबल्य था। उनके डर से राह चलना लोगों को मुश्किल हो गया था। किसी का जान-माल सुरक्षित न था। जिसके पास बदमाशों ने चार पैसे देखे उसे ही लूट लिया। गाँव के गाँव जला देना सहज सी बात थी। औरतों और जवान लड़कियों को उठा ले जाना और उनको बेइज़्ज़त करना रोज़ की घटनायें थीं। कुछ ज़मींदार तक बाग़ी हो गये थे। उन्होंने अपने पड़ोसियों की ज़मींदारी छीन ली थी। इन लोगों के ज़ुल्म की कहानी सुन कर बदन कँप उठता है। ऐसे ज़ालिम ज़मींदारों में देवा का ज़मींदार भूरेखाँ और भवानीगढ़ का ज़मींदार महीपतिसिंह प्रमुख थे। इन लोगों के अघोर कर्म्मों की तालिका बहुत बड़ी है। ये आदमियों को जीता जला देते थे; उनके हाथ तोड़ डालते थे; पैर काट डालते थे और इस दुर्गति के बाद उन्हें रास्ते

में फेंक देते थे जहाँ मांसख़ोर पक्षी उनका काम, धीरे धीरे, मर्म्मकृन्तक वेदना देकर, तमाम करते थे। जब तक लोग इनको मनमाना धन न देते थे तब तक उनके साथ ये बड़ी ही निर्दयता और निष्ठुरता से पेश आते थे। किसी किसी की ये नाक काट लेते थे। फिर गधे पर चढ़ा कर गरदन से सुअर का बच्चा लटका देते थे। इस अवस्था में उसे ये गाँव भर में घुमाते थे। गङ्गा, महादेव की मूर्त्ति और क़ुरान को उठा कर ये लोग प्राणदान का अभयवचन देते थे। पर उसके थोड़ी ही देर बाद निःसङ्कोच होकर निरपराध आदमियों का सिर धड़ से जुदा करने में ज़रा भी धर्म्महानि या भय न मानते थे। लोगों की बहू-बेटियाँ उनके घर-वालों के सामने बे-इज़्ज़त करना और काफ़ी रुपया मिलने तक उन्हें अपने पास रखना इनका रोज़ का काम था। ब्राह्मणों के मुँह में थूक देना, उनके मुँह पर मैले का तोबड़ा चढ़ा देना, काँटों पर लिटा कर उन्हें बेदरदी से पीटना इनकी दृष्टि में बहुत छोटी सज़ा थी। जहाँ किसी के घर अच्छी स्त्री इन्होंने देखी तहाँ उसे छीना; जहाँ किसी की अच्छी फ़सल देखी तहाँ उसे काटा। जहाँ किसी के अच्छे जानवर देखे तहाँ उन्हें उड़ाया; जहाँ किसी के क़ब्ज़े में अच्छी ज़मीन देखी तहाँ उसे छीना। इनका इतना आतङ्क था कि लोग इनका नाम सुनते ही काँपते थे।

ज़मींदारों और तअल्लुक़ेदारों को यह वर्णन पढ़ कर लेखक पर कोप न करना चाहिए। लेखक तो सिर्फ़ स्लीमन साहब की किताब से महीपतिसिंह वग़ैरह के कारनामों के कुछ अंश की नक़ल-मात्र कर रहा है।

ऐसे ऐसे पाषाण-हृदय राक्षस दो चार नहीं, अनेक थे। कोई गाँव या क़सबा ऐसा न था जहाँ लूटमार न होती हो। इसलिए हर गाँव में गाँववालों ने पासियों का एक एक दल नौकर कर रक्खा था। ये लोग धनुर्बाण रखते थे और अपने गाँव की फ़सल वग़ैरह की रक्षा दूसरे गाँववालों के आक्रमण से करते थे। इस काम के लिए हर आदमी से, फ़सल कटने पर, उन्हें अनाज मिलता था।

इस दुर्व्यवस्था और प्रजापीडन का हृदयभेदक दृश्य मेजर जनरल स्लीमन ने प्रत्यक्ष देखा। उन्होंने गवर्नमेंट को इसकी रिपोर्ट की और लिखा कि सार्वभौम राजा होने के कारण अवध की इस दुर्दशा को देखते रहना ईश्वर [और] प्रजा, दोनों, की दृष्टि में पाप करना है। और, सुलह[नामे] या सन्धिपत्र की शर्तों के अनुसार ऐसे समय में अ[वध] की राज्य-व्यवस्था में दस्तन्दाज़ी करना न्याय ही हो[गा।] उन्होंने सिफ़ारिश की कि अवध के सूबे का राज्य-प्रब[न्ध] ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने हाथ में ले ले; बादशाह [की] निकम्मी फ़ौज को जवाब दे दे; बादशाह की मान-मर्या[दा] के अनुकूल उसकी पेंशन नियत कर दे; और प्रजा [की] विपत्ति दूर करने की यथासाध्य चेष्टा करे। पर कम्पनी अ[वध] को अपने राज्य में न मिलावे*; अवध की प्रजा के हि[त] के लिए देश का प्रबन्ध वह अपने अफ़सरों द्वारा का[रे] और ख़र्च से जो बचत हो उसे प्रजा के ही लाभ [के] लिए कम्पनी काम में लावे। उन्होंने यह भी लि[खा] कि—"यद्यपि अवध की प्रजा को अराजकता के का[रण] अनेक मर्मकृन्तक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, तथापि [वह] कम्पनी के शासित देश में रहने की अपेक्षा बादशाह [के] अधीन रहना ही अधिक पसन्द करती है। इसका का[रण] यह है कि अँगरेज़ी राज्य में दीवानी कचहरियों में मुक़[दमे] लड़ लड़ कर दोनों पक्षवाले उजड़ जाते हैं; लाभ के[वल] वकीलों और मुख़तारों को होता है। एक रुपये के द[ावे] के लिए चालीस चालीस पचास पचास कोस दूर कचहरि[यों] को दौड़ना पड़ता है। फिर, हमारा क़ानून अनिश्चित ठहरा; वह कई तरह का है; उसी बात के कई अर्थ लगाये जाते हैं; कभी कभी कुछ का कुछ हो जाता है। जज लोग बेपरवा और घमण्डी हैं।"

स्लीमन साहब यह रिपोर्ट भेज कर बीमार पड़ ग[ये] और छुट्टी पर चले गये। उनके बाद जनरल औट्रम ल[ख]नऊ के रेज़िडेंट हुए। १८५४ ईसवी में लार्ड डलहौ[ज़ी] ने जनरल औट्रम से भी एक रिपोर्ट माँगी। उन्होंने लि[खा] कि यहाँ की दुर्व्यवस्था पूर्ववत् बनी हुई है। सिर्फ़ ब[ादशाह] को नज़रें वग़ैरह मिला कर, सालाना, ८ लाख १४ हज़[ार] रुपया मिलता है। १८५३-५४ ईसवी में प्रजा से १ करो[ड़]

* Were we to take advantage of the occasion [to] annex or confiscate Oudh, or any part of it, our go[od] name in India would inevitably suffer; and th[at] good name is more valuable to us than a dozen of Oud[h]
—Major General Sleeman's Dia[ry]

२० लाख रुपया, कर और मालगुज़ारी इत्यादि के रूप में, वसूल हुआ था। उसमें से सिर्फ़ ३० या ४० लाख रुपया लखनऊ पहुँचा! बाक़ी सबका सब शाही मुलाज़िमों ने बीच ही में हड़प कर लिया। जहाँ इतनी आमदनी और इतना ख़र्च वहां न्याय-विभाग के लिए, एक साल में, सिर्फ़ १६ सौ रुपया दिया गया! वज़ीर और दीवान से लगा कर पियादों तक को जनरल औट्रम ने घूसख़ोर बताया।

इस रिपोर्ट को पढ़ कर, १८ जून १८५५ को, लार्ड डलहौज़ी ने अपना कर्तव्य स्थिर किया। उन्होंने निश्चय किया कि अवध का सूबा अँगरेज़ी राज्य में मिला दिया जाय और वाजिदअलीशाह को १२ लाख रुपया साल पेंशन दी जाय।

४ फ़रवरी १८५६ को रेज़िडेंट साहब लाट साहब का ख़रीता लेकर वाजिदअलीशाह से मिले। ख़रीते को पढ़ कर वाजिदअलीशाह को अनिवार्य्य दुःख हुआ। उन्होंने कहा—"मैंने ऐसा क्या अपराध किया जो मुझ पर ऐसा प्रसङ्ग आया"! इसका उत्तर ख़रीते में दे ही दिया गया था। वह यह था कि तुमने १८०१ ईसवी के सन्धि-पत्र के अनुसार काम नहीं किया; अपने देश का सुप्रबन्ध न करने से तुमने सब कहीं अराजकता फैला दी; इससे कम्पनी को तुम्हारा राज्यसूत्र अपने हाथ में लेना पड़ा। तीन दिन में बादशाह को अवध का सूबा कम्पनी के सिपुर्द कर देने का हुक्म हुआ। इस बात को वाजिदअलीशाह ने मंजूर न किया। इससे अँगरेज़ों ने उन्हें जबरन कलकत्ते भेज दिया। वे बहुत रोये धोये; उनके पूर्वजों ने अँगरेज़ों पर जो उपकार किये थे, उनका उन्होंने बार बार स्मरण दिलाया; पर सब व्यर्थ हुआ। अवध अँगरेज़ों का हो गया। १८५६-५७ ईसवी में जब लखनऊ में सिपाही-विद्रोह हुआ तब वाजिदअलीशाह पर यह इलज़ाम लगाया गया कि वे भी उसमें शामिल रहे हैं। इस कारण कलकत्ते के मटिया बुर्ज़ से हटा कर वे वहां के क़िले, फ़ोर्ट विलियम, में रक्खे गये। पर ९ जूलाई १८५९ को लार्ड कैनिंग ने उन्हें इस प्रतिबन्ध से मुक्त कर दिया। तब से, १२ लाख रुपये साल पर, उन्हे वैभवहीन और परतन्त्रदशा में अपने दिन काटने पड़े। २१ सितम्बर, १८८७ ईसवी को उनकी मृत्यु हुई।

वाजिदअलीशाह ने कलकत्ते में भी लखनऊ की एक छोटी सी नक़ल बना दी थी। अपने लिए मनोहर महल और अपनी बेगमों, बालबच्चों और परिचारों इत्यादि के लिए अच्छे अच्छे मकान तैयार करा दिये थे। वहीं आप सदा रहते थे। शायद ही कभी बाहर निकलते रहे हों। जानवरों और चिड़ियों का आपको बड़ा शौक था। उन्हीं से, और कविता से भी, आपका मनोरञ्जन होता था। चिड़ियों और ख़ास ख़ास जानवरों की मुँहमांगी क़ीमत आप देते थे। एक दफ़े एक बाज़ पक्षी की क़ीमत कई हज़ार रुपये—शायद एक लाख—आपने दिये थे। पास काफ़ी रुपया न था। इस कारण आपने सोने के एक पलँग का सोना गला कर बक़ाया क़ीमत अदा की। दया की मात्रा आप में, सुनते हैं, बहुत अधिक थी। आप अपने सारे ख़ानगी मुलाज़िमों और नौकरों को लखनऊ से कलकत्ते ले गये थे। किसी को बरख़ास्त नहीं किया।

वाजिदअलीशाह के वंशज अभी तक कलकत्ते में हैं और गवर्नमेंट की प्रदत्त पेंशन पाते हैं। १८५७ में उनका पुत्र बाग़ियों से मिल गया था। वह राना बेनीमाधवसिंह आदि से मिल कर, ग़दर के समय, अँगरेज़ों से लड़ा था। पर पीछे उसे हार कर नेपाल भाग जाना पड़ा।

इस तरह अपनी विलासप्रियता के वशीभूत होकर वाजिदअलीशाह ने अपने पूर्वजों का राज्य सदा के लिए खो दिया। वाजिदअली के जैसे कुछ कुलक्षण आज-कल इस प्रान्त—इस प्रान्त ही के क्यों, इस देश के भी—कुछ नर-राजों और महीपमानियों में भी पाये जाते हैं। उनको अपने मान, सम्मान, धन, जन और प्रजा की बहुत ही कम परवा रहती है। क्या वे अवध के इस अन्तिम बादशाह के चरित से कुछ उपदेश ग्रहण करेंगे?

महावीरप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी में सम्पादन-कला की शिक्षा।

हिन्दी-संसार में भी अब यह बात मान ली गई दीखती है कि अच्छे सम्पादक तैयार करने के लिए सम्पादन-कला की शिक्षा की आवश्यकता है। कहीं कहीं ऐसी शिक्षा के लिए कुछ मानसिक अथवा मौखिक आयोजन भी होता सा सुनाई देता है। पेश्तर इसके कि यह आयोजन वास्तविक कार्य के रूप में परिणत किया जाय कुछ ऐसी बातें भी हैं जिन पर, इस विषय के पाठ्य-क्रम या प्रणाली का निर्णय करते समय, निर्णायकों को ख़ूब ध्यान रखना चाहिए।

सम्पादन-कला में निपुण होने के लिए न तो केवल पुस्तकों का अवलोकन ही काफ़ी होगा, और न एक-आध पत्र का सहकारी-सम्पादक होना ही। दोनों ही बातों का मिश्रण होना चाहिए—पुस्तकों में पढ़ी हुई बातों को वास्तविक रूप देने का पूरा अवसर प्राप्त होना चाहिए। योरप और अमरीका के विद्यालयों में इस बात की पूरी सहूलियत रहती है, इसीलिए वहाँ के छात्र सुदक्ष होकर निकलते हैं और अपने काम में फिट होने के लिए उन्हें दुबारा अनुभव की कुञ्ज-गलियों में नहीं घूमना पड़ता।

हर-एक कला को सीखने के लिए पूरी लगन होनी चाहिए। मगर अकेली लगन से भी काम नहीं चलता। लगन के साथ ही, उस विषय-विशेष की सूक्ष्मताओं, उसके दाँव-पेचों, उसकी उलझनों और सुलझनों को समझने, ग्रहण करने और उन्हें सुरक्षित रखने के लिए—यहाँ तक कि उन्हें अपने साँचे में ढालने के लिए—मस्तिष्क भी चाहिए, अपनी रोशनी डालने के लिए प्रतिभा भी चाहिए, सूझ भी चाहिए—अकेली बूझ से काम नहीं चल सकता। हिन्दी में सम्पादन-कला की जो दुर्दशा है वह किसी से छिपी नहीं है। फिर भी, एक-दम यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी में उच्च कोटि के सम्पादक हैं ही नहीं; हैं अवश्य, मगर उनकी संख्या इतनी कम है कि जब गिनने बैठिए तब यही जी में आता है कि ईश्वर ने हमारे हाथ में इतनी सारी अँगुलियाँ क्यों बना दीं! ऐसा होने पर भी अगर आप उन विद्वानों की संख्या जानना चाहें जो स्वार्थत्यागपूर्वक, बग़ैर वेतन लिये, आपके विद्यालय में सम्पादन-कला की शिक्षा घंटे दो घंटे देकर पुण्य और यश के भागी बनने में आनाकानी नहीं करना चाहते तो आपको कोड़ियों ऐसे सज्जन मिल जायँगे! हिन्दी-संसार में दिल्लगी है तो यही कि सिखाना सब चाहते हैं, सीखना कोई नहीं चाहता। अन्त में ऐसे सज्जनों के सम्पर्क से आपके विद्यालय अथवा विद्यार्थियों को कुछ भी वास्तविक लाभ पहुँच सकेगा या नहीं इस विषय में मत-भेद हो सकता है। लेखक की राय में ऐसे सज्जनों से, जो केवल अपनी ही अनुभव-गुदड़िया में से निकाल निकाल कर सम्पादन-कला के कुल अङ्गरूपी लाल दे डालना चाहते हैं, विद्यार्थियों को अधिक लाभ न हो सकेगा—बल्कि सौभाग्य की बात होगी अगर उनकी कुछ हानि न हुई तो। हाँ, ऐसे सज्जनों की त्याग-बुद्धि तथा उनके साहस की प्रशंसा करने को जी ज़रूर चाहता है। विद्यालय खोला जाय तो अच्छा खोला जाय जिसका सिक्का हिन्दुस्तान भर में जम जाय, और जिसमें शिक्षा प्राप्त करने के

लिए दूर दूर के प्रान्तों से विद्यार्थी आवें। काम चाहे छोटे ही पैमाने पर शुरू किया जाय—शिक्षक चाहे एक ही रक्खा जाय--विद्यार्थी पहले पहल चाहे पाँच ही लिये जायँ तो कोई हानि नहीं, मगर ओछी पूँजी से भानुमती का स्वाँग इकट्ठा करके सम्पादन-कला की अधूरी या बेढङ्गी शिक्षा को पैसे सेर या मुफ़् लुटाना न सिर्फ़ अपने को उपहास का पात्र बनाना है, बल्कि दूसरे लोगों की निगाह में हिन्दी की क़द्र घटाना है। कुछ फ़ीस लेकर अच्छी शिक्षा देना अच्छा, मुफ़् के सड़ियल शिक्षा का धकापेल प्रचार करना अच्छा नहीं। अभी तक भारतवर्ष में तो क्या शायद एशिया भर में सम्पादन-कला के एक भी शिक्षालय की नीव नहीं पड़ी, इसलिए, पहले ही पहल खोले गये शिक्षालय में होशयार और सुदक्ष अध्यापक रख कर अगर सुचारु-रूप से काम चलाया गया तो उसकी कीर्ति दिगन्तव्यापिनी हो जायगी इसमें सन्देह नहीं। इसलिए, इस काम को शुरू करने से पहले इसके महत्त्व को ख़ूब समझ लेना चाहिए।

पश्चिम में इस कला का जो विकास हुआ है उससे हमें पूरा लाभ उठाना चाहिए। वहाँ के कार्यक्रम और पाठ्य-क्रम का शिक्षा द्वारा तथा प्रत्यक्ष अनुभव करने पर हम पाश्चात्यता तथा प्राच्यता का एक अद्भुत सम्मिश्रण कर सकेंगे और इस कला को वह रूप दे सकेंगे जो इसे संसार में अभी तक कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ, और न कहीं दूसरी जगह हो सकेगा। लेकिन यह तभी हो सकता है जब इस विषय के योग्य शिक्षक तैयार किये जायँ और उन्हीं के हाथ में इसका दारमदार सौंपा जाय। ऐसा न करके अनगढ़ योगियों द्वारा सम्पादन-कला को दुबारा गढ़वाना और यहाँ फिर उसे क्रम-विकास के चक्कर में डालना सामने रक्खी हुई परसी पर-साई थाली को लात मार कर अपने भोजन के लिए गेहूँ बोने जाना है। ऐसा करना कार्यतत्परता तथा बुद्धि की विचक्षणता का नहीं, मूढ़ता तथा अदूरदर्शिता का ही द्योतक है। क्योंकि जब सम्पादन-कला का क्रम-विकास या उसका व्यव-हार-विज्ञान न जाननेवाले लोग ऐसे महत्त्व तथा उत्तरदायित्वपूर्ण विषय की शिक्षा देने बैठेंगे तब सचमुच ही सम्पादकों की वह अष्टावक्री सृष्टि उत्पन्न होगी कि जिसकी हरकतों से दुनिया कानों में उँगली देने लगेगी। केवल गद्य या पद्य, या दोनों के लेख लिख लेने या उनको दुरुस्त कर देने में ही सम्पादन-कुशलता की इतिश्री नहीं हो जाती। किस विषय पर, किस अवसर पर, किन शब्दों में कितना लिखा जाय, प्रत्येक परिस्थिति का विचार कैसे रक्खा जाय—वग़ैरह कितनी ही भीतरी बातें ऐसी हैं जिन पर ध्यान न रखने से, हिन्दी-संसार में रोज़ ही सब गुड़ गोबर हो जाता देखा जाता है। सब प्रकार की शिक्षा बराबर एक सी प्राप्त करने पर भी सभी एक से नहीं निक-लते। भवभूति ने भी कहा है:—

> वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जड़े
> न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
> भवति च तयोर्भूयाद् भेदः फलं प्रति तद्यथा
> प्रभवति हि बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदाञ्चयः॥

इस नियम के अनुसार सभी एक सी योग्यता-वाले सम्पादक नहीं हो सकते। मुख्य लेख, टिप्पणियाँ, व्यंग्य आदि सभी कुछ लिखने में सभी एक सी

कुशलता प्राप्त नहीं कर सकते—किसी की कुछ विशेषता होती है किसी की कुछ। जिसे जितने अधिक विषयों पर क़लम चलाने का शऊर होता है वह उतना ही अधिक सफल सम्पादक समझा जाता है। मुख्य सम्पादक की कुरसी पर बैठने के लिए आदमी को 'आठों गाँठ कुम्मैद' होना चाहिए। और बातें जाने दीजिए, जिन्हें न अपने भावों पर अधिकार है और न भाषा पर, वे ऊँची कुरसी पर बैठ कर भी किस मर्ज़ की दवा हो सकते हैं सिवा बात बात पर लबड़धोंधों मचाने के? खेद है हिन्दी-संसार में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं।

हिन्दीवालों के लिए तो काशी का हिन्दू-विश्वविद्यालय, प्रयाग का हिन्दी-सम्मेलन कार्यालय और जबलपुर का हिन्दी-मन्दिर—ये तीन संस्थायें ऐसी हैं जो सम्पादन-कला की शिक्षा का प्रबन्ध कर सकती हैं। सबसे अच्छा तो तभी हो जब हिन्दू-विश्वविद्यालय ही इस काम को शुरू करे, मगर हाल में ऐसा होता नहीं दीखता, क्योंकि रुपये की बेतरह कमी है। हाँ, अगर कोई सेठ महाजन या राजा महाराजा इस निमित्त अच्छी रक़म दान कर दें तो यह असम्भव सम्भव भी हो सकता है। बाक़ी की दोनों संस्थाओं की ओर जब दृष्टि डालते हैं तो कुढंगी शिक्षा के झाबड़झल्ले वस्त्र पहने श्रीमती ओछी पूँजीजी सामने खड़ी खड़ी स्वार्थत्याग, परोपकार और अवैतनिकता की अपील करती हुई दिखाई देती हैं। अगर अनुभवी और उच्च कक्षा के सम्पादक महोदय (यानी सम्पादन-कला-कुशल सज्जन) सहायता दें तो काम शुरू कर देना बुरा भी नहीं। मगर यह बात बड़ी कठिन है। सम्भव है ऐसे सज्जनों को समय ही न मिलता हो, या और ही कोई कारण बाधक हो। इन अभाव में चाहे जिसकी धर-पकड़ करके 'सम्पादन कला क्या है', 'सम्पादकों का कर्त्तव्य क्या है' आदि विस्तृत विषयों पर लेक्चर दिलवा देने वास्तविक लाभ बहुत कम होगा। आपको आवश्यकता है शिक्षकों की जो इस विषय में ख़ूब तैरे हुए हों—व्याख्याताओं, या व्याख्यान-दाताओं से आपका काम नहीं चल सकता।

सम्पादन-कला के शिक्षकों में कम से कम दो एक सज्जन तो ऐसे हों जिन्होंने अमरीका या इँगलेंड में रह कर इस विषय की बाक़ायद शिक्षा प्राप्त की हो, और जिन्हें हिन्दी-अख़बारा-नवीसी की विशेषताओं तथा आवश्यकताओं का भी ज्ञान हो। मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक, अर्धसाप्ताहिक दैनिक और अर्धदैनिक का सम्पादन एक ही बात नहीं—इनके बीच में बड़े बड़े नदी-नाले, पहाड़ और ऊबड़-खाबड़ भूमि-खण्ड हैं जिनको, जाननेवाले ही जान सकते हैं। मगर सवाल यह है कि ऐसे योग्य पुरुष मिलें कहाँ से? हमारी राय तो यह है कि जो संस्था इस विषय का शिक्षालय खोलना चाहे वह पहले दो एक सुयोग्य लेखकों को—जिनको वह इस लायक़ समझे—चुन कर केवल इसी विषय की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमरीका रवाना करे, और रवाना करने से पहले उनसे हर तरह की ज़रूरी शर्तें तय कर ले। जो सज्जन चुन कर भेजे जायँ उनको भी चाहिए कि परिश्रम और अध्यवसाय-पूर्वक इस कला में पूरी दक्षता प्राप्त करें, अपने अनुभव का पूरा लाभ अपने देशवासियों को दें, और अपने विद्यालय को एशिया में इस विषय का आदर्श विद्यालय बना कर छोड़ें। अगर इ

विषय की शिक्षा की धूम इस देश में मच जाय तो चालीस चालीस या पचास पचास रुपये पर रोज़ा खोलते फिरनेवाले डिग्री-धारियों का भी कचहरियों और महकमे बेकारी से पीछा छूट जाय और उन्हें, अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार, स्वतन्त्रता तथा सुख से जीवन व्यतीत करने का मौक़ा मिल जाय। वक्त पर न अच्छे और शऊरदार लेखक ही मिलते हैं और न सम्पादक ही। क्या अच्छा हो अगर सम्पादन-कला की शिक्षा की बदौलत इनका अभाव दूर हो जाय। पर यह बात न भूलनी चाहिए कि ज़बर्दस्ती जोश में आकर मौजी अध्यापकों के बल पर कोई विद्यालय खोल बैठने से चुपके रहना कहीं अच्छा है।

बदरीनाथ भट्ट

भारत का इम्पीरियल बेंक।

इसी वर्ष की गत २७ जनवरी को बङ्गाल, बम्बई और मदरास के बेंकों के एकीकरण से इम्पीरियल बेंक आव् इंडिया का जन्म हुआ। इन तीनों बेंकों के एकीकरण करने का प्रस्ताव कई वर्षों से किया जा रहा था। सन् १९१३-१४ के करंसी-कमीशन के एक सदस्य मि० जे० एम० कीन्स ने तो भारतीय स्टेट बेंक के सम्बन्ध में एक बड़ी लम्बी-चौड़ी योजना तक लिख डाली थी। कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के कुछ दिन बाद ही महायुद्ध आरम्भ हो गया। अतएव भारत सरकार उस योजना पर कुछ विचार न कर सकी। महायुद्ध के समय भारत में एक प्रधान बेंक का अभाव सरकार और जनता, दोनों को खटकने लगा। युद्ध का अन्त होने पर भारत सरकार ने तीनों बेंकों के डायरेक्टरों से लिखा-पढ़ी आरम्भ करदी। फल यह हुआ कि गत वर्ष के सितम्बर में बड़ी व्यवस्थापिका सभा में एक एक्ट पास हुआ और इम्पीरियल बेंक की स्थापना हुई।

इम्पीरियल बेंक का काम-काज और उसकी उपयोगिता को भले प्रकार से समझने के लिए बम्बई, बङ्गाल और मदरास के बेंकों के सम्बन्ध में कुछ जानना बहुत आवश्यक है। सन् १८०६ में कलकत्ते में बेंक आव् कलकत्ता नामक एक बेंक खुला। तीन वर्ष बाद सन् १८०९ में सरकार से उसे चारटर मिला और उसी वर्ष उसका नाम बदल कर बेंक आव् बङ्गाल रक्खा गया। यह भारत में सबसे पुराना बेंक है। गत वर्ष बङ्गाल, पञ्जाब और युक्तप्रान्त में इसकी शाखाओं की संख्या २६ थी।

बम्बई और मदरास बेंक क्रमशः १८४० और १८४३ में स्थापित हुए। १८६८ में बम्बई बेंक को कपास के सट्टे में बहुत हानि उठानी पड़ी। फलतः उसका दिवाला निकल गया। उसी वर्ष एक करोड़ की पूँजी से उसी नाम के दूसरे बेंक की स्थापना हुई। गत वर्ष मदरास बेंक की २६ शाखाएँ और बम्बई बेंक की १८ शाखाएँ थीं। एकीकरण के पहले तीनों बेंकों की दशा नीचे के कोष्टक से आसानी से समझ में आजायगी।

[लाख रुपयों में]

	पूँजी	रिज़र्व पुरानी बचत	सरकारी जमा	अन्य व्यक्तियों की जमा	मीज़ान जमा	नक़द रुपया
बङ्गाल बेंक	२००	२१०	३८८	३४३९	३८२७	१२४४
बम्बई बेंक	१००	१२५	१८७	२६५०	२८३७	९८०
मदरास बेंक	७५	४५	१२४	१५२९	१६५३	४५५
मीज़ान	३७५	३८०	६९९	७६१८	८३१७	२६७९

बम्बई, बङ्गाल और मदरास बेंक प्रेसीडेंसी बेंक कहलाते थे। भारत के सब बेंकों में इन तीन बेंकों का स्थान पहले से ही सबसे ऊँचा रहा है। इसका कारण यह है कि इनके पास सरकार का बहुत सा रुपया हमेशा जमा रहता था और इनको जोखिम का लेन-देन करने की आज्ञा नहीं थी। सन् १८६२ तक इनको नोट निकालने का भी अधिकार रहा। इसके सिवा सन् १८७६ तक भारत सरकार इन बेंकों की साझीदार थी। उसने इनके शेयर ख़रीदे थे और उनके डायरेक्टरों के चुनाव में भी वह भाग लेती थी। आवश्यकता पड़ने पर बम्बई बेंक से काफ़ी रुपये वापस न मिलने पर सन् १८७६ में सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी। उसी वर्ष से भारत-सरकार ने इन तीनों बेंकों के पास कम से कम एक निश्चित परिमाण तक अपना रुपया बिना ब्याज जमा रखने की ज़िम्मेदारी ली और यदि उतना रुपया जमा न रक्खा गया तो उसकी न्यूनता पर ब्याज देने का वचन दिया। इसके बदले में उनको सरकार के बहुत काम करने पड़ते थे। सरकारी ऋण-सम्बन्धी सब हिसाब भी यही रखते थे। जिन शहरों में इनकी शाखाएँ थीं उनका सरकारी लेन-देन भी इन्हीं के द्वारा होता था। वहाँ अलग सरकारी ख़ज़ाना नहीं रहता था। इम्पीरियल बेंक को भी सरकार के ये काम करने पड़ेंगे।

सन् १८७६ में सरकार ने इन बेंकों के सब शेयर भी बेच दिये, क्योंकि उसने इनका साझीदार रहना उचित न समझा। उसी वर्ष से बम्बई, कलकत्ता और मदरास में उसने अपने बड़े बड़े ख़ज़ाने खोले। उनमें उसका बचा हुआ कोष रक्खा जाने लगा। नीचे के कोष्टक में यह बतलाया जाता है कि भिन्न भिन्न वर्षों में सरकार का कितना रुपया रिज़र्व ट्रेज़रियों में (बम्बई, कलकत्ता और मदरास के बड़े ख़ज़ानों में), अन्य ख़ज़ानों में और इन बेंकों के पास जमा किया गया।

लाख रुपयों में

वर्ष	रिज़र्व ट्रेज़री में जमा	अन्य ख़ज़ानों में जमा	प्रेसीडेंसी बेंकों में जमा	मीज़ान (कुल सरकारी बेलेंस)
१९११-१२	५५२	८२८	४१४	१७९४
१९१२-१३	१०७१	८३०	४५१	२३५२
१९१३-१४	९९१	९१८	५६०	२४६९
१९१७-१८	४२५	८१७	१२८२	२५२४
१९१८-१९	१९९	६५०	१०३१	१८८०
१९१९-२०	१४६	६७६	११५७	१९७९

उपर्युक्त कोष्टक से यह मालूम होता है कि सरकार अपनी बचत का बहुत थोड़ा भाग पहले इन बेंकों में जमा रखती थी, परन्तु गत तीन वर्षों से उसकी बचत का अधिकांश भाग इन्हीं बेंकों में जमा रहा है। तिस पर भी औसत से नौ दस करोड़ की रक़म अब भी सरकारी ख़ज़ानों ही में जमा रहती है। भारत कृषि-प्रधान देश है और यहाँ के निर्यात का अधिकांश भाग कच्चा माल

है। अतएव निर्यात का व्यापार वर्ष के ख़ास ख़ास महीनों में ख़ास ख़ास स्थलों में तेज़ हो जाता है। इसके बाद वह मंद पड़ जाता है। जैसे गेहूँ, चावल या कपास की फ़सल तैयार होने पर जहाँ वे बोये जाते हैं वहाँ उनका व्यापार कुछ समय के लिए तेज़ हो जाता है। व्यापार की तेज़ी के समय व्यापारियों और रोज़गारियों को द्रव्य की बहुत आवश्यकता रहती है और वे बैंकों से रुपया उधार माँगते हैं। इन प्रेसीडेंसी बैंकों के पास भी रुपया उस समय कम होने लगता है और इसलिए वे बैंक रेट को—याने बैंक द्वारा रुपये उधार दिये जाने की दर को बढ़ा देते हैं। गत वर्षों में व्यापार की तेज़ी के समय बैंक रेट आठ या नौ प्रति सैकड़ा रहता था जब कि अन्य समय वह पाँच या छः प्रति सैकड़ा रहता था। ख़ास उसी समय सरकारी ख़ज़ानों में बहुत रुपया भरा रहता था, क्योंकि उसी समय मालगुज़ारी वसूल की जाती थी। यह रुपया अन्त में बम्बई, कलकत्ता और मदरास के रिज़र्व ट्रेज़रियों में पहुँच कर व्यर्थ पड़ा रहता था। अब ये रिज़र्व ट्रेज़री टूट जायँगे और उनका सब रुपया इम्पीरियल बैंक में ही रक्खा जायगा। इससे यह बैंक उन रुपयों को व्यापार की तेज़ी के समय आसानी से उपयोग में ला सकेगा और बैंक रेट में पहले के समान अधिक बढ़ती न होगी। इससे देश के व्यापार को बड़ा लाभ पहुँचेगा।

भारत में बैंकों की बहुत कमी है। पचास हज़ार से अधिक जन-संख्यावाले १४ शहर ऐसे हैं जहाँ किसी भी बैंक की एक भी शाखा नहीं है। छोटे छोटे शहरों की तो फिर बात ही अलग है। इम्पीरियल बैंक एक्ट के अनुसार इस बैंक को पाँच वर्ष के भीतर कम से कम १०० नवीन शाखायें खोलनी पड़ेंगी और उनमें से कम से कम २५ भारत-सरकार द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर खोली जायँगी। आज-कल इम्पीरियल बैंक की कुल ६८ शाखायें हैं। पाँच वर्ष में उनकी संख्या कम से कम १६८ हो जायगी। इससे भारत के व्यापार और व्यवसाय को बहुत लाभ पहुँचने की सम्भावना है।

प्रत्येक बैंक का प्रधान कर्त्तव्य यह रहता है कि वह एक व्यक्ति का रुपया उधार लेकर दूसरे व्यक्ति को अधिक व्याज पर उधार दे दे। यह बात सबको विदित ही है कि इससे देश के रोज़गार और व्यापार को बहुत लाभ पहुँचता है। बैंकों द्वारा ही देश का अनुपयोगी धन देश के व्यापार और रोज़गारों के बढ़ाने के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। परन्तु लेन-देन भी कई प्रकार के हैं। उनमें से कई में जोखिम भी बहुत है। कई लेन-देनों में सबके सब रुपये डूब जाने की सम्भावना रहती है। प्रेसीडेंसी बैंकों के पास सरकारी रुपया जमा रक्खा जाता था, इसलिए यह बहुत आवश्यक समझा गया कि वे जोखिमवाले लेन-देनों में अपना हाथ न डालें। इसी कारण सन् १८७६ के क़ानून के अनुसार उनका कार्यक्षेत्र कुछ सङ्कीर्ण कर दिया गया था। वे उन्हीं हुंडियों को ख़रीद, बेंच या सिकार सकते थे जो भारत या सीलोन के किसी व्यक्ति के नाम पर की गई हों और वह भी इस शर्त के साथ कि जिसके नाम पर वे की गई हों उसने उनको उनकी मियाद पूरी होने पर सिकारना स्वीकार कर लिया हो। वे भारत में रहनेवाले व्यक्तियों की रक़म ही जमा रख सकते थे और भारत के बाहर अन्य किसी देश से वे रुपया उधार नहीं ले सकते थे। वे अपना

रुपया ब्रिटिश और भारतसरकार की सिक्योरिटीज़ में, रेलवे के शेयरों में और भारत की म्यूनिसी-पालटी तथा पोर्ट ट्रस्ट के डिबेंचरों में ही लगा सकते थे और इन्हीं की ज़मानत पर रुपया भी उधार दे सकते थे। ज़मीन और अचल वस्तुओं की ज़मानत पर रुपया उधार देने की उनको आज्ञा नहीं थी। वे छः महीने से अधिक के लिए रुपये उधार भी नहीं दे सकते थे और बिना दो मातबर आदमियों की ज़मानत के किसी को अपनी ख़ानगी साख पर रुपया उधार नहीं दे सकते थे। चाँदी सोना बेंचने और ख़रीदने की उनको पूरी स्वतन्त्रता थी।

इम्पीरियल बेंक का कार्यक्षेत्र भी बहुत कुछ वैसा ही रक्खा गया है। अन्तर केवल इतना है कि इम्पीरियल बेंक को लन्दन में एक शाखा खोलने की इज़ाजत दे दी गई है और वह ऐसी हुंडियों को भी बेंच, ख़रीद और सिकार सकती है जो भारत से बाहर अदा की जानेवाली हों। परन्तु लन्दन की शाखा के द्वारा बेंक उन्हीं व्यक्तियों से लेन-देन कर सकेगा जो गत तीन वर्षों से भारत में उसके साथ लेन-देन करते रहे हों। विदेशी हुंडियों का बेंचना, ख़रीदना और सिकारना गवर्नर जनरल के आदेशानुसार ही हो सकेगा। उपर्युक्त बन्धनों के कारण प्रेसीडेंसी बेंकों की आर्थिक दशा सदा ही बहुत अच्छी रही और वे १२) से १८) प्रति सैकड़ा प्रति वर्ष डिविडेंड देते रहे। उनके ५००) के शेयर प्रायः १२००) से २०००) तक बिकते थे। आशा है इम्पीरियल बेंक की दशा भी वैसेही सन्तोषप्रद रहेगी।

एकीकरण के पहले तीनों बेंकों का मूल-धन सब मिला कर ३ करोड़ ७५ लाख रुपये था। अ
इम्पीरियल बेंक का मूल-धन ११ करोड़ २५ ला
रक्खा गया है। इम्पीरियल बेंक के शेयर प्रेसीडें
बेंकों के शेयर-होल्डरों को नीचे लिखी शर्तों पर दि
गये थे। बङ्गाल और बम्बई बेंकों के शेयर-होल्ड
को उनके पाँच सौ रुपये के एक शेयर और नक़
२५०) के बदले इम्पीरियल बेंक के ५००)
तीन शेयर दिये गये। उन तीन शेयरों में से ए
शेयर पर यह लिखा था कि उसकी पूरी रक़
[५००) रुपया] अदा की जा चुकी है, इसलि
बेंक को अधिक रुपया माँगने का अधिकार न
है। परन्तु अन्य दो शेयरों पर यह लिखा र
था कि प्रत्येक शेयर पर केवल १२५) ही बेंक
दिया गया है इसलिए बाक़ी रुपया [३७
प्रति शेयर] एक या तीन पृथक् किश्तों में माँ
का अधिकार बेंक को है। मदरास बेंक के शे
होल्डरों को भी अपने ५००) के एक शेयर
बदले इम्पीरियल बेंक के वैसे ही तीन शेयर दि
थे, परन्तु उनको २५०) नक़द के बदले ४
नक़द देने पड़े थे। इसका कारण यह था कि म
रास बेंक के शेयर बाज़ार में कम भाव पर बिकते थ

क़ानून के अनुसार इम्पीरियल बेंक अ
बेलेंस-शीट प्रति सप्ताह प्रकाशित करता है। इ
यह लाभ होता है कि जनता बेंक की स्थिति
जानती रहती है और बेंक के काम-काज में ग
माल होने की कम सम्भावना रहती है। इ
रियल बेंक का २२ जुलाई १९२१ का बेलेंसशी
अगस्त के 'केपिटल' नामक अँगरेज़ी साप्ताहिक
में प्रकाशित हुआ है। वह नीचे उद्धृत कि
जाता है।

पूँजी और देनी

	रुपये
पूँजी जिसके शेयर बिक चुके हैं :—	१०,७६,००,०००
पूँजी जो वसूल की जा चुकी है :—	५,५१,००,०००
रिज़र्व (पुरानी बचत):—	३,७१,६३,०००
सरकारी जमा :—	१८,६०,२१,०००
अन्य व्यक्तियों की जमा :—	६९,५२,४६,०००
फुटकर :—	१,४९,०६,०००
	१८,८४,३६,०००

नक़द माल और लेनी

	रुपये
सरकारी सिक्योरिटीज़:—	१३,१८,५८,०००
अन्य प्रकार की सिक्योरिटीज़ :—	१,३५, ५९,०००
उधारी :—	३५,४१,३९,०००
देशी हुंडियाँ जो सिकार कर ख़रीदी गई हैं :—	११,२८,०१,०००
विदेशी हुंडियाँ जो सिकार कर ख़रीदी गई हैं :—	४,७९,०००
सोना-चाँदी :—	१३,०००
इमारतें व सामान वग़ैरह की क़ीमत :—	२,०९,९९,०००
फुटकर :—	२८,३१,०००
अन्य बैंकों के पास जमा :—	१५,२४,०००
	६३,८२,०३,०००
बैंक के पास नक़द रुपया	३५,०२,३३,०००
	९८,८४,३६,०००

इस बेलेंस-शीट में लन्दन का निम्नलिखित लेन-देन भी शामिल है ।

लन्दन में अमानत जमा	५४,६०० पौंड
लन्दन में उधारी	५,७५,३०० पौंड
लन्दन के बैंकों में जमा	९१,९०३ पौंड

बेलेंस-शीट से बैंक की आर्थिक दशा का पता लगता है । बैंक रुपया जमा करनेवाले को मांगने पर रुपया वापस देने की ज़िम्मेवारी लेता है, इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि उसके पास पर्याप्त परिमाण में नक़द रुपया हमेशा बना रहे । इसलिए प्रत्येक बैंक के पास रोज़मर्रा जमा की रक़म का कम से कम पाँचवाँ हिस्सा (२० प्रति सैकड़ा) नक़द रुपयों में मौजूद रहना चाहिए । यदि नक़द रुपया २० प्रति सैकड़ा से कम हो जाय तो बैंक की आर्थिक दशा असन्तोषप्रद समझनी चाहिए । गत २२ जुलाई को इम्पीरियल बैंक में सरकारी और अन्य व्यक्तियों की कुल जमा ८८,१२,६७,००० रुपये थी और उसके पास उस दिन ३५,०२,३३,००० रुपये नक़द मौजूद थे । अर्थात् प्रत्येक १०० रुपये की जमा के बदले उसके पास प्रायः ४० रुपये नक़द मौजूद थे । इससे पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं कि बैंक की आर्थिक दशा कितनी अधिक सन्तोषप्रद है ।

तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों के डायरेक्टरों के बोर्ड अब इम्पीरियल बैंक के लोकल बोर्डों में परिणत होगये हैं। अर्थात् बम्बई बैंक के डायरेक्टरों का बोर्ड अब इम्पीरियल बैंक के बम्बई अहाते का लोकल बोर्ड हो गया है।

इम्पीरियल बैंक के कार्य को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए एक सेंट्रलबोर्ड की स्थापना हुई है। इस बोर्ड का दफ़्र किसी एक ख़ास जगह पर नहीं रहेगा। इसकी मीटिङ्ग पारी पारी से कलकत्ता, बम्बई या मदरास में हुआ करेंगी। इस बोर्ड के सभासद् प्रति वर्ष नीचे लिखे अनुसार नियुक्त किये जायँगे।

प्रत्येक लोकल बोर्ड के सभापति और उप-सभापति	६	सभासद्
सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए	४	,,
भारतसरकार द्वारा सेंट्रल बोर्ड की सिफ़ारिश पर नियुक्त किये हुए दो मेनेजिङ्ग गवर्नर	२	,,
प्रत्येक लोकल बोर्ड के सेक्रेटरी	३	,,
कन्ट्रोलर आव् करेंसी	१	,,
	१६	,,

इन १६ सभासदों में से कंट्रोलर आव् करेंसी और लोकल बोर्ड के सेक्रेटरियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। वे मीटिङ्ग में केवल अपनी राय दे सकते हैं। इसलिए सेन्ट्रल बोर्ड में आज-कल वोट देनेवाले १२ सभासद् ही हैं। भारतवासियों के हितों की रक्षा करने के लिए भारतसरकार द्वारा चार सभासदों की नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गई है और इस वर्ष के लिए सर डी० ई० वाचा, सर एम० बी०. दादाभाई, सर आर० एन० मुकर्जी और राव बहादुर अन्नामल चेटी नियुक्त किये गये हैं। यह कहना बहुत कठिन है कि ये सज्जन भारतवासियों के हितों की कहाँ तक रक्षा कर सकेंगे। अभी जो दो मेनेजिङ्ग गवर्नरों की नियुक्ति सेन्ट्रल बोर्ड की सिफ़ारिश पर भारत सरकार द्वारा की गई है उससे तो कुछ अधिक आशा नहीं दिखाई पड़ती। मेनेजिङ्ग गवर्नर का वेतन क़रीब ४०००) मासिक है। बैंक का काम-काज इन दो गवर्नरों और लोकल-बोर्डों के सेक्रेटरियों द्वारा ही चलाया जायगा। ऐसी दशा में क्या यह आवश्यक नहीं था कि दो में से कम से कम एक गवर्नर तो भारतीय होता? क्या सेन्ट्रल बोर्ड को एक भी भारतीय सज्जन इस काम के योग्य नहीं मिला? सम्भव है कि सेन्ट्रल-बोर्ड के भारतीय मेम्बरों की संख्या अन्य मेम्बरों से कम होने के कारण उनकी सलाह न मानी गई हो और यह भी सम्भव है कि शायद इन सज्जनों ने इस प्रश्न को अधिक महत्त्व का न समझा हो।

जोखिम के लेन-देन में हाथ न डालने से इम्पीरियल बैंक की आर्थिक दशा हमेशा सन्तोषप्रद रहने की बहुत सम्भावना है। पाँच वर्ष में इसकी १०० नई शाखाओं के खुल जाने पर देश के व्यापारियों को बहुत सुभीता हो जायगा और भारत-सरकार का सब कोष उसी में रक्खे जाने के कारण व्यापार की तेज़ी के समय बैंक-रेट भी अब पहले के समान अधिक न बढ़ेगा। इससे भी व्यापारियों को बहुत लाभ होगा। परन्तु अभी यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतवासियों के हितों की रक्षा वह कहाँ तक कर सकेगा और भारत के देशी व्यापारियों और रोज़गारियों को उससे कहाँ तक लाभ होगा।

दयाशङ्कर दुबे

लक्ष्य।

(१)

चित्त में चाह जो वित्त की है बड़ी
सत्त्व की लालसा स्वत्व की है कड़ी।
रक्ष्य हो तो स्वयं लक्ष्य को मारिए
कर्म के मर्म को धर्म से धारिए॥

(२)

काल को टाल दो बाल बाँका न हो
हाथ का साथ क्या जो लड़ाँका न हो?
वीर क्यों धीर क्यों हारते नीच से
भीरु भू-भार हो भागते मीच से॥

(३)

प्राण का त्राण जो चाहते आप हैं
शाप-सपन्न हैं, ग्रस्त-सन्ताप हैं।
शास्त्रवित्! सत्य के शस्त्र सन्धानिए
मानिए, मान की बान को आनिए॥

(४)

जो बचा चाहते लोक में शोक से
तो खलों की बचो रोक से झोंक से।
अन्य को वन्य को मान्य जानो नहीं
हानि है, हन्य को धन्य मानो नहीं॥

(५)

धैर्य से स्थैर्य से कीजिए कार्य को
शौर्य से वीर्य भी धार्य है आर्य को।
साधिए साध्य हैं बाधकों को अभी
साधु हैं साधको! साधनायें सभी॥

(६)

क्यों न भागें अभागे अभी आप से?
आप के ताप से आत्म के पाप से।
जो जगा के जगत् जाग जाते स्वयम्
धीर हो वीर-बाना बनाते स्वयम्॥

(७)

दासता दीनता दूर हो आज ही
लाज में हो पड़े हाय बे काज ही।
दुर्मुखों के मुखों को लखो जो नहीं
स्पष्ट है कष्ट हो तो न कोई कहीं॥

(८)

लीजिए ऋद्धि को सिद्धि को शान्ति से
जागिए, भागिए क्रूर की क्रान्ति से।
क्यों बुरे हो भलों की बुराई करें
क्यों भले हो बुरों की भलाई करें॥

(९)

ज्ञान से दान से मान को लीजिए
स्फूर्ति से हानि की पूर्ति को कीजिए।
बात है तात जावे न ख़ाली कभी
शेष है देश-लाली निराली अभी॥

(१०)

दुष्ट हों रुष्ट या तुष्ट हों, हो रहें,
जो चहें सो कहें मौन हो या सहें।
मोह में जो हमें डालने छद्म में
वे सड़ेंगे पड़े ही पड़े सद्म में॥

रामचरित उपाध्याय।

भारतवासियों के नाम मिस्टर जानसन का सन्देश।

संयुक्त राज्य अमरीका के अनेक पादरी भारत में हैं, परन्तु उनमें से एक भी मेरे मित्र मिस्टर विलियम यूज़ेन जानसन के सदृश नहीं है। आप अमरीका में मद्य का प्रचार बन्द करवानेवाले लोगों के नेता हैं और इस समय हम लोगों के बीच यहाँ लन्दन में कई हफ़्तों से ठहरे हुए हैं। आप शीघ्र ही भारत को जानेवाले हैं। आपकी इस यात्रा का यह उद्देश नहीं है कि आप वहाँ जाकर लोगों को ईसाई बनावेंगे या किसी दूसरे धर्म का ही उपदेश करेंगे। मद्य-पान का दुर्व्यसन छोड़ने में अमरीका में आपके देशभाइयों ने केवल

वही किया है जो हिन्दुस्तान के मुख्य मुख्य धर्मों का सदा से आदेश रहा है। यही बात भारतीयों को बताने के लिए आपने इस लम्बी यात्रा के कष्ट को स्वीकार किया है। आप वहाँ हम लोगों को इस

विलियम राजिन जानसन।

बात की याद दिलावेंगे कि हम लोगों का जन-समुदाय व्यवहारतः मद्यपायी नहीं है।

पूर्वोक्त विचार की दृष्टि से जो सन्देश मिस्टर जानसन भारत में पहुँच कर हम लोगों को सुनावेंगे उसका सम्मान हमें उत्साहपूर्वक करना चाहिए। हम लोग यहाँ उस कहानी को बड़े चाव से सुनते हैं जिसे सुनाने के लिए आप भारत जा रहे हैं। उसमें उस लम्बी लड़ाई की कथा है जो अभी हाल ही में सफलतापूर्वक जीती गई है और जिसके कारण किसी प्रकार की मादक शराब के बनाने, उसे देश में बाहर से लाने, बेचने या देश के बाहर भेजने का निषेध क़ानून के द्वारा कर दिया गया है। इसके सिवा उसमें उन लाभों का भी वर्णन आता है जो शराब के व्यवसाय के लोप से इस समय अमरीका उपभोग कर रहा है।

भारतीय यात्रा का उद्देश—बातचीत करते समय एक दिन मिस्टर जानसन ने मुझसे कहा:—

"मैं तुम्हारे भाई-बन्धुओं के घरेलू मामलों में दख़ल देने के लिए भारत नहीं जा रहा हूँ। मेरा यह विचार नहीं है कि मैं उनसे कहूँगा कि तुम्हें क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, यहाँ तक कि मद्य-त्याग के सम्बन्ध में भी मैं उनसे कुछ न कहूँगा।

"मद्य को अपने देश से हटा बाहर करने के सम्बन्ध में भारतीयों से कुछ कहना मेरे—किसी भी अमरीकावासी के—लिए गुस्ताख़ी की बात होगी। भारतीय या हिन्दू, जैसा कि हम उन्हें अमरीका में कहते हैं अपनी बुद्धि और परम्परा से मद्य-पान के त्याग के

पक्षपाती हैं। हज़ारों वर्ष से वे—या कम से कम अधिकांश जन-समुदाय—मद्य-पान का त्याग किये हैं।

"बहुत सम्भव है कि मद्य-पान के त्याग का भाव अमरीका में हम लोगों ने भारत ही से लिया हो। भारत में इसके त्याग का उपदेश हज़ारों वर्ष से हो

संयुक्त-राज्य अमरीका की ओकलाहामा रियासत का तुलसा नामक नगर का दृश्य।

रहा है। यही नहीं वहाँ मद्य का विरोध उसके भी पहले से अस्तित्व में था जब कि दुनिया को अमरीका का पता लगा था। चाहे हम लोगों ने ऐसा किया हो या न किया हो, पर इस सम्बन्ध की हमारी कार्य-वाही तुम्हारी विचार-सरणी तथा विस्तृत प्रक्रिया के ही अनुसार है।

"अस्तु, मैं समझता हूँ कि भारतीयों को उस लड़ाई का हाल मनोरञ्जक प्रतीत होगा जिसे हमने शराब का व्यवसाय अपने देश में बन्द करा देने के लिए छेड़ा था और हम लोगों ने ऐसा क्यों किया था यह भी जान कर वे लोग खुश होंगे। अतएव मैं यह भी समझता हूँ कि वे उन परिणामों को भी जान कर प्रसन्न होंगे जो इसका रोक देने के कारण हमारे देश में हो रहे हैं।

"मेरी यात्रा का एक और भी उद्देश यह है। कुछ भारतीय जातियों में शराब पीने का दुर्व्य-सन फैल गया है। उसका कारण मैं जानना चाहता हूँ। अतएव इस यात्रा द्वारा प्राप्त अवसर का उपयोग मैं इस सम्बन्ध में भी करूँगा। अपनी

यात्रा प्रारम्भ करने के पहले जो सूचनायें प्राप्त करने में मैं समर्थ हुआ हूँ उनसे मुझे आशा हुई है कि आपके देश का प्रश्न उतना जटिल नहीं है जितना हमें अपने देश में हल करना पड़ा है। जिन अङ्कों की जाँच मैंने की है उनसे मुझे पता लगा है कि मद्य-निषेधक क़ानून की रचना के पहले

स्वयं भी बहुत बढ़ गई है, इतने पर भी अधिकां जनता शराब नहीं पीती।''

अमरीका के संयुक्त-राज्यों में मद्य-निवारा सम्बन्धी आन्दोलन का संक्षिप्त विवरण तथा तज्जनि लाभों का उल्लेख करने के पहले मैं यहाँ मिस्ट जानसन के जीवन की कुछ बातें लिख देना उचि
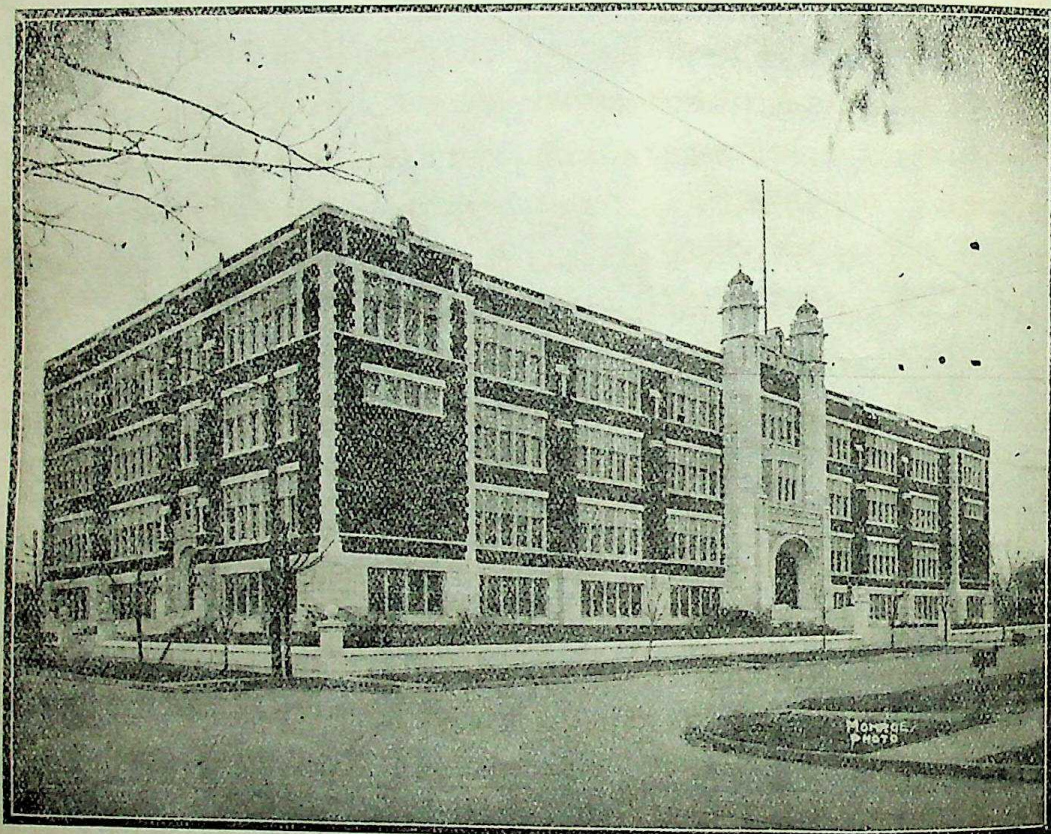
तुलसा का पबलिक हाई स्कूल।

हमारे देश के मद्यपों की अपेक्षा आबादी के लिहाज़ से भारत में मद्यपों की संख्या बहुत ही अधिक न्यून है। इसके साथ यह बात भी ध्यान में रखने के योग्य है कि इधर पिछले वर्षों में जितने परिमाण में शराब की खपत भारत में हुई है उसकी बिक्री से केवल राजस्व ही की वृद्धि नहीं हुई; किन्तु वह

समझता हूँ। साठ वर्ष बीते आप न्यूयार्क की रियासत में उत्पन्न हुए थे। समाज-सेवा आपका पैत्रिक व्रत है। स्कूल छोड़ने पर आप स्कूल मास्टर हो गये, परन्तु अपनी शिक्षा में वृद्धि करने के विचार से आपने शिक्षा देने का काम छोड़ दिया और नित्रस्का-विश्व-विद्यालय में भर्ती हो गये। परन्

जब आपको मालूम हुआ कि वहाँ आपका अभीष्ट न सिद्ध होगा तब आप चले आये और सम्पादकीय पेशे को उठा लिया। तब से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आपका सम्बन्ध अब तक इसी कार्य से रहा है।

अपनी तीस वर्ष की उम्र ही में मिस्टर जानसन ने निब्रस्का में तहलका मचा दिया था। आपने शराबवालों के उन प्रयत्नों का भण्डा-फोड़ कर दिया जिनसे वे संवादपत्रों और राजनीतिज्ञों को अपने पक्ष में किये रहते थे। उन लोगों के समझौते का भेद आपको बड़ी हिकमत से लगा था। 'जान-सन्स् पेल एल' शीर्षक देकर आपने मद्य के व्यव-सायियों को पत्र लिखे और जो मद्य-निवारक आन्दो-लन उस रियासत में उस समय उग्ररूप धारण करता जाता था उसको प्रभावहीन करने के लिए संवादपत्रों के सञ्चालकों तथा राजनीतिज्ञों को अपनी मुट्ठी में करने का उपाय पूछा। वे लोग आपके चकमे में आगये और तद्विषयक जो सूचना आपको उन्होंने दी उससे यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध होगई कि अमरीकावालों के जीवन पर शराब की दूकानों का बहुत ही अधिक विनाशकारी प्रभाव है।

सन् १९०६ में संयुक्तराज्यों की सरकार ने मिस्टर जानसन को एक विशेष अधिकारी की हैसि-यत से इंडियन लोगों के देश (आज-कल की ओकलाहोमा की रियासत) में नियुक्त किया। मद्य का बनाना और उसका बेचना बन्द करने के लिए कुछ क़ानून बनाये गये थे। ये क़ानून उत्तरी अमरीका के इंडियनों के लाभ की दृष्टि से विशेष करके रचे गये थे। परन्तु वहाँ के पतित निवासियों ने उनकी खुल्लमखुल्ला अवहेलना की थी। इन्हीं क़ानूनों को कार्य में परिणत करने का भार आपको सौंपा गया।

निम्नलिखित घटना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मिस्टर जानसन को कैसे कठिन कार्य का सामना करना पड़ा था:—

एक दिन मिस्टर जानसन को मालूम हुआ कि अमुक शराब-विक्रेता गली गली डींग मारता है कि जिस दिन मैं उसकी निगाह पड़ गया उसी दिन मैं अपने को मरा हुआ समझूँ। अतएव आपने उससे भिड़ने का तुरन्त निश्चय कर लिया। आपने सोचा कि यदि मैं इस समय ज़रा भी कमज़ोरी दिखाता हूँ तो मैं अपना कार्य कुछ भी न कर सकूँगा। अतएव सतर्कता के साथ भेष बदल कर आप सीधा उसी बिलियर्ड रूम (Pool hall) में गये जहाँ आपका जानी दुश्मन उस समय सभापति का कार्य कर रहा था। मतवाले होने के बहाने से आप भीतर घुस गये और उससे पीने के लिए शराब माँगी। सार्सापरीला—एक प्रकार का हलका मादक द्रव्य--की एक बोतल आपको दी गई, परन्तु आपने क्रोध में आकर उसे वहीं पटक कर तोड़ डाला और तेज़ शराब लाने को उससे कहा। गाहक ठीक समझ कर मद्य-विक्रेता ने फ़र्श का चोर-द्वार खोला और शराब की एक बोतल निकाल कर आपके सामने रख दी! अच्छी तरह एक प्याला शराब उड़ेल चुकने के बाद आपने तम्बाकू माँगी। आपने समझ लिया था कि जिस बर्तन में तम्बाकू है उससे निकालने के लिए लानेवाले को घूमना पड़ेगा। ज्योंही वह तम्बाकू निकालने को घूमा त्योंही आप उसका पिस्तौल अपने क़ब्ज़े में करने

के लिए उस पर जा पहुँचे। क्या हो रहा है, यह जानने के पहले उसे अपने कान के पास पिस्तौल के लोहे की शीतलता का अनुभव हुआ। अब क्या था। आपने उसका पिस्तौल लेकर उसे वहीं क़ैद कर लिया। तब से आपका नाम Pussy foot पड़ गया। इस नाम का मतलब यह है कि जिसके सम्बन्ध में इसका प्रयोग होता है वह बिल्ली के सदृश चुपचाप चल लेता है।

इस कार्य से अवकाश लेकर मिस्टर जानसन शीघ्र ही Anti Saloon League में शामिल हो गये। इस संस्था ने अमरीकावालों को शराब के व्यवसाय की बुराइयाँ हृदयङ्गम कराने और उसके बन्द करने में उनकी सहायता प्राप्त करने में बहुत ही अधिक कार्य किया है। इस संस्था के सङ्गठन तथा उसके प्रचार-कार्य में आपने अमूल्य सहायता की है।

एक दिन मिस्टर जानसन मेरे घर आये। मैंने उनसे पूछा, "क्यों भाई, आपने अपने देश के शराब के मसले को हल किया तो कैसे किया?" आपने कहा, "अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए हम लोगों ने मद्य के व्यवसाय पर चारों ओर से आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था। अमरीका के व्यवसाय-प्रेमी व्यापारियों से भिड़ने के लिए, केवल आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से मद्य के दूषण बतलाना किसी काम का नहीं। कारबारियों की सहायता प्राप्त करने के लिए हमें उनके मन में यह बात बैठा देना पड़ी कि मद्य-पान से कार्य करने की निपुणता का ह्रास हो गया है, फलतः वे घाटे में रहते हैं। और उस व्यवसाय में मज़दूर पेशा-वालों को अपने पक्ष में लाने के लिए उन्हें हमको यह सुझाना पड़ा कि मद्य के दुर्व्यसन से प्राण-हानि और अङ्ग-नाश अनिवार्य है।

मद्य-व्यवसाय के मज़दूरों की स्त्रियों को उतना समझाना बुझाना नहीं पड़ा! उन्हें इस बात का पहले ही से अनुभव था कि उनका मारा-पीटा जाना, अपव्यय, बाल-बच्चों के प्रति उदासीनता और अनेक अवसरों पर उनके तलाक़ की घटनाओं का एक-मात्र कारण मद्य का दुर्व्यसन है। पुलिस और न्यायाधीशों को तो यह बात ज्ञात ही थी कि अपराधों का प्रधान जन्मदाता मद्य-पान ही है। समाज के हितचिन्तकों तथा उसकी बुराइयाँ दूर करने-वालों को ज्ञात ही था कि उनकी कठिनाइयों की वृद्धि का मुख्य कारण मद्य का दुर्व्यसन है। अतएव स्वभावतः वे लोग उसको निर्मूल करने के लिए प्रवृत्त हो गये।

सिनेमा, थियेटर और दूकानदारों की सहायता इस प्रलोभन से प्राप्त की गई कि मद्य के व्यवसाय के बन्द हो जाने से उनके लाभ में वृद्धि होगी। रेड इंडियन और हबशी नेताओं की समझ में यह बात तुरन्त आगई कि उनकी जाति में मद्य के दुर्व्यसन से पाशविक प्रवृत्ति पैदा होगई है, अतएव मद्य के नशे में वे लोग तरह तरह के अत्याचार कर बैठते हैं जिससे उनकी जाति कलङ्कित होगई है। जो गोरे उनके सम्पर्क में रहते थे, उन लोगों ने इस आन्दोलन में इन लोगों की मदद इस कारण की कि शराबी इंडियन और हबशी उनकी सामाजिक और घरेलू शान्ति के बाधक हैं।

भलमनसी तथा सामाजिक एवं व्यक्तिगत लाभों को दृष्टि में रख कर यह आन्दोलन लोकप्रिय बनाया गया और अन्त में देश के एक छोर से

दूसरे छोर तक फैल गया। संयुक्त-राज्यों की कांग्रेस के दोनों परिषदों में मद्य के निषेध के सम्बन्ध में जो सम्मिलित प्रस्ताव उपस्थित किया गया था उस सम्बन्ध में सदस्यों का बहुमत तथा जिस उत्साह के साथ तत्सम्बन्धी क़ानून सारी रियासतों में उपयोग में लाया गया उससे इस आन्दोलन की सर्वप्रियता का अनुभव प्रत्यक्ष हुआ था। मद्य के निषेध-सम्बन्धी क़ानून को क़ानूनी रूप देने के लिए विधान के अनुसार यद्यपि केवल छत्तीस ही रियासतों की मञ्ज़ूरी आवश्यक थी, परन्तु अड़तालीस रियासतों में से ४५ रियासतों ने उसे अपने यहाँ की क़ानून-सभाओं में पास किया। शेष तीन रियासतों—कनेक्टीकट, न्यूजर्सी और रोड आइलेंड—का क्षेत्र-फल २६,८०२ वर्ग-मील है। संयुक्त-राज्यों का क्षेत्र-फल २९,७३,८९० वर्ग-मील है। सन् १९१७ की मनुष्य-गणना के अनुसार पूर्वोक्त तीनों रियासतों की आबादी ४१,९४,५३३ है और संयुक्त-राज्यों की ९,१९,७२,२६६ है। इन अङ्कों से पता लगता है कि ४५ रियासतों ने क़ानून पास करके वहाँ से शराब का पूर्णरूप से बहिष्कार कर दिया। इनका क्षेत्र-फल ९९·७ प्रति सैकड़ा तथा आबादी ९५ प्रति सैकड़ा हो जाने से इस सम्बन्ध में वहाँ का भाव स्पष्ट व्यक्त हो जाता है।

मिस्टर जानसन यह अस्वीकार करने की चेष्टा नहीं करते कि मद्य के निषेधात्मक क़ानून के प्रचलित हो जाने पर वह भङ्ग नहीं किया गया, किन्तु आप यह कहते हैं कि उस क़ानून की इतनी अवहेलना नहीं की गई जैसा कि बढ़ा कर कहा जाता है। इतने पर भी मद्यपान के निषेध से संयुक्त-राज्य को बहुत लाभ होने लगा है।

संयुक्त-राज्य के ५४ नगरों के पुलिस अधिकारियों से जो अनुसन्धान किया गया है उसका फल आगे दिया जाता है:—

सन्	मतवाले गिरिफ़ार किये गये	कुल गिरिफ़ार किये गये
१९१७	३,७२,४९७	११,०६,५६१
१९१८	२,९४,००६	१०,४९,९६३
१९१९	२,०५,३९१	९,५६,२१५
१९२०	१,४१,०७१	९,३५,३१८

इन अङ्कों को पढ़ते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मतवाले शराबियों और अपराधियों की संख्या कितनी अधिक वृद्धि पर थी। जब मद्य-निषेधात्मक क़ानून का प्रयोग पूर्णरूप से हो जायगा तब मतवाले शराबियों की संख्या का लोप हो जायगा और अपराधियों की संख्या और भी न्यून हो जायगी।

न्यूयार्क के स्वास्थ्य-विभाग से जो अङ्क संग्रह किये गये हैं उनकी संक्षिप्त तालिका आगे दी गई है। इससे यह बात प्रकट होती है कि मद्य-पान से मरनेवालों की संख्या भी बहुत घट गई है।

१९१६	६८०
१९१७	५५९
१९१८	२४३
१९१९	१८६
१९२०	६९

देश के भिन्न भिन्न भागों के जेलों और ग़रीब-ख़ानों से जो रिपोर्टें आ रही हैं उनसे पता लगता है कि अपराधियों और ग़रीबों के अभाव से वे बन्द होते जा रहे हैं। यह सब मद्य-पान के त्याग करने का ही परिणाम है।

मद्य के बहिष्कार का प्रभाव आर्थिक स्थिति पर पड़ा है। आबकारी विभाग की आय बन्द ही सी होगई, पर अधिकारि-वर्ग राजस्व की इस हानि की कुछ परवा नहीं करता। मोन्टना रियासत के कोषाध्यक्ष ने मिस्टर जानसन को लिखा था, "रियासत के ज़िलों को आबकारी के ठेके से जो आय पहले होती थी वह अब नहीं रह गई। परन्तु अपने जेल और ग़रीबख़ानों को अपराधियों और मद्य के दुर्व्यसन से अपराध करनेवाले लोगों से न भर कर वास्तविक रूप में बहुत कुछ व्यय भी कम पड़ गया है। इन ठेकों से होनेवाली आय में यद्यपि बहुत कमी आ गई है, तो भी व्यय भी उसी प्रकार बहुत कुछ घट गया है। अतएव हम यह नहीं समझते कि शराब की आय बन्द हो जाने से हमारे कर बढ़ गये हैं।"

संयुक्त-राज्य में माल के मूल्य पर कर लगता है। जब सैलून उठा दिये गये तब माल का मूल्य बढ़ गया। अतएव अनेक स्थानों में अधिकारि-वर्ग लाभ ही में रहा। उदाहरण के लिए, जे० बी० क्रूस रियल्टी कम्पनी के पास इंडिआनो पोलिस, इंडियाना, में एक घर था। यह घर सन् १९१६ में ४८,६६० डालर में ख़रीदा गया था। तब शराब का व्यवसाय बन्द नहीं किया गया था। अब इस समय इस मकान का मूल्य ६५,००० डालर लगाये गये हैं। मद्य के निषेध के इन्हीं दो वर्षों में अकेले इस एक मकान के कर लगाये जानेवाली मूल्य की रक़म में ३६,००० डालर की वृद्धि हुई। अतएव गृह-स्वामी की मिलकियत की इस भारी मूल्य-वृद्धि के साथ ही इंडिआना पोलिस के कर लगाये जानेवाले माल में से एक के मूल्य में ३६,००० डालर की वृद्धि हुई।

मद्य के निषेध का प्रभाव घरेलू भलमनसी और सामाजिक जीवन पर ख़ूब ही पड़ा। मद्य-वर्जन के पहले मज़दूर अपना चेक सैलून में ले जाकर भुनाया करता था, जहाँ उसका अधिकांश शराब के मूल्य में पहले ही काट लिया जाता था। अब वह उसे अपनी स्त्री को जाकर देता है। वह उससे अच्छा भोजन, कपड़े-लत्ते तथा अन्यान्य आमोद-प्रमोद की बातों का प्रबन्ध करने में समर्थ होती है। इसके सिवा वह उसमें से कुछ न कुछ बचा भी लेती है, जो पानी बरसने के दिन काम आता है; क्योंकि उस दिन काम बहुत कम मिलता है। सन् १९०९ की २० जून से १७ वीं सितम्बर तक वहाँ के जातीय बैंकों में ८,८०,००० नये लोगों के खाते खोले गये, जमा में १,४२,२८,८३,००० डालर हो गये और जातीय बैंकों की अपेक्षा स्टेट और प्राइवेट बैंकों में जमा करनेवालों तथा जमा-पूँजी की बहुत ही अधिक वृद्धि हुई।

परन्तु इस सम्बन्ध का जो प्रश्न भारत में हमारे सामने है वह अमरीका के समान जटिल नहीं है। अमरीका में मद्य त्यागियों का औसत नाम-मात्र भर था, पर यहाँ भारत में इसका उलटा है। यद्यपि इधर कुछ समय से हम लोगों में मद्य का प्रचार अधिक हो गया है तो भी हम लोग गम्भीर जाति के लोग हैं। सरकारी अङ्कों के देखने से मालूम पड़ता है कि हम लोगों में मद्य का दुर्व्यसन शीघ्रता से किस प्रकार बढ़ता जा रहा है। अतएव केवल आबकारी के आय के अङ्कों ही का जान लेना आवश्यक नहीं है, किन्तु मद्य के परिमाण के अङ्कों का भी। ये दोनों बातें आगे के अङ्कों से मालूम हो जायँगी।

सन्	आय	मद्य की खपत
	(पौंड)	(गैलन)
१६०४–५	५२,६५,८६३	७६,८०,०७०
१६०६–१०	६४,६२,२२६	८३,२०,७११
१६१४–१५	८७,४७,७४८	८५,२६,६३०
१६१५–१६	८४,६८,२७०	६२,६७,२५०
१६१६–१७	६१,०६,०८२	६२,६७,२५०
१६१७–१८	१,००,५७,३६५	६५,०५,३६५
१६१८–१६	१,१४,२१,५२४	६७,१०,०५६

भारत में मद्य-पान का दुर्व्यसन शिक्षितों और कल-कारख़ाने के मज़दूरों में शीघ्रता के साथ बढ़ रहा है और इसके प्रचार से वही बुराइयाँ इस देश में भी होने लगेंगी जिनसे बाध्य होकर संयुक्त राज्य, अमरीका, में मद्य का व्यवसाय क़ानून द्वारा बन्द कर देना पड़ा।

अतएव इस दुर्व्यसन की वृद्धि रोकने के लिए कार्य आरम्भ कर देने का यही समय है। यदि हम यह चाहते हों कि हम अपने प्रयत्नों में सफल हों तो हमें अपनी निज की आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें उनका स्वरूप देना चाहिए। मिस्टर जानसन के सदृश मित्र हमारी सहायता करेंगे, परन्तु हमें इस सम्बन्ध में हृदय से प्रोत्साहन मिलना चाहिए और इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए हमें विदेशियों पर नहीं, किन्तु अपने ऊपर निर्भर होना चाहिए।

सेंट निहालसिंह

मतिराम और बिहारी।

कविवर बिहारीलाल और मतिरामजी ने प्रायः एकही समय में कविता की है। दोनों ही प्रतिष्ठित राजघरानों के आश्रित कवि थे। जयपुर और बूँदी राजपूताने के चिर-प्रसिद्ध राज्य हैं। यहाँ के शासक बड़े गुणी और गुणग्राही रहे हैं। हिन्दी-साहित्य दोनों ही दरबारों से लाभान्वित हुआ है। बिहारीलाल जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह के आश्रित थे और मतिरामजी बूँदी-नरेश महाराज भावसिंहजी के। दोनों कविवरों ने अपनी कविता का अधिकांश भाग शृङ्गार-रस के सत्कार में नियोजित किया है। दोनों ही कवि पक्के शृङ्गारी हैं। दोनों कवियों की रचना मधुर व्रजभाषा में है। बिहारीलाल ने अपनी समग्र कविता दोहा और सोरठा छन्द में निबद्ध की है, परन्तु मतिराम ने घनाचरी, सवैया, छप्पय, सोरठा एवं दोहा आदि छन्दों का उपयोग किया है। मतिराम ने नायिका-भेद और अलंकार एवं पिङ्गल-सम्बन्धी ग्रन्थ बनाये हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि बिहारीलाल के दोहे हिन्दी-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते। हिन्दी-साहित्य में बिहारीसतसई सचमुच अद्वितीय ग्रन्थ है।

कविवर मतिराम ने भी अपने ग्रन्थों में अनेक दोहे कहे हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि यदि किसी के दोहे विहारी के दोहों की समता को पहुँचते हैं तो वे मतिराम के ही दोहे हैं। हमारी राय में मतिराम के कोई-कोई दोहे वास्तव में अनुपम हैं।

मतिराम और बिहारी के किसी किसी दोहे में भावसादृश्य पाया जाता है। यह सादृश्य भावापहरण के कारण से है अथवा इन दोनों कवियों को एक ही साथ समान भाव सूझे हैं—यह बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती। पर दोनों की कविता में भाव-सादृश्य है अवश्य। यहाँ इस प्रकार के कुछ उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं।

(१) शरद का शुभागमन है। निर्मल जल की बहार है। खञ्जन पत्ती गृहस्थों के आँगन में नाच रहा है। सरोवरों में कमल फूले हैं। रात्रि में शशधर अपनी षोडश कला से उदित होता है। शृङ्गारी कवि बिहारीलाल और मतिराम दोनों ही इस प्रकृति-सौन्दर्य को देखते हैं। शरदागम का सुहावना समय, नायिका के अवयवों का प्रतिस्पर्धी बनता है!

बिहारी कहते हैं:—

अरुन सरोरुह कर चरन, दग खञ्जन मुख इन्दु।
समय आय सुन्दर सरद, काहि न करत अनन्द?

इसी भाव का निर्वाह मतिराम इस तरह करते हैं:—

पिय आगम सरदागमन, विमल बाल मुख इन्दु।
अंग अमल पानिप भयो, फूले दग अरविन्द॥

दोनों कवियों में किसका भाव विशेष मनोहर है, इसका भार सहृदय पाठकों की रुचि पर छोड़ कर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि मतिराम के दोहे में आगत पतिका नायिका एवं रूपक अलङ्कार का निर्वाह पूर्णरूप से किया गया है।

(२) बेचारे नेत्रों के भाग्य में सुख का अभाव ही समझ पड़ता है। जब प्रियतम से साक्षात् होता है तब लज्जा एवं आनन्दाश्रु के प्रवाह के कारण उनके दर्शन सम्यक् नहीं हो पाते। और वियोग में तो सदा रोना ही रोना रहता है। इस भाव को बिहारी ने अपने दोहे में यों अभिव्यक्त किया है:—

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहिँ।
देखे बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिँ॥

मतिराम इसी भाव को यों दर्शित करते हैं:—

बिन देखे दुख के चलहिँ, देखे सुख के जाहिँ।
कहौ लाल इन दगन के, अँसुआ क्यों ठहराहिँ॥

दोनों में किसका भाव उत्कृष्ट है इसका भार हम फिर सहृदय पाठकों की रुचि पर छोड़ते हैं।

(३) प्रौढ़ा धीरा नायिका नायक को सापराधी पाकर अपने क्रोध को प्रकट नहीं कर रही है परन्तु उसकी रति-सम्बन्धिनी उदासीनता से नायिका का मान नायक को अवगत हो जाता है। इसी दशा का चित्र कविवर बिहारीलाल इस तरह खींचते हैं:—

चितवनि रूखे दगनि की, हाँसी बिनु मुसकानि।
मान जनायो मानिनी, जानि लियो पिय जानि॥

इसी भाव को मतिरामजी ने 'रसराज' की एक घनाचरी में बहुत ही अच्छे ढँग से दिखलाया है। घनाचरी का अन्तिम पद यह है:—

कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी तेरो,
मान जानियत रूखी मुख मुसकानि सों।

इसके अतिरिक्त एक अन्य दोहे में इस भाव को मतिरामजी ने और भी मार्मिकता से व्यक्त किया है—

ढीली बाँहनि सों मिली, बोली कछू न बोल।
सुन्दरि मान जनाय कै, लियो प्रानपति मोल॥

अन्तिम दोहे की भावोत्कृष्टता का अन्दाजा पाठकगण इसी से कर सकते हैं कि 'दास' जैसे

उद्भट कवि भी इस भाव के अपहरण का लोभ संवरण न कर सके। यथा—

> याही ते हिय जानिगो, मान हिये को लाल।
> अरसीलो ढीली मिलनि, मिली रसीली बाल॥
> ('दास'—रस-सारांश)

(४) आभूषण विशेष की झलक नायिका के अवयव-विशेष पर पड़ी है। नायिका इस बात को नहीं समझ पाती और उस झलक को दूर करने का उद्योग करती है। सखी उपहास करती हुई असली बात नायिका को समझा देती है। बिहारीलालजी कहते हैं:—

> बेसरि मोती दुति झलक, परी अधर पर आय।
> चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछो जाय॥

कितना मार्मिकतामय वर्णन है! सखी की कैसी मृदु हँसी है!

मतिरामजी ने भी इसी भाव को एक दोहे में सम्पुटित किया है। पर वहाँ धोखा खानेवाली सखी है, नायिका नहीं। नायिका के कपोलों पर 'रदच्छद' बने हुए थे। लज्जावश वह कपड़े से ढँक कर उन्हें सखी से छिपाना चाहती थी, पर सखी इस भेद को यथार्थतया न समझ सकी। वह समझी कि 'लाल तयोना' की आभा कपोलों पर पड़ रही है—उसको भ्रम होगया—या सम्भव है कि वह जान बूझ कर नायिका की लज्जा दूर करने को 'बन' गई हो। जो हो, उसने नायिका को गोपन-कार्य से विरत किया—

> प्रभा तरयोना लाल की, परी कपोलनि आनि।
> कहा छपावति चतुर तिय, कन्त-दन्त-छत जानि॥

इस दोहे को 'जसवन्त-जसो-भूषण'कार कविराजा मुरारीदान ने अपने अलंकार-ग्रन्थ में 'भ्रम' के उदाहरण में उद्धृत किया है।

(५) लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं॥
—बिहारी

> मानत लाज लगाम नहिं, नेकु न गहत मरोर।
> होत लाल लखि बाल के, दृगतुरङ्ग मुँहजोर॥
> —मतिराम

दृगतुरङ्गों पर अपना बस न रहने के कारण बिहारीलाल का यह कहना कि "नैना मो बस नाहिं" बड़ा ही विदग्धतापूर्ण और सुकुमार भाव है। 'दृगतुरङ्ग' का रूपक बड़ी शान-बान से उठा था, पर 'लौं' वाचक के प्रयोग से बिहारीलाल ने उसे बिगाड़ दिया। मतिरामजी के दोहे में इतनी विशेषता अवश्य है कि उन्होंने रूपक नहीं बिगड़ने दिया।

(६) प्रिय और प्रियतमा का साक्षात्कार हुआ है। दोनों एक दूसरे को टकटकी लगा कर देख रहे हैं। सात्विक प्रभाव से अश्रु-प्रवाह हुआ है। इस दृश्य का फ़ोटो खींचना उभय कवियों को अभीष्ट है। एक कवि नायक नायिका दोनों के नेत्रों के अश्रु-प्रवाह को देख कर नेत्र-पिचकारी द्वारा एक दूसरे पर प्रेम-रङ्ग छिड़कवाता है तो दूसरा 'रीझ' के भार से थकी हुई आँखों में 'श्रमजल' का आना दिखलाता है। दोनों ही बड़े सुकुमार भाव हैं।

> रस भिजये दोऊ दुहुन, एकटक रहे टरै न।
> छवि सों छिरकत प्रेम-रँग, भरि पिचकारी नैन॥
> —बिहारी

> बाल रही इकटक निरखि, ललित लाल मुख इन्दु।
> रीझ भार अँखियां थकीं, झलके श्रम-जल-बिन्दु॥
> —मतिराम

'को बड़ छोट कहत अपराधू'-वाले गोस्वामीजी के कथन के अनुसार हम नहीं कह सकते कि इन दोनों में कौन भाव आगे निकल जाता है। सहृदय पाठक स्वयं इसका निर्णय करलें।

(७) 'मर्यादा' भाग ४ संख्या १ पृष्ठ ३ पर पण्डित शिवाधार पाण्डेय, एम० ए०, एल-एल० बी०, लिखते हैं—

"चढ़ी अटारी बाम वह, कियो प्रणाम निखोट।
तरनि किरनि ते दगन की, कर सरोज करि ओट॥
—मतिराम

यह क्रिया विदग्धा का उदाहरण है। पति को नीचे जाता हुआ देख कर कोई स्त्री सूर्य को प्रणाम करने के बहाने नेत्रों की ओट कर के नीचे पति की ओर देखती है × × × × × उधर प्रणाम का बहाना भी हो जाता है, इधर अपने लजीले नेत्रों के लिए सूर्य भगवान् से क्षमा भी माँगी जाती है। यह शृङ्गार में एक अद्भुत भक्ति और हास्यरस का प्रवेश है × × × × × बिहारी भी इसी तरह के एक दोहे को कहते हैं, पर कहना नहीं होगा कि मतिराम की मिठास को नहीं पाते।

रवि बन्दौं कर जोरि कै, सुने स्याम के बैन।
भये हँसोहें सबन के, अति अनखोहें नैन॥
—बिहारी

यहाँ न वह भाव ही है, न वह अवस्था ही और न वह अद्भुत रस ही। कोरा हास्य-रस है।"

(८) शरीर में आभूषण नेत्रों में कज्जल और पैरों में महावर का व्यवहार करने से नायिका की शोभा नहीं बढ़ती। यह सब शृङ्गार कहने भर को है। इस आशय को बिहारी ने अपने छोटे से दोहे में बड़ी मार्मिकता से दिखलाया है। अपने सवैया में मतिराम का भी वही लक्ष्य है, पर लेखक को बिहारी के दोहे से विशेष सहानुभूति है—

तन भूषन अंजन दगन, पगन महावर-रंग।
नहिं शोभा को साज यह, कहिबेई के अंग॥
—बिहारी

जावक रङ्ग रँगे पद पङ्कज, नाह को चित्त रँग्यो रँग याते
अञ्जन दै करि नैननि मैं, सुखमा बढ़ी स्याम सरोज प्रभाते
सोने के भूषन अङ्ग रच्यो 'मतिराम', सबै बस कीबे की घातैं
योंहीं चलै न सिँगार सुभावहि, मैं सखि भूलि कही सब बातैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठक निश्चय कर सकते हैं कि मतिराम बिहारी से बहुत पीछे नहीं रह जाते।

कृष्णबिहारी मिश्र

कला और भारतीय चित्र-निरूपण
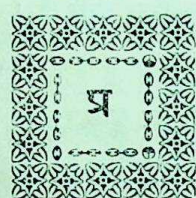
प्रकृति की शोभा के अनुकरण का नाम कला है। प्रकृति स्वाभाविक और अनियमित है। कला नियमबद्ध और कृत्रिम है। प्रकृति मनुष्यकृत सब नियमों का उल्लङ्घन कर अपनी निरङ्कुश शोभा में विलास करती है और उन सब अल्प सीमाओं के बन्धनों का उपहास करती है जिनसे मनुष्य उसे अपनी धृष्टता के कारण बाँधना चाहता है।

पर्वतों के सदैव स्वच्छ हिमाच्छादित उच्च शिखर, जो देवताओं के पावन आकाशमण्डल में अभिमान से अपना मस्तक उठाये हुए हैं; असीम विस्तृत गिरि-घाटियाँ, जो मनोहर हरयाली तथा नाना प्रकार की वृक्षावलियों से अलंकृत हैं, मनमोहक पक्षियों के मधुर और सुन्दर गान से गूँज रही हैं और जिनके भिन्न भिन्न भागों में मानवीय कृत्रिम विद्या के दुष्प्रभावों से मुक्त, मस्त तथा प्रफुल्लित नवयुवक गड़रिये भेड़ों के झुण्ड चराते हुए अपने ग्रामीण ढँग के चित्ताकर्षक गवाँरू गीत गा रहे हैं तथा कभी कभी वंशी की सुहावनी ध्वनि को भी छेड़ देते हैं; विशाल विस्तृत असीम जलाशय और झीलें तथा उनके

स्वच्छ वक्षस्थल पर इतस्ततः स्थित छोटे छोटे मनोहर द्वीप, जिनकी अक्षत भूमि पर मनुष्य का कभी पदार्पण भी नहीं हुआ है और जो प्रकृति की पवित्र निर्मल पवन का पान कर रहे हैं; अन्धकारमय निःसीम वन, जो वृक्षावलियों की लतामण्डपों से गाढ़ आच्छादित हैं, जिनकी भूमि प्रचण्ड मार्तण्ड की तीव्र किरणें चुम्बन करने को असमर्थ हैं और जो उन जङ्गली भयङ्कर और विविध रूपाकार पशुओं से परिपूर्ण हैं जिन्हें सभ्य मनुष्य ने कभी आँखों से भी नहीं देखे; गम्भीर भयानक विकराल काल मुख-सदृश गिरिगह्वर और विवर, जो माता वसुन्धरा के हृदय को विदीर्ण किये हुए खुले पड़े हैं और जिनकी कन्दराओं और गुफाओं में जङ्गली हिंसक जानवर अपने शिकार की टोह में घात लगाये बैठे रहते हैं; असीम अतुल, अनन्तसमुद्र जो कभी निश्चल शान्ति में ध्यानावस्थित रहता है, कभी प्रचण्ड प्रकोप में गर्जना करता है और कभी स्वाभाविक आनन्दोन्माद में पर्वतशिखर जैसी ऊँची कुलाँचे मारता है तथा उन विशालकाय जङ्गी जहाज़ों को जो उसके वक्षस्थल पर लात मार कर शत्रु-सेना का विध्वंस करने को जाते हैं, टुकड़ों टुकड़ों में चूर चूर कर डालता है—यह सब उसी प्रकृति का रूप है जो सदैव निर्वद्ध अकुण्ठित अदम्य अपराजित और असीम है।

यदि प्रकृति से उसकी निरङ्कुशता, भयानकता, विशालता, वैषम्यता, अकृत्रिम शोभा, मधुरसंगीत-रसिकता, भव्य दिव्य रमणीक दृश्यता और नेत्र-विस्मयकृत विविध रूप-रङ्ग-सम्पन्न शोभा निकाल दी जाय तो जो कुछ शेष रह जायगा वह कला है। वह प्रकृति का दीन हीन दुर्बल और निर्जीव प्रतिबिम्ब है।

कला शब्द ललित कलाओं का द्योतक है। इनमें मूर्त्ति-निर्माण-कला, चित्रण-कला, संगीत-कला, कविता, नृत्य-कला आदि मुख्य हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी और प्राकृतिक दृश्यों के रूपों की नक़ल करने का नाम मूर्त्ति-निर्माण-कला है। चैतन्य और जीवित वस्तु की मूर्त्ति को जड़-जीव-रहित पाषाण अथवा अन्य ऐसी चीज़ पर नक़ल कर दिखाना इस कला का उद्देश है। चित्रण-कला प्रकृति के जीते-जागते कृत्यों को काग़ज़ या अन्य पदार्थ पर नक़ल कर लेने की चेष्टा करती है, पर वह अपने कार्यों में चेतन का चमत्कार करने से असमर्थ है। सङ्गीत-कला पशु-पक्षियों की बोली तथा उनके स्वाभाविक गान के अनुकरण करने का प्रयत्न करती है और समस्त विश्व में व्याप्त ब्रह्मनाद को अपने वश कर व्यक्त करना चाहती है। जिस प्रकार मानव हृदय में आकाश तथा अरण्य-गान से भाव उत्पन्न होते हैं वैसे ही जीते-जागते भाव वह अपनी चेष्टाओं से जागृत करना चाहती है। कविता का उद्देश जीवन के आदर्श दृश्यों का चित्रण करना है। वह इस चित्रण को ऐसे वाक्यों और उद्गारों से ललित और सुन्दर बनाती है जो चित्ताकर्षक, आनन्दप्रद, उच्चभावोत्पादक, चमत्कार-युक्त, दिव्यभाव-वर्द्धक, उत्साहद्योतक और अध्यात्म जागृत-कृत होते हैं।

संसारान्तर्गत प्राकृतिक लय को अभिव्यक्त करना नृत्य-कला का उद्देश है। संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें लय न व्याप्त हो। चैतन्य पदार्थों में यह लय उसी परिणाम में व्याप्त है जितनी कि उनमें चैतन्य-शक्ति है। जड़ पदार्थों में लय व्याप्त अवश्य है, पर दृष्टिगोचर नहीं है। पक्षी नृत्य करते हैं, पशु नृत्य करते हैं, नर-नारी नृत्य करते हैं

और देवता नृत्य करते हैं। चेतन-विशिष्ट कोई प्राणी ऐसा नहीं जो अपने हार्दिक आनन्द को नृत्य द्वारा अभिव्यक्त न करता हो। प्रकृति में छिपे हुए लय को व्यक्त करना और चैतन्य रूपों में उसके प्रभाव की वृद्धि करना नृत्य-कला का उद्देश है।

यदि प्रत्येक कला का वर्णन अलग अलग किया जाय तो एक ग्रन्थ बन जाय। अतएव मैं इस लेख में केवल भारतीय चित्रण-कला ही का कुछ परिचय देता हूँ।

भारतीय चित्रकार नक़शा बनाने में बहुत चतुर नहीं हैं और न वे प्राकृतिक दृश्यों को ही आधुनिक नियमों से चित्रण करने में कुशल हैं। हाँ, वे रूप और आकार के चित्रण करने में अत्यन्त दक्ष हैं। उनका प्रेम जड़ पदार्थों से नहीं है। उनका मन चैतन्य पदार्थ और उनके जीते-जागते कार्यों के चित्रण करने में लगता है। इसी बात में उनकी प्रसिद्धि और ख्याति है। उनके चित्रों की जाँच करना प्रत्येक मनुष्य का काम नहीं। उनके चित्र अशिक्षित नेत्रवालों के लिए नहीं हैं। ये चित्र भारतीय धर्म, साहित्य और तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। जो इन विषयों से अपरिचित हैं वे इन चित्रों के गुण-दोष की जाँच नहीं कर सकते और न वे इनकी वास्तविक शोभा ही का अनुभव कर सकते हैं। भारतीय चित्र प्रायः निम्न प्रकार के होते हैं:—

१. देवी-देवताओं के चित्र।

२. इतिहास-पुराणान्तर्गत महान् पुरुषों और आदर्श महिलाओं के चित्र।

३. राग-रागनियों के रूप-सम्बन्धी चित्र।

४. नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी चित्र।

५. उपर्युक्त विषयों के अन्तर्गत अन्य वस्तुओं के चित्र।

इन चित्रों की जाँच वही कर सकता है जो इन विषयों का साहित्य जानता है। भारतीय चित्रकार की प्रधान चेष्टा चित्र-लिखित नर-नारी के हृदय-स्थित भावों को व्यक्त करने की रहती है। केवल बाहरी सुन्दर शरीर और रूप खींच देने से उसे संतोष नहीं होता। वह जिसका चित्र बनाता है उसके हृदय के गुप्त से गुप्त भावों की खोज कर बाहर चित्र में दिखाना चाहता है। अन्य देशों के चित्रकारों का उद्देश शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्गों को आदर्श बनाना है, पर भारतीय चित्रकार भीतरी भावों की अभिव्यक्ति करने ही में कला-कौशल समझता है। जिस प्रकार यूनान और रोम के शिल्पकार और चित्रकार अवयवों को शास्त्रीय नियमानुकूल बनाने में भरपूर चेष्टा करते थे वैसे ही भारतीय चित्रकार भावों की अभिव्यक्ति करने में प्रयत्न करते हैं। वे जैसा मनुष्य या जैसी स्त्री वास्तव में है वैसा का वैसा ही मनुष्य या वैसी की वैसी ही स्त्री चित्र में भी बनाते हैं। अपने नायक या नायिका का शरीर अकृत्रिम नियमों से अधिक सुन्दर या मनोहर चित्रित करने की चेष्टा वे नहीं करते; क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसा करने में उसकी वास्तविकता जाती रहती है। आप कोई भी भारतीय प्राचीन चित्र देखिए। उसमें पूर्वोक्त बातें अवश्य मिलेंगी।

चित्र में नाना प्रकार के रंगों का मेल करना भी भारतीय चित्रकारों की विशेषता है। इस प्रकार के रंग विदेशी चित्रकार नहीं भर सकते। प्राचीन चित्रों के सुनहरे रंगों को देख कर आज-कल

के चित्रकार हक्काबक्का हो जाते हैं। इस प्रकार के रंगों को कलों द्वारा छापना असम्भव है। मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि यदि आप किसी प्राचीन चित्र को जिसमें सुनहरा रङ्ग भरा है छापना चाहें तो वह जैसा का तैसा कभी नहीं छपेगा। उसका सुनहरा रंग ज्यों का त्यों न उतरेगा। अभी तक ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं मालूम हुई है जिससे अन्य रंगों की भाँति सुनहरा रङ्ग भी अच्छी तरह छापा जा सके। मुझे इस विषय का अधिक ज्ञान नहीं है। परन्तु जब कभी मैंने किसी सुनहरे प्राचीन चित्र को छपवाना चाहा है तब कारीगरों ने कह दिया है कि सुनहरा रङ्ग जैसा का तैसा नहीं उतर सकता। इसी अनुभव पर मैंने उपर्युक्त बात लिखने का साहस किया है।

जो बातें मैंने ऊपर बताई हैं उनको ध्यान में रखने से भारतीय प्राचीन चित्रों की शोभा हृदयङ्गम करने में बड़ी सहायता मिलती है। उन चित्रों का असली महत्त्व तो तभी मालूम होता है जब दर्शक उन चित्रों से सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य से सुपरिचित हो।

कन्नोमल एम० ए०

अमेरिका की स्त्रियाँ और राजनीति।

पिछले साल से अमरीका के सब प्रान्तों की स्त्रियों को राज-कार्य्य में सम्मति (वोट) देने का अधिकार मिल गया है। देश के शासकों के निर्वाचन-विधान-रचना और प्रत्येक राजनैतिक कार्य में उनको अब पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त हैं।

इस समानाधिकार के नियम से अमरीका में दो करोड़ स्त्रियों को मत देने का अधिकार मिल गया है। यद्यपि इन स्त्रियों को अपने देश का राष्ट्रपति चुनने और अपने राजनैतिक जीवन के सब नियम बनाने की शक्ति मिल गई है, परन्तु इनमें से अधिकांश स्त्रियों को न तो अपनी शक्ति का ज्ञान है और न वे राजनैतिक कार्य्यों से ही पूर्णतया परिचित हैं। समाज के प्रश्न, देश की आवश्यकतायें, राष्ट्रपति होने की इच्छा रखनेवालों के गुण-दोष आदि बातों का प्रारम्भिक ज्ञान भी उनको नहीं है और न वे अर्थ-शास्त्र, राज-नीति और राजनीतिज्ञों की चालों ही को जानती हैं। यदि राज-कार्य्य में अन्याय, अविचार तथा दुष्टता हो तो उनके लिए किसको दण्ड देना चाहिए, किसको पद से किस प्रकार हटाना चाहिए—इन सब बातों से वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इसलिए शासन-पद्धति के आदर्शों और राजकर्मचारियों के नियमित कार्यों के ज्ञान के लिए उनकी नेत्रियाँ उच्चशिक्षिता स्त्रियाँ स्थान स्थान पर स्त्रियों के लिए राजनैतिक शिक्षा के विद्यालय खोल रही हैं।

अमरीका के प्रत्येक प्रान्त के प्रायः सभी विश्वविद्यालय उन स्त्रियों को इस काम में सहायता दे रहे हैं और विश्वविद्यालय की श्रेणियों में करोड़पतियों तथा किसानों की स्त्रियाँ एक साथ बैठ कर अपने राजनैतिक धर्म के पालन के इस नये दायित्वपूर्ण काम को आज-कल सीख रही हैं। खाते-पीते, उठते-बैठते वे निरन्तर अपने राजनैतिक सिद्धान्तों का विचार करती रहती हैं और अपनी नई राजनैतिक शक्ति से शीघ्र शीघ्र परिचित हो रही हैं।

वोट का अधिकार पाने के लिए अमरीका की

स्त्रियों ने बड़ा भारी आन्दोलन किया। उस समय वोट के आन्दोलन की जो संस्थायें थीं अब उनका "वोटाधिकारप्राप्त स्त्रियों की संस्था" नाम रख दिया गया है। इन्हीं सङ्गठनों के द्वारा अब स्त्रियों को राजनीति के गूढ़ तत्त्व और देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था समझाने की नाना रूप से चेष्टायें की जाती हैं। उनको समझाया जाता है कि राज्य उन्हीं का है। राज्य में और उनमें कुछ अन्तर नहीं है। वे जो कुछ करना चाहती हैं यदि दल-बद्ध होकर उसको करें तो वही राजनियम हो जायगा। यह बात तो सहज सी मालूम होती है, परन्तु इसको समझाना सहज नहीं है। स्त्रियों को बताया जाता है कि उनका राज-नियमों से दिन-रात सम्बन्ध है और यदि उनको कोई क़ानून अच्छा न लगे तो वे उसको बदल सकती हैं। उनको राजनीति के सिद्धान्त सिद्धान्त-रूप में नहीं बताये जाते। उनसे कहा जाता है कि उनकी शिक्षा, उनका दैनिक ख़र्च, उनका घर, उनकी आय,—सब बातों में उनका सरकार से सम्बन्ध है और जब तक वे राजकार्य्य में रुचि न लेंगी, उनको जीवन का सुख नहीं मिलेगा।

उनको सिखाया जाता है कि मिल कर काम करने ही को राजनीति कहते हैं। अपनी बुद्धि लगा कर समाज के हित के लिए वे मिल कर जो कार्य अपनी संस्थाओं द्वारा करेंगी वही कार्य्य देश का नियम हो जायगा—इस बात का उनको विश्वास दिलाया जाता है और इसके लिए अनेक पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं, अनेक व्याख्यान हुआ करते हैं और समाचारपत्रों में अनेक लेख छापे जाते हैं।

राजनैतिक क्षेत्र में अवतरण कर अब अमरीका की स्त्रियाँ क्या क्या काम करेंगी? दो करोड़ वोटों से वे जो चाहें कर सकती हैं। इस महान् शक्ति को लेकर वे अब किस शासन-प्रणाली का अवलम्बन करेंगी और किन नये सुधारों से समाज का क्या परिवर्तन करेंगी—यह प्रश्न अमरीका के नाना दल के राज-नीति-विशारदों के मन में आज-कल उठता है।

स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक अन्तर।

स्त्री और पुरुष में परमात्मा ने कई प्रकार के स्वाभाविक अन्तर बनाये हैं। पुरुष का स्वभाव अशान्तिप्रिय होता है। वह नाना देशों में, नाना स्थानों में विचरण करना पसन्द करता है। घर के, समाज के और अन्य सब प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र रहना उसको बहुत अच्छा लगता है। प्रकृतिदेवी ने उसको स्वभाव से ही योद्धा, शिकारी और परिव्राजक बनाया है। वह अनियमित, अविचारशील, अविश्वासी और चरित्रहीन होता है। वह ऊँचे से ऊँचे काम को करने की हिम्मत कर तथा अपनी कमर कस उसमें लग जाता है और जब भ्रष्ट होता है तब पाप के महा घोर नरक में भी वही पड़ता है। वह स्वभाव से ही चञ्चल है। अपने बल की परीक्षा करना उसको अच्छा लगता है। सृष्टि को तोड़ ताड़ कर अपने इच्छानुसार उसको पुनः बनाने की उसकी इच्छा सदा रहती है।

स्त्रियाँ शान्ति की मूर्त्ति होती हैं। वे गृहिणी हैं। घर में रहना तथा घर का काम करना उन्हें अच्छा लगता है। वे घर के पुरुषों को घर की सीमा में बद्ध रखने की सदा चेष्टा करती हैं। उनको सदा पुत्र-कन्या-पालन, दाल रोटी और घर की अन्य बातों की चिन्ता लगी रहती है। जो बात स्त्रियाँ

सोच सकती हैं उसकी ओर पुरुष का ध्यान आना कठिन है। घर और समाज के सुधार की जितनी इच्छा स्त्रियों को रहती है उतनी पुरुषों को नहीं। स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र, पिता, भाई आदि सबके लिए सदा से सामाजिक नियम बनाती आई हैं। जीवन और समाज को पवित्र बनाये रखने के लिए वे सदैव सचेष्ट रही हैं। वर्त्तमान काल में शिक्षा के प्रचार के कारण पहले से अब उनकी भी शक्ति अधिक होगई है। पाश्चात्य देशों में बल, विद्या और बुद्धि में वे अब पुरुषों से कम नहीं हैं। इसलिए समाज के सुधार की आशा पुरुषों की अपेक्षा उन्हीं से अधिक है।

अमरीका की स्त्रियों में एक और गुण है। अमरीका नया देश है। इसको बसे अभी कुछ ही शताब्दियाँ हुई हैं। जब यह देश बसा था तब वहाँ जो गये थे उनको नये देश की नई अवस्था के अनुसार अपने अनेक प्राचीन आचार-विचारों को त्याग करके अपने सुख और सुविधा के विचार से अनेक नई रीति-रवाज बनाने पड़े थे। नये देश के जङ्गलों को काट कर उनको घर-द्वार बनाने पड़े थे। उनकी स्त्रियों को भी उनके साथ कठिन परिश्रम करना पड़ा था। अपने परिवार का लालन-पालन और घर का सारा काम उनको अपने हाथों करना पड़ता था। आज़-कल के अमरीकावासी उन्हीं कठिन परिश्रम करनेवालों की सन्तान हैं। इसलिए जन्म से ही इनमें विचार और कार्य्य की स्वतन्त्रता होती है। नये सिद्धान्तों और नये आदर्शों से ये डरते नहीं। इनके देश में नित्य नूतन पथों के आविष्कार होने के कारण नवीनता इनके जीवन का एक प्रधान अङ्ग सी हो गई है। यद्यपि अमरीका की स्त्रियों के लिए राजनैतिक काम नया है, परन्तु इसकी नवीनता में उनके लिए कोई विशेषता नहीं है।

अमरीका की वोट-प्राप्त स्त्रियों की अनेक योग्य नेत्रियाँ हैं। इनमें से अनेक धनवान् और पण्डिता स्त्रियाँ हैं। इस सम्बन्ध में मिसेज़ नारमन डी० आर० ह्वाइट हाउस, मिसेज़ पीटर ओलसेन, मिसेज़ जान ब्लेर, मिस एलिस डूअर मिलर, मिसेज़ ओ० एम० रीड, मिसेज़ एम० मैक कारमिक आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें से मिसेज़ रीड ने वोट के आन्दोलन के समय अपने पति के न्यूयार्क के प्रसिद्ध दैनिक पत्र ट्रिब्यून के सम्पादन और सञ्चालन का भार स्वयम् ले लिया और उसके द्वारा वोट-प्रार्थी स्त्रियों की बहुत अधिक सहायता की। वोट प्राप्त करने के बाद ये अमरीका के शक्तिशाली प्रजातन्त्रवादी दल की सिद्धान्त निश्चय करनेवाली कमेटी की सभ्य रह चुकी हैं। आपका सबसे महत्त्वपूर्ण काम स्त्रियों के राजनैतिक स्वत्व प्राप्ति के आन्दोलन के लिए बीस लाख रुपये एकत्र करना था। स्त्रियों के आन्दोलन के इतिहास में इनका कार्य्य सुवर्णाक्षरों में सदा अङ्कित रहेगा।

जो स्त्रियाँ राजनैतिक काम में भाग लेती हैं वे घर का काम छोड़ नहीं देतीं। वे अपने पुत्र, कन्या की शिक्षा, उनके लालन-पालन आदि का काम तथा घर के दूसरे कार्य भी करती हैं।

अमरीका की स्त्रियों के राजनैतिक आन्दोलन की कई बातें ऐसी हैं जिनको हमारे भारतीय नेता अपने कार्य में आदर्शरूप मान सकते हैं। जैसेः—

(१) अमरीका की स्त्रियों की नेत्रियों ने यथासम्भव अपने सिद्धान्तों का चुपचाप प्रचार किया। अपने लिए प्रसिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की

और न उन्होंने नाम, मान, प्रशंसा और करतल-ध्वनि ही की विशेष परवा की। यथाशक्ति अपनी बातों का प्रचार करती गईं; (२) अपने लेखों और अपनी वक्तृताओं में जितनी बातें उन्होंने कहीं वे सब यथार्थ और सत्य थीं। अपनी प्रत्येक युक्ति की सत्यता की परीक्षा करके वे उसको अपने कथन के काम में लाईं। फल यह हुआ कि उन स्त्रियों की बातों को कोई काट नहीं सकता था और न उनकी सत्य बातों पर किसी प्रकार का तर्क-वितर्क या वादविवाद हो सकता था। सबको उनकी बातें माननी पड़ती थीं; (३) आन्दोलन में प्रवृत्त सब स्त्रियाँ सर्व-साधारण के साथ बड़ी नम्रता मित्रता तथा यथोचित रूप से बर्त्ताव करती थीं; (४) वे जनता के भावों के विरुद्ध साधारणतः काम नहीं करती थीं। सबसे मिल-जुल कर अपने विचारों का प्रचार करती थीं। यथासम्भव किसी का विरोध नहीं करती थीं। उनको तो केवल वोट से मतलब ठहरा। इन उपायों द्वारा अपनी योग्यता के कारण जनता की सहानुभूति अपने आन्दोलन के प्रति कर के उन्होंने अपने काम में धीरे धीरे सफलता प्राप्त की।

स्त्री और पुरुष के स्वभाव में अन्तर होने के कारण देखा गया है कि पुरुष का ध्यान आर्थिक उन्नति की ओर अधिक रहता है, नैतिक भावों की ओर कम। पुरुष के बनाये हुए क़ानून अधिकतर व्यापार, कारख़ाने, उद्योग आदि के सम्बन्ध के हैं। अपने व्यापार और अपनी वृत्ति की स्वार्थ-रक्षा को वह पहले सोचता है, जनता के हित की पीछे। इसका फल यह होता है कि स्वतन्त्र देशों में भी राज्य-शासन-कार्य्य में प्रजा की उन्नति के नियम बनाने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। प्रभावशाली व्यापारियों का स्वार्थ और शिल्पकला-वाणिज्य का हित पहले देखा जाता है।

स्त्रियों की बात दूसरी है। राजनीति, अर्थशास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय दाव-पेचों के गूढ़ तत्त्व उनकी समझ में जल्दी नहीं आते। स्त्रियाँ सामाजिक और नैतिक विषयों को जल्दी समझती हैं—आर्थिक बातों को उतना नहीं। राजकार्य्य में मत देने का अधिकार पाते ही अमरीका की स्त्रियों का ध्यान पहले समाज-सुधार की बातों की ओर गया। अशिक्षा, निर्धन लोगों की दशा, कारख़ानों में निर्धन परिवार के बालकों के परिश्रम करने का कुफल, मज़दूरों के निवासस्थान का उचित प्रबंध न होने के कारण उनकी दुर्दशा और बसने के लिए आये हुए विदेशियों को अमरीका की रीति नीति तथा भाषा का ज्ञान न होने के कारण कष्ट आदि त्रुटियों को दूर करने की इच्छा उनकी हुई।

पुरुष स्वभाव से कठोर होता है और नारी स्वभावतः कोमलहृदया होती है। दूसरों का कष्ट देख इसके मन में मातृभाव और भगिनीभाव का सञ्चार होता है। राजनैतिक क्षेत्र में जाते ही उन्होंने व्यापार की प्रतिद्वन्दिता, युद्ध की अकारण हत्याओं आदि के स्थान में सत्य, दया, प्रेम आदि का प्रचार आरम्भ किया।

नये सुधार के काम।

अमरीका की स्त्रियों ने मत-दान का अधिकार पाते ही पहले तो मद्यपान का निषेध किया। अब अमरीका में रत्ती भर भी मद्य खुले-आम बिकने नहीं पाता। मद्य की सब दूकानें उठा दी गई हैं। मद्य के कारख़ाने भी बन्द कर दिये गये हैं।

उनका दूसरा काम जिसकी वे प्राण लगा कर चेष्टा कर रही हैं—उत्तम शिक्षा का नियमित रूप से प्रचार है। जातीय शिक्षा के लिए अमरीका में राज्य की ओर से करोड़ों रुपये प्रति वर्ष व्यय किये जाते हैं, परन्तु शिक्षा का भार अनेक सरकारी विभागों और उपविभागों के हाथ में होने के कारण प्रबन्ध-कार्य्य उचित प्रकार से नहीं होता। अमरीका की स्त्रियाँ अपने देश की वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनकी पाँच बड़ी बड़ी संस्थायें—League of Women Voters, the National Council of Jewish Women, the Association of College Alumnæ, the National Congress of Mothers और Parents-Teachers Association निम्नलिखित बिल पास कराने की चेष्टा कर रही हैं।

इस बिल के अनुसार राज्य की ओर से जातीय शिक्षा की उन्नति के लिए एक नया विभाग खोला जायगा और इस काम के लिए प्रति वर्ष दस करोड़ डालर (४५ करोड़ रुपये) इस प्रकार ख़र्च किये जायँगे :—

(१) अशिक्षा दूर करने के लिए ७५ लाख डालर।

(२) बसने के लिए आये हुए विदेशियों को अमरीका की रीति-नीति और वहाँ का आदर्श सिखा कर अमरीकावासी बनाने के लिए ७५ लाख डालर।

(३) नये स्कूलों की स्थापना, शिक्षकों की वेतनवृद्धि, स्कूलों में नये विषयों की शिक्षा आदि के लिए ५ करोड़ डालर।

(४) विद्यार्थियों की रोग-चिकित्सा, उनके व्यायाम के प्रबन्ध और उनकी स्वास्थ्य-रक्षा की शिक्षा के लिए २ करोड़ डालर।

(५) वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली की उन्नति के लिए १½ करोड़ डालर।

(६) अन्य देशों की शिक्षा-पद्धति के अध्ययन के लिए दूर दूर के देशों में अमरीका के पण्डितों को भेजने का भी भार इसी नये विभाग को होगा।

अमरीका के प्रत्येक प्रान्त में सरकार की ओर से जितना ख़र्च किया जायगा उतना ही प्रान्तीय शासन-विभागों को भी शिक्षा के लिए ख़र्च करना पड़ेगा। अर्थात् इस क़ानून के पास हो जाने के बाद प्रति वर्ष २० करोड़ डालर शिक्षा के लिए ख़र्च किये जायँगे।

भला जहाँ शिक्षा के लिए इतना धन ख़र्च किया जाय उस देश का संसार में सर्वोच्च स्थान हो तो आश्चर्य्य ही क्या? इस उन्नति का एक मुख्य कारण स्वतन्त्र देश की स्वतन्त्रता-प्रिय स्त्रियाँ हैं।

रामकुमार खेमका

शक्ति और शाक्त-मत।

(२)

उपासकों के प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने अपने तन्त्र अलग होते हैं। पञ्चोपासना के अनुसार उपासक पाँच प्राचीन विभागों में विभक्त थे। वे सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव और शाक्त कहलाते थे। एवं इनके इष्ट देवता क्रमपूर्वक सूर्य, गणेश, विष्णु, शिव और शक्ति थी। वर्तमान समय में केवल वैष्णव, शैव, शाक्त इन्हीं तीन विभागों का प्राधान्य है। अन्य दो विभागों अर्थात् सौर और गाणपत्य का अस्तित्व बहुत ही परिमित हो गया है। पश्चिमी भारत के कुछ स्थानों में गणेश की उपासना अब भी लोकप्रिय है और मेरी धारणा है कि सौर या सौरों

के चिह्न यत्र तत्र विशेष करके सिन्ध देश में दृष्टिगोचर होते हैं।

तन्त्रों में छः आम्नायों का उल्लेख है। सम्मोहन-तन्त्र (अ० ५) में देश-पर्याय के अनुसार पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय और ऊर्द्ध्वाम्नाय की व्याख्या की गई है। अधोम्नाय छठा आम्नाय है। इससे विष टपकता है। मेरी समझ में साधारणतया अब इस आम्नाय से पूजा नहीं की जाती। परन्तु शदन्वय शाम्भव, जो उच्चकोटि का मुमुक्षु साधक होता है, मुँह छिपा कर इस आम्नाय से न्यास करता है। कहा जाता है कि पातालाम्नाय ही सम्भोगयोग है। शक्ति-क्रम में निष्कल स्वरूप पूर्व के लिए त्रिपुरा है; दक्षिण के लिए सौर, गाणपत्य और वैष्णव है; पश्चिम के लिए रौद्र भैरव है; उत्तर के लिए उग्रा, आपत्तारिणी है। शैव-क्रम में वही स्वरूप प्रथम के लिए सम्पत्प्रदा और महेश है; दूसरे के लिए अघोर कालिका और वैष्णव-दर्शन है; तृतीय के लिए रौद्र, भैरव, शैव है: चतुर्थ के लिए कुबेर, भैरव, सौदर्शक है और ऊर्द्ध्वाम्नाय के लिए अर्द्धनारिश और प्रणव है।

सम्मोहन-तन्त्र में आम्नायानुसार तन्त्रों का भी विभाजन किया गया है। एवं विशेष विभाग भी दिये गये हैं, जैसे वटुकाम्नाय के अनुसार छः आम्नायों के तन्त्र। इस तन्त्र की केवल एक प्रति उपलब्ध हो सकी, अतएव यह बात ठीक ठीक नहीं कही जा सकती है कि जो विवरण यहाँ दिया गया है वह कहाँ तक ठीक है।

उपासकों के इन प्रत्येक विभागों के लिए अपने अपने तन्त्र अलग अलग निर्दिष्ट हैं। जैसे जैनों और बौद्धों के अपने तन्त्र-ग्रन्थ अलग अलग हैं वैसे ही इनके भी हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के अपने ख़ास ख़ास उपविभाग और तन्त्र होते हैं। क्रान्ता, देशपर्याय, कालपर्याय इत्यादि के अनुसार इनके भिन्न भिन्न विभाग अलग हैं।

सम्मोहन-तन्त्र में भिन्न भिन्न २२ आगमों का उल्लेख है। इनमें चीनागम (शाक्त), पाशुपत (सौर), पञ्चरात्र (वैष्णव), कापालिक, भैरव, अघोर, जैन, बौद्ध, आगम भी सम्मिलित हैं। इनमें से प्रत्येक के तन्त्र और उपतन्त्र भी होते हैं।

सम्मोहन-तन्त्र में लिखा है कि कालपर्यायानुसार ६४ शाक्त तन्त्र हैं। इनके सिवा ३२७ उपतन्त्र, यामल, ४ डामर, २ कल्पलता और कई एक संहिता (१००), चूड़ामणियां, आर्णव, पुराण, उपवेद, कक्षपुट, विमर्षिणी और चिन्तामणि-संज्ञक ग्रन्थ हैं। शैव-श्रेणी के ३२ तन्त्र हैं। यामल, डामर इत्यादि भी उसके अन्तर्गत हैं। वैष्णव-श्रेणी के ७५ तन्त्र हैं। दूसरे ग्रन्थों के सिवा इसके अपने कल्प और उपबोध नामक ग्रन्थ भी हैं। सौर-श्रेणी के ३० तन्त्र हैं। यामल और उड्डीसादि ग्रन्थ भी सौरों के अलग हैं। गाणपत्यों के पचास तन्त्र हैं। इनके उपतन्त्र, कल्प तथा दूसरे शास्त्रों के सिवा एक डामर और एक यामल भी है। बौद्ध-श्रेणी के अन्तर्गत कल्पद्रुम, कामधेनु, सूक्त, क्रम, अम्बर, पुराण और इसी तरह के दूसरे शास्त्र परिगणित किये गये हैं।

कुलार्णव और ज्ञानदीप तन्त्रों के अनुसार आचारों की संख्या सात निर्दिष्ट की गई है। इनमें से वैदिक, वैष्णव, शैव और दक्षिण ये चार आचार पश्वाचार कहे गये हैं। इनके बाद वाम, फिर सिद्धान्त और तब कौलाचार का दर्जा आता है। ये तीनों आचार क्रमपूर्वक एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। कहीं कहीं छः अथवा नौ आचारों का भी उल्लेख है। एवं भिन्न भिन्न प्रकार के भाव, सभाव, विभाव और देहभाव इत्यादि का भी वर्णन किया गया है। इन बातों का उल्लेख भावचूड़ामणि में हुआ है।

वेदाचार, दक्षिणाचार और वामाचार आदि मुख्य विभागों की चर्चा यहाँ की गई है। पर वेदाचार से वैदिकाचार का मतलब नहीं है। वैदिकाचार उपर्युक्त आचार सप्तक की कोटि के बाहर है। वेदाचार तान्त्रिक उपासना के एक आचार विशेष का नाम है। इसमें वैदिक क्रियाओं और मन्त्रों का उपयोग होता है। इसका उपास्य अग्निदेवता है। हम कह सकते हैं कि यह आचार उन लोगों के लिए था जो श्रौतवैदिकाचार के अधिकारी नहीं थे। मुझे लोगों ने बताया है कि इस आचार में दक्षिण और वाम जैसा विभाग नहीं है और जो इस प्रकार के नाम मिलते हैं वे बाद के आचार्यों के निर्दिष्ट किये हुए हैं। पूर्वोक्त दूसरे और तीसरे विभाग दक्षिणाचार कहलाते

हैं। परन्तु दक्षिणाचार पश्वाचार है। उपासना की दूसरी विधि का श्रीगणेश वामाचार से होता है। वामाचार की साधना करने पर साधक कौल पद को प्राप्त करता है। तदनन्तर वह कौलावधूत, अवधूत और तब दिव्य हो जाता है। दिव्य पद प्राप्त हो जाने के बाद आचारों का झंझट छूट जाता है। यह पद स्वेच्छाचार भी कहलाता है। जो साधक इस पद को प्राप्त कर लेता है वह जो कुछ काम करता है या जिस वस्तु का स्पर्श करता है वह सब पवित्र हो जाता है। वामाचार में तथा उसके आगे के दर्जों में मांस-भक्षण और मद्यपान विहित है। ये दोनों बातें उपासना का अङ्ग समझी जाती हैं। यही नहीं, उसमें मैथुन का भी समावेश है, पर यह बात इतनी आवश्यक नहीं समझी जाती। साधक पहले पशु रहता है। इसके बाद वह वीर होता है तदनन्तर वह दिव्य हो जाता है। इस तरह साधक के भी तीन दर्जे हैं। पशु आरम्भिक दर्जा है। मार्ग का अनुयायी हो जाने पर वीर का पद प्राप्त होता है और सिद्धि प्राप्त हो जाने पर दिव्य का दरजा मिलता है। प्रत्येक सम्प्रदाय दक्षिणमार्ग और वाममार्ग में विभाजित है। साधारणतया लोगों की यही धारणा है कि इस प्रकार का विभाग केवल शाक्त सम्प्रदाय में ही है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। गाणपत्य और वैष्णव तथा दूसरे भी वाममार्गी होते हैं। स्वयं वामाचार के भी दो भेद हैं। उनके भी नाम दक्षिण और वाम ही हैं। दक्षिण वामाचार में पत्थर या किसी दूसरी वस्तु के पात्र में मद्य-पान किया जाता है और पूजन स्वकीया शक्ति या अपनी स्त्री के साथ किया जाता है। वामाचार में मद्य-पान कपाल-पात्र में किया जाता है और पूजन पर-स्त्री के साथ होता है। परन्तु वामाचार ही के अन्तर्गत कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं जिनमें मद्य और मांस का संग्रह तो होता है, पर स्त्री का नहीं; क्योंकि इनके साधक ब्रह्मचारी होते हैं। परन्तु मेरे विचार में ये सम्प्रदाय शैव-श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये शाक्त-श्रेणी से भिन्न हैं।

ब्रह्मानन्द स्वामी की शाक्तानन्द-तरङ्गिणी (२ परिच्छेद) नाम के तान्त्रिक संग्रह में लिखा है कि आगम दो प्रकार के होते हैं। एक तो सदागम और दूसरे असदागम। शब्द के मूल अर्थ के अनुसार सदागम ही आगम है। (सदागम एव आगमशब्दस्य मुख्यन्वीत)। उसमें लिखा है कि आगम संहिता में शिव ने असदागम की इस प्रकार निन्दा की है—हे देवेशि, कलियुग में मनुष्य सामान्यतः राजसिक और तामसिक प्रकृति के होते हैं और वर्जित आचारों को ग्रहण करने के कारण दूसरों को धोखा देते हैं। हे सुरेश्वरि, जो लोग अपने वर्णाश्रम-धर्म का विचार न करके हमें मद्य, मांस और रक्त अर्पित करते हैं वे मृत्यु के बाद भूत, प्रेत और ब्रह्मराक्षस होते हैं। इस प्रमाण से वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध उपासना का ग्रहण निषिद्ध है। परन्तु वामाचारियों का कहना है कि उपर्युक्त वचन हमारी सम्प्रदाय के लिए नहीं है। वे यज्ञ के रूप में संस्कृत-मद्य और मांस को ग्रहण करते हैं।

साधारणतया लोग यह समझते हैं कि वामाचार उस आचार का नाम है जिसमें वामा अर्थात् स्त्रियाँ शामिल होती हैं। कुछ अंशों तक यह बात ठीक भी है। क्योंकि यह उन साधकों का लक्षण है जो शक्ति के सहित वामाचार की क्रियाओं के अनुसार पूजन करते हैं। परन्तु यह बात अपने दूसरे अर्थ में ग़लत है, क्योंकि वामाचारी उपासक ब्रह्मचारी भी होते हैं। वामाचार का अर्थ बायाँ मार्ग है। इसका अर्थ बुरा नहीं है। स्वयं साधक ही अपने को इसी नाम से अभिहित करते हैं। अतएव यह सम्भव नहीं है कि वे अपना नाम-करण ऐसा करेंगे जिससे उन्हीं की निन्दा हो। वे लोग इस शब्द के प्रयोग से यह अर्थ लेते हैं कि यह आचार दक्षिणाचार के प्रतिकूल है। कहा जाता है कि दक्षिणाचार का साधक चाहे जैसी सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर ले तो भी कोई न कोई उसके ऊपर बना ही रहता है, परन्तु वामाचार में यह बात नहीं है। उसके साधक की सर्वोच्च सिद्धि यही है कि वह स्वयं सम्राट् हो जाता है।

इसके सिवा यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिस देवी की उपासना वाममार्गानुयायी करते हैं वह शिव के वामाङ्ग में स्थित है। कापालिक, कालमुख, पाशुपत, भांडिकेर, दिगम्बर, अघोर, चीनाचारी और साधारणतया कौल लोग ही वामाचारी होते हैं। इनमें से किसी किसी की विशेष करके कौलों की उच्च

श्रेणी के विभागों की उपासना पञ्चतत्त्वों के सहित होती है। कोई कोई ब्रह्मचर्य धारण करते हैं, जैसे कि अघोर और पाशुपत। परन्तु ये लोग मद्य-पान और मांस-भक्षण करते हैं। मुझे मालूम हुआ है कि कुछ वामाचारी ब्रह्मचर्य-व्रत कभी नहीं भङ्ग करते। औघड़ साधु, बटुक भैरव के उपासक, कन्थाधारी और गोरक्षनाथ, सीतानाथ, तथा मत्स्येन्द्रनाथ आदि नाथों के अनुयायी पूर्वोक्त कोटि में गिने जाते हैं। नीलक्रम में मैथुन सर्वथा वर्जित है। किसी किसी सम्प्रदाय में भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियाओं का प्रचार है। मुझे ज्ञात हुआ है कि कालमुख लोगों में से कालवीर केवल नौ वर्ष तक की कुमारिका का पूजन करते हैं, पर काममोहन युवा शक्तियों के साथ पूजन करते हैं।

मुझे बतलाया गया है कि वामाचार सम्प्रदाय के कुछ उच्च कोटि के साधक मद्य-मांस नहीं ग्रहण करते। कहा जाता है कि नदिया के प्रसिद्ध वामाचारी साधक राजा कृष्णचन्द्र, जो छिन्नमस्ता मूर्ति के उपासक हैं, मद्य का संग्रह नहीं करते। इस प्रकार के साधक वामाचार की प्रारम्भिक कक्षा को अतिक्रम कर जाते हैं। साधारणतया साधकों के सम्बन्ध में जो बात मध्यस्थ कौलों के प्रसिद्ध ग्रन्थ महाकाल-संहिता में कही गई है उसे अच्छी तरह याद रखना चाहिए। इस ग्रन्थ के 'शरीरयोगकथनम्' नामक ११ वें उल्लास में लिखा है, "कुछ कौल ऐसे हैं जो इहलोक के सुख की ही कामना करते हैं (एहिकार्थं धृतात्मनः)। इसी प्रकार वैदिक लोग भी इहलोक के सुख का उपभोग करते हैं। (एहिकार्थम् कामयन्ते)। परन्तु ये लोग मुक्ति की कामना नहीं करते। (अमृते रतिं न कुर्वन्ति)। मुक्ति केवल निष्काम् कामना के द्वारा ही प्राप्त होती है।"

पञ्चतत्त्व भी तीन प्रकार के कहे गये हैं:—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुकल्प और (३) दिव्य। प्रत्यक्ष पञ्चतत्त्व से मतलब तो वास्तविक वस्तुओं से है, पर अनुकल्प और दिव्य का मतलब दूसरा ही है। अनुकल्प तत्त्वों से शाकभोजी तक न परहेज़ करेगा। क्योंकि उनमें मांस के स्थान में अदरख और मद्य के स्थान में नारिकेल-जल ग्रहण किया जाता है। दिव्य तत्त्वों की बात तो इन दोनों से भी भिन्न है। दिव्यतत्त्वयोग-सम्बन्धी क्रियाओं के चिह्न-मा[त्र] हैं। इनसे वास्तविक वस्तुओं तथा क्रियाओं का [कु]छ भी मतलब नहीं। इसके सिवा कुछ विचार तथा क्रि[याएँ] ऐसी भी हैं जो अधिक साधारण हैं, पर कुछ ऐसी भी [हैं] जो और भी अधिक उग्र हैं। भैरवी और तत्त्व-चक्रों [का] जो विवरण महानिर्वाण-तन्त्र में लिखा है उसकी तुल[ना] किसी अधिक उच्छृङ्खल प्रथा ही से की जा सकती है। इनमें भैरवी चक्र का सादृश्य एक आधुनिक चक्र [से] प्रकट किया जा सकता है। इस चक्र का उल्ले[ख] जगद्बन्धु मैत्र-रचित विजयकृष्ण गोस्वामी की जीव[नी] के १३ वें अध्याय में किया गया है। उसमें लि[खा] है कि एक तान्त्रिक सिद्ध ने एक चक्र किया [था] जिसमें गोस्वामीजी स्वयं उपस्थित थे। जो लोग व[हाँ] उपस्थित थे उन्होंने शक्ति को उस माता के स[मान] माना जिसने उन्हें तथा देवताओं को उत्पन्न किया है। जिन देवताओं का आवाहन चक्रेश्वर ने किया [था] उन्होंने चक्राकार पंक्ति में प्रकट होकर भोग को ग्रहण कि[या] था। चाहे यह बात एक सच्ची घटना के रूप में मा[नी] जाय या न मानी जाय, पर यह तो स्पष्ट है कि एक प्रक[ार] के चक्र का वर्णन करने के उद्देश से इस बात का उल्ले[ख] किया गया है। यह चक्र उन चक्रों से सर्वथा भिन्न [है] जिनके सम्बन्ध में हम प्रायः सुना करते हैं। तन्त्र-शा[स्त्र] की कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं जिन्हें हम ठीक ठीक नहीं स[म]झते। उसके कुछ ऐसे सिद्धान्त भी हैं जो सर्व-साधार[ण] की समझ में नहीं आ सकते। क्योंकि उनके याथ[ार्थ्य] तथ्य समझने के लिए ज्ञान के सिवा अवर्णनीय भा[व] के होने की भी आवश्यकता है। भाव के अस्तित्व [से] उनका अर्थ अपने आपही समझ में आ जाता है। [प]र भावना द्वारा प्राप्त इस प्रकार का अनुभव शब्दों द्वा[रा] नहीं व्यक्त किया जा सकता। तन्त्र-शास्त्र में कुछ ऐसे कथ[न] भी हैं जिनका वैसा अर्थ नहीं है जैसा उनके शब्दों से झल[]कता है। उदाहरण के लिए गो-मांस-भक्षण का अर्थ ग[ाय] का मांस खाना नहीं है, किन्तु उसका अर्थ जिह्वा को ता[लु] द्वार पर टेकना है। विधवा के सहयोग का तात्पर्य कुण्डलि[नी] योग से है। इसी तरह दूसरे कथनों के अर्थ समझने चाहिए। यदि सच पूछा जाय तो शास्त्रीय सिद्धान्त और उन[के]

क्रियाओं में कोई भेद नहीं किया जाता और न क्रियाओं के उपकरणों के अभाव से ही उपासना में कोई न्यूनता मानी जाती है। यह बात समझ लेना सरल है कि यदि हिन्दू-धर्म का पतन हुआ तो ऐसी ही बात में। परन्तु यह अनुमान करना भूल है कि इन क्रियाओं का एक-मात्र उद्देश भोग-विलास है। और न यही बात है कि भोग-विलास ही के लिए लोगों को तान्त्रिक होना आवश्यक है। सारांश यह है कि भ्रम-पूर्ण विवेचना की अपेक्षा वास्तविक बातों को जानना कहीं श्रेष्ठतर है।

भारत तीन क्रान्तों या भौगोलिक विभागों में विभजित है। मोटे हिसाब से पूर्वोत्तरी भाग विष्णुक्रान्त, पश्चिमोत्तरी रथक्रान्त और अवशिष्ट तथा दक्षिणी भाग अश्वक्रान्त कहलाता है। शाक्त-मङ्गल और महासिद्धसार तन्त्रों के मत से विष्णुक्रान्त (जिसमें बङ्गाल शामिल है) विन्ध्य पर्वत से चट्टल या चटगाँव तक फैला हुआ है। विन्ध्याचल से तिब्बत और चीन तक का भू-भाग रथक्रान्त है। इन दोनों तन्त्रों में अश्वक्रान्त की स्थिति के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत मत-भेद है। शाक्त मङ्गल के मत से अश्वक्रान्त विन्ध्याचल से लेकर समुद्र तक है जिसमें अवशिष्ट सारा भारत और ईरान तक के सारे देश शामिल हैं। दूसरे तन्त्र के मत में अश्वक्रान्त करतोया नदी से लेकर एक ऐसे स्थान तक फैला हुआ है जिसका कुछ भी पता नहीं लगता। मूल में जो नाम दिया हुआ है उससे किसी आधुनिक नाम से तारतम्य नहीं मिलता, परन्तु हम उसे जावा कह सकते हैं। इन प्रत्येक क्रान्तों के लिए चौंसठ तन्त्र निर्दिष्ट किये गये हैं। जिन प्रश्नों का समाधान करना है उनमें एक यह है कि क्या इन तीन भौगोलिक विभागों के तन्त्र उपदेश तथा क्रिया-सम्बन्धी विशेषताओं से अङ्कित हैं और यदि ऐसा है तो वे कौन सी विशेषतायें हैं? इस विषय का उल्लेख 'तान्त्रिक सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ की पहली जिल्द में किया गया है। उसी में मैंने सारे तन्त्रों की एक सूची भी दे दी है।

शाक्त-विभाग में केरल, काश्मीर, गौड़ और विलास नाम के चार सम्प्रदाय हैं। इन प्रत्येक सम्प्रदायों में बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों प्रकार की उपासनाओं का प्रचलन है। इन चारों सम्प्रदायों का उल्लेख सम्मोहन तन्त्र में हुआ है। उसमें केवल प्रथम तीन सम्प्रदायों ही के तन्त्रों के नाम नहीं दिये गये हैं, किन्तु चीन और द्राविड के भी। लोगों ने मुझे बताया है कि ५६ देशों में से (जिनमें ईरान के सिवा भारत के बाहर के देश भी, जैसे चीन, महाचीन, भोट, सिंहल, शामिल हैं) अठारह गौड़ सम्प्रदाय में हैं जो नेपाल से लेकर कलिङ्ग तक फैले हुए हैं और उन्नीस केरल सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं जो विन्ध्याचल से दक्षिणी समुद्र तक फैले हैं। अवशिष्ट देश काश्मीर के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय की पद्धतियाँ होती हैं। ये शुद्ध, गुप्त, उग्र कहलाती हैं। देवताओं और आचारों में भी भिन्नता है। इनमें कुछ का उल्लेख तारासूक्त और शक्तिसङ्गम तन्त्र में किया गया है।

तान्त्रिकों में विभिन्न मत भी होते हैं। उनमें से एक का नाम कादिमत है। यह विराटनुत्तर—कहलाता है। इसका देवता काली है। हादि-मत हंसराज कहलाता है। इसका देवता त्रिपुरसुन्दरी है। कहादि-मत इन दोनों के मिश्रण से बना है। इसका देवता तारा अर्थात् नील सरस्वती है। कुछ देश कादि, हादि, कहादि देश कहलाते हैं। प्रत्येक मत के कई एक आम्नाय होते हैं। लिखा है कि हंसतारा महाविद्या योगेश्वरी है। इसे जैन पद्मावती, शाक्त शक्ति, बौद्ध तारा, चीन साधक महोग्रा और कौल चक्रेश्वरी कहते हैं। कादि लोग इसे काली, हादि श्रीसुन्दरी और कादि-हादि हंसा कहते हैं। तान्त्रिक टेक्स्ट नाम की ग्रन्थमाला में तन्त्रराज का वह भाग प्रकाशित होनेवाला है जिसका सम्बन्ध कादि-मत से है।

गौड़-सम्प्रदाय कादि मत को सर्वोच्च समझता है। और काश्मीर तथा केरल सम्प्रदाय त्रिपुरा और तारा को पूजते हैं। सम्भव है पूर्वोक्त नामधारी देश वास्तव में कभी रहे हों और उनमें विशेष विशेष तन्त्रों ही की उपासना का प्रचार रहा हो। परन्तु पीछे की तथा आज-कल की उनकी स्थिति देख कर यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। प्रत्येक देश में विभिन्न सम्प्रदायों का अस्तित्व हो सकता है। हाँ यह बात अवश्य हो सकती है कि किसी विशेष स्थान में, जैसे कि बङ्गाल में, किसी विशेष सम्प्रदाय का प्राधान्य हो। [असमाप्त]

देवीदत्त शुक्ल

कौन कृती कहलाते हैं ?

जो जाति-जगत में जीवट के जीवन की ज्योति जगाते हैं ।
भगवान-भरोसे भय भ्रम की भीषण भावना भगाते हैं ॥

जो साहस से सबको सँभाल, सर्वथा सुपथ पर लाते हैं ।
गुरुओं का गौरव ग्रहण किये, गुणियों के गुणगण गाते हैं ॥

समदर्शी, सत्यासक्त, सतत सुख-मूल सुनीति सुनाते हैं ।
दुर्भाव दम्भ से दूर, दग़ा से दंगे से दब जाते हैं ॥

उर उन्नति का उत्साह उदित, उद्देश्य उदार उठाते हैं ।
उद्योग उसी का उपयोगी, न उपद्रव उन्हें उबाते हैं ॥

खुश रहते ख़ूबी से, यद्यपि खल खलते ख़ूब खिझाते हैं ।
खुद ख़ूनख़राबी खोते हैं, ख़तरे से ख़ता न खोते हैं ॥

हैं अहङ्कार से अलग, और आदर्श अमल अपनाते हैं ।
अपने अपहृत अधिकारों पर अविचल अधिकार जमाते हैं ॥

आलस्यहीन, आनंदी हैं, औरों का आदर करते हैं ।
अति अत्याचार मिटाने में मरते हैं, ज़रा न डरते हैं ॥

भरपूर भलाई से भरसक, हामी हैं सदा स्वदेशी के ।
मन पर है छाप स्वदेशी की, तन पर हैं कपड़े देशी के ॥

हिंसा से हरदम दूर रहें, विद्रोही नहीं विदेशी के ।
कर्तव्य-प्रतिष्ठा-निष्ठा से क़ायल हैं दूरन्देशी के ॥

रुचि राजनीति से रखते हैं, नर खोटा खरा परखते हैं ।
हैं लाभलोभ में लिप्त नहीं, लालच की लीला लखते हैं ॥

धर धीरज धर्मधुरन्धर जो धूर्तों को धता बताते हैं ।
नय-नदी-नीर में, निर्मत्सर, नेकी कर, नित्य नहाते हैं ॥

चल चाल चली आई चिर की चतुरों के चित्त चुराते हैं ।
तप, तत्परता से तृप्त, ताप तीनों ही नहीं तपाते हैं ॥

छल छन्द छुड़ा कर छोटों से, छूतों की छाप छिपाते हैं ।
सब ढंग ढोंग के, ढांचे से ढीले कर देते, ढाते हैं ॥

वे ही पृथ्वी पर पूर्ण प्रेम पहचान पूज्य पद पाते हैं ।
वे ही कुलदीपक, कर्मनिष्ठ, कृतकृत्य, कृती कहलाते हैं ॥

रूपनारायण पाण्डेय

पेशवाओं का शनिवार बाड़ा ।
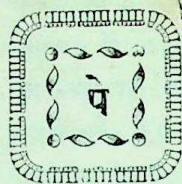
पेशवाओं की बातें अब भूत की बा[त] होगई । उनके लिए यह क[म] गौरव की बात नहीं कि भारत [के] इतिहास में उन्हें भी स्थान प्रा[प्त] हुआ है । अतीत के गर्भ में स्थान मिल जाने से, [वे] भी इतिहास की वस्तु हो गये । पेशवाई का अवसा[न] अल्पकाल ही में हो गया । वह केवल १०८ वर्ष [त]क जीती रह सकी । उसकी मृत्यु हुए अभी केवल १०[०] वर्ष बीते हैं । सम्भव है कि इस समय उसके अन्त[िम] काल का एक आध आदमी भी जीवित हो । परन्[तु] इससे क्या ?

अपने १०८ वर्ष के जीवन में पेशवाओं ने [जो] कुछ कर दिखाया वह इतिहास के पृष्ठों में अङ्कि[त] है । इतिहास-प्रेमी उनके इस अल्पकालीन जीव[न] को गौरवपूर्ण समझ कर ही सन्तुष्ट नहीं हो गय[े], किन्तु उसके रहस्यों का अनुसन्धान करने में दत्[त]चित्त से लगे हैं । यही नहीं, भारतीय पुरातत्त्व-विभा[ग] भी इस ओर प्रवृत्त है । वह भी पूना के धुस्सों [को] खोद खोद कर पेशवाई के गौरव की खोज कर र[हा] है । पूना में शनिवार बाड़ा नाम का पेशवाओं का [जो] राजमहल था वह सन् १८२७ में आग लग जा[ने] से गिर गया था । बाद को सरकार ने उसे बरा[बर] करके पुलिस की क़वायद के लिए मैदान कर [दिया] । पुरातत्त्व-विभाग की ओर से इसी स्थान [पर] खुदाई का काम जारी है । पेशवाओं के प्रसिद्ध राज[-]प्रासाद के भूमिगत भग्नावशेष अब शीघ्र ही लोगों की दृष्टिपथ में आवेंगे ।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस स्थान की स्मृति बना[...]

रखना एक आवश्यक काम है। क्योंकि पेशवाओं का पूर्वोक्त राजमहल अपने समय के इतिहास में ख़ास स्थान रखता है। इसी के भीतर बैठ कर पेशवाओं ने निज़ाम, टीपू, ईस्ट इंडिया कम्पनी, सम्राट् नेपोलियन आदि तत्कालीन राजनैतिक शक्तियों से समय समय पर सुलहनामे किये थे। इसी दुर्गमय राजप्रासाद में पेशवा स्वतन्त्र शक्ति के रूप में मुग़ल सम्राट् द्वारा स्वीकार किया गया था। यहीं के दरबार-भवन

शनिवार बाड़ा के बाग़ का फ़ौवारा।

से ऊदाजी पवाँर, रानोजी सेंधिया और मल्हारराव हुल्कर को मालवा आपस में बाँट लेने का आदेश मिला था। जिस खरदा-युद्ध में नाना फड़नवीस ने अपनी नीति के बल से गायकवाड़, होलकर, सेंधिया, भोंसला आदि अर्द्धस्वतन्त्र मरहटा सामन्तों को अन्तिम बार एकत्र करके प्रबल निज़ामुल्मुल्क निज़ाम अली का पराभव-साधन किया था उसके सन्धिपत्र पर माधवराव "प्रथम" ने यहीं हस्ताक्षर किये थे। परन्तु इतना ही नहीं इसी दरबार-भवन में नारायणराव के घातक को पेशवा-पद से वञ्चित करने के लिए मन्त्रणायें हुई थीं। इसके सिवा ईस्ट इंडिया कम्पनी की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए महाराष्ट्र के राजनीतिज्ञों ने यहीं तरह तरह के उपाय सोचे थे। पेशवाओं का वही राजभवन शनिवार बाड़ा उनके पतन के ९ वर्ष बाद दैवी कोप से धराशायी हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्थान महत्त्वपूर्ण है। अतएव भारतीय पुरातत्त्व-विभाग उसके भग्नावशेषों का अनुसन्धान कर रहा है।

शनिवार बाड़ा का पिंड इस समय दस गज़ धरती के नीचे दबा पड़ा है। इसके कुल रक़बे में से अभी तक आधा ही हिस्सा खोद कर साफ़ किया जा सका है। इस खुदाई से उसका जो भाग प्रकाश में आया है उसमें एक वस्तु बहुत अद्भुत है। यह है पेशवाओं के बग़ीचे का फ़ौवारा। भारत में इसके मुक़ाबिले का दूसरा फ़ौवारा एक भी नहीं है। दुनिया के बड़े बड़े फ़ौवारों के बीच इसकी गणना होगी। यदि इससे बड़ा कोई दूसरा फ़ौवारा संसार में है तो वह रोम का है। इसका व्यास २५ फ़ुट है और यह कमलाकार है। इस कमल में सोलह पँखुड़ियाँ हैं। इसमें

१९६ धारायें निकलने के छिद्र हैं। लगभग सौ वर्ष तक मिट्टी के नीचे दबे रहने के कारण यह बहुत कुछ नष्ट हो गया है तो भी इतना नहीं कि मरम्मत न हो सके। पर यह आशा नहीं है कि पूर्व की भाँति

शनिवार बाड़ा के बाग़ के उन जल-कुण्डों की स्थिति जिनमें पहले पानी रँग लिया जाता था और तब वह फ़ौवारों में पहुँचाया जाता था।

यह अपनी शोभा क़ायम रख सकने में समर्थ हो सकेगा। जो भू-भाग अब तक साफ़ किया गया है वह केवल प्रधान महल का बाहरी हिस्सा मालूम पड़ता है। यहाँ ऐश बाग़ लगे रहे हैं। अभी तक ऐसे तीन बाग़ निकले हैं। एक बाग़ से दूसरा ऊँचे स्थान पर और तीसरा दूसरे से भी ऊँचे स्थान पर है। इनका यह क्रम बहुत ही विचित्र है। इन बाग़ों में भी अनेक फ़ौवारों के भग्नावशेष निकले हैं। इनमें से कुछ में उन कुण्डों से जल पहुँचता रहा है जहाँ वह रँग दिया जाता था। अर्थात् उन फ़ौवारों से रंगीन जलधारायें निकला करती थीं। जब शनिवार बाड़ा के इतने ही अंश के प्रकाश में आने से उसकी विचित्रता और महत्ता का अनुभव होता है तब सम्पूर्ण भाग के खोदे जाने पर और भी अद्भुत बातों के प्रकाश में आने की पूर्ण सम्भावना है।

पेशवाओं का राज महल निस्सन्देह अद्भुत रहा होगा। उसका दिल्लीद्वार जो इस समय भी सुरक्षित है पूर्वोक्त कथन का समर्थन करता है। इसे बाजीराव ने सन् १७२१ में बनवाना प्रारम्भ किया था और वह उसके जीवन भर सन् १७४० तक लगातार बनता ही रहा। इसके चारों ओर तीस फुट गहरी खाई थी और विशालकाय नौ बुर्ज उसकी रक्षा करते थे। खाई अब पूर दी गई है। उसकी स्मृति क़ायम रखने के लिए केवल दिल्लीद्वार, क़िले की दीवार और बुर्ज बचे रह गये हैं।

माधव गणेश खानवलकर

रेडियोएक्टिविटी या तेजोनिर्गमन

वि ज्ञान-क्षेत्र में जितने महत्त्वपूर्ण आविष्कार आज तक हुए हैं उनमें तेजोनिर्गम की श्रेणी सर्वोच्च है। इस कौतुकमय आविष्कार से विज्ञान के इतिहास में एक नये यु

का आविर्भाव हुआ है। इसका प्रारम्भ-काल सन् १८९६ ईसवी है। पाठकों के मनोविनोदार्थ इस विषय का उल्लेख संक्षेप में यहाँ किया जाता है।

हेनरी बकरल (Henry Becquerel) साहब ने बड़ी सावधानता से परीक्षा करके यह सिद्ध किया है कि यूरेनियम (Uranium) और ऐसे ही दूसरे पदार्थ, जिनमें इसका कुछ अंश वर्तमान है, फ़ोटोग्राफ़ के प्लेट पर विकृति पैदा करते हैं। युरेनियम को कई वर्ष तक अन्धकार में रख कर जाँच की गई। परन्तु उसके विकृत्युत्पादक गुण में कुछ भी अन्तर नहीं पाया गया। लोगों ने अनुमान किया कि युरेनियम से एक प्रकार का तेज निकलता रहता है और उसी से फ़ोटोग्राफ़ के प्लेट पर विकृति पैदा होती है। युरेनियम में एक और भी विलक्षण बात पाई गई। जब हम किसी पदार्थ में विद्युत् प्रवाहित करके उसे युरेनियम के समीप रख देते हैं तब उसकी विद्युत् विलीन हो जाती है। उसके इन विलक्षण गुणों की चर्चा फैल ही रही थी कि दो वर्ष के पश्चात् पोलेंड-वासिनी मैडम क्युरी (Madame Curie) नामक एक स्त्री ने पिच-ब्लेंडि Pitch-Blende) नाम के एक खनिज पदार्थ से रासायनिक क्रिया द्वारा एक नये धातु का आविष्कार किया। इसका नाम भी उस स्त्री के गौरवार्थ पोलोनियम (Polonium) रक्खा गया। पोलोनियम में उपर्युक्त गुण विशेषरूप से पाये गये। थोड़े ही दिनों में उन्होंने एक दूसरे धातु की खोज की। इसका नाम रेडियम (Radium) पड़ा। रेडियम में युरेनियम के गुण प्रबल थे। इसके बाद उसी पिच-ब्लेंडि से एम० डीबीयर्न (M. Debierne) और प्रोफ़ेसर गाइसल (Giesel) नामक वैज्ञानिकों ने पृथक् पृथक् दो अन्य पदार्थ आविष्कृत किये। इनके नाम क्रमानुसार अक्टिनियम (Actinium) और इमेनियम (Emanium) हैं। जो तेजोनिर्गमन इन पदार्थों से होता है उसी को रेडियोएक्टिविटी (Radio activity) कहते हैं।

वैज्ञानिकों ने परीक्षा द्वारा सिद्ध किया है कि रेडियम, थोरियम (Thorium) और युरेनियम के मिश्रण से बननेवाले पदार्थों से सदैव एक प्रकार का गैस निकला करता है। पर पोलोनियम से कोई गैस नहीं निकलता। हम लोगों को जितने गैस विदित हैं उनसे यह उपर्युक्त गैस विलक्षण है। पदार्थ से पृथक् होते ही यह अपना स्वरूप बदल देता है, अर्थात् अन्य मौलिक गैसों में विभक्त हो जाता है। अभी तक इस प्रकार के गैसों के वास्तविक गुण नहीं ज्ञात हुए हैं। रेडियम से जो गैस निकलता है उसके विषय में अनेक सफलता-पूर्ण परीक्षाएँ हुई हैं। इस गैस को नाइटन (Niton) कहते हैं। सन् १९१० में प्रोफ़ेसर रामसे ने इसके गुरुत्व और आणविक गुरुत्व निकालने में साफल्य-लाभ किया। इसके बाद ह्विटलॉग्रे (Whytlaw Gray) की सहायता से उन्होंने इसे तरल एवं कठिन रूप में परिणत किया। कठिन रूप में नाइटन गैस एक देदीप्यमान बिन्दु की तरह दिखलाई पड़ता है।

परीक्षकों ने रेडियम निर्गत गैस का छत्र (Spectrum) निकालने का उद्योग किया। यह कार्य जिस यन्त्र के द्वारा सम्पादित होता है उसे आलोक-विश्लेषण यन्त्र (Spectroscope) कहते हैं। पहले तो सारी चेष्टाएँ विफल हुईं, किन्तु सतत परिश्रम से छत्र निकाल लिया गया। छत्र के हरे भाग में कई सूक्ष्म रेखाएँ पाई गईं। वाटसन साहब

ने बड़े यत्न से चित्र-द्वारा उन रेखाओं के नियमित स्थान बतलायें हैं। कितने ही स्थिर ताराओं के छत्र निकाले गये हैं। छत्र के हरित भाग में तद्रूप रेखाएँ पाई गई हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन स्थिर ताराओं में भी तेजोनिर्गमन की क्षमता है। थोरियम से गैस का निकलना प्रोफ़ेसर रुदर्फ़ोर्ड ने सिद्ध किया था। पर उस गैस के विषय में कुछ विशेष बात ज्ञात नहीं। रेडियम से जो गैस निकल कर शीघ्र ही विभक्त हो जाता है उसे हीलियम (Helium) कहते हैं। इस प्रकार यह हमें एक नया गैस मिलता है।

कभी कभी देखा गया है कि वायु में तेजोनिर्गमन की शक्ति आ जाती है। जब परीक्षक-गण विद्युन्मापक यन्त्र में विद्युत् प्रवाहित करते हैं तब वह उससे धीरे धीरे गायब हो जाती है। लोगों का पहले यह अनुमान था कि जो जलकण वायु में विद्यमान रहते हैं वे विद्युत् को हर लेते हैं। परन्तु पीछे से यह अनुमान भ्रम-मूलक सिद्ध हुआ। इसका आधुनिक सिद्धान्त यह है कि पृथिवी के अन्तर्गर्भ में रेडियम और थोरियम विद्यमान हैं। ये अपने तेजोनिर्गमन द्वारा वायु को विद्युत प्रदान करते हैं। अतएव वायु में भी विद्युत्सञ्चालन की शक्ति आ जाती है। उपर्युक्त यन्त्र से विद्युत् के लोप का यही कारण है।

तेजोनिर्गमन-गुण-विशिष्ट पदार्थों के आणविक गुरुत्व बहुत अधिक होते हैं। जैसे :—

	पदार्थ	आणविक गुरुत्व
१.	रेडियम	२२६.
२.	थोरियम	२३२.
३.	युरेनियम	२४०.

कतिपय साधारण द्रव्यों के आणविक गुरु[त्व] नीचे दिये जाते हैं :—

१.	लोहा	५६
२.	ताँबा	६३
३.	चाँदी	१०७
४.	सोना	१९६
५.	पारा	१९९
६.	सीसा	२०५

× × × × इत्यादि

युरेनियम आदि पदार्थों से जो तेजोरश्मियाँ निकलती हैं वे तीन भागों में विभक्त की गई हैं:-

(१) अल्फा रश्मि— (α—Rays)
(२) बीटा रश्मि— (β—Rays)
(३) गैमा रश्मि— (γ—Rays)

अल्फा रश्मि :—ये रश्मियाँ प्रबल पार-गामिनी नहीं होतीं। यदि इनके मार्ग में ·०[१] सेण्टिमीटर मोटा अलुमीनियम का एक पत्तर रक्खें तो ये अवरुद्ध हो जाती हैं। एक प्रबल लोहचुम्बक के प्रभाव से भी ये अपने मार्ग से किञ्चित् आकृ[ष्ट] हो जाती हैं। ये सूक्ष्म कणों से बनी हैं। उन[में] घनात्मक विद्युत् प्रवाहित रहता है। जब उन कणों से विद्युत् का लोप हो जाता है तब वे हीलियम गैस के अणु बन जाते हैं। इनकी गति प्रति सेकंड १.५५×१०^{९} से २.२५×१०^{९} सेंटिमीटर तक है। (१०० सेंटिमीटर = ३९.३७ इञ्च)

बीटा रश्मि:—इन रश्मियों को पूर्ण रूप से रोक लेने के लिए कम से कम ·५ सेंटिमीटर मोटा अलुमीनियम का पत्तर चाहिए। इनकी गति प्रति सेकेण्ड १.६×१०^{१०} से २.८×१०^{१०} सेंटि[मीटर]

मीटर है। आलोक की भी गति $2 \cdot 8 \times 10^{10}$ सेंटिमीटर प्रति सेकण्ड है। इन गतियों की समानता का वर्णन करने के लिए पर्याप्त स्थान यहाँ नहीं है, अतएव हम उसे छोड़े देते हैं। बीटारश्मि ऐसे कणों से बनी है जिस पर ऋणात्मक विद्युत् वर्तमान रहती है।

गैमा रश्मि:—इन रश्मियों की पारगामिनी शक्ति बड़ी प्रबल होती है। लोहे की एक फ़ुट की मुटाई को भी ये पार कर जाती हैं। प्लेटिनो सायनाइड (platinocy anide), ज़िङ्क सिलिकेट (zinc-silicate) आदि पदार्थों में जब ये प्रविष्ट होती हैं, तब वे दीप्तिमान हो जाते हैं। इसे फ़्ल्युयोरेसेन्स (fluorescence) कहते हैं। इन पर प्रबल से प्रबल लोहचुम्बक का प्रभाव नहीं पड़ता। अतः ये विद्युन्मय सूक्ष्म कण नहीं कही जा सकतीं।

ऊपर क्रमशः अणुओं का व्यवहार आया है। ये अणु शक्ति की एक बृहत् राशि हैं। इनके भीतर परमाणु तीव्र गति से परिक्रमा करते रहते हैं। जब ये गतिशील परमाणु अपने अणु से पृथक् होते हैं तब महती शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। मैडम क्यूरी और लेबोर्डी ने बतलाया है कि अपने आस-पास की भूमि से रेडियम की गर्म्मी २ अंश अधिक होती है। एक ग्राम रेडियम से प्रति घंटा .११८ ग्राम-केलोरी गर्म्मी निकलती है। चट्टानों में प्रति ग्राम $1 \cdot 4 \times 10^{12}$ ग्राम रेडियम मिला हुआ है। पृथिवी के भीतर ४० मील तक जितना रेडियम है उसका ताप पृथ्वी को समान रूप से तप्त रक्खेगा, यद्यपि ताप विकरण द्वारा अधिक गर्म्मी का बहिष्कार हो रहा है।

साधारण दशा में रेडियम से तीनों प्रकार की रश्मियाँ निकलती रहती हैं। एक ग्राम रेडियम से प्रति घंटा इतनी शक्ति निकलती है जो एक ग्राम जल को बर्फ़ की गर्म्मी से भाफ़ की गर्म्मी तक ला सकती है, अर्थात् वह शक्ति प्रति घंटा ११८ केलोरी गर्म्मी के तुल्य है। एक ग्राम कोयला जलाने से जितनी गर्म्मी निकलती है उसके २,५०,००० गुना ताप एक ग्राम रेडियम से निकलता है। आज-कल अमरीका इत्यादि देशों के वैज्ञानिक इस बात का विचार कर रहे हैं कि उपर्युक्त शक्ति को किस प्रकार उपयोग में लावें।

पहाड़ों और झरनों के जल में भी तेजोनिर्गमन पाया गया है। बाथ हरोगेट तथा जर्मनी के [illegible] में रेडियम का पता लग चुका है। स्ट्रट साहब ने सिद्ध किया है कि बाथ झरने की पार्श्ववर्त्तिनी भूमि में न्यूनांश रेडियम मिला हुआ है। जे० जे० टामसन ने प्रमाणित किया है कि केम्ब्रिज के समीपवर्त्ती कूपों के जल में तेजोनिर्गम की क्षमता वर्त्तमान है।

रेडियमनिर्गत तेज के रासायनिक गुण:—हीरा, पन्ना इत्यादि मूल्यवान् पत्थर फ़्ल्युयोरेसेन्स द्वारा चमचमाने लगते हैं। बन्द आँखों के सामने रेडियम ब्रोमाइड की शीशी लाने से प्रकाश दीख पड़ता है। यदि रेडियम सहित कीड़ों को हम एक सन्दूक़ में बन्द करें तो वे मर जायँ। इसके प्रभाव से कागज़ और काँच के रङ्ग दूर हो जाते हैं और आक्सीजन गैस ओज़ोन में परिणत हो जाता है। पानी पर उस तेज का प्रभाव पड़ने से वह आक्सीजन और हैड्रोजन में विभक्त हो जाता है। इनके सिवा फ़ोटोग्राफ़ के प्लेट पर विकृति होती है, एलेक्ट्रोस्कोप यन्त्र से विद्युत् लुप्त हो जाती

है और आज-कल रेडियम डायल की जो घड़ियाँ प्रसिद्ध हैं वे अन्धकार में भी देखी जाती हैं ।

रामेश्वरप्रसाद गुप्त

—:०:—

निषिद्ध फल ।

[१]

बाग़ बाज़ार के दुर्गाचरण बाबू, वस्त्राभूषण से सुसज्जित अपनी द्वादश वर्षीया कन्या का हाथ पकड़े बैठक में प्रवेश करके बोले—राय बहादुर साहब, यही है मेरी मँझली बेटी । लड़की से कहा—बेटी, इन्हें प्रणाम करो ।

भवानीपुर के राय प्रसन्नकुमार मित्र बहादुर अपने मुसाहबों से घिर कर दरिद्र दुर्गाचरण के तख़्त पर बैठे फ़र्शी हुक़े के द्वारा धूम्र-पान कर रहे थे । उनके चरणों के समीप माथा झुका कर वह लड़की नीची नज़र किये खड़ी रही ।

राय बहादुर की उम्र पचास वर्ष के लगभग होगी । ख़ासा गोरा रङ्ग है, मोटे ताज़े हैं, बड़ी बड़ी आँखें हैं । दाढ़ी-मूछ मुड़ी हुई है । चौड़ी किनारे का क़ीमती दुशाला ओढ़े हैं । प्रसन्न दृष्टि से कुछ देर तक लड़की को देख कर उन्होंने कहा—वाह ! लड़की तो अच्छी है, बहुत सुन्दर है, भगवान् इसकी उम्र बड़ी करे, सुख से रहे । क्यों सुरेश, लड़की अच्छी है न ?

सुरेश नामक पारिषद ने कहा—जी हाँ, इसमें सन्देह नहीं ।

रा० ब०—बेटी, अपना नाम तो बताओ ।

लड़की के दोनों ओठ ज़रा सा हिले, किन्तु किसी शब्द का उच्चारण नहीं हुआ । दुर्गाचरण ने उसे उत्साहित करके कहा—बतला दो बेटी, बतला दो ।

तब, उसने अर्धस्फुट स्वर में कहा—नन्दरानी दासी ।

रा० ब०—नन्दरानी ! बहुत अच्छा । नाम ख़ासा है । क्यों यतीन्द्र भाई ?

यतीन्द्र नामक मुसाहिब ने सिर हिला कर कहा—जी हाँ, बहुत अच्छा ।

दुर्गाचरण बाबू ने कहा—नाम तो नन्दरानी है, परन्तु घर में सभी रानी ही कहते हैं ।

"रानी ? हाँ आपकी लड़की राजरानी होने लायक़ ही है । चेहरा कैसा साफ़, निर्दोष है । आँखों से भोलापन टपकता है । क्यों घोषाल महाशय ?

घोषाल महाशय—यह लड़की तो आपकी पुत्र-वधू होने योग्य है ।

रा० ब०—हाँ बेटी, तुम खड़ी क्यों हो ? बैठो यहीं बैठ जाओ । दुर्गाचरण बाबू, आप भी बैठिए, खड़े क्यों हैं ?

लड़की आनाकानी कर रही थी । तब "बैठ जाओ" बेटी कह कर दुर्गाचरण बाबू आप भी बैठ गये । नीचा सिर करके लड़की अपने पिता से सट कर बैठ गई ।

रा० ब०—बेटी, तुम पढ़ती क्या हो ?

"आख्यानमञ्जरी द्वितीय भाग, पद्यपाठ द्वितीय भाग और रामायण ।"

"पान लगाना जानती हो ?"

"जी हाँ ।"

दुर्गाचरण बाबू ने कहा—हमारी बड़ी लड़की जब से ससुराल गई है तब से घर भर के लिए

यही लगाती है। आपने जो बीड़ा खाया है वह इसी का लगाया हुआ है।

राय बहादुर ने चाँदी के डिब्बे में से एक बीड़ा निकाल कर मुँह में रक्खा। उसे चबाते चबाते कहा—बीड़ा तो अच्छा है। हाँ, कुछ रोटी-पानी भी सीखा है ?

रानी—सीखा है।

"यह भी सीख लिया ? अच्छा किया। आलू की तरकारी, परवल की तरकारी और झोल बना लेती हो ?"

लड़की ने ज़रा हँस कर उत्तर दिया—जी हाँ।

राय बहादुर ने लड़की के कन्धे पर हलका सा आघात करते करते कहा—इतनी सी उम्र में सीख लिया। बड़ी चतुर लड़की है।

दुर्गाचरण बाबू बोले—मैं तो इसका बाप हूँ, मैं क्या कहूँ। राय बहादुर साहब, यदि आप मेरी बेटी को ग्रहण करेंगे तो समझेंगे कि लड़की कैसी है। पिछले महीने मेरे घर में बाल-बच्चा हुआ था। बड़ी लड़की शिवपुर में अपनी ससुराल में थी। समधीजी से मैंने बहुत अनुरोध किया पर उन्होंने लड़की को दो दिन के लिए भी भेजना मंज़ूर न किया। तब, रानी ही ने सारी गृहस्थी सँभाली थी। यदि इसे आप स्वीकार करें तो इसके गुण जान सकेंगे।

सिर हिलाते हिलाते राय बहादुर ने मुसकुरा कर कहा—क्यों न स्वीकार करूँगा। मैं तो हर्ष से इसको अपनी पुत्रवधू बनाऊँगा। ऐसी लड़की को कोई छोड़ता है ? भाग्य से मिलती है। सच है न सतीश ?

सतीश—जी हाँ। इसमें रती भर भी सन्देह नहीं।

"अच्छा एक बात और पूछ लूँ, फिर इसे भीतर जाने दो।"—यह कह कर राय बहादुर ने नन्दरानी के कन्धे पर हाथ रक्खा और ज़रा सा उसकी ओर झुक कर कहा, "बेटी, मेरे सिर में जो पके बाल हैं उन्हें तुम चुन सकोगी ? दोपहर को जब मैं खा-पीकर आराम किया करूँगा तब तुम, बिस्तरे पर अपने इस नवीन बूढ़े बाप के पास बैठ कर, एक एक सफ़ेद बाल खोज खोज कर निकाल बाहर कर सकोगी ?—मालूम होता है, तुमने यह काम नहीं सीखा। क्यों ?—अरे, तुम्हारे बाप के सिर में तो सफ़ेद बाल हैं ही नहीं !" यह कह कर वे ज़ोर से हँसने लगे।

नन्दरानी के मुखड़े पर भी ज़रा सी हँसी की झलक देख पड़ी। ऊपर नज़र करके उसने राय बहादुर के मस्तक को देखा। उसने देखा कि वहाँ बालों की संख्या उतनी ही है जितनी कि 'कलियुग में सुजनों' की। जो थोड़े बहुत बाल हैं भी वे एक दूसरे से दूर दूर पर हैं।

उसके चुप्पी साध जाने को ही राय बहादुर ने स्वीकृति मान कर कहा—अच्छा बेटी, वह परीक्षा भी होगी। देर हुई, अब तुम भीतर जा सकती हो।

बाहर नौकरनी खड़ी थी। तख़्त से नन्दरानी के उतरते ही वह पास आगई और आदर से उसका हाथ पकड़ कर अन्तःपुर में ले गई।

[२]

हुक्के को उठा कर कोई एक मिनिट तक राय बहादुर साहब चुपचाप धूम्र-पान करते रहे। फिर दुर्गाचरण बाबू को हुक्का देकर बोले—तो अब तुम यह बताओ कि विवाह कब करोगे ? अरे ! मैं आपको तुम कह बैठा ! माफ़ कीजिएगा।

दुर्गाचरण—मेरे लिए आप 'तुम' का ही प्रयोग किया करें। मेरे लिए 'आप' का प्रयोग करना मुझे लज्जित करना है। आपसे तो सभी बातों में छोटा हूँ। क्या उम्र में—क्या धन में—क्या मान में—

रा० ब०—हाँ हाँ, यह तो मैं मानता हूँ कि आपकी उम्र मेरी अपेक्षा कम है। लेकिन मेरे पके बालों पर भरोसा करके मुझे बिलकुल बुड्ढा न समझ लेना—हा हा हा। यह कह कर उन्होंने दुर्गाचरण बाबू की पीठ ठोक दी। मुसाहिब भी ख़ूब हँसने लगे।

दुर्गाचरण ने हँसते हँसते कहा—आपकी जब आज्ञा हो तभी विवाह हो सकता है। इसी फागुन में सही। लेकिन मैं बहुत ही साधारण आदमी—ग़रीब—

राय बहादुर कहने लगे—ग़रीब हो तो क्या हुआ? ग़रीब ही किस बात में हो? तुम क्या किसी के यहाँ भीख माँगने गये हो? और ग़रीब ही हुए तो क्या? क्या ग़रीब की बेटी का विवाह नहीं होता? हिन्दूशास्त्र की यह व्यवस्था नहीं है कि जो ग़रीब हो उसके बेटे-बेटियों का विवाह ही न हो। जान पड़ता है, आज-कल की कुप्रथा (दान-दहेज़) का ख़याल करके तुम यह बात कह रहे हो। किन्तु मैं उस प्रथा का विरोधी हूँ—भयङ्कर विरोधी।

दुर्गाचरण बाबू ने कहा—जी हाँ, वह बात सुन कर ही तो—

"तो क्या सिर्फ़ सुना ही है? पढ़ा नहीं? तुमने हमारी पुस्तक 'सामाजिक-समस्या-समाधान' नहीं पढ़ी? उसमें ठहरौनी पर एक स्वतन्त्र अध्याय है। उस प्रथा की मैंने भरपूर निन्दा की है—ख़ूब निन्दा की है, उसके दोष दिखलाये हैं। तुमने प[ढ़ी] नहीं?"

दुर्गाचरण बाबू—अवश्य। आपकी पुस्तक [को] कौन न पढ़ेगा? आप तो एक विख्यात ग्रन्थकार हैं।

रा० ब०—कहाँ विख्यात हैं? हाँ—बङ्कि[म] अलबत्ता विख्यात ग्रन्थकार है। वह हमारा लड़कप[न] का मित्र है न। प्रेसिडेंसी कालिज में हम दोनों ए[क] साथ क़ानून पढ़ते थे। और अब? अब तो बङ्कि[म] का ख़ूब नाम होगया है। उसकी एक नई पुस्त[क] प्रकाशित हुई है—"राजसिंह"। तुमने देखी? धड़ धड़ बिक रही है। इधर हमारी पुस्तक—उसे कीड़े खाये जाते हैं। एक कापी तक नहीं बिकती। इसी [से] हमने उस दिन बङ्किम से कहा था।

एक ने उत्सुकता से पूछा—क्या बातचीत हु[ई] थी?

राय बहादुर कहने लगे—हमने बङ्किम [से] कहा, भई तुम्हारा ख़ूब नाम हो गया है। अब तु[म] यह लव (प्रेम) और लड़ाई का पीछा छोड़ कर ए[क] ऐसा उपन्यास लिखो जिससे देश का भी कु[छ] उपकार हो। हमारी बात तो कोई सुनता नहीं, तुम्हारी बातें सभी सुनेंगे। समाज में विवाह [के] लिए जो यह करार होने लगा है, सो इस वर-विक्र[य] से धीरे धीरे सर्वनाश हो जायगा। एक उपन्या[स] में इस दुष्प्रथा के दोष तो दिखलाओ। और, ए[क] ऐसा उपन्यास लिखो जिसे पढ़ कर बङ्गालियों [की] विलासिता—ख़ास कर चाय पीने की लत—कु[छ] कम हो जाय। यौथ व्यवसाय के सम्बन्ध में ए[क] लेख भी लिखो। उस लेख में भली भाँति सम[झा] दो कि यौथ व्यवसाय करने में बङ्गालियों को स[...]

लता क्यों प्राप्त नहीं होती; और उसमें वैज्ञानिक तत्त्व समझा दो कि अमुक अमुक उपायों का अवलम्ब करने से सफलता हो सकती है। तुम्हें हम प्लाट भी बताये देते हैं। उस उपन्यास में दिखाइए कि कई बङ्गाली नवयुवक कालिज से निकलते ही, एक साथ मिल कर, यौथ व्यवसाय करने लगे। दिन पर दिन उनकी उन्नति भी .खूब होने लगी। धीरे धीरे वे लोग लखपती हो गये। सरकार से उन्हें उपाधियाँ मिलीं। ऐसी ऐसी बातें उस उपन्यास में होनी चाहिए। अपने उपन्यासों में आप ये बातें तो लिखते नहीं—लिखते हैं लव् और लड़ाई! बताइए तो सही, इन बातों से देश को क्या लाभ होगा?

घोषाल महाशय ने पूछा—बङ्किम बाबू ने क्या उत्तर दिया?

हुक्के को हाथ में लेकर राय बहादुर ने कहा—हँसने लगे। कहने लगे 'अच्छी बात है, यौथ व्यवसाय का उपन्यास ही लिखना आरम्भ करता हूँ। तो क्या परिशिष्ट में यह भी छाप दिया जाय कि कच्चे माल का क्या भाव है, और कौन चीज़ कहाँ पैदा होती है तथा कहाँ से कितना रेल-किराया लगता है?' दिल्लगी होगई! 'जैसा मन में आवे लिखो'—कह कर मैं नाराज़ होकर चला आया।

राय बहादुर के चेहरे से अप्रसन्नता व्यक्त होने लगी। कोई पाँच मिनिट तक तम्बाकू पीने के बाद उनका मिजाज़ कुछ ठिकाने पर आया।

दुर्गाचरण बाबू ने कहा—रुपये-पैसे के सम्बन्ध में यदि आप मुझ पर अनुग्रह करें तब तो फिर कोई कठिनाई ही नहीं। जिस दिन आपकी मर्ज़ी होगी उसी दिन विवाह हो सकेगा। इसी फागुन महीने में—

रा० ब०—ठहरिए—ठहरिए। और एक बात रह गई। असल बात तो भूल ही गया। विवाह के सम्बन्ध में मेरी एक और राय है। उसे तुम मंज़ूर करो, तभी तुम्हारे यहाँ मैं अपने लड़के को ब्याह सकता हूँ।

दुर्गाचरण बाबू ने ज़रा शङ्कित होकर कहा—क्या राय है, सुन लूँ। जो आज्ञा होगी मानूँगा।

राय बहादुर ज़रा हिल डुल करके, अच्छी तरह जम कर बैठे और बोले—सामाजिक-समस्या-समाधान नामक पुस्तक में बाल्यविवाह नामक एक परिच्छेद है। उसको पढ़ा है?

दुर्गाचरण बाबू ने ज़रा घबराहट के साथ कहा—जी हाँ—मालूम होता है—क्या जानें—ठीक स्मरण नहीं।

"हमने उस प्रबन्ध में दिखलाया है कि बाल्यविवाह बहुत अच्छा है। हमारे समाज में जब तक सम्मिलित-कुटुम्ब-प्रथा रहेगी तब तक बाल्यविवाह के बिना निस्तार नहीं है। अकेला स्वामी ही स्त्रियों का परिजन नहीं, सास-ससुर, देवर-जेठ, ननँद, देवरानी-जेठानी—सभी के साथ तो उसे गृहस्थी में रहना है। अतएव अल्पावस्था से ही बहू को उस परिवार में सम्मिलित हो जाना चाहिए। ठीक है न?"

दुर्गाचरण बाबू—जी हाँ, बहुत ठीक।

"अच्छा, तो सिद्ध हुआ कि हमारे समाज के लिए बाल्यविवाह अत्यन्त उपयोगी है। इसे बहुतेरे स्वीकार करते हैं। किन्तु—इसके भीतर एक और गुप्त बात है भाई। वह मेरी ईजाद है। बोलो, क्या कहते हो? किन्तु—क्या?"

दुर्गाचरण बाबू सिर खुंजलाने लगे। कुछ भी कह न सके।

राय बहादुर ने कहना आरम्भ किया—बाल्य-विवाह होगा सही, किन्तु जब तक पूर्ण अवस्था न हो जायगी तब तक स्त्री-पुरुष की परस्पर भेंट न हो सकेगी। हमने अपनी पुस्तक में लड़की की उम्र सोलह वर्ष और लड़के की चौबीस वर्ष—इसके लिए निर्दिष्ट कर दी है। इससे प्रथम उन्हें एकत्र होने देना ठीक नहीं। डाक्टरों की पुस्तकें देखिए, आपको निश्चय हो जायगा कि हमारी राय कहाँ तक ठीक है।—यह कह कर राय बहादुर ने, गर्व की हँसी हँस कर, सिर ऊपर उठाया।

दुर्गाचरण बाबू ज़रा देर तक नीचे सिर किये सोचते रहे, फिर बोले—बात है तो ठीक, किन्तु एक मुश्किल है। मेरी लड़की 'रानी' इस समय बारह वर्ष की होगी। सावन में उसका तेरहवाँ वर्ष आरम्भ होगा। तो क्या अब घर पर मैं तीन चार वर्ष जमाई को न बुला सकूँगा? तब तो घर में—

राय बहादुर ने रोक कर कहा—क्यों, यहाँ जमाई के आने में क्या दिक़्क़त है? अवश्य ही आ सकेगा। जिस दिन कहोगे उसी दिन तुम्हारे जमाई को भेज देंगे। उसे खिलाओ-पिलाओ, उसका आदर करो—घर में औरतें भी उसका आदर-सत्कार करें—किन्तु हमारे नियम का पालन करना होगा।

दुर्गाचरण बाबू—बड़ी विकट समस्या है!

राय बहादुर उत्साह से फूल कर बोले—हाँ, समस्या तो ज़रूर है!—हमारी पुस्तक में ऐसी ऐसी सभी समस्याएँ हल की गई हैं, इसी से उसका नाम है 'सामाजिक-समस्या-समाधान'। हमने उसको हल करने का बढ़िया उपाय ढूँढ़ निकाला है। उपाय तो बहुत ही सहज है, परन्तु एकाएक उस पर किसी का ध्यान नहीं जाता।

"क्या उपाय है?"

"बहू मकान के भीतर रहेगी, लड़का बाहर वाले कमरे में सोवेगा। बस, सब झगड़ा निबट गया।—कहो कैसा सहज उपाय है?"—यह कह कर राय बहादुर ज़ोर से हँसने लगे।

[असमाप्त]

लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेय

——

कवीन्द्र रवीन्द्र का गान।

शैवाल-दल सम बन्धुवर, यह नव्य मेरा ज्ञान,
रहता नहीं यह जन्म-भू में अचल मेरु समान।
यद्यपि नहीं है मूल तो भी है मृदुल दल-फूल,
होता सुखी जल की तरङ्गों में सदा वह भूल।
सञ्चय न उसको प्रिय कहीं उसका न वास-स्थान,
कब वह अपरिचित अतिथि, पहुँचेगा कहाँ, क्या ज्ञान!
अविराम श्रावण-वृष्टि में जब डूबते युग-कूल,
वह बह निकलता चपल-गति सोद्वेग निज को भूल।
उद्दाम सरिता-स्रोत में कर मार्ग अपना लीन,
वह दिगदिगन्तर पहुँचता कर प्राप्त प्रगति नवीन॥

('वलाका' से)

मुकुटधर।

——

विविध विषय।

१—अवध का क़ानून लगान।

अवध के क़ानून लगान, ऐक्ट २२, को बने कोई ३५ वर्ष हो चुके। इस क़ानून की कृपा से अवध के किसानों को बहुत बड़ी बड़ी तकलीफ़ें मिलती चली आ रही हैं, क्योंकि इसमें उनके सुभीते की बातें तो कम, तअल्लुक़ेदारों के ही सुभीते की अधिक हैं। इस ओर सरकार का ध्यान, कौंसिल में, कई दफ़े दिलाया गया; पर और ज़रूरी कामों में फँसे रहने के कारण वह इस

क़ानून में तरमीम करने का निश्चय न कर सकी। फ़ैज़ाबाद और रायबरेली में बलवे होने और गोलियाँ चलने की नौबत आने पर उसने अपने और ज़रूरी काम ताक़ पर रख कर इसमें तरमीम कर डालने का वादा किसानों से किया। तब इस प्रान्त के गवर्नर, सर हरकर्ट बटलर, ने तअल्लुक़ेदारों से सलाह-मशविरा करके आपस में समझौता किया और उसके फल-स्वरूप एक क़ानूनी मसविदा तैयार कराया। यह मसविदा ४ और ५ अगस्त १९२१ को कौंसिल में पेश हुआ और कुछ साधारण सी बहस के बाद, चुने हुए कोई १५ मेम्बरों की कमेटी के सिपुर्द किया गया। यह कमिटी इस मसविदे का संशोधन करेगी। तब इसका संशोधित रूप नवम्बर १९२१, में क़ानूनी कौंसिल में फिर पेश होगा। वहाँ अन्तिम विचार के अनन्तर उसे क़ानून का रूप देने की ठहरेगी।

यह क़ानूनी मसविदा यद्यपि किसानों ही की तकलीफ़ें दूर करने के लिए बनाया गया है, पर इसमें उनके सुभीते की बातें यों ही नाम-मात्र के लिए हैं। यदि यह ऐसा ही रहा तो तअल्लुक़ेदारों की प्रतिपत्ति और बढ़ जायगी और कुछ विशेष विषयों में किसानों के पीड़न की मात्रा अधिक हो जायगी।

मसविदे के अनुसार किसान अब ७ वर्ष तक नहीं, १० वर्ष तक, अपने पट्टे की ज़मीन पर क़ाबिज़ रह सकेंगे और यदि वे पट्टे की मीयाद बीतने पर मुनासिब लगान देना मंज़ूर करेंगे तो ज़िन्दगी भर अपनी आराजी को जोत-बो सकेंगे। वह छीनी न जा सकेगी। मुनासिब लगान की शरह सरकारी अफ़सर निश्चित करेंगे और हर दसवें साल उसमें रद्दोबदल किया करेंगे। यह तो है किसानों के फ़ायदे की बात। उनके नुक़सान की बातों में से कुछ बातें ये हैं। पट्टेदार किसान अब २ वर्ष से अधिक अपनी आराजी का एक इञ्च भी, बिला मालिक ज़मीन की तहरीरी इजाज़त के, शिकमी न उठा सकेंगे। हाँ, अपने कुछ निकटवर्ती सम्बन्धियों को वे चाहे उठा दें। पर शिकमी ज़मीन भाई-भतीजों और कुटुम्बियों को बहुत ही कम उठाई जाती है। पट्टेदार किसान की ज़मीन अगर तअल्लुक़ेदार अपने जोतने या अपने और सर्व-साधारण के किसी काम के लिए लेना चाहें, तो छीन ले सकेंगे। मुनासिब लगान देने पर राज़ी न होने पर भी दस साल बाद किसान बेदख़ल किया जा सकेगा। एक पाई भी बक़ाया लगान रह जाने पर भी वह बेदख़ल हो सकेगा। बहुत लोग मिल कर यदि लगान देने से इनकार करेंगे तो लगान गवर्नमेंट ख़ुद ही वसूल करके तअल्लुक़ेदारों को दे देगी। ताज़ीरात हिन्द में वर्णन किये गये कुछ जुर्म करनेवालों को उसके अनुसार तो सज़ा मिलेहीगी, वे अपनी आराजी से भी बेदख़ल किये जा सकेंगे।

यह है किसानों के लाभ और उनके असन्तोष को दूर करने के लिए तजवीज़ किये गये क़ानून का रूप। अगर यह ऐसा ही रहा तो असन्तोष घटेगा नहीं; उलटा बढ़ेगा। आशा है जिस कमिटी को इसके संशोधन का भार सौंपा गया है वह इसमें न्यायसङ्गत फेरफार करने की उदारता दिखावेगी। कौंसिल के मेम्बरों का भी धर्म्म है कि समय को देख कर अपने कर्तव्य का उचित पालन करें। क़ानून की दृष्टि में किसान और तअल्लुक़ेदार दोनों के हक़ समान होने चाहिए।

२—आख्यायिका-रहस्य।

आख्यायिकायें पढ़नेवालों की संख्या अधिक है, परन्तु इस विषय के सिद्धहस्त लेखक बहुत ही थोड़े—नहीं के बराबर—हैं। और इधर एक यह प्रथा चल निकली है कि हर पत्र-पत्रिका में एक आध कहानी प्रत्येक अङ्क में होनी ही चाहिए। इससे, ऐसे लोग भी कहानियाँ लिखने को दौड़ पड़े हैं जिनकी गति वास्तव में इस ओर नहीं है। अतएव, ऐसे लोगों की लिखी कहानियाँ पढ़ने में पढ़नेवाले को वह मज़ा नहीं आता जो कि आना चाहिए। एक तरह की सज़ा ज़रूर मिल जाती है।

जिस तरह कोई आदमी कवि नहीं हो सकता उसी तरह चाहे जो व्यक्ति आख्यायिका-लेखक नहीं बन सकता। जो नैसर्गिक कवि नहीं है, प्रकृति ने जिसे कविता लिखने का उपयुक्त मस्तिष्क प्रदान नहीं किया है वह जब ज़बर्दस्ती कविता लिखता है, अपनी तबीयत को ठोंक पीट कर इस तरफ़ झुकाता है और तुक जोड़ लेता है तब उसकी वह कविता अपना बयान आप ही सुनाने लगती है: उसमें वर्णित विषय पर तो शायद ही किसी की दृष्टि जाती हो, पर तुक्कड़शाह के हठीलेपन पर सबकी आँखें गड़ जाती

हैं। ऐसी तुकबन्दी को पढ़ कर मुँह से निकल पड़ता है कि इसने अपनी तबीअत से झगड़ा ठाना है, नाहक खींच-तान की है,—इसने अपना वक्त तो बर्बाद किया ही, पढ़ने-वालों की भी जान को आ गया है। बस, यही हाल उस आख्यायिका-लेखक का होता है जिसे या तो कहानी लिखने का रहस्य नहीं मालूम या जो चित्त ठिकाने न रहने पर भी, तक़ाज़े से ऊब कर आख्यायिका लिखने बैठ गया है। इस प्रकार की दशा में लिखी गई कहानी या तो व्याख्यान का जामा पहन लेती है या ख़ासा लेख बन जाती है। ऐसी आख्यायिका के शीर्षक के साथ अगर यह छाप दिया जाया करे कि "यह लेख नहीं, कहानी है" तो बहुत अच्छा हो। क्योंकि जिन्हें उसमें कहानी का मसाला न मिले वे उसे झख मार कर कहानी ही मान लें।

कहानियां लिखने के लिए जो लोग प्रसिद्ध हैं उनकी सभी कहानियां उच्च कोटि की होती हों, सो बात नहीं है। यह तो उनकी शब्द-सृष्टि है। कोई बहुत ही अच्छी सध गई और किसी में कहीं कुछ कसर भी रह गई। लेखक के हृदय में विचार-धारा बहती है। किसी के हृदय में प्रायः निरन्तर और किसी के हृदय में अमावस-पूनो को यानी कभी कभी। जो पहले श्रेणी के हैं वे बड़े भाग्यवान् हैं। विधाता की सृष्टि के अनमोल रत्न हैं। वे जो कुछ लिखते हैं अधिकतया अच्छा ही होता है। किन्तु जो दूसरी श्रेणी के हैं उन्हें उस पर्व की प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब विचार-धारा उनके हृदय-स्थल में उमड़ने लगे। जब तक वे उस धारा के निकट न पहुँचेंगे तब तक उत्तम रचना न कर सकेंगे। अतएव उत्तम रचना के लिए उन्हें पर्व-काल की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। पर्व-काल निकट आने के प्रथम ही यदि तक़ाज़ों से ऊब कर वे कुछ लिख देंगे तो वह उनके अनुरूप न होगा। अतएव अपने नाम की रक्षा के लिए (क्योंकि प्रसिद्ध लेखक का नाम देख पाठक पहले उसी की रचना पढ़ना चाहता है और यदि हताश हुआ तो कुढ़ कर रह जाता है), उस कला की सम्मान-रक्षा के लिए और पाठकों के उपकार के लिए भी वे उतना ही लिखें जो कि सचमुच में वही हो जो समझ कर उन्होंने लिखा है। यह नहीं कि "विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्।"

आख्यायिकायें पत्रों में इसलिए छापी जाती हैं कि गम्भीर लेख पढ़ने से जब पाठक ऊब जायँ, कठिन विषय पढ़ने में जब उनका मन न लगे तब चूरन-चटनी का काम आख्यायिकाएँ दे दें। फिर तबीअत बदले और नये लेख पढ़ने को उनका चित्त तैयार हो जाय। आख्यायिका में यदि यह विशेषता न हो, पढ़नेवाले का यदि उससे विनोद न हो, अन्यान्य विषयों के जटिल लेख पढ़ने में उसे जिस तरह सिर खपाना पड़ता है वही हाल यदि कहानी पढ़ने में हुआ तब तो कहानी का उद्देश ही विफल होगया। सङ्गीत यदि उच्चाटन का काम करने लग गया तब उसे सङ्गीत कैसे कहा जायगा। उसका काम तो थके हुए और उकताये हुए को विश्राम देना और ख़ुश करना होना चाहिए।

कुछ लोग समझते हैं कि "ऊँह, कहानी लिखना क्या बड़ी बात है। (Light-Literature) महत्त्व का विषय नहीं।" इस धारणा को हृदय में स्थान देने से जो आख्यायिका लिखने बैठेगा उसकी कृति को शायद ही यशःप्राप्ति हो। सुकुमार हर तरह से सुकुमार है। उसकी रक्षा के लिए बड़ी सावधानी चाहिए। हो सकता है कि कोई घटना नज़रों में जम जाने पर लिखी गई कहानी पूरे बावन तोले ठीक उतरे, पर ऐसा हर बार नहीं हो सकता। अधिकांश ऐसा होता है कि आख्यायिका का मसाला मिल गया, परन्तु कहानी नहीं जमती, उसको जमाने के लिए लेखक को कुछ अपनी ओर से मिलाना पड़ता है, घटना के किसी अंश को कहीं से कहीं हटा कर ले जाना पड़ता है और किसी अंश को बिलकुल निकाल कर उसके स्थान पर कोई नया अंश सन्निविष्ट कर देना पड़ता है। ऐसा करने पर ही आख्यायिका-महल बन कर तैयार होता है। जिस व्यक्ति को यह युक्ति सिद्ध है उसकी प्रायः सभी कहानियों में लोच रहता है और जिसे यह युक्ति सिद्ध नहीं, बल्कि उसके बिना जाने ही कभी कभी वह युक्ति सहायता दे देती है उसकी लिखी कोई कहानी मजेदार हो जाती है और कोई ऐसी हो जाती है कि पढ़नेवाला कोसने पर उतारू हो जाता है।

कुछ लोग आख्यायिका-लेखक से उपदेशक का काम लेना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि कहानी रोचक भी हो और कुछ नसीहत भी दे जाय। यह नहीं कि उसके पढ़ने से थोड़ी देर के लिए "ही ही हू हू" हो और पढ़नेवाले

को उसके पढ़ने का कुछ बदला न मिले। यह राय बिलकुल बुरी नहीं मानी जा सकती। पर ऐसे लोगों को यह भी सोचना चाहिए कि कहानी लिखनेवाले का आसन अन्यत्र है और उपदेशकजी का अन्यत्र। आख्यायिका-लेखक अपने जी में यह ठान कर कहानी लिखने न बैठे कि मैं कुछ उपदेश दिये बिना न रहूँगा। कहानी के सिलसिले में यदि स्वाभाविक रूप से कुछ उपदेश दे दिया जाय तो बहुत अच्छा, पर उसे अपने उद्देश का सर्वथा स्मरण रखना चाहिए, इससे चूका कि गया। फिर कहानी किरकिरी होने में रत्ती भर भी कसर न रह जायगी। यह काम बड़ा कठिन है। बँगला में बाबू प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की आख्यायिकाओं में यह बात पाई जाती है। वे इस ढँग से चुटकी लेते हैं, ऐसी अनोखी रीति से आक्षेप करते हैं कि तारीफ़ करते ही बनती है। स्वाभाविकता में रत्ती भर भी अन्तर नहीं पड़ता, लेखक अपना काम कर देते हैं और पाठक को अन्त में पता लगता है कि ओहो—यह बात कह गये। वास्तव में ऐसी कहानी बहुत दुर्लभ और मूल्यवान् है जो मनोरञ्जन करते करते हृदय पर अपना कुछ प्रभाव छोड़ जाय।

'ललन'

३—खाँ बहादुर डाक्टर एन० एच० चोक्सी।

डाक्टर एन० एच० चोक्सी इस देश के उन कर्तव्य-परायण डाक्टरों में हैं जिनकी क़द्र अपने देश में कुछ भी नहीं हुई। इन्होंने सन् १८८४ में एल० एम० और एस की सनद प्राप्त की थी। परीक्षा में ये सर्व-प्रथम उत्तीर्ण हुए थे और इन्हें सर जमसेदजी जीजी भाई नाम का सुवर्ण-पदक भी मिला था। इसी साल ये Anatowmy, Materia Medica और Hotany के सहायक प्रोफ़ेसर नियुक्त किये गये। इस पद पर दो वर्ष तक रह कर इन्होंने अपना कार्य बड़ी योग्यता से सम्पन्न किया। संक्रामक रोगों में विशेष अनुभव रखने के कारण बम्बई सरकार ने इनको सन् १८८८ में ग्रान्ट रोड स्माल-पाक्स हास्पिटल में नियुक्त कर दिया। तदनन्तर ये सन् १८९० में मटुङ्गा के कुष्टाश्रम में बुला लिये गये। यहाँ इन्होंने सात वर्ष तक कुष्टरोगियों की चिकित्सा का कार्य बड़ी ख़ूबी के साथ किया।

जब सन् १८९६ में बम्बई में प्लेग का भीषण प्रकोप पहले पहल हुआ था उस समय वहाँ आर्थर रोड हास्पिटल नाम का एक-मात्र सार्वजनिक अस्पताल था। इस नई बला की चिकित्सा का ज्ञान भी किसी डाक्टर को नहीं था। जब इस नये रोग के आक्रमण से नित्य प्रति हज़ारों की संख्या में लोगों की मृत्यु होने लगी तब डाक्टर चोक्सी ही ने पूर्वोक्त अस्पताल में आकर इस नये रोग से आक्रान्त रोगियों की चिकित्सा का भार ग्रहण किया। रोग की वास्तविक चिकित्सा का ज्ञान न होने के कारण अस्पताल में भी रोगियों की मृत्यु निर्बाध रूप से होने लगी। इसके सिवा नगर में यह प्रवाद भी फैल गया कि स्वयं डाक्टर चोक्सी और उनके सहायक रोगियों को मार डालते हैं जिसमें उन्हें उनकी सेवा-सुश्रूषा न करनी पड़े। इस तरह के और भी कई एक प्रवादों के फैल जाने से बम्बई में दो एक जगह उपद्रव भी हो गये। चोक्सी साहब की जान भी ख़तरे में समझी जाने लगी, पर ये किसी प्रकार भयभीत न हुए। न तो प्लेग के रोगियों के संसर्ग से इन्हें अपने प्राणों की चिन्ता हुई और न दुष्टों के प्रवाद से ही ये ज़रा भी विचलित हुए। ये बराबर अपने काम पर डटे रहे। अपनी शक्ति भर रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करने में ज़रा भी कसर न होने दी। सरकार ने इनकी रक्षा के लिए सैनिक नियुक्त कर दिये थे जो इन्हें घर पहुँचा आते थे। इसके सिवा अस्पताल भी कुछ समय तक सैनिकों और बाद को जङ्गी पुलिस की संरक्षा में रक्खा गया। अपने प्राण जोखिम में डाल कर इन्होंने लगातार पाँच वर्ष तक प्लेग के रोगियों की चिकित्सा करके अपने कर्तव्य पालन और साहस ही का परिचय नहीं दिया, किन्तु भारी आत्म-त्याग का भी।

बम्बई के प्लेग की भीषणता की ख़बर जब देश-देशान्तरों में हुई तब फ़्रान्स, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, रूस, तुर्की और मिस्र के मिशन तथा प्रतिनिधि इस भयङ्कर महामारी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बम्बई आये। इन लोगों को इस रोग-सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें डाक्टर चोक्सी ही से मालूम हो सकीं। इस तरह इनका परिचय देश-देशान्तरों से आये हुए अनेक ख्यातनामा डाक्टरों से हो गया। इन लोगों ने डाक्टर चोक्सी की कार्य-दक्षता तथा आत्म-त्याग की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। सरकार ने भी

इनके काम से खुश होकर इन्हें असिस्टेन्ट हेल्थ आफ़िसर बना दिया और सन् १८९७ में ख़ाँ बहादुर की पदवी भी प्रदान की।

सन् १८९७ से लेकर अब तक डाक्टर चोक्सी को २९ बार प्लेग, १६ बार चेचक, १३ बार साङ्घातिक ज्वर, ६ बार हैज़ा और ३ बार इन्फ़लुएन्ज़ा ज्वर के भयङ्कर प्रकोप का सामना करना पड़ा है। इन्होंने प्रत्येक समय अपने प्राणों की ममता छोड़ कर अपने कर्तव्य का पालन किया। यहाँ तक कि ये अपने कार्य-काल में एक दिन के लिए भी कभी ग़ैरहाज़िर नहीं हुए। युद्ध के समय इन्होंने संक्रामक रोगों से पीड़ित १६०० रोगियों की चिकित्सा की। इस तरह ३४ वर्ष तक लगातार चिकित्सा-विभाग में वीरता के साथ काम करके इन्होंने गत महीने में अवसर ग्रहण किया है।

डाक्टर चोक्सी की जितनी प्रसिद्धि पाश्चात्य देशों में है उतनी यहाँ नहीं। गुण की क़द्र अब इस देश में नहीं होती। वायना, म्यूनिच, फ़्लोरेंस और अमरीका की वैज्ञानिक सभाओं ने इन्हें अपना फेलो और सदस्य बनाया। फ़्रीब की यूनीवर्सिटी ने इन्हें एम० डी० (M. D. Honoris Causa) की पदवी प्रदान की। भारत में यह पदवी अभी तक किसी को नहीं प्राप्त हुई। फ़ांस के प्रेसीडेन्ट और इटली के बादशाह ने भी इन्हें पदवियों से विभूषित किया। जब इटली के बादशाह ने इन्हें Chevalier of the Crowu of Ilary की पदवी प्रदान की थी तब उसके उपलक्ष्य में बम्बई की जनता की ओर से इन्हें एक सार्वजनिक भोज देने की उदारता दिखाई गई थी। जर्मनी, आस्ट्रिया और बवेरिया की सरकारों ने भी इन्हें पदवियाँ प्रदान करने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु उन्हें इस बात की सूचना दे दी गई कि उन पदवियों के ग्रहण करने के अधिकारी अँगरेज़ी प्रजा नहीं है।

४—रेलवे विभाग में चोरी।

रेल गाड़ियों में तीसरे दर्जे के यात्रियों को जो कष्ट झेलना पड़ता है और उनका माल-असबाब जिस तरह चोरी चला जाता है उसे कोई पूछनेवाला नहीं। पर जब उस माल-असबाब की चोरी अधिक परिमाण में होने लगी जिसके लिए रेलवे कम्पनी को हर्जाना देना पड़ता है तब इसके जाँच का विचार सूझा। तदनुसार एक जाँच-कमेटी क़ायम हुई। इसकी रिपोर्ट पढ़ने से पता लग जाता है कि इस विभाग में चोरों की कितनी वृद्धि होगई है। रिपोर्ट में लिखा है कि अवध एण्ड रुहेलखण्ड रेलवे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करती है कि जो ताज़े फलों के पारसल इस रेल-द्वारा भेजे जाते हैं उनमें से एक भी मिलनेवाले के पास ज्यों का त्यों नहीं पहुँच पाता। बीच ही में बनारस के लँगड़े आम, इलाहाबाद के अमरूद, लखनऊ के ख़रबूज़े इत्यादि फलों की पिटारियाँ ख़ाली हो जाती हैं। रिपोर्ट में बताया गया है कि पिछले दस वर्ष में हर्जाने के जो दावे रेल कम्पनियों के ऊपर किये गये हैं उनकी संख्या बे-तरह बढ़ी है। जहाँ पहले एक वर्ष में कुल रेलवे कम्पनियों को हर्जाने में १२ लाख रुपये देने पड़े थे वहाँ उन्हें अब ७० लाख रुपये देने पड़े हैं। इससे इस बात का बहुत कुछ अन्दाज़ लग सकता है कि रेलवे विभाग में कैसी अन्धाधुन्धी मची हुई है और सर्व-साधारण को कितनी हानि और कष्ट झेलने पड़ते हैं। जांच से पता लगा है कि फल, तरकारी और मछलियों के पार्सल मुश्किल से एक फ़ी सदी के हिसाब से अपने ठिकाने पहुँच पाते हैं। लोग बीच ही में सबका सब गायब कर देते हैं। मैसूर चैम्बर आव् कामर्स की शिकायत है कि कोयले के प्रत्येक चलान का अधिकांश भाग स्त्रियाँ तक उड़ा ले जाती हैं। वे खुले-आम अपनी टोकरियों में कोयला भर ले जाती हैं, कोई कुछ कहता सुनता नहीं। इन्डियन टी असोशिएशन ने अपने कुलियों के लिए चावल मँगाये थे। २० प्रति सैकड़ा के हिसाब से चावल बीच ही में चोरी चले गये। आसनसोल में ६०० मन कोयला रोज़ चोरी जाता है। गत वर्ष केवल ईस्ट इन्डियन रेलवे से लगभग २॥ लाख गैलन मिट्टी का तेल गायब हो गया। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे रेलवे की चोरी की भीषणता का पूरा पूरा ज्ञान हो सकता है। कमेटी ने हिसाब लगा कर बताया है कि भारतीय रेलवे में माल की जो चोरी होती है वह लगभग एक करोड़ रुपये तक पहुँच जाती है। और जो लोग यह चोरी करते हैं उनकी संख्या भी लाखों की रहती है।

जाँच-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इन चोरियों का दोष रेलवे कम्पनियों पर थोपा है। उसने लिखा है कि माल की

रक्षा का न तो गुदामों में ही समुचित प्रबन्ध रहता है और न गाड़ियों ही में। इस सम्बन्ध में उसने अनेक बारीकियाँ खोज निकाली हैं और तदनुसार गाड़ियों और गुदामों में रक्षा का प्रबन्ध करने की सलाह भी दी है। उसने रेलवे के निम्न कर्मचारियों पर भी दोषारोपण किया है और कहा है कि इस ओर रेलवे पुलिस ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया है। जिन सुधारों को प्रयोग में लाने की शिफ़ारिश कमेटी ने की है उनको उपयोग में लाने से रेलवे कम्पनी को तो लाभ होवेहीगा, पर माल भेजनेवालों को भी विशेष लाभ होगा। उनके माल की चोरी कम होगी और वे रेलवे कम्पनी से हर्जाना वसूल करने की दिक्क़त से भी बचेंगे।

५—एक हज़ार वर्ष की एक प्राचीन मूर्ति।

बम्बई सूबे में शोलापुर नाम का एक प्राचीन नगर है। जब यह स्थान आदिलशाही घराने के संस्थापक अली आदिल शाह प्रथम के क़ब्ज़े में आगया तब उसने वहाँ एक क़िला बनवाने की इजाज़त दी। क़िला बनाने के लिए जो स्थान चुना गया था उसमें संयोगवश एक प्राचीन मन्दिर पड़ गया। अतएव उसे नष्ट न कर क़िला उसी के ऊपर बना दिया गया और वह मन्दिर अभी तक उसी दशा में पड़ा रहा है। बम्बई के गवर्नर सर लायड जार्ज कुछ समय हुआ शोलापुर गये थे। क़िला देखने के बाद उन्होंने पुरातत्त्व-विभाग को पूर्वोक्त मन्दिर खोद निकालने का आदेश दिया। तदनुसार खुदाई का काम जारी हुआ।

शोलापुर के मल्लिकार्जुन मन्दिर में प्राप्त शिव-पारषद की मूर्ति।
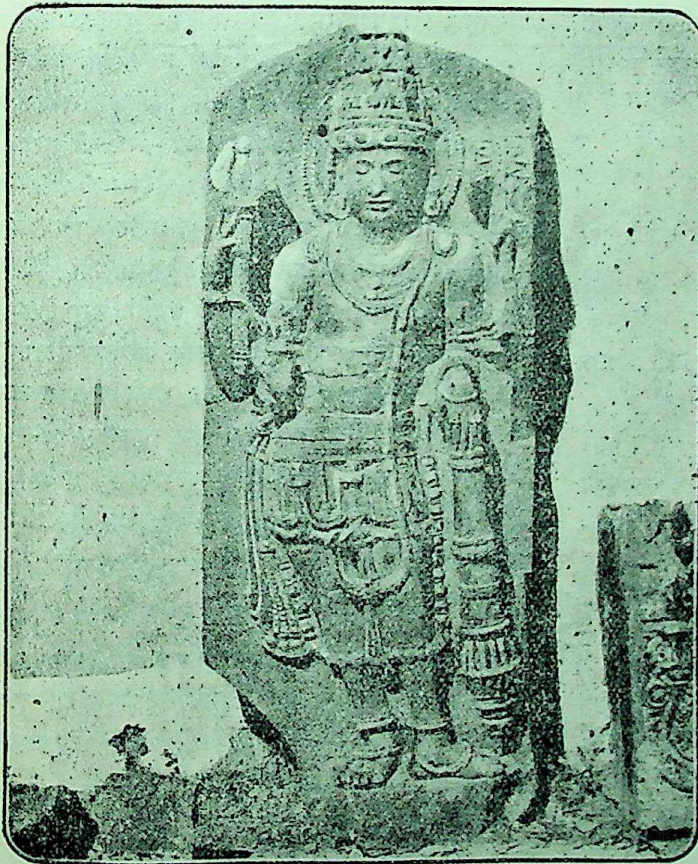
खोदे जाने पर पूर्वोक्त मन्दिर ज्यों का त्यों निकला है। इसका द्वार पूर्व ओर है और देवता का मुख भी उसी दिशा को है। मन्दिर की कारीगरी का काम सब प्रकार से दर्शनीय है। इसकी बनावट चालूक्य राजाओं के समय की मालूम पड़ती है। यह मल्लिकार्जुन का मन्दिर है। मालूम होता है, यह लगभग १००० वर्ष पहले बना होगा। इसकी खुदाई के समय एक बड़ी भारी मूर्ति मिली है। किन्तु बीच से इसके दो खण्ड हो गये हैं। इसके सिवा और कोई अङ्ग भग्न नहीं है। यह ६ फुट और ६ इञ्च ऊँची है। इसके चार भुजा हैं और यह ; दुभी, गदा और त्रिशूल धारण किये हुए है। जब यह मूर्त्ति मिली थी उस समय इसके गले में मनुष्य की खोपड़ियों की एक माला पड़ी हुई थी। इस मूर्ति की बनावट बहुत ही सुन्दर है। इसके आभूषण तथा अङ्ग खूब सफ़ाई और कारीगरी के साथ तराशे गये हैं।

६—आस्ट्रेलिया का व्यवसाई बेड़ा।

योरपीय महायुद्ध के समय आस्ट्रेलिया की सरकार ने व्यापारी जहाज़ों का एक बेड़ा बनाना शुरू किया

था। अपने इस उद्योग में पूर्वोक्त सरकार को सफलता प्राप्त हुई। उसने पाँच हज़ार से छः हज़ार टन वज़न तक के लोहे के नौ जहाज़ बना लिये हैं। अभी और ऐसे ही आठ जहाज़ बन रहे हैं। इनके बन जाने पर यह काम बन्द कर दिया जायगा। इस कार्य में लगभग १,८०,००० पौंड ख़र्च हुए हैं। इस तरह आस्ट्रेलिया सरकार के पास उसका एक निज का छोटा मोटा व्यापारी बेड़ा हो गया। राष्ट्रों की उन्नतिशीलता के यही शुभ लक्षण हैं। ग़रीब भारत में ऐसा सामर्थ्य कहाँ था जो वह भी इस अवसर से लाभ उठाता और उसके भी एक ऐसा ही छोटा-मोटा व्यापारी बेड़ा हो जाता। अभी मुग़लों के शासन-काल तक भारतीय जहाज़ बनाने की कला में भली भाँति निपुण थे। इसके पहले तो भारतीयों ही के हाथ में भारत महासागर और अरब सागर का सारा व्यापार था। यह स्मरण कर अपनी अवनति का अन्दाज़ हमें भली भाँति हो जाता है।

पुस्तक-परिचय।

१—सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्य्यालय का महाभारत—हिन्दूधर्म्म में दान की बड़ी महिमा है। दान कहते हैं श्रद्धा-पूर्वक दे डालने को। अन्नदान, धनदान, भूमिदान, ज्ञानदान—इत्यादि अनेक वस्तुओं का दान दिया जा सकता है। जिसे जिस वस्तु की विशेष आवश्यकता है उसे उसका दान देना अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है। जिसके पास जिस चीज़ की कमी नहीं उसे उसको देना, कोई अच्छा दान नहीं। या जो जिस चीज़ की क़द्र न करे या उसका सदुपयोग न करे उसे भी उस चीज़ का दान देना व्यर्थ नहीं तो अनुचित अवश्य है। इसी से शास्त्रकारों ने दान के विधान में पात्र और कुपात्र के निर्णय पर बहुत ज़ोर दिया है। भूखे के लिए अन्न, निर्धन के लिए धन और अज्ञानी के लिए ज्ञान का दान ही प्रकृत दान है। ऐसे ही लोग दान के पात्र समझे जाते हैं। इसी से गीता में लिखा है—दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्। जो लोग पाठशालायें, मकतब, मदरसे, स्कूल, कालेज आदि खोलते और उन्हें अपने ख़र्च से चलाते हैं वे बहुत बड़ा ज्ञानदान करते हैं। इसी तरह मुनाफ़े की—स्वार्थ-साधन की—इच्छा से नहीं, किन्तु लोक-कल्याण की इच्छा से जो लोग पुस्तक-प्रणयन और पुस्तक-प्रकाशन करते हैं वे भी बहुत बड़ा ज्ञान-दान करते हैं। जिस सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्य्यालय की कितनी ही गुजराती पुस्तकों की समालोचना सरस्वती में छप चुकी है वह भी, इस ज़माने में, ज्ञान का ख़ूब दान कर रहा है। उसकी प्रकाशित पुस्तकों के पाठ से हज़ारों आदमियों का मनोरञ्जन और ज्ञान-वर्धन हो रहा है। वह यद्यपि अपनी पुस्तकों का मूल्य लेता है तथापि वह मूल्य इतना कम होता है कि उसका यह काम दान की सीमा के भीतर आ जाता है। जिस पुस्तक का मूल्य और दुकानदार या प्रकाशक ६) लें उसे यदि कोई तीन ही रुपये पर बेचे तो मानों उसने ३) पाठकों को दान कर दिये। ये तीन रुपये भी वह यदि सिर्फ़ इसलिए वसूल करे कि उनसे आगे और भी ज्ञानदान में वह समर्थ हो तो उसके दान की महिमा और भी अधिक हो जाय। पूर्वोक्त कार्य्यालय इसी प्रकार का सात्विक दानी है। उसके सूत्रधार भिक्षु अखण्डानन्द संसार-त्यागी संन्यासी हैं। उनके आश्रम-धर्म्म की आज्ञा है कि उनका शरीर लोकहित करने ही के लिए है। और लोकहित, गेरुए वस्त्र धारण करके, शरीर को पराश्रित करने से नहीं होता। जिनके अन्न से संन्यासियों के शरीर की रक्षा और उसकी पुष्टि होती है उनको सदुपदेश देने और उनकी ज्ञान-वृद्धि के साधन सुलभ करने से होता है। धन्य हैं स्वामी अखण्डानन्द जो अपने इस आश्रम धर्म्म का तत्त्व अच्छी तरह समझ कर, सुलभ-पुस्तक-प्रचार द्वारा, गुजराती भाषा जाननेवालों के ज्ञान की वृद्धि आप अनेक वर्षों से कर रहे हैं और कुछ स्वार्थ-परायण लोगों के कुटिल कटाक्ष-पात की परवा न करके अपने परार्थ-साधन कार्य्य में सतत लगे हुए हैं।

यह कार्य्यालय आज तक भिन्न भिन्न विषयों की दरजनों पुस्तकें प्रकाशित कर चुका है। इसकी बदौलत श्रीमद्भागवत, देवी भागवत, योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थों के गुजराती अनुवाद कौड़ी मोल बिक रहे हैं। इसने महाभारत के सदृश महिमामय और ज्ञानगुरु ग्रन्थ के शान्ति-पर्व का अनुवाद बहुत पहले ही प्रकाशित किया था। अब दो और पर्वों का अनुवाद भी उसने छपा कर सुलभ कर दिया है। ये दो पर्व हैं आदि-पर्व और सभा-पर्व। दोनों एक ही जिल्द में हैं। आकार ख़ूब बड़ा, काग़ज़ मोटा और

टाइप स्थूल है। पृष्ठ-संख्या ६०० के लगभग है। पुस्तक पर मज़बूत जिल्द चढ़ी है। भीतर दो एक चित्र भी हैं। इतना सब होने पर भी मूल्य केवल २॥) है। यह गुजराती-अनुवाद श्रीयुत करुणाशङ्कर भानुशङ्कर शास्त्री का किया हुआ है। हर पृष्ठ में दो कालम (स्तम्भ) हैं और हर अध्याय का प्रथम श्लोक, संस्कृत में, ज्यों का त्यों छाप दिया गया है। इन श्लोकों के प्रूफ़ देखने में ज़रा सी असावधानी होगई है। क्योंकि कहीं कहीं उनका ठीक ठीक पदच्छेद नहीं हुआ और यत्र तत्र भूलें भी रह गई हैं। यथा पृष्ठ २५७ में "वक्तु" का "वक्तं" और पृष्ठ २५६ में "विद्धि" का "विद्धि" छप गया है। पर इससे पाठकों की कुछ भी हानि नहीं। क्योंकि अनुवाद ठीक हुआ है और मूल का भाव बड़ी सुन्दर और सरल भाषा में व्यक्त किया गया है। कालबादेवी रोड़, बम्बई, के पते पर इस कार्य्यालय के प्रबन्धकर्ता को लिखने से यह पुस्तक मिल सकती है।

जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी है उनमें अनेक लखपती और शायद कुछ करोड़पती भी होंगे। पर उनमें से किसी में भी एक भिखारी (भिक्षु) संन्यासी का जितना भी उद्योग, उत्साह, त्याग, परोपकार-साधन-भाव नहीं मालूम होता। होता तो ज्ञानदान की महिमा की प्रेरणा से, हिन्दी-पुस्तकों के प्रकाशन के लिए भी, सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्य्यालय के सदृश कोई कार्य्यालय भारत में कहीं अवश्य ही खुल जाता।

☼

२—संवाद-गुच्छ, प्रथम पुष्प—इसकी भाषा गुजराती; आकार मँझोला; छपाई, काग़ज़ और जिल्द मनोमोहक; मूल्य २॥) है। इसे गोविन्दभाई हरिभाई पटेल ने लिखा है और भाईलाल भाई खुशाल भाई पटेल ने कलकत्ते में छपा कर प्रकाशित किया है। मिलने का पता पुस्तक पर नहीं। पुस्तक की भाषा सरस और सालङ्कार है। लेखक ने इसकी रचना विशेष विचार-पूर्वक की है। इसमें २१ संवाद या अध्याय हैं। संवाद यद्यपि काल्पनिक हैं, तथापि बिलकुल ही निराधार नहीं। दो ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्तियों के कथोपकथन का आश्रय लेकर वे लिखे गये हैं। यथा—कर्ण और कृष्ण, सुनीती और ध्रुव, कृष्ण और सुदामा, सिकन्दर और पोरस, राम और हनुमान्, रामदास और शिवाजी इत्यादि। इन संवादों में लेखक ने बड़े ही उदात्त विचारों का प्रकटीकरण किया है। विचारों का व्यक्तीकरण तद्विषयक पात्रों के सम्बन्ध के अनुरूप है। लेखक के कथन का सारांश है कि मानव-जीवन का केन्द्र उसी का हृदय है। उसका योग्य विकास होने से वही स्थूल विश्व के सूक्ष्म जीवन का केन्द्र हो जाता है। बात यह कि हृदय ही आत्मा का स्थान, सत्य का सिंहासन और प्रेम का आश्रम है। आश्रम के अनुसार उसी के भिन्न भिन्न सात्विक विकासों का वर्णन इस पुस्तक में है।

☼

३—Political Gita or Philosophd of Life—इस छोटे आकार की पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २१६ है। इसे श्रीयुत यदीलाल मोतीलाल, घाटकोपर, बम्बई ने लिख कर अँगरेज़ी में प्रकाशित किया है। और शायद संसार के विचारशील विद्वानों को वितरण करने के ही लिए इसका प्रकाशन भी हुआ है। इसमें लेखक ने संसार की राजनीति पर साधारण रूप में प्रकाश डाला है, किन्तु भारत की राजनीति की चर्चा विशेष रूप से की है। लेखक ने लिखा है कि मैं किसी राजनैतिक संस्था का सदस्य न पहले ही कभी था और न इसी समय हूँ। एकान्तवास सेवन करके सतत आत्म-चिन्तन द्वारा जो अनुभव मुझे हुआ है उसी को मैंने इस पुस्तक में व्यक्त किया है। पुस्तक दार्शनिक ढँग से लिखी गई है और लेखक के हृद्गत विचारों का वह चित्र है।

इस पुस्तक में शान्ति-पूर्ण असहयोग आन्दोलन और महात्मा गान्धी की ख़ूब प्रशंसा है। यही नहीं महात्मा गान्धी एक प्रकार से परमेश्वर के अवतार सिद्ध किये गये हैं और उनका असहयोग आन्दोलन अप्रतिम और अभूतपूर्व ठहराया गया है। लेखक ने अपने विचार ऐसे ढँग से व्यक्त किये हैं कि उनका प्रभाव मन पर ख़ूब पड़ता है। पुस्तक मनन करने लायक़ है। मूल्य नहीं लिखा है। शायद लेखक को ही लिखने से पुस्तक मिलती है।

☼

४—राष्ट्र-सञ्जीवनी ग्रन्थमाला के तीन पुष्प—लेखक और प्रकाशक पण्डित प्राणनाथ विद्यालङ्कार, मान-मन्दिर, बनारस।

(१) भारतीय किसान—इसमें यह बताया गया है कि भारत के निवासी भिन्न भिन्न पेशों को छोड़ कर किस प्रकार खेती द्वारा अपना भरण-पोषण करने को बाध्य हुए हैं। यह बात सिद्ध करने के लिए उपसंहार में 'अङ्कों' की जो आठ सूचियाँ दी गई हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। इसका मूल्य ≡)॥ है।

(२) किसानों पर अत्याचार—इस पुस्तिका में यह बताया गया है कि किसानों से लगान लेना पाप है। इसके सिवा तअल्लुक़ेदार तथा सरकारी कर्मचारी किसानों से जो तरह तरह के नज़राने और बेगार आदि लेते हैं उनका संक्षेप में पूरा विवरण इस ट्रैक्ट में लिख दिया गया है। मूल्य ।–) है।

(३) किसानों का अधिकार—इस ट्रैक्ट में यह बताया गया है कि किसानों का भूमि पर स्वत्व है और उन्हें उसका लगान किस तरह देना चाहिए। इसके बाद योरप के भिन्न भिन्न देशों के कृषकों की दशा का संक्षेप में वर्णन किया गया है। मूल्य ।)॥ है।

ये तीनों ट्रैक्ट बहुत अच्छे ढंग से लिखे गये हैं और देश-काल के अनुरूप हैं।

❋

५—भाषा-रत्नाकर पहला और दूसरा भाग—प्रकाशक, उत्तमचन्द कपूर एण्ड सन्स, (बुकसेलर्स, पबलिशर्स), अनारकली, लाहोर। दोनों भाग सजिल्द हैं। पहले भाग की पृष्ठ-संख्या १९३ है और दूसरे की २४४ है। मूल्य किसी पुस्तक पर नहीं लिखा है। शायद ये पुस्तकें प्रकाशक ही को लिखने से मिल सकेंगी।

उपर्युक्त पुस्तकें स्कूलों में पढ़ाई जाने के लिए तैयार की गई हैं। इनकी भूमिका में लिखा गया है कि जो पुस्तकें संयुक्त-प्रान्त, मध्य प्रदेश और विहार में पढ़ाई जाती हैं उन सबमें कुछ न कुछ कमी ज़रूर रह गई है। अतएव ऐसी ही 'क्षतियों' को दूर करने के लिए ये पुस्तकें लिखी गई हैं। इनको लिख कर न मालूम किसने 'सरस्वती' तथा कतिपय अन्य पत्रों और विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की है। क्योंकि इनकी रचना में यही काम आये हैं। अर्थात् इन पुस्तकों का अधिकांश भाग सङ्कलित है और जो लेख उद्धृत नहीं हैं वे भी स[रस]्वती या कतिपय पत्रों में प्रकाशित लेखों के रूपान्तर-मा[त्र] हैं। परन्तु खेद है कि इस सम्बन्ध में भूमिका में कुछ [भी] नहीं लिखा गया। अस्तु।

भाषा रत्नाकर के पहले भाग में कुल ३१ लेख हैं। इनमें १८ लेख पद्य-भाग में हैं जिनमें ८ जीवन-च[रि]त हैं और शेष १० लेखों में ३ वैज्ञानिक और ७ ले[ख] विविध विषय-सम्बन्धी हैं। गम्भीर लेखों के चुना[व] से मालूम होता है कि पुस्तक ऊँचे दर्जों के लिए लि[खी] गई है। परन्तु अनेक उपयोगी विषय-सम्बन्धी लेख [छोड़ दिये] गये हैं। ऐतिहासिक और भौगोलिक लेखों का अभा[व] बहुत खटकता है। सदाचार-सम्बन्धी लेखों की भी उपेक्षा [की] गई है। यदि जीवन-चरित कम कर दिये जाते और दू[सरे] विषयों के लेख बढ़ा दिये जाते तो पुस्तक और भी उपयो[गी] होती। इसका पद्य भाग भी बहुत सुन्दर है। यही हा[ल] दूसरे भाग का भी है।

पुस्तक का काग़ज़ और छपाई सुन्दर है। प्रत्येक ले[ख] सचित्र है। अनेक लेख रङ्गीन चित्रों से सुशोभित कि[ये] गये हैं। कई एक लेखों में दो दो तीन तीन चित्र त[था] नक़शे देकर पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने का ख़ासा प्रय[त्न] किया गया है। भाषा साफ़ और सुन्दर है। परन्तु छा[पे] की भूलें इनमें बिलकुल न होनी चाहिए थीं। प्रूफ़ देख[ने] में असावधानी हुई है परन्तु भूमिका की 'क्षतियों' [की] भाँति कहीं कहीं पञ्जाबीपन दिखाने की कोशिश जान-बू[झ] कर की गई है। एक जगह 'तार आये' छपा था। ब[ाद में] 'तारें आईं' पीछे से काट कर बनाया गया है। यह स[ब] कुछ होने पर भी पुस्तक उपयोगी है।

चित्र-परिचय।

प्रतीक्षा।

सरस्वती के इस अङ्क में 'प्रतीक्षा' नामक जो चि[त्र] प्रकाशित हुआ है वह प्रोषितभर्तृका नायिका का है। चित्रकार ने इस नायिका का भाव व्यक्त करने में देश-का[ल] का भी ध्यान रक्खा है।

Printed and Published by Apurva Krishna Bose, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

बुद्ध भगवान् और उनकी शिष्य-मण्डली।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

भाग २२, खण्ड २] आक्टोबर १९२१—आश्विन १९७८ [संख्या ४, पूर्ण संख्या २६२

डाक्टर जे० जी० बूलर ।

डाक्टर बूलर का जन्म सन् १८३७ की १९ वीं जुलाई को जर्मनी के हनोवर राज्य के बोरटेल नामक गाँव में एक पादरी के घर हुआ था। हनोवर के पबलिक स्कूल में इन्हें प्रारम्भिक शिक्षा मिली और उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए ये गाटिंजेन के विश्व-विद्यालय में भरती हो गये। यहाँ इनको एक प्रसिद्ध विद्वान् से घनिष्ठता होगई। उनका नाम अध्यापक थ्योडर बेनफ़े था। बेनफ़े महोदय की गणना प्रसिद्ध बहु-भाषाविदों में थी। उन्होंने बूलर से कहा था कि वेदज्ञ ही वास्तव में संस्कृत का विद्वान् कहलाने का पात्र है। अतएव अपनी उद्देशसिद्धि के लिए पूर्ण रीति से निपुण होकर बूलर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए और उन्होंने अपने गुरु की आशा से अधिक काम कर दिखाया। इन प्रसिद्ध गुरु-शिष्यों ने संस्कृत के साहित्य और भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ लिखे हैं वे पहले ही की भाँति इस समय भी उपादेय और महत्त्व-पूर्ण हैं।

सन् १८५८ में बूलर को डाक्टर की पदवी मिल गई। तब वे पेरिस, आक्सफ़र्ड और लन्दन को गये। इन विद्यापीठों के बड़े बड़े पुस्तकालयों के प्राच्य विभाग में काम करने तथा, यदि सम्भव हो तो, वैदिक हस्त-लिखित पुस्तकों की नक़ल उतारने और भिन्न भिन्न प्रतियों से उनका मिलान करने के उद्देश ही से वे वहाँ गये थे। लन्दन में उनकी भेंट

अध्यापक मैक्समूलर से हो गई। इसी समय संस्कृत के उन दोनों विद्वानों में गहरी मित्रता का सूत्रपात हुआ। इँगलेंड में वे विंडसर के राजकीय पुस्तकालय के सहकारी पुस्तकाध्यक्ष के पद पर नियुक्त किये गये। तीन वर्ष बाद उन्होंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया और उसी पद पर गाटिंजन के अपने ही विश्वविद्यालय में वे चले गये। परन्तु इस बात का दृढ़ निश्चय होने के कारण कि जब तक कोई आदमी भारत जाकर वहाँ के संस्कृत के पण्डितों का शिष्य नहीं होता तब तक वह संस्कृत में पूर्ण पाण्डित्य नहीं प्राप्त कर सकता, उन्होंने भारत जाने का निश्चय किया। यहाँ तक कि क़लम का बाना उतार कर किसी व्यापारी कम्पनी के एजंट के रूप में भारत की यात्रा करने को वे मुस्तैद हो गये। परन्तु अध्यापक मैक्समूलर की कृपा की बदौलत बम्बई शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर मिस्टर हावर्ड ने उन्हें अपने विभाग में जगह देने का वचन दिया। अतएव एक दिन डाक्टर बूलर बम्बई आ पहुँचे। वहाँ आने पर उन्हें मालूम हुआ कि मिस्टर हावर्ड कहीं चले गये हैं और शिक्षा-विभाग में कोई जगह भी ख़ाली नहीं है। यह हाल सुन कर बूलर साहब उदास तो हुए, परन्तु मैक्समूलर की मित्रता के कारण उन्हें कोई विशेष अड़चन नहीं उठानी पड़ी। एलिफ़िंस्टन कालेज के प्रिन्सपल सर अलेक्ज़ेंडर मैक्समूलर के मित्र थे। अतएव बूलर साहब ने उनके पास जाकर अपना क़िस्सा सुनाया। अलेक्ज़ेंडर महोदय ने अपने ही कालेज में बूलर साहब को प्राच्य भाषाओं के अध्यापक के पद पर नियुक्त कर लिया। फलतः सन् १८६३ से लेकर १८८० तक बूलर साहब बम्बई के शिक्षा-विभाग में काम करते रहे। उन्होंने इस विभाग के भिन्न भिन्न पदों पर रह का[म] किया। अध्यापक-पद के सिवा वे इन्स्पेक्टर औ[र] संस्कृत-पुस्तकों की खोज के प्रधान अफ़सर के प[द] पर भी रहे हैं। शिक्षा-दान की योग्यता के सम्बन्[ध] में एलिफ़िंस्टन कालेज के प्रधान अध्यापक औ[र] निरीक्षण कार्य के सम्बन्ध में शिक्षा-विभाग के डायरे[]क्टर ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

शिक्षा-विभाग का काम डाक्टर बूलर ने ब[ड़े] परिश्रम के साथ किया। उस समय देश में न [तो] अधिक रेलों का ही प्रचार हुआ था और न सड़[कों] ही की दशा अच्छी थी। ऐसी परिस्थिति में प्रा[यः] दौड़े ही पर रहने के कारण बूलर साहब को अप[नी] शक्ति से बाहर काम करना पड़ा। इस परिश्रम [का] प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर अच्छा न हुआ। अतए[व] सन् १८८० में वे शिक्षा-विभाग से अलग हो गये। जब इस बात की ख़बर योरप में पहुँची तब वे वाय[ना] को तुरन्त बुला लिये गये। वहाँ के विश्व-विद्याल[य] में उन्हें संस्कृत और भारतीय शास्त्रों के अध्यापन [का] कार्य सौंपा गया। डाक्टर बूलर की भी [] इच्छा थी कि वायना भी योरप में प्राच्य-विद्याओं [के] अध्ययन का एक केन्द्र बन जाय। अतएव वे [] चले गये।

वायना-विश्वविद्यालय में अपनी नियुक्ति के [] डाक्टर बूलर ने सन् १८८६ में वहाँ ओरियन्टल इन्[स्टी]ट्यूट की स्थापना की और वायना-ओरियन्टल ज[र्नल] नाम का एक सामयिक पत्र भी प्रकाशित होने ल[गा]। भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व-सम्बन्धी अपने अ[नेक] मौलिक निबन्ध उन्होंने उसमें प्रकाशित कराये। व[] की इम्पीरियल एकेडेमी आव् साइसेज़ के सदस्य के [रूप] में वे उस संस्था को संस्कृत के अध्ययन की उन्नति

प्रयत्न करने और धन लगाने को यथासमय प्रोत्साहित करते रहे। प्राच्यविदों की अन्तर्राष्ट्रीय महासभा में वायना-विश्व-विद्यालय के प्रतिनिधि की हैसियत से जब वे सम्मिलित हुए तब उसका कार्य उन्होंने ऐसी योग्यता से किया कि वे सर्वसम्मति से योरप के संस्कृतज्ञों के नेता माने गये। वे प्रायः भारतीय विभाग के सभापति होते रहे और उनकी सम्मतियों को भारत सरकार सदा बड़े ध्यान से सुनती रही। वायना-विश्वविद्यालय की ही छत्र-च्छाया के नीचे रह कर इन्होंने Encyclopedia of Indo-Aryan Research नामक विशाल ग्रन्थ के प्रणयन का मसाला एकत्र किया और उसके कुछ भाग पूर्ण भी किये।

अपनी विद्वत्ता के कारण डाक्टर बूलर स्वभावतः योरप की अनेक विद्वन्मण्डलियों द्वारा समादृत हुए। जर्मन ओरियन्टल सोसायटी, अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, बर्लिन एकेडमी आव् साइन्सेज़, गाटिंजन की रायल अकेडमी आव् साइन्सेज़, वायना की इम्पीरियल अकेडमी आव् साइन्सेज़, पोटर्सवर्ग अकेडमी, इन्स्टिट्यूट डि फ्रान्स आदि प्रसिद्ध संस्थाओं के वे सदस्य बनाये गये। भारत में भी वे गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी, बंगाल की एशियाटिक सोसायटी और अञ्जुमन पञ्जाब के सदस्य थे। जिन राज्यों से उनका सम्बन्ध रहा है वे भी उनका आदर करने से पीछे नहीं रहे। भारतीय सरकार ने सन् १८७८ ही में उन्हें सी० आई० ई० की पदवी देकर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया था। जर्मन सरकार ने उन्हें पहले ही अपने प्रशियन आर्डर का नाइट बना दिया था। वायना सरकार ने भी उनको पदवी दी और सन् १८८६ में वे के० एच० हाफराथ नामाङ्कित किये गये। एडिनबरा के विश्वविद्यालय ने भी डाक्टर की पदवी देकर उन्हें सम्मानित किया। इस तरह अपने पाण्डित्य के कारण डाक्टर बूलर लोकपूजित हो गये।

सन् १८६८ की ५ वीं अप्रेल को डाक्टर बूलर वायना से अपने स्त्री और लड़के के पास ज़्यूरिच में ईस्टर का त्योहार मनाने के लिए रवाना हुए। परन्तु सुन्दर ऋतु देख कर कैन्स्टैन्स झील पर स्थित लिंडला नामक स्थान में वे रुक गये। उन्होंने वहाँ दो दिन ठहर कर नौका-विहार का आनन्द लेना चाहा। ८ वीं अप्रेल को एक छोटी नाव पर सवार होकर वे झील में जल-विहार कर रहे थे। इसी समय नाव का डाँड़ हाथ से छूट गया और वे ज्योंही उसे लेने को एक ओर झुके त्योंही नाव उलट गई और वे जल में जा रहे। इस तरह इस प्रसिद्ध विद्वान् की अकाल मृत्यु हो गई और संसार से एक ऐसा भारी विद्वान् उठ गया जिसका स्थान अभी तक ख़ाली है।

डाक्टर बूलर का लेखनकार्य उस समय से प्रारम्भ होता है जब वे विश्व-विद्यालय की पढ़ाई समाप्त कर के निकले थे। उन्होंने पहले तुलनामूलक भाषा-विज्ञान और वैदिक देवताओं पर लेख लिखे। ये Orient and Occident नामक सामयिक पत्र में प्रकाशित हुए थे। इसके सम्पादक उनके गुरु अध्यापक बेनफ़े ही थे। लन्दन के पुस्तकालय में रहते समय उन्होंने अध्यापक मैक्स-मूलर के संस्कृत-साहित्य के इतिहास की सूची बना दी। भारत में आते ही उनका भारतीय जनों से प्रेम हो गया, विशेष करके संस्कृत के पण्डितों से। वे यहाँ के शास्त्रियों का बड़ा आदर करते थे। उन्होंने अपनी एक रिपोर्ट में इनके

सम्बन्ध में एक बार लिखा था—शास्त्री लोग संस्कृत के परम्परागत ज्ञान के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं और संस्कृत के अध्ययन की वर्तमान अवस्था को देख कर उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं किया जा सकता। इसी रिपोर्ट के अन्त में वे गवर्नमेंट से प्रार्थना करते हैं—प्राचीन प्रणाली के शास्त्रियों में से एक शास्त्री को ऊँचे दर्जे के विद्यार्थियों की सहायता के लिए सहकारी अध्यापक के पद पर नियुक्त करना चाहिए। परन्तु वे इन शास्त्रियों के अन्धभक्त नहीं थे। वे जानते थे कि प्राचीन शैली के पण्डितों में आलोचनात्मक पाण्डित्य की कैसी भारी कमी है। अतएव वे इस बात का बराबर प्रयत्न करते रहे कि योरपीय शिक्षा-प्रणाली की लाभदायक बातें शिक्षा की परम्परागत हिन्दू-प्रणाली में मिला ली जायँ। यदि भारत के दूसरे भागों में संस्कृत की शिक्षा बूलर द्वारा निर्दिष्ट प्रणाली के अनुसार दी गई होती तो इस समय भारत में बूलर सम्प्रदाय के प्राच्यविद् पण्डितों ने महत्त्व-पूर्ण पद प्राप्त किया होता। भाण्डारकर, तैलङ्ग, शङ्कर पण्डित, आप्टे तथा दूसरे प्रसिद्ध एतद्देशीय विद्वान् उन्हीं की सम्प्रदाय के हैं। परन्तु यह नूतन विद्वन्मण्डली विभिन्न कारणों से बम्बई हाते के भीतर ही सीमाबद्ध रही। प्राचीन शैली के पण्डितों से मेलजोल होने तथा शिक्षा देने के लिए पाठ्य-पुस्तकों के अभाव के कारण डाक्टर बूलर और अध्यापक कीलहार्न ने, जो उस समय पूना में थे, मिल कर बाम्बे-संस्कृत-सीरीज़ नामक एक ग्रन्थ-माला निकाली। इस ग्रन्थ-माला के निकालने का यह मतलब था कि एतद्देशीय विद्वान् यह बात जान जायँ कि पुस्तक का सम्पादन योरप में किस ढँग से किया जाता है। इसके सिवा भारतीय स्कूल-कालेजों के उपयोग के लिए संस्कृत के प्रामाणिक ग्रन्थों के सस्ते और सुन्दर संस्करण सुलभ हो जायँ। डाक्टर बूलर ने स्वयं कई पुस्तकों का सम्पादन करके इस माला में उन्हें प्रकाशित किया है। पञ्चतन्त्र के चार तन्त्रों का सम्पादन करने के सिवा उन्होंने दण्डी के दश-कुमारचरित का प्रथम भाग भी इसी माला के लिए तैयार किया। सन् १८७५ में उन्होंने बिल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरित नामक ऐतिहासिक महाकाव्य का सम्पादन किया। इस लुप्तप्राय ग्रन्थ के उद्धार का श्रेय अकेले डाक्टर महोदय ही को है।

भारत में नौकरी कर लेने के बाद ही सन् १८६७ में डाक्टर बूलर ने सर रेमान्ड वेस्ट के साथ Digest of Hindu Law नामक हिन्दुओं के क़ानून-ग्रन्थ का प्रणयन किया। भारत के क़ानून के प्राचीनतम साहित्य का ज्ञान बूलर के पहले अँगरेज़ों को कुछ अधिक नहीं था। जजों को शास्त्रियों की व्यवस्था पर निर्भर रहना पड़ता था। लोगों की रोज़गार-धन्धे बढ़ने के साथ ही साथ जब न्याय-विभाग का कार्य-क्षेत्र बढ़ने लगा तब हिन्दुओं के दत्तक, दाय-भाग, उत्तराधिकारित्व-सम्बन्धी क़ानून की आवश्यकता बढ़ी। अतएव डाक्टर बूलर को यह काम सौंपा गया और उन्होंने वेस्ट के 'डायजेस्ट' का उपोद्घात लिख कर हिन्दुओं के धर्मशास्त्र का संक्षेप में पूरा विवरण दे दिया। संस्कृत-साहित्य के इस विभाग से जब बूलर का परिचय हो गया तब वे हिन्दुओं के प्राचीन धर्मशास्त्र की खोज वैदिक साहित्य में करने लगे। इसी प्रयत्न का परिणाम-स्वरूप आपस्तम्ब-सूत्र सन् १८७१ में प्रकाशित हुआ। अध्यापक मैक्समूलर के लिए उन्होंने सेक्रेड बुक्स

आव् दि ईस्ट सेरीज़ के दो खण्डों (द्वितीय और चतुर्दश) का अनुवाद भी कर दिया।

डाक्टर बूलर ने एक बार मैक्समूलर की एक बात का खण्डन किया था। मैक्समूलर ने अलङ्कार-शास्त्र का जो काल निश्चित किया था उसे उन्होंने ग़लत बतलाया और अन्त में अध्यापक महोदय को उनकी बात माननी पड़ी। वे संस्कृत के काव्य-साहित्य के पूर्ण विद्वान् थे। दूसरे पाश्चात्य विद्वानों की तरह उनका यह सिद्धान्त नहीं था कि सारे प्राच्य साहित्य और ज्ञान पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है। उनका झुकाव हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों को अधिक प्राचीन बतलाने ही की ओर सदा रहा है। संस्कृत-साहित्य के भिन्न भिन्न ग्रन्थों का समय-निरूपण करने की आवश्यकता से उन्होंने शिलालेखों और ताम्रपत्रों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन से एक लाभ यह भी हुआ कि भारत के हिन्दू-काल का इतिहास भी लिखा जा सका। इस समय बूलर महोदय ही अकेले इस क्षेत्र में काम कर रहे थे। उन्होंने इन ताम्रपत्रों का अध्ययन केवल ऐतिहासिक मतलब ही से नहीं किया था, किन्तु वे प्राचीन लिपियों का इतिहास भी जानना चाहते थे। अतएव उन्होंने इस सम्बन्ध में दो विद्वत्ता-पूर्ण निबन्ध, एक ब्राह्मी लिपि और दूसरा भारतीय लिपि-विज्ञान पर, लिखे। ये लेख उच्च कोटि के हैं। आज तक कोई विद्वान् इस विषय में उनकी समता नहीं कर सका।

डाक्टर बूलर उच्च कोटि के प्रतिभाशाली विद्वान् थे। भारतीय खोज-विभाग की ऐसी कोई भी शाखा न होगी जिसमें उनकी प्रतिभा की छटा न झलकती हो। संस्कृत और प्राकृत के भाषा-विज्ञान का अध्ययन करते समय वे प्राचीन समाधि-मन्दिरों का महत्त्व नहीं भूले थे। उन्होंने हुल्ज़, फरर, बाडेल आदि विद्वानों के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसन्धानों की ओर भी ख़ूब ध्यान दिया। उनके प्रसिद्ध शिष्यों में से डाक्टर विंटर्निज़ का कहना है कि वे प्राचीन भारत का एक शृङ्खला-बद्ध इतिहास लिखना चाहते थे। भारत-सम्बन्धी बातों का उनका यह अध्ययन और अध्यवसाय इसी पूर्वकल्पित विशाल कार्य का प्रारम्भिक रूप समझना चाहिए। परन्तु शोक है कि यह विचार कार्य में परिणत न हो सका!

संस्कृत के जितने अप्राप्य ग्रन्थ डाक्टर बूलर ने खोज निकाले हैं उतने और कोई विद्वान् नहीं ढूँढ़ सका। इसके सिवा जितनी अधिक संख्या में हस्त-लिखित पुस्तकें उन्होंने एकत्र की हैं इस बात में भी उनकी बराबरी कोई दूसरा विद्वान् नहीं कर सका। जब सन् १८६३ में वे बम्बई के शिक्षा-विभाग में नियुक्त किये गये थे तभी से उन्होंने संस्कृत की पुस्तकों की खोज प्रारम्भ कर दी थी। वे तीन वर्ष तक निज के तौर पर इस काम को बराबर करते रहे। इतने ही समय में उन्होंने २०० पुस्तकें एकत्र कर लीं। ये सबकी सब ब्राह्मण-ग्रन्थों के साहित्य से सम्बन्ध रखती थीं। इस पर बम्बई सरकार ने सन् १८६६ में उन्हें अपने लिए इस कार्य को करने का आदेश दिया। तदनुसार दो वर्ष के अनवरत परिश्रम से उन्होंने दक्षिण महाराष्ट्र और उत्तरी कनारा के भारतीय पुस्तकालयों की खोज करके २०० ग्रन्थ खोज निकाले। ये ग्रन्थ एलिफ़िन्सटन कालेज के पुस्तकालय में रक्खे गये। अन्त

में सन् १८६८ में उनके प्रयत्न से खोज का एक विभाग ही सा खोल दिया गया। इसके प्रधान डाक्टर बूलर ही बनाये गये। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें बड़े बड़े प्रयत्न करने पड़े। देशी भाषाओं का ज्ञान होने और भारतीयों से प्रेम तथा उनके भावों का आदर करने के कारण वे दूसरे योरपीय विद्वानों की अपेक्षा अपने कार्य में बहुत सफल हुए। जब वे अपने पद से पृथक् हुए तब तक २३०० अप्राप्त लिखित ग्रन्थ संग्रह हो चुके थे। इनमें अनेक ऐसे अनमोल ग्रन्थ शामिल हैं जिनका कहीं पता तक न लगता था।

संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों की खोज करते समय डाक्टर बूलर ने जैन-साहित्य के कोई ५०० से अधिक ग्रन्थ खोज निकाले। इनको उन्होंने तुरन्त बर्लिन के विश्वविद्यालय को भेज दिया। वहाँ उन ग्रन्थों का अध्ययन करके अध्यापक बेबर, क्लाट और लीमन ने जैन-धर्म के सम्बन्ध में महत्त्व-पूर्ण निबन्ध लिखे, जिनसे जैन-धर्म के इतिहास पर ख़ासा प्रकाश पड़ा। उनके इस काम में अध्यापक जैकोबी ने भी सहायता दी थी और जैनों के प्राचीन पुस्तकालयों में खोज करते समय वे भी उनके साथ थे। दूसरे विद्वानों को जैन-धर्म के इतिहास का अध्ययन करने का प्रोत्साहन देकर ही वे चुप नहीं हो गये, किन्तु उन्होंने स्वयं जर्मन भाषा में जैनों के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ लिख कर सन् १८८७ में प्रकाशित किया। मथुरा और खरवेला के शिला-लेखों को पढ़ कर उन्होंने जैन-धर्म का समय बुद्ध-धर्म से पहले निरूपित किया। इस तरह प्राचीन पुस्तकों, शिलालेखों और प्राचीन इमारतों आदि का वर्षों अध्ययन करके संस्कृत-साहित्य और जैन-धर्म के सम्बन्ध में अनेक महत्त्व-पूर्ण मौलिक निबन्ध तथा पुस्तकें लिख चुकने के बाद उन्होंने Encyclopedia of Indo-Aryan Research नामक बड़े भारी और महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन का श्रीगणेश किया। प्राच्यविद्या-विषयक ऐसा विराट् ग्रन्थ अभी तक कोई नहीं निकाल सका। अपने प्रभाव और सम्मान के कारण उन्हें संसार के भिन्न भिन्न स्थानों के कोई ३० प्रसिद्ध विद्वान् इस कार्य में साहाय्य देने को मिल गये और उसके प्रकाशन का सूत्रपात तुरन्त ही हो गया। इस ग्रन्थ में भारतीय आर्यों के—उनके इतिहास, धर्म, दर्शन आदि—सम्बन्ध की सब बातों का संग्रह करने का विचार था। दुर्भाग्य-वश बीच ही में वे इस संसार से उठ गये। उनके समय में केवल नौ खण्ड ही प्रकाशित हो सके थे।

विद्याधर मिश्र

अमरीका की स्त्रियों का भविष्य।

स्त्रियों में दो बातें हैं—एक तो उनका स्त्रीत्व और दूसरा उनका व्यक्तित्व। भारत में हम स्त्रियों को केवल स्त्री ही मानते हैं। हम उनको किसी पुरुष की पत्नी या माता या भगिनी, या पुत्री के ही रूप में जानते हैं। हमारे यहाँ स्त्रियों का समाज से, राजनीति से और देश के दूसरे कामों से सम्बन्ध प्रायः नहीं सा है। गत योरपीय युद्ध के समय मैं न्यूयार्क में था। उस समय मैंने अमरीका की स्त्रियों को सैनिक वस्त्र पहने, मोटर चलाते, अस्पतालों में दाई का काम करते, युद्ध

सामग्री बनाते और अन्य अनेक प्रकार से अपने देश को युद्ध के जीतने में सहायता देते हुए देखा था। उस समय योरप और अमरीका के पुरुष कारख़ाने, आफ़िस, खेत, दूकान आदि को छोड़ कर युद्ध-क्षेत्र में चले गये थे। उनकी अनुपस्थिति में घर का, युद्ध-सामग्री के कारख़ाने चलाने का, दूकान का और खेत का काम एवं दूसरे आवश्यक काम भी स्त्रियों ने अपने ऊपर ले लिये। यही नहीं सहस्रों तो आहत सैनिकों की सेवा-सुश्रूषा के लिए युद्ध-क्षेत्र तक गई थीं। उस समय अमरीका की सौन्दर्य-प्रिय, विलास-प्रिय स्त्रियों ने त्याग-व्रत धारण कर मोटे साधारण वस्त्र पहन अपने पति पुत्रादि की नाना प्रकार से सहायता की।

जो स्त्रियाँ दाई होकर युद्ध-क्षेत्रों में गई थीं उनकी तो बात ही दूसरी है। उनको तो दिन-रात हर घड़ी काम करना पड़ता था। आहार-निद्रा त्याग कर उन्होंने आहत सैनिकों की सेवा में कितने कष्ट उठाये हैं उनका वर्णन असम्भव है। उनको स्नान के लिए सप्ताहों जल नहीं मिलता था, खाने को रूखा-सूखा जो मिल जाता उसी को खाकर रहना पड़ता था और ऐसे ऐसे विपत्तिपूर्ण स्थानों में उनको जाना पड़ता था जहाँ प्राण-नाश का प्रति क्षण भय रहता था। इन सब आपदाओं को सहर्ष स्वीकार करके उन्होंने अपने देश की जो सेवा की उसके लिए उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

हमारी भाषा में स्त्री का नाम "अबला" है। परन्तु यह केवल हमारी ही भाषा में है और कहीं नहीं। अमरीका में यदि स्त्रियाँ युद्ध के समय सहायता न देतीं तो न तो सेना को पूरा भोजन मिलता और न आहतों की समुचित सेवा-सुश्रूषा ही होती। इन सहायताओं के बिना सेनाओं का युद्ध-क्षेत्र में जाना व्यर्थ हो जाता।

युद्ध के कारण पाश्चात्य देश की स्त्रियों में अब बहुत परिवर्तन हुआ है। इँग्लेंड में युद्ध के पहले केवल दो लाख स्त्रियाँ कारख़ानों में काम करती थीं। उस समय भारतीय स्त्रियों की तरह अँगरेज़ स्त्रियों का भी केवल एक ही व्यवसाय था—विवाह। अब वहाँ ५० लाख से अधिक स्त्रियाँ कारख़ानों में काम करती हैं। इस प्रकार के काम का फल यह हुआ है कि पहले वे पति, पुत्रादि घर के पुरुषों पर निर्भर रहती थीं, किन्तु अब वे स्वतन्त्र हो गई हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता के बराबर किसी व्यक्ति या देश के लिए और कोई स्वतन्त्रता नहीं है।

कारख़ानों में, मिलों में, काम-काज में बहुत साहस की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु युद्ध के कई वर्षों तक आहतों की सेवा, मोटर साइकल पर चढ़ कर रणभूमि के एक स्थान से दूसरे स्थान को जाकर दूत का काम करना, बड़ी बड़ी पाँच पाँच टन की लोरियों को चला कर युद्ध की सामग्री इधर से उधर ले जाना आदि काम ये कर चुकी हैं। जो ऐसे ऐसे भारी कामों को करती थीं उनके लिए अब रसोई बनाना या कारख़ानों में काम करना तो खेल सा है।

फ्रांस की स्त्रियों ने इँग्लेंड की स्त्रियों से भी अधिक त्याग और परिश्रम किया था। युद्ध का आरम्भ होते ही उनको महासमर की प्रचण्ड ज्वाला में स्वदेश के लिए अपने प्रियजनों की आहुति देनी पड़ी थी। जब शत्रु द्वार पर आ गये और

देश की सम्पत्ति लूटने तथा नाश करने लगे तब फ़्रांस की स्त्रियों ने धैर्यपूर्वक आत्मत्याग करके अपने देश की नाना प्रकार से सेवा की। फ़्रांस की मान-मर्यादा की रक्षा वास्तव में वहाँ की वीर स्त्रियों ही के कारण हुई। वहाँ के पुरुष अपने देश की देवियों के गुण और उनकी मर्यादा जानते हैं। फ़्रांस की स्त्रियाँ हैं भी वहाँ की गृह-लक्ष्मी। वहाँ दूकानों में स्त्रियाँ कोषाध्यक्ष का काम करती हैं और पुरुष बेंचने आदि का। स्त्री की सम्मति बिना व्यापार का कोई काम नहीं किया जाता। व्यापार का काम स्त्रियाँ ही चलाती हैं। स्त्रियाँ अपने देश के धन की रक्षा करती हैं। वे व्यर्थ व्यय नहीं करतीं। साधारण कपड़ों के ऐसे सुन्दर वस्त्र बनाती हैं कि पेरिस का फ़ैशन संसार भर में प्रसिद्ध है। पेरिस में मैं जिस होटल में ठहरा था उसका प्रबन्ध करनेवाली एक महिला थी। उनके दफ़्र की दीवार पर मैंने युद्ध के चार पदक देखे और उनके पास फ़्रांस की एक छोटी सी जातीय पताका टँगी हुई थी। पूछने पर पता लगा कि इस स्त्री के चार पुत्रों को युद्ध में अपूर्व साहस और वीरत्व का काम करने के लिए ये पदक मिले थे। चारों ही ने युद्ध-क्षेत्र में अपने देश की रक्षा के लिए प्राण दे दिये। उनकी माता अपनी प्रिय मातृ-भूमि के लिए उनको अर्पण करने में दुखी नहीं है। वह अपना काम हँस हँस कर करती हैं। दूकानों, कारख़ानों में जहाँ जाइए फ़्रांस की स्त्रियों के मुँह पर मधुर हास्य ही की रेखा पाइएगा। ऐसी ही वीर माताओं और वीर पत्नियों से देश का मुख उज्ज्वल होता है।

रूस की स्त्रियों को अनेक वर्षों से अपने देश के लिए आत्मत्याग की शिक्षा मिल रही है। अपने बादशाह ज़ार के विरुद्ध रूसियों ने जो राज-विद्रोही दल सङ्गठित किये थे उनमें स्त्रियाँ अधिक संख्या में शामिल हुई थीं। रूसी राष्ट्रतन्त्र को जड़ से खोद बहाने के लिए वहाँ के असन्तुष्ट निवासियों ने पिछले वर्षों में जो कुछ किया है उस सबमें स्त्रियों ने सोत्साह कार्य किया है। पुरुषों ही की भाँति रूसी स्त्रियों ने भी स्वतन्त्रता के लिए नाना प्रकार की यातनायें सहन कीं और प्राण तक दे दिये। युद्ध के समय रूसी स्त्रियों ने "Battalion of Death" (यम की फ़ौज) नाम की एक सेना का सङ्गठन किया और रणक्षेत्र में जर्मनों से लड़ कर अपने वीरत्व का परिचय दिया।

युद्ध अब समाप्त हो गया है। क्या गृह-देवियाँ रणवेश त्याग सुन्दर वस्त्र और अलङ्कार पहन घर के प्राङ्गण की नियमित परिधि में आबद्ध रहेंगी? जो युद्ध-क्षेत्र में घुटनों तक कीचड़ में रह चुकी हैं गोलों की वर्षा से निडर हो देश की सेवा कर चुकी हैं ऐसी वीराङ्गनायें क्या अब व्यर्थ के धन्धे नाच-वाद्य आदि में आनन्द प्राप्त कर सकती हैं? क्या उनका सेवा-धर्म, उनका उच्च आदर्श, उनका देश-प्रेम क्षण भर में ही अन्तर्धान हो जायगा?

नहीं। यद्यपि युद्ध समाप्त हो गया तथापि शान्ति के समय में भी उनके लिए देश में बहुत काम है। युद्ध के समय की आवश्यकता के कारण पाश्चात्य स्त्रियों को अनेक प्रकार का शारीरिक परिश्रम करना पड़ा। उनको धनलाभ के लिए नहीं, परन्तु देश-सेवा के लिए कारख़ाने, खेत आदि में काम करना पड़ा। "स्त्री का उचित स्थान घर है, घर ही में है

की शोभा है" आदि बातें युद्ध आरम्भ होते ही उठ गई थीं। वास्तव में स्त्रियों को घर में बन्दी कर रखने का सिद्धान्त असङ्गत भी है। इससे स्त्रियों पर अन्याय होता है और इससे पुरुषों की निर्बुद्धि का परिचय मिलता है। स्त्रियों की स्वतन्त्रता के विचार पाश्चात्य देशों में खूब फैल गये हैं। वहाँ की स्त्रियों के जो सामाजिक बन्धन टूट चुके हैं वे अब फिर जुड़ने के नहीं।

पहले स्त्रियों के जीवन का लक्ष्य था विवाह। विवाह होने पर ही स्त्री का जीवन सार्थक और पूर्ण समझा जाता था। परन्तु विवाह से स्त्री को सदा सुख भी नहीं मिलता। सुख बहुत कुछ परिवार की आर्थिक अवस्था पर निर्भर है। अब अमरीका और दूसरे पाश्चात्य देशों की स्त्रियाँ धनोपार्जन के लिए स्वतन्त्र और शक्तिमान हैं। यदि वे विवाह करें तब तो उनको सुख है ही, परन्तु यदि न भी करें तो कोई कष्ट भी नहीं होता। दूसरे, वे पति के बराबर धन कमाती हैं, इस कारण उनका सम्मान पति को अवश्य करना पड़ता है। घर में इससे शान्ति और सुख की वृद्धि अवश्यम्भावी है। अमरीका के भिन्न भिन्न कारख़ानों में एक करोड़ बीस लाख स्त्रियाँ काम करती हैं। युद्ध के समय इनमें से तीस लाख युद्ध का काम करती थीं। अमरीका में दिन प्रतिदिन स्वावलम्बी स्त्रियों की संख्या बढ़ रही है। पुरुषों के साथ वे उनके बराबर काम करती हैं। उनको बराबर ही वेतन भी मिलता है। इस प्रकार स्वावलम्बी हो जाने के कारण वहाँ की स्त्रियों के चित्त में एक प्रकार का साहस और उत्साह आ गया है।

युद्ध की कठोर शिक्षा और स्वावलम्बन से स्त्रियों को अपनी शक्ति का परिचय हो गया है। उनमें अब नेतृत्व और महान् कामों का प्रबन्ध करने की शक्ति आगई है। इससे समाज को बड़ा लाभ हुआ है। भविष्य में और भी अधिक स्वत्व और स्वतन्त्रता पाकर तथा घर और परिवार की चिन्ता से मुक्त हो अमरीका की स्त्रियाँ अपने देश की और भी अधिक उन्नति कर सकेंगी, यह आशा की जाती है।

युद्ध-समाप्ति के बाद ही अमरीका की स्त्रियों को वहाँ के पुरुषों के समान राजनैतिक अधिकार भी मिल गये। वोट पाते ही उन्होंने समाज-सुधार की तीन परमावश्यक बातें--स्वास्थ्य, शिक्षा और कारख़ानों में मज़दूरों की स्वत्ववृद्धि के नये क़ानून बनाने का उद्योग आरम्भ कर दिया। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए प्रथम तो उन्होंने मद्य और मादक द्रव्यों का विक्रय करना निषेध किया। दूसरे केवल शुद्ध खाद्य द्रव्यों के विक्रय का क़ानून बनाया। इसके अनुसार किसी प्रकार की अशुद्ध चीज़ मिला कर कोई वस्तु कोई मनुष्य नहीं बेच सकता। अब नई पाठशालाओं के स्थापन, विदेशियों की शिक्षा के प्रबन्ध और शिक्षा-प्रणाली की उन्नति के लिए सरकार की ओर से करोड़ों रुपये ख़र्च करवाने के नये नये बिल पास कराने की वे चेष्टा कर रही हैं! कारख़ानों में काम करनेवाली स्त्रियों के स्वास्थ्य, उनकी रक्षा, उनको पुरुषों के समान वेतन, समान घंटे काम आदि के क़ानून पास कराने की भी वे चेष्टा में हैं। इससे प्रतीत होता है कि भविष्य में अमरीका के गार्हस्थ्य जीवन एवं समाज पर वहाँ की स्त्रियों का पूरा प्रभाव पड़ेगा।

रामकुमार खेमका

नपुंसक के आधार पर लिङ्ग-रचना ।

दिव्य धाम से अवतरण करते हुए देवर्षि नारदजी को श्रीकृष्णजी ने किस क्रम से प्रत्यक्ष किया उसे महाकवि माघ ने विश्लेषण के सहित इस प्रकार वर्णन किया है:—

> चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
> ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
> विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
> क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥

वायुमण्डल में स्थित नारदजी की मूर्ति श्रीकृष्ण को प्रथम दर्शन में सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष नहीं हुई। उन्हें केवल यही प्रतीत हुआ कि द्युलोक से प्रकाश की धारा पृथ्वी की ओर आ रही है। जब वह थोड़ी निकट आई और उन्होंने उसे अधिक ध्यान से देखा तब यह ज्ञात हुआ कि वह प्रकाश की धारा नहीं किन्तु कोई मनुष्य है। तो भी दूरी के कारण उन्हें यह निश्चय न हुआ कि वह मनुष्य ही है। क्योंकि नररूपी नारायण भी अवतार धारण करके इन्द्रियों के विषय में नर ही के अनुरूप बन गये हैं। उसके और थोड़ा निकट आने पर जब श्रीकृष्णजी ने उसे अधिक ध्यान से समधिक विचार-पूर्वक देखा तब वे निश्चय कर सके कि पुरुष ही है। तो भी इस बात में धोखा ही रहा कि वे नारदजी हैं। इसी क्रम से देखते देखते जब नारदजी बहुत ही समीप आ गये तब पहचान में आये।

ध्यानपूर्वक देखने से भी बहु-दूरस्थित वस्तु का स्वरूप हृदयङ्गम नहीं होता। वस्तुमात्र का एक सामान्य स्वरूप और एक विशिष्ट स्वरूप होता है। जब हम किसी आदमी को दूर से देखते हैं तब हमें उसका सामान्य स्वरूप देख पड़ता है, जब हम उसके बहुत निकट पहुँच जाते हैं तभी हम उसके विशेष स्वरूप को प्रत्यक्ष करते हैं। अतएव किसी वस्तु के स्वरूप का सामान्य धर्म साधारण प्रत्यक्ष का विषय है, परन्तु उसका विशिष्ट धर्म विशिष्ट प्रत्यक्ष का विषय है। दूर से विशिष्ट धर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता। दूर से आते हुए पशु-समूह को देख कर कोई यह नहीं बतला सकता कि वे गाय हैं या बैल हैं। परन्तु लिङ्ग का भेद समझने के पहले इतनी बात ज़रूर समझ में आ जायगी कि वे गौ हैं। क्योंकि लिङ्ग का स्वरूप विशिष्ट प्रत्यक्ष का विषय है। इसी कारण नैथानियल ब्रैसी हैलरेड (Nathaniel Brassy Hallred) ने अपने बँगला व्याकरण में लिखा है :—

"The authors of this Three-fold division of genders (*Sanskrit*) and of their precedence, appear to have considered the neuter as a kind of *residuum* resulting from the two others: but this doctrine is liable to some objections. For the neuter (or the order of substantives defined by this term) seems to be of a more extensive quality and power than the rest; insomuch that I should hardly scruple to call it a genus of which the masculine and feminine are but the species. For from the whole class of substantives, some are selected to be masculine and others to be feminine; and all which are not thus specified, remain, as the others were previous to their selection, neuter."

"In Latin and Greek we find many

unaccountable refinements of gender, or rather unmeaning applications of a distinction without a difference. It would baffle the most able grammarians to assign a satisfactory reason why *p e c u s pecoris* should be neuter and *pecus pecudis* feminine; and so of a thousand others. Common sense requires that all general terms should avoid such discriminations: and we certainly must allow the construction of those languages to be most rational, in which *flocks* and *herds* are of no gender, but include animals of both. In the same manner, when individuals are mentioned indefinitely, it is absurd to specify the sex. We see an animal at a distance: must we know whether it be a *he-goat* or a *she-goat,* before we venture to pronounce that it is a *goat*? Yet this knowledge must be presupposed in Greek and Latin, or it be granted that the gender in these is redundant and superfluous."

इसका तात्पर्य यह है कि संस्कृत में पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग छाँट लेने के बाद जो कुछ अवशेष रह जाता है वह नपुंसकलिङ्ग है। परन्तु यह सिद्धान्त भ्रमात्मक है। क्योंकि नपुंसक की शक्ति और उसका गुण इतना अधिक है कि उसी को साधारण श्रेणी समझना चाहिए। उसी में से कतिपय संज्ञाओं को पुँल्लिङ्ग और कुछ को स्त्रीलिङ्ग निर्धारित करना ठीक है। इस प्रक्रिया के बाद जो रह जायगा वह उसके पहले भी नपुंसक था और बाद को भी नपुंसक ही रहेगा।

लैटिन और ग्रीक भाषाओं में लिङ्ग की अनेक निरर्थक बारीकियाँ मौजूद हैं। Pecus pecoris क्यों नपुंसक और Pecus pecudis क्यों स्त्रीलिङ्ग होगा— यह पूछने पर बड़े बड़े वैयाकरण तक चक्कर में पड़ जायँगे। ऐसी ही हज़ारों संज्ञाओं के सम्बन्ध में उनकी यही हालत होगी। साधारण ज्ञान से हमें यह प्रतीत होता है कि बिलकुल सामान्य संज्ञाओं में कोई लिंगारोप न करना ही समुचित है। जिन भाषाओं में समूह या यूथ वाचक संज्ञा का कोई लिङ्ग नहीं है और जिनमें उभय लिङ्गी जीवों का अन्तर्निवेश होता है उनको सर्वश्रेष्ठ भाषाओं में गिनना ही ठीक है। क्योंकि समूह में दो लिङ्ग के जन्तुओं के न होने से भी उसकी सामान्य अनुभूति के साथ ही साथ जन्तुओं का लिङ्गरूप विशिष्ट धर्म का ज्ञान हो नहीं सकता। जब मनोविज्ञान के अनुसार किसी वस्तु की भेद-कल्पना असम्भव है तब व्याकरण ही में उसके लिए भेदकल्पना क्यों हो? दूर से आता हुआ छाग छाग ही है। उसका कोई लिङ्ग नहीं है। समीप आने पर उसे ध्यानपूर्वक देखने से मालूम होगा कि वह बकरा है या बकरी है। यह ज्ञान ग्रीक, लेटिन तथा सर्व भाषा ही में सर्वप्रथम होगा। क्योंकि मानसिक चिन्ताविकाश का क्रम यही है कि प्रथम प्रत्यक्ष से अनुभूत वस्तु का लिङ्ग बोध नहीं होगा। यदि इस प्रत्यक्ष के विषय-भूत वस्तु के नामकरण में लिङ्ग का उपादान रह जाय तो यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि वह निरर्थक तथा अतिरिक्त है। ग्रीक तथा लेटिन की बात कह कर सत्य का अपलाप नहीं छिपाया जायगा।

बँगला में ऐसे बहुत शब्द हैं जो अलिङ्गक या अविशिष्ट-लिङ्गक कहे जा सकते हैं। सामान्य प्रत्यक्ष के विषय-भूत असम्पूर्ण वस्तु की जो संज्ञा है उसी के आधार पर विशिष्ट प्रत्यक्ष के विषयभूत सम्पूर्ण वस्तु की संज्ञा निश्चित होती है। छाग-वाचक 'छागल' शब्द में कोई विशिष्ट लिङ्ग की अनुभूति नहीं

है। पुँल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग के विशिष्ट धर्म के वाचक के लिए सामान्य प्रत्यक्ष के आधार 'छागल' शब्द के साथ पुँल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग का प्रत्यय जोड़ा जाता है। इसी उपाय से गढ़े हुए 'छागला' तथा 'छागली' शब्द में पुँस्त्व व स्त्रीत्व का सविशेष परिचय है। वैसे ही—हाँस, हाँसा, हाँसी; बामुन, बामना, बामनी; नापित, नापते, नापतिनी; English, goat, he-goat, she-goat, fowl, he-fowl, she-fowl, servant, man servant, maid-servant, हिन्दी में भी मुर्ग़, मुर्ग़ा, मुर्ग़ी।

इस विषय में द्रविड़ भाषा में उत्तम व्यवस्था है। उसमें संज्ञा-शब्दों की दो श्रेणियाँ हैं—महत् श्रेणी तथा अमहत् श्रेणी। चिन्ता एवं विचारशक्ति-सम्पन्न पदार्थ और जीवों के नाम महत् श्रेणी के अन्तर्भुक्त हैं। जिन प्राणियों या पदार्थों में विचारशक्ति नहीं है वे अमहत् श्रेणी के अन्तर्गत गिने जाते हैं। अमहत् शब्दों में लिङ्ग नहीं माना जाता। जिसको विचारशक्ति ही नहीं है उसका लिङ्ग क्यों माना जायगा? सुतरां इन भाषाओं में शब्द-मात्र ही अलिङ्गक हैं। और उन्हीं अलिङ्गक शब्दों के आधार पर पुँल्लिग या स्त्रीलिङ्ग शब्द गढ़े जाते हैं। विशेषण शब्द तथा क्रियापद में कोई लिङ्ग नहीं माना जाता। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, ज़ेन्द, इँगलिश, बँगला किसी भाषा में क्रिया में लिङ्ग नहीं होता। तब हिन्दी में क्यों क्रिया का लिङ्ग माना जाता है? प्राचीन अरबी में क्रिया का लिङ्ग था। यथा 'कतबूता' तूँ (पुं) लिखा है; 'कतबूति' तूँ (स्त्री) लिखी है; 'कतबआ' He has written 'कतबआत्' (She has written) अरबी की यही रीति हिन्दी में आ घुसी होगी। संस्कृत से इसका विरोध नहीं हुआ; क्योंकि संस्कृत 'क्त' प्रत्ययान्त विशेषण पद से हिन्दी का अतीत प्रत्यय निष्पन्न हुआ है।

आर्य भाषाओं में अँगरेज़ी भाषा इस विषय बहुत अग्रसर होगई है। इस भाषा में जड़ पदार्थों लिङ्गारोप नहीं होता है। सूर्य देव पुँल्लिङ्ग और च देव स्त्रीलिङ्ग माने जाते हैं। क्योंकि ग्रीक पुराण ग्र के अनुसार ये भ्राता और भगिनी हैं। परन्तु सा रण भाषा में ये नपुंसक लिङ्गक या अलिङ्गक कवित्व या गम्भीर भाव प्रकाशक भाषा में जड़ पदा का लिङ्ग तथा चिन्ताशीलता आरोपित होते श्रोतृवर्ग या पाठकवर्ग की भावोन्मादता के लिए कवि या भाव-प्राण भाषा का उपयोग होता है। इस प्र के वर्णनों में जड़ वस्तुओं को भी चैतन्य प्राणियों भाँति सम्बोधन किया जाता है। यह कौ उत्तम है और सब भाषाओं में अनुकरण योग्य है।

हिन्दी बोली में "Train आता है" शुद्ध परन्तु साहित्यिक भाषा में नहीं। इसका क्या का है? जब तक जड़ पदार्थों में चिन्ताशीलता आरोप नहीं होगा तब तक उन्हें नपुंसकलिंगक अलिंगक समझना ही उचित है। गम्भीर भाव प्र शन के समय जड़ वस्तुओं में विचारशीलता पुं-स्त्रीत्व का आरोप करने से भाषा में भावप्रका के लिए अद्भुत शक्ति उत्पन्न होगी और नि लिङ्ग-कल्पना की रीति का त्याग करने से भाषा स्वाभाविक विकास में त्रुटि न होगी।

अतएव हिन्दी के प्रेमी पाठको! हमें अपनी का संस्कार करना चाहिए। अनियत-लिङ्गक पदार्थों को अनित्य-लिङ्गक समझना चाहिए। सा रण भाषा में इन पर लिङ्ग का आरोप न क

चाहिए। गम्भीर भाव प्रकाशन के लिए लिङ्ग को उपयोगी उपादान बना कर रख देना पड़ेगा।

वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय

शक्ति और शाक्त-मत ।

(३)

मेरी समझ में यह बात अभी सम्भव नहीं है कि किसी विशेष तान्त्रिक सम्प्रदाय के सिद्धान्त तथा उसका उपासना-प्रकार निश्चय-पूर्वक पूर्ण रीति से उपस्थित किया जा सके और यह बतलाया जा सके कि वह दूसरे सम्प्रदाय से किन किन बातों में भिन्न है। इस समय तो पूर्ण रीति से यह भी बताना असम्भव है कि असली शाक्त कौन थे। उनकी उपशाखाओं तथा शैवसमुदाय के साथ उनके सम्बन्ध और भेद का स्वरूप कैसा था। इस तरह बङ्गाल के कौल सामान्य तथा ब्रह्मज्ञानी शाक्त समूह के अन्तर्गत हैं, परन्तु सम्मोहन तन्त्र में लिखा है, जैसा ऊपर एक श्लोक में उल्लेख किया गया है, कि शाक्त और कौल भिन्न भिन्न हैं। सम्भवतः उसका अर्थ कौल नामधारी विशेष शाक्तों के समूह का साधारण शाक्तों से पार्थक्य सूचित करना हो। मुझे यह बात मालूम है कि काश्मीर में कुछ कौल अपने को शैव कहते हैं। इन तथा ऐसे ही दूसरे प्रश्नों की मीमांसा के लिए अभी तन्त्रिक ग्रन्थों के और अधिक अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। इस समय में केवल पङ्कोद्धार-मात्र कर रहा हूँ और वह भी इस आशा से नहीं कि मैं कीचड़ से ईप्सित वस्तु का उद्धार कर सकता हूँ, किन्तु इसलिए कि मैं केवल इस कार्य्य का श्रीगणेश भर कर रहा हूँ, जिसे दूसरे लोग पूर्ण करेंगे।

जिन्होंने तन्त्र-शास्त्र का मनन नहीं किया उन्होंने यह नहीं जाना कि आज-कल के हिन्दू-धर्म का क्या स्वरूप है। यह विषय भारतीय ज्ञान का एक महत्त्व पूर्ण अङ्ग है, अतएव योग्य विद्वानों को चाहिए कि वे इस का अनुशीलन करें। इस सम्बन्ध में मैंने जो लिखा है वह अज्ञानियों को ऊटपटांग आलोचना करने से सावधान करने के लिए पर्याप्त है। इस समय केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति शक्ति का मन्त्र जपता है और उसके यन्त्र की अर्चना करता है वही शाक्त है। इस प्रकार के उपासकों के कई एक सम्प्रदाय भी हैं। हम क्या कर सकते हैं तथा पहले हमें क्या करना चाहिए, इसके लिए हमें शाक्त दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। शाक्त-दर्शन ज्ञेय से अज्ञेय का मार्ग बताता है। शाक्त-मत अर्थात् शक्तिवाद जैसा कि इस समय अस्तित्व में है कोई नवीन वस्तु नहीं है, किन्तु वह अपने पूर्ववर्ती विभिन्न मतों का विकसित तथा मिश्रित रूप है।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि शाक्त-मत अद्वैतवाद है। हम यह बात इसलिए कह सकते हैं कि वह बङ्गाल में फूला फला जो प्राचीन गौड़ देश होने के कारण अद्वैत-वाद तथा तन्त्र-शास्त्र का गुरु है। गौड़पादाचार्य्य, अद्वैत-सिद्धि के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती, रामचन्द्रतीर्थ भारती, चित्सुखाचार्य तथा दूसरे लोग गौड़देश ही के थे। मुझे ब्रह्मपरायण बङ्गाली लोगों की मनोवृत्ति अद्वैतवाद ही की ओर प्रवृत्त प्रतीत होती है। शाक्त आगम तथा अद्वैत शैवागम में सम्पूर्ण अद्वैतवादियों के लिए उच्च कोटि की अर्चना का विधान है। शाक्तों के अद्वैत सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण देना बड़ा ही जटिल और रहस्यपूर्ण कार्य है। यह विषय इस लेख की सीमा के बाहर का है। मैं यहाँ केवल यह उल्लेख कर सकता हूँ कि शाक्त-तन्त्रों में चौंसठ तत्त्व बताये गये हैं। ये तत्त्व अग्नि, सूर्य्य और चन्द्र की दस, बारह तथा सोलह कलाओं से निर्मित हुए हैं। ये सब क्रमपूर्वक कामकला के स्वरूप हैं। कामकला के जो अग्नि, सूर्य्य और सोम रूप हैं उनकी क्रमपूर्वक दस, बारह और सोलह कलाओं से ६४ तत्त्वों की सृष्टि हुई है; और इसके सिवा सदाशिव की १६, ईश्वर की ६ और रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा की दस दस से। ५१ कलाएँ या मात्रिकाएँ जो ५१ वर्णों के सूक्ष्म रूप हैं, इन्हीं ६४ तत्त्वों के भाग हैं। ये सब कुण्डली की वे ५१ गुड़ड़ियाँ (Coils) हैं जो बिन्दु से लेकर श्रीमात्रिकोत्पत्ति सुन्दरी तक अवस्थान करती हैं। जो

शाक्त मद्य का ग्रहण करते हैं। वे इनकी पूजा मद्य-घट में करते हैं।

शाक्तों का दिव्य सिद्धान्त यह है कि वे ईश्वर को मातृरूप से देखते हैं। वे उस शक्ति को ईश्वर मानते हैं जो इस सृष्टि की जननी, पोषणी तथा संहारिणी है। शाक्त उपासकों का यही विश्वास है। यद्यपि सम्मोहन-तन्त्र में शङ्कर को बौद्धों के विजेता रूप में उच्च स्थान दिया गया है अर्थात् वे शिव और उनके पांच शिष्य पञ्च महाप्रेतों के अवतार माने गये हैं, तो भी उपासना-विधायक शास्त्र आगम ग्रन्थों में मायावाद की चर्चा नहीं है जो शङ्कर के मतानुसार एक भव्य सिद्धान्त है। शाक्त उपासक के मत में माया न अचैतन्य है, न यथार्थ है, न अयथार्थ है और न यथार्थ अयथार्थ ही है। वह ईश्वर रूप ब्रह्म से संयुक्त अवश्य है, पर स्वयं ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म माया के सिवा और किसी से संयुक्त नहीं है। शाक्त के लिए माया शक्ति रूप है। शक्ति अपने आपको चेतना से आवृत्त किये है और स्वयं शक्ति होने के कारण वह चिद्रूपिणी है। जो कुछ शाक्त की दृष्टि-पथ में आता है उसे वह मातामय समझता है। सब कुछ चैतन्यमय है। शाक्तों की साधना का यही लक्ष्य है। इस विषय की मीमांसा में यहाँ नहीं करूँगा। जब सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब तर्क के लिए जगह नहीं रह जाती। उस स्थिति के पूर्व तक मनुष्य माया के अधीन बना रहता है और उसे वही करना और सोचना पड़ता है जिस बात की वह प्रेरणा करती है। इस ईश्वरीय चेतना के अस्तित्व का वास्तव में अनुभव करना दार्शनिक रीति से उसकी व्याख्या करने की अपेक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आदि-जननी पहले अपने उपासक की माता के रूप में प्रकट होती है, फिर उसकी स्त्री के रूप में और तब कालिका के रूप में। वह वृद्धावस्था में रोग और मृत्यु के रूप में प्रकट होती है। वह यही है जो सर्वसंहारिणी शक्ति के रूप में इस संसार में अवतीर्ण होती है। इस समय का जगद्व्यापी महायुद्ध इसी का स्वरूप समझना चाहिए। ऐसे रूप की भयङ्कर सुन्दरता समझ में नहीं आती। और इसी कारण हम मदरास में एक ईसाई पादड़ी को अभी हाल में यह कहते पाते हैं कि देवी क्या है वह पिशाचिनी है। यह बात उसने चामुण्डा मूर्ति को देखने पर भयभीत होकर कही थी।

जैसे अद्वैतवादी किसी सम्प्रदाय में सीमाबद्ध नहीं होते वैसे ही शाक्त लोग भी। उनका कहना है कि शाक्त-मत सङ्कुचित साम्प्रदायिक भावों से स्वतन्त्र है। दूसरी बात यह है कि अन्य आगमों के सदृश शाक्त-मत में सब जातियों और स्त्री-पुरुष दोनों के लिए विधान निर्धारित है। सच्चे वैदिक सिद्धान्त चाहे जो हों, पर वैदिक लोग सब किसी को अपने धर्म में नहीं दीक्षित करते। अस्तु वे लोग स्त्रियों और शूद्रों को अपने धर्म से अलग रखते हैं। यह बात समझ लेना सरल है कि वे सम्प्रदाय जो अनार्य कहे जाते हैं ऐसा क्यों नहीं करते। शाक्त-मत का सबसे अधिक उज्ज्वल स्वरूप उसका स्त्री-जाति का सम्मान है। जो लोग जगज्जननी की उपासना करते हैं उनके लिए यह बात स्वाभाविक ही है, क्योंकि स्त्री-मात्र उसी जननी की विग्रह हैं। सर्वोल्लास में लिखा भी है:—स्त्रियो देवः, स्त्रियो प्राणः। अम्बादेवी की विग्रह स्त्री है, अतएव तन्त्र-ग्रन्थों में इस बात का आदेश है कि स्त्रियों और कुमारिकाओं का सम्मान और उनकी पूजा हो। उनमें इस बात की स्पष्ट आज्ञा है कि उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचाई जाय। अतएव सती-प्रथा जैसी बातें भी वर्जित हैं। यहाँ तक कि मादा पशु का बलिदान करने का भी निषेध है। महानिर्वाण-तन्त्र में विवाह के पहले कन्याओं के पठन-पाठन की भी व्यवस्था है। तन्त्र-ग्रन्थों में स्त्रियों को मन्त्रोपदेश करने का अधिकार दिया गया है। स्त्रियाँ भी गुरु-पद पर अधिष्ठित हो सकती हैं, यह प्रथा शाक्त ही मत में है। एक इसी बात से उनके सम्मान की थाह मिल सकती है। यह एक ऐसी बात है जो पाश्चात्य देशों में भी नहीं है। लिखा है कि माता से दीक्षा लेना पुरुष की अपेक्षा अठगुना अधिक फलदायक है। ज्ञानी शाक्त की दृष्टि में सम्पूर्ण जगत् स्त्री-मय है। अद्वैतभाव उपनिषद् में लिखा है "अहम् स्त्री"। अतएव इस समय हम आदि-जननी की अर्चा केवल एक इसी बात से कर सकते हैं कि हम उन दोषों को दूर कर दें जिनका समर्थन न तो प्राचीन शास्त्रों के प्रमाणों से ही हो सकता है और न आधुनिक समाज-

विज्ञान से ही। स्त्रियों का सम्मान करना, उन्हें प्रसन्न रखना, शिक्षित करना और उनकी समुन्नति करना ही स्वयं उपासना का एक उच्च प्रकार है। स्त्रियों के सम्मान की तन्त्र-ग्रन्थों में स्पष्ट व्यवस्थायें पाई जाती हैं। महानिर्वाण-तन्त्र का यह आदेश है कि जो कौल घृणा के कारण चाण्डाल या यवन या स्त्री को दीक्षा देने से इन्कार करता है वह पतित है और अधोगति को प्राप्त होता है। शाक्त-मत में कृत्रिम तथा काल्पनिक नहीं किन्तु वास्तविक अयोग्यता की बुनियाद के बिना कोई भी व्यक्ति किसी बात से बहिष्कृत नहीं किया जाता।

एक प्राच्यविद् अमरीकन आलोचक 'तान्त्रिकदर्शन' की निरर्थकता सिद्ध करते हुए लिखता है कि "वह केवल धार्मिक स्त्रीत्ववाद है। उसमें सिवा पागलपन के और कुछ नहीं है। उसने प्राचीन वेदान्त को स्त्रीत्ववादमय कर दिया है। यह मत suffragette अद्वैतवादियों के लिए है। उसका यह सिद्धान्त कि स्त्रीत्व-वाद पहले का है और उसमें पुरुषवाद शामिल है एवं यह स्त्रीत्ववाद सर्वोच्च दैवी ज्ञान है, बिलकुल निराधार है।" तान्त्रिक-दर्शन की "निरर्थकता" एक व्यक्तिविशेष की सम्मति है, अतएव इस पर कुछ कहना अनावश्यक है। विशेष कर के इस बात से भी कि जो प्राच्यविद् लोग अपर्याप्त ज्ञान के कारण स्वयं ही इस सम्मति को पहले ही से मान चुके हैं वे उसे सहज में परित्याग नहीं करेंगे। परन्तु इस आलोचना की बुनियाद ढूँढ़ने पर मालूम होगया कि वह स्वयं निरर्थक है। यदि उपर्युक्त आलोचना अज्ञानता के कारण न हुई होती तो आलोचक यह बात लिखना अनावश्यक न समझता कि आकाश में एक स्त्री suffragette है या कोई और ही है। वह स्वर्गीय स्त्री-समाज के कुछ सदस्यों से घिरी रहती है और उसके द्वारा जगत् के पुरुष-समुदाय का शासन होता है। पर यामल-ग्रन्थों में लोगों के ज्ञान के लिए स्पष्ट लिख दिया गया है—वह न स्त्री और न पुरुष है, दो में से एक भी नहीं है। अमरीकन अध्यापक लीस्टरवार्ड तथा दूसरे लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि तन्त्रों में स्त्री-सम्बन्धी सिद्धान्त को जो महत्त्व दिया गया है उसका शाक्त-मत के सिद्धान्तों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हम यहाँ विज्ञान या समाज-शास्त्र के सिद्धान्तों का निराकरण नहीं कर रहे हैं। पाश्चात्य आलोचकों की यह एक साधारण भूल है कि वे भारतीय धर्म-ग्रन्थों को भौतिक अर्थों में ला घसीटते हैं। इसी कारण वे उसका रहस्य नहीं समझ पाते। शाक्त-मत का सम्बन्ध उन आध्यात्मिक सिद्धान्तों से है जो पूर्वकाल में विद्यमान थे और जिनसे स्त्री-पुरुष दोनों की उत्पत्ति हुई है। जीव-वर्ग के किसी भी रूप में स्त्री पुरुष से पूर्ववर्ती है। इस प्रश्न से शाक्त-मत का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और न वह यही कहता है कि स्त्री-सम्बन्धी सिद्धान्त एक श्रेष्ठ दैवी सिद्धान्त है। पुरुष शिव स्त्री शिव ही के समान है। क्योंकि दोनों एक ही वस्तु हैं। प्राच्यविदों को मालूम ही होगा कि सांख्य में प्रकृति स्त्री वाची है और पुरुष पुरुष वाची। वेदान्त में भी माया तथा देवी स्त्री-लिङ्ग माने गये हैं। शक्ति न तो नर है और न नारी ही है। नर-नारी का सिद्धान्त उस पर नहीं लागू होता। यह बात समाज-शास्त्र की दृष्टि से कही गई है; क्योंकि इसी शास्त्र में ये शब्द अपने यथार्थ अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। शक्ति चिह्नरूप में स्त्री है, क्योंकि वह उत्पादन करती है। शिव, जहाँ तक चित्रूप को व्यक्त करता है, निष्क्रिय है। यद्यपि सृष्टि में ये दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं। परमेश्वर निर्गुण शिव है जो न तो पुरुष है और न स्त्री है। शाक्त-मत के सम्बन्ध में ऐसी भ्रमपूर्ण सामान्य सम्मतियों की उपस्थिति से यह किसी तरह सम्भव नहीं था कि उसके अधिक सूक्ष्म विचारों की शङ्कर के माया-वाद या सांख्य-दर्शन के समक्ष प्रशंसा होगी। शक्ति-वाद का स्त्री-वाद से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

शाक्त-धर्म की स्वाभाविक विशेषताएँ उसका अद्वैत-वाद, ईश्वर को मातृत्व रूप प्रदान, उसकी असाम्प्रदायिकता तथा स्त्रियों और शूद्रों के लिए भी विधान की व्यवस्था तथा उसकी साधना जिसका अवलम्बन करने से उसकी शिक्षाएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं, इत्यादि महत्त्व-पूर्ण बातें ही हैं।

जैसा कि मैंने कई बार उल्लेख किया है, शाक्तों की साधना अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। परन्तु आज-कल लोगों ने उसकी उपेक्षा कर दी है। आगम और तन्त्र-ग्रन्थों को ऊँचा आसन इसी साधना प्रक्रिया की बदौलत

ही प्राप्त हुआ है। धर्म के सम्बन्ध में वार्तालाप करना केवल ज्ञानात्मक व्यायाम है। आत्मा के सम्बन्ध के भारी भारी उद्गार किस अर्थ के हैं जब कि उनका कथन करनेवाले एक दूसरे को कष्ट देते हैं, घृणा से देखते हैं और असहायों की सहायता नहीं करते। दया ही धर्म है। धर्म एक प्रकार की व्यवहार्य क्रिया है। मन और शरीर दोनों शिक्षित करना चाहिए। जैसे शारीरिक और मानसिक व्यायाम होते हैं वैसे ही आध्यात्मिक भी। शाक्त-मत के अनुसार प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री में शक्ति की एक विशाल-राशि अन्तर्निहित रहती है। शक्ति शब्द शक् धातु से बना है, जिसका अर्थ किसी कार्य के करने की शक्ति रखना है। स्त्री-पुरुष दोनों शक्ति ही हैं। शक्ति के सिवा वे और कुछ नहीं हैं, क्योंकि शक्ति का स्वरूप चेतना है और मन और शरीर शक्ति ही हैं। तब यह प्रश्न होता है कि शक्ति जागृत कैसे की जाय। शाक्त-धर्म में यह साधना का कार्य बताया गया है। आगम एक प्रकार का व्यावहारिक दर्शन है। मेरे बङ्गाली मित्र अध्यापक प्रमथनाथ मुखोपाध्याय ने ठीक ही कहा है कि आध्यात्मिक जगत् आज एक ऐसे दर्शन का इच्छुक हो रहा है जो केवल तर्क नहीं सिखाता, किन्तु प्रयोग। यह क्रिया है। जिन रूपों में साधना पहुँचती है, वे विश्वास, स्वभाव और योग्यता के अनुसार अवश्य ही बदलेंगे। अस्तु ईसाइयों के कैथलिक सम्प्रदाय में हिन्दू-धर्म की भांति पूर्ण साधना विद्यमान है। उसके सैक्रामेन्ट (संस्कार), गिरजे, धूप, दीप, घंटे आदि उपचारों के सहित खानगी उपासना, प्रतिमा (इसी कारण ये लोग मूर्तिपूजक कहलाते हैं), भक्ति-सम्बन्धी क्रियाएँ तथा उसी तरह की दूसरी बातें (व्रत), प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल का त्रितय (संध्या), माला, कवच धारण, तीर्थयात्रा, व्रत, संयम, तपस्या, संन्यास, ध्यान, समाधि इत्यादि जो बातें इस धर्म में प्रचलित हैं उनसे उपर्युक्त कथन सिद्ध ही हो जाता है। इनके सिवा दूसरी छोटी छोटी ऐसी बातें हैं जैसे कि शान्ति अभिषेक (Asperges) जिनके सम्बन्ध में मैं यहां अधिक लिखना नहीं चाहता। परन्तु धर्माध्यक्ष, जो कैथलिक ईसाई-धर्म के गुरुपद पर अधिष्ठित होता है, मेरी माता की उपासना, जिसके कारण स्वामी विवेकानन्द इटालियन कैथलिकों को शाक्त कहते थे, और कम्यूनियन सर्विस में मद्य-रोटी के उपयोग का उल्लेख मैं कर सकता हूँ। यद्यपि मेरी माता की भक्ति उसी प्रकार की जाती है जैसे यहां देवी की। परन्तु वह देवी नहीं है, क्योंकि वह ईश्वर नहीं है। वह ईश्वर की प्रजा है जिसके द्वारा भगवान् ने अवतार लिया है। कम्यूनियन सर्विस में मद्य और रोटी ईसा के रक्त और मांस के रूप में परिग्रहीत होती है। इसी प्रकार शाक्त लोग तारा को भी द्रव्यमयी अर्थात् द्रव्य रूप में ग्रहण करते हैं। कैथलिक सम्प्रदाय में (यद्यपि पहले दूसरी ही प्रथा थी) उपासक-वर्ग अब मद्य नहीं ग्रहण करता, केवल रोटी ही स्वीकार करता है, परन्तु उनका आचार्य दोनों वस्तुएँ ग्रहण करता है। इस विषय का बाह्यरूप यद्यपि एक सा ही है तो भी उसका भीतरी अर्थ भिन्न है। जो लोग यह कहते हैं कि खाने पीने से अर्चना का कोई सम्बन्ध नहीं है उन्हें यह याद रखना चाहिए कि स्वयं ईसा ने अपने प्रसिद्ध संस्कार को भोजन से ही प्रारम्भ किया था। ये बातें द्वैतवादियों की हैं। अद्वैतवादी अपने प्रत्येक कार्य्य को यज्ञ का रूप प्रदान करता है। (Agape) अर्थात् प्रीति-भोज एक प्रकार की चक्रपूजा है। यह प्रारम्भ में प्रचलित थी, परन्तु पीछे से कई एक बुराइयों के उठ खड़ी होने के कारण बन्द कर दी गई। तो भी इस समय भी कुछ साधारण ईसाई सम्प्रदायों में यह प्रथा प्रचलित है। तन्त्र-शास्त्र की कुछ दूसरी बातें ऐसी हैं जिनका मेल कैथलिक ईसाइयों की उपासना में नहीं मिलता। वे उनके न्यास और यन्त्र-पूजा आदि हैं। ईसाइयों में इन क्रियाओं का अस्तित्व नहीं है। प्रार्थना से मन्त्रों की तुलना हो जाती है और शाक्तों के मुद्राओं का भी मेल ईसाइयों की उसी प्रकार की प्रक्रियाओं से हो सकता है, परन्तु जितने अधिक मुद्रा शाक्तों में प्रचलित हैं उतने ईसाइयों में नहीं हैं। किसी समय में इन बातों का उल्लेख विस्तार के साथ करूँगा। कैथलिक ईसाइयों और भारतीय तान्त्रिकों में कितना अधिक साम्य है यह सिद्ध करने के लिए हमारा उपर्युक्त विवेचन इस समय के लिए पर्याप्त है। इन्हीं बातों के कारण नव संस्कृत ईसाई सम्प्रदायों ने कैथलिक सम्प्रदाय को मूर्तिपूजक ठहरा कर निन्द्य बताया है। यह बात ज़रूर

ठीक है कि कैथलिक सम्प्रदाय सनातन की अपनी प्रथाओं का अनुसरण बराबर करता चला आया है, परन्तु इस बात के लिए उसकी निन्दा उचित नहीं कही जा सकती। हिन्दुओं की वह साधना जिसे उन्होंने प्रस्फुटित किया था आगम के तन्त्र-ग्रन्थों में वर्णित है। तब ऐसी कोई बात नहीं कि हिन्दू लोग अपनी साधना को विकसित या उसमें परिवर्तन क्यों न करें अथवा नई साधनाओं का विधान नये सिरे से क्यों न तैयार करें। परन्तु मुख्य बात यह है कि उन्हें अपने इन नवीन संस्कारों को साधना का रूप देना होगा। किसी भी पद्धति को फलवती बनाने के लिए सबसे पहले यह बात आवश्यक है कि प्रयोग करके उसका अनुभव प्राप्त किया जाय। अपने ऐसे ही संस्कारों तथा सुव्यवस्था के कारण पश्चिम में कैथलिक धर्म आज दिन भी जीवित है और 'सुधारों' द्वारा नित्य नये सम्प्रदायों के जन्म लेने एवं उनके शीघ्र ही विनष्ट हो जाने की घटनाओं के समक्ष अपने स्थान पर वह चट्टान की सदृश अटल है। वह इसी प्रकार भविष्य में भी बना रहेगा जब वर्तमान समय के नवीन सम्प्रदाय एक एक करके काल के गाल में समा जायँगे। सारी वस्तुएँ अपने सत्य गुण ही की बदौलत चिरस्थायी रहती हैं। जिस विशेष सत्य का उल्लेख मैंने यहाँ किया है वह यह है कि कोई भी धर्म हो, वह केवल स्तुति-पाठ के बल ही पर क़ायम नहीं रह सकता। सत्य ही की बदौलत हिन्दू-धर्म भी आज जीवित है।

इस प्रकार के कथन का यह मतलब नहीं है कि इन में से कोई भी, जैसा कि उनका वर्तमान रूप है, प्रलय पर्यन्त क़ायम रहेगा। पश्चिम की हो चाहे पूर्व की हो संस्कृत सम्प्रदाय, जब उसका विचार मनुष्य के सम्बन्ध में किया जाता है, उस सत्य का अपूर्ण व्यक्तीकरण है जो समझ में नहीं आया है और जिसका दुष्प्रयोग हुआ है। जैसे कि मनुष्य ज्यों ज्यों अध्यात्म दृष्टि से ऊपर को चढ़ता है त्यों त्यों वह किसी रूढ़ि विशेष में कम निर्भर रहने लगता है। जो भूलें ऐसे सम्प्रदाय करते हैं उनमें से एक यह है कि वे विषय के एक ही पहलू का विचार करते हैं। इसके सिवा वे यह कल्पना कर लेते हैं कि सब मनुष्यों की अभिरुचि एक ही प्रकार की होती है। आगम में ऐसी भूल नहीं है' जो उपासक योग-साधना के अधिकारी नहीं हुए उनके लिए भी वह पूर्ण विधान उपस्थित करता है। योग-साधना से उपासक उस स्थान को पा लेता है जिसके कारण कुलार्णव के अनुसार वह ज्योति वर्णाश्रमी कहलाता है। इस पद की प्राप्ति के बाद वह सारी रूढ़ियों के बन्धन से छूट जाता है और निराकार में लीन हो जाता है।

बौद्ध लोग ब्राह्मण धर्म को शीलव्रत परामर्श अर्थात् कर्मकाण्ड की उपयोगिता का विश्वास करानेवाला कहते हैं। वह ऐसा है भी और बौद्ध-धर्म भी पहले ऐसा ही था, परन्तु महायान सम्प्रदाय का संगठन होने पर वह वज्रयान-मत की पूर्ण तान्त्रिक साधना के साथ समाप्त हो गया। मानव-भावनाएँ ऐसी होती हैं जो दबाई नहीं जा सकतीं। उस दिन हिन्दू-धर्म का लोप हो जायगा जब उसकी साधना (चाहे उसका जो रूप हो) का अस्तित्व मिट जायगा और तत्सम्बन्धी कोरी दार्शनिक तथा ऐतिहासिक बातें ही शेष रह जायँगी। शक्तिवाद को छोड़ कर शाक्त-तन्त्र-शास्त्र का मुख्य महत्त्व इस बात में है कि वह साधना की आवश्यकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और उस साधन को प्रदान करने का दावा करता है जिससे सब कोई, चाहे वे जिस वर्ण के हों और चाहे वे स्त्री हों, या पुरुष हों, वेदान्त की शिक्षाओं को व्यवहार में परिणत कर सकते हैं।

परन्तु बिना जाँच और परीक्षा किये हुए कोई बात अन्धवत् मान लेना ठीक नहीं है। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में जो कुछ मैंने लिखा है उसे भी न मानना चाहिए। जो बातें मैं जानता हूँ उन्हीं का वर्णन मैंने किया है। किसी बात का विचार करना मनुष्य का स्वत्व है। तदनुसार ही मैंने किया है। जो लोग शाक्त हैं वे अपने मत के सम्बन्ध में मेरे विचार पढ़ कर प्रसन्न हो जायँगे। परन्तु यह कल्पना न करना चाहिए कि कोई बात केवल प्राचीन होने के कारण अवश्यमेव सत्य है। यह अत्यन्त ही भ्रमपूर्ण सिद्धान्त है। विज्ञान के निष्कर्ष जब देखो तभी बदला करते हैं। हाल के अनुसन्धानों से उसके दर्प का प्रवाह स्थिर हो गया है और अब उसने अपने आप अपनी प्रभुतासूचक घोषणाएं बहुत ही अधिक

कम कर दी हैं, जिनसे हम लोगों में से कुछ पहले अधिक तङ्ग हुआ करते थे। अनेक लोग ऐसा समझते हैं कि नत-मस्तक होना आध्यात्मिक गुरु ही के समक्ष समुचित है। कुछ लोग ऐसा कहेंगे कि अपने लिए अपना ही विचार भला है। जीवन का उत्कृष्ट ध्येय दर्शनों का अनुशीलन ही है, परन्तु यह भी लोगों को जांच लेना चाहिए कि जो बात स्वीकार करने के लिए निर्दिष्ट की गई है वह तर्क-संयुत है या नहीं? यह बात प्रसिद्ध है कि इससे अधिक और कौन बात असम्भव होगी कि अमुक बात को दार्शनिक मानता था, इसलिए वह ठीक है। हममें से प्रत्येक को प्रत्येक बात परीक्षा करके ही स्वीकार करना चाहिए। यदि हमने अपना काम ईमानदारी से किया है तो हमें हमारी सम्मति के लिए कोई निन्दा नहीं कर सकता। हमें सब बातों की परीक्षा करने का स्वत्व है। श्रुति कहती है—मन्तव्यः श्रोतव्यः। मनु ने कहा है—यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः। अन्त में जो कुछ है, अनुभव है और वही शाक्त भाषा में सोहम् है।

देवीदत्त शुक्ल

गुरु-दक्षिणा।

(१)

अक्षुण्ण शासन जब हमारा न्यायपूर्वक था यहाँ
संसार यह तब सो रहा था दुष्ट-दल भी था कहाँ?।
पर भारतीयों का यहाँ जब से महाभारत हुआ
तब से निबल भारत हुआ आरत हुआ ग़ारत हुआ॥

(२)

पापी हुआ सम्राट् जब तब तेज विप्रों का घटा
फिर क्षत्रियों ही के करों से कण्ठ विप्रों का कटा।
होता न क्यों गुरुघात गुरु ने शिष्य को जब दुख दिया
कब कहाँ दुखदायियों को सभ्य ने ही सुख दिया?॥

(३)

थे साथ द्रोणाचार्य के कौरव तथा पाण्डव खड़े
थे बाण-विद्या सीखने आचार्य से छोटे बड़े।
इस बीच में एक भेड़िया निकला वहाँ व्याकुल निरा
वह भागता था वदन भी उसका शरों से था भरा॥

(४)

उस बाण-विद्या की कला को देख कर मन में सभी
औ बल सबों के खो गये ठक हो गये वन में सभी।
तत्क्षण धनुष शर को लिये फिर एक नर आया वहाँ
शिष्यों सहित गुरुवर्य्य द्रोणाचार्य संस्थित थे जहाँ॥

(५)

स्वागत हुआ आगत मनुज का क्योंकि वह वरवीर था
मानो पुरन्दर का तनुज हो यों धुरन्धर धीर था।
गुरुवर्य्य ने पूछा तुरत तुम कौन हो क्या नाम है?
तुम शिष्य हो किसके, कहाँ पर धाम है, क्या काम है?॥

(६)

बोला, शरों से भेड़िये का मुख तुम्हीं ने है भरा?
वह है इधर ही भग गया पर है नहीं अब तक मरा।
हो वीरवर! तुम धन्य, विद्या भी तुम्हारी धन्य है
क्या हस्त-लाघव में तुम्हारे तुल्य कोई अन्य है?॥

(७)

एकलव्य मेरा नाम है, मैं भील हूँ, घर है यहीं
मैं आप ही का शिष्य हूँ पहचानते क्या हैं नहीं?।
बहु-काल से इच्छा बड़ी थी आपका दर्शन मिला
था सूखता हृत्कंज दर्शन-वारि से मानो खिला॥

(८)

कुरु-पाण्डु-सुत सुन भील की बातें तुरत मुरझा गये
चिन्ता-लता से एक-दम उनके हृदय अरुझा गये।
आचार्य पर श्रद्धा बड़ी थी वह मनों घटने लगी
या चित्त से उनके धनुर्धरता मनों हटने लगी॥

(९)

लख कर स्वशिष्यों की दशा आचार्य ने तब यों कहा
रे भील! तू सच बोल मेरी शिष्यता में कब रहा?।
क्या झूठ से बढ़ कर जगत में और कोई पाप है?
मुझको कलंकित कर न दुःसहतर अयश का ताप है॥

(१०)

चेला बनाया क्षत्रियों को अन्य को मैंने नहीं
"मैं द्रोण का हूँ शिष्य" तूने बात क्यों ऐसी कही?।
"क्यों शाप मैं तुझको न दूँ" कारण बता दे शीघ्र ही
क्रोधाग्नि से है काँपती रहती महीसुर की मही॥

(११)

गुरुवर्य्य ! मेरे गेह पर चलिए कृपा करके अभी
चल कर यथोचित आपको दूँगा वहीं उत्तर सभी।
एकलव्य की यों बात सुन कर सब वहाँ से चल पड़े
चल कर सभी क्षण में हुए उस भील के घर पर खड़े॥

(१२)

है मूर्ति मिट्टी की बनी आचार्य की देखा वहाँ
उस मूर्ति के हाथों धनुःशर दिव्य शोभा दे रहा।
पूछा सबों ने भील से क्या भेद है इस मूर्ति का ?
क्या हेतु है सचमुच यही प्रतिमा तुम्हारी स्फूर्ति का॥

(१३)

हँस कर कहा एकलव्य ने इस मूर्ति के आदेश से
मुझको मिली है बाण-विद्या दूर रह कर क्लेश से।
आचार्य से यह मूर्ति विद्या-दान देती कम नहीं
मुझ दास को विश्वास है यह मान देती कम नहीं॥

(१४)

"क्या दक्षिणा तुमने मुझे दी" द्रोण ने यों हँस कहा
उनके मनों उर-विवर में है कपट-विषधर बस रहा।
एकलव्य पर सुन कर वचन फूला समाता है नहीं
"क्या पूज्य गुरु को दूँ" उसे कुछ ध्यान में आता नहीं॥

(१५)

बोला गुरो ! क्या चाहिए कुछ पास मेरे है नहीं
धनहीन तन मन आपके हैं ख़ास मेरे हैं नहीं।
आज्ञा मिले जो कुछ उसे पूरी करूँगा मैं अभी
गुरु का ऋणी रह कर जगत में मैं न रह सकता कभी॥

(१६)

मैं आपके सम मान करके मूर्ति का पूजन किया
गुरु-मूर्ति से विद्या मिली, गुरु-मूर्ति से गुण-गण लिया।
गुरु-दक्षिणा है शेष उसको आज ही ले लीजिए
करके उऋण मुझको शुभाशीर्वाद बस दे दीजिए॥

(१७)

गुरु ने कहा बस ठीक है जो मैं कहूँ करना उसे
जिसका वचन झूठा पड़े बस चाहिए मरना उसे।
जिसका बना है सत्य उसका सत्व घटता है नहीं
जिसका बना है धैर्य उससे धर्म हटता है नहीं॥

(१८)

यदि शिष्य हो तो दो मुझे कर का अगूँठा दाहिना
दूजी न मुझको वस्तु है सुखदायिनी उसके बिना।
गुरु का मनोरथ पूर्ण करना शिष्यवर का काम है
सुर-धाम मिलता है उसे जिसका यहाँ शुभ नाम है॥

(१९)

एकलव्य बोला क्या अगूँठा वस्तु है यह लीजिए
सन्तुष्ट मन को कीजिए मुझको अभय वर दीजिए।
कहता हुआ यों काट कर उसने अगूँठा दे दिया
गुरुवर्य्य ने भी कर बढ़ा कर हर्षपूर्वक ले लिया॥

(२०)

जो अर्जुनादिक चाहते थे कार्य वह गुरु ने किया
लेकर अगूँठा, भील को नाहक निकम्मा कर दिया।
आचार्य ने अनुचित किया, था चाहता ऐसा नहीं
क्या न्याय-रत की हानि है चाहे बिगड़ जावे मही॥

(२१)

तू धन्य था एकलव्य ! तेरी वीरता भी धन्य थी
था धन्य तो क्या वीर ! तेरी धीरता भी धन्य थी।
तू बाण-विद्या में किसी से था तनिक भी कम नहीं
होकर मनस्वी था यशस्वी था किसी का ग़म नहीं॥

(२२)

गुरु-दक्षिणा क्या द्रोण ने ली, शीस पर अपयश लिया
अपनाम करके आत्म का शुभनाम तेरा कर दिया।
जिसकी बनी सत्कीर्ति है जग में अमर नर है वही
अपकीर्ति का है भार जिसके सिर मनुज-खर है वही॥

(२३)

जो सत्य-व्रत हो धर्म-रत हो न्याय के पथ पर चले
लाखों पड़े यदि विघ्न पर तो भी नहीं तिल भर टले।
एकलव्य ! पुरुषोत्तम वही है सत्य इसको जानना
जो शूर भी हो क्रूर पुरुषाधम उसी को मानना॥

(२४)

फल भी उसे वैसा मिला जिसने जहाँ जैसा किया
धोखा मिला उसको कि जिसने अन्य को धोखा दिया।
करके कपट तेरा अगूँठा द्रोण यदि लेते नहीं
तो नीच को रण-बीच अपना शीस भी देते नहीं॥

रामचरित उपाध्याय

क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल और कालेज।

विभिन्न प्रकार के कारणों से आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्तों में स्त्री-शिक्षा की सन्तोष-जनक उन्नति नहीं हुई है। सरकार और जन-लोक दोनों इस कमी का अनुभव करते हैं। परन्तु यह सन्तोष की बात है कि इस ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है

श्रीमती सरलाबाई नायक, एम० ए०।

और अब सब समझने लगे हैं कि जातीय उन्नति के लिए कन्याओं की शिक्षा उतनी ही आवश्यक है जितनी लड़कों का है। पुरानी रूढ़ियाँ मुश्किल से दूर होती हैं, परन्तु यह बात कह देने में कोई हर्ज नहीं कि उन लोगों की संख्या शीघ्रता के साथ बढ़ रही है जो अपनी लड़कियों को शिक्षित करना चाहते हैं। इस कथन के प्रमाण के हेतु इलाहाबाद के एक स्कूल के सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिखा जाता है। इस संस्था के इस संक्षिप्त विवरण से मालूम हो जायगा कि स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों के विचार किस प्रकार परिवर्तित होकर उसके अनुकूल हुए हैं।

इस स्कूल की नींव पहले पहल लखनऊ में पड़ी थी। वहाँ यह कई बरस तक चलता रहा। परन्तु जिस असोसिएशन के निरीक्षण में यह स्कूल है उसने निश्चय किया कि यदि यह स्कूल इन प्रान्तों की राजधानी इलाहाबाद को हटा दिया जाय तो बहुत सम्भव है कि वहाँ इसकी स्थिति कुछ सुधर जाय। तदनुसार सन् १८९८ की दूसरी नवम्बर को एक किराये के मकान में यह स्कूल इलाहाबाद के महाजनी टोले में खोला गया। उस दिन कन्याओं की उपस्थिति केवल तेईस थी। उस समय स्कूल की देख-रेख का काम स्त्री-शिक्षा के प्रसिद्ध प्रेमी सैयद करामतहुसेन साहब के हाथ बरसों तक रहा। सैयद साहब कुछ समय तक इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज रहे हैं। आपके ही प्रयत्नों से इस स्कूल को सरकार से अच्छी सहायता मिलने लगी। फलतः स्कूल के लिए एक नई इमारत बनवाने की सुविधा हो गई। सन् १९०६ से वह अपनी निज की इमारत में चल रहा है।

कई बरस तक इस स्कूल की पढ़ाई का कार्य बढ़ाया न जा सका। उसमें केवल मिडिल क्लास तक ही शिक्षा दी जाती रही। इसकी वास्तविक उन्नति उस

समय प्रारम्भ हुई जब सन् १९१६ में इस स्कूल का कार्यभार भूतपूर्व कुमारी सुकरीबाई मनकर, बी० ए० को सौंपा गया। ऊँचे दर्जे उन्हीं के समय में खोले गये और सन् १९१८ में लड़कियों के पहले दल ने विश्वविद्यालय की परीक्षा में भाग लिया। तब इन्टरमीजिएट क्लासेज़ खोलने का प्रयत्न किया गया। इस प्रयत्न में भी सफलता प्राप्त हुई और

स्कूल की इमारत कीटगञ्ज मुहल्ले के समीप एक बहुत ही रमणीक और स्वास्थ्यदायक स्थान में, बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे के समीप, ग्रैंडट्रंक रोड पर है। स्कूल की भूमि का रक़बा लगभग ४० बीघा है। यह सब एक ऊँची दीवार से घिरा हुआ है। इसके भीतर ही खेल का लम्बा चौड़ा मैदान, फूल पत्ते बोने के लिए खेत और एक बाग़ भी है।
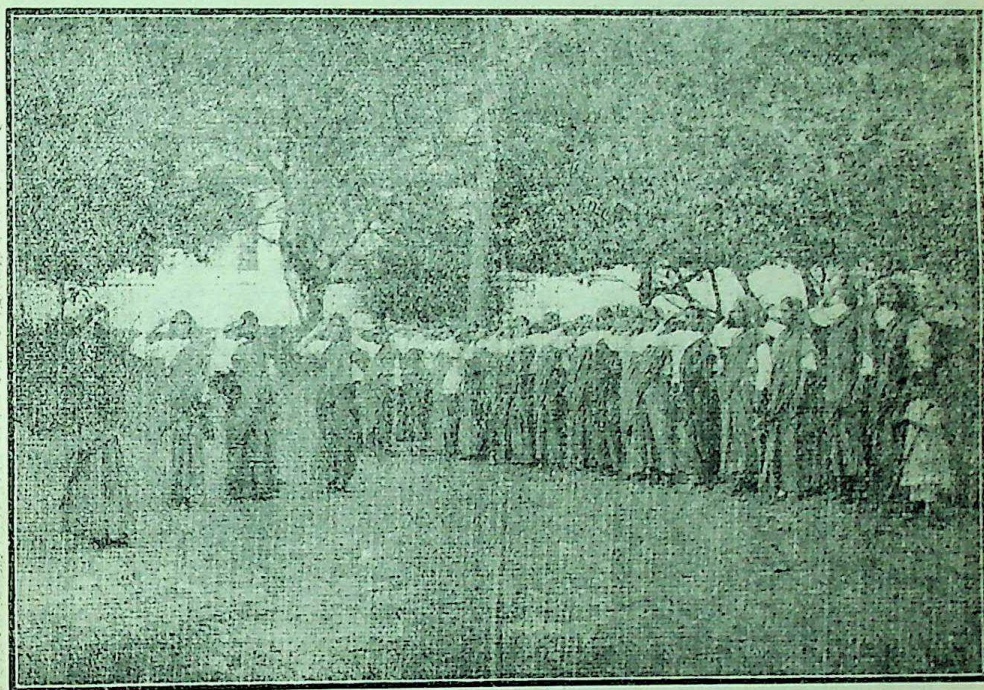
क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल की गर्ल्स गाइड।

एफ़० ए० दर्जे की लड़कियों का दल सन् १९२१ की परीक्षा में शामिल हुआ। अब बी० ए० के दर्जे भी खुल गये हैं। इस समय एक लड़की थर्डइयर और एक फ़ोर्थइयर में पढ़ती है। स्कूल में कन्याओं की संख्या २५० से ऊपर है और कालेज में केवल १५ हैं। इसके सिवा अब इस स्कूल में ट्रेनिङ्ग क्लासेज़ भी खुलनेवाले हैं।

इस समय इस स्कूल की प्रधान अध्यापिका श्रीमती सरलाबाई नायक, एम० ए० हैं। इनकी सहायता के लिए और कई एक सुशिक्षित अध्यापिकाएँ कालेज और स्कूल में शिक्षा देने का काम करती हैं। श्रीमती नायक ने अभी हाल ही में अपने पद का कार्य-भार ग्रहण किया है। आपने इतिहास और अर्थशास्त्र में बम्बई-विश्व-विद्यालय

से एम० ए० की डिग्री प्राप्त की है। आप स्वयम् स्त्री-शिक्षा के प्रचार की अनुरागिनी हैं। इस सम्बन्ध में स्त्री-शिक्षा के अनेक प्रेमियों के साथ मिल कर आपने काम भी किया है। पूना के प्रसिद्ध अध्यापक कर्वे के साथ भी आप रह चुकी हैं। इसके सिवा ये पूना के महिला-विश्वविद्यालय की फ़ेलो और छात्रावास भी खोल दिया गया है। छात्रावास की इस सुन्दर इमारत का नाम लेडी सुन्दरलाल हॉस्टल है। इसमें ९६ कन्याएँ रह सकती हैं। उनके भोजनालयों का भी अच्छा प्रबन्ध है। अध्यापिकाओं के रहने के लिए भी मकान अलग बने हैं। इन प्रान्तों के भिन्न भिन्न ज़िलों से कन्याओं की एक बड़ी भारी

क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल की कुछ बालिकायें (गर्ल्स गाइड) सुश्रूषा का काम सीख रही हैं।

बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय की सदस्य मनोनीत की गई हैं। सन् १९१७ में जो स्त्रियों का डेपूटेशन भारत के स्टेट सेक्रेटरी से मिला था उसमें ये भी शामिल थीं। अतएव ऐसी विदुषी और कर्तव्य-परायणा अध्यापिका को पाकर इस स्कूल के अधिक उन्नत होने की आशा है।

इस विचार से कि बाहर की कन्याएँ आकर इस स्कूल में सुविधा के साथ शिक्षा ग्रहण करें एक संख्या इस स्कूल में शिक्षा पा रही और छात्रावास में निवास करती है। छात्रावास का सारा प्रबन्ध महरों के हाथ में है। ये लोग इसकी साधारण सफ़ाई और रसोई घर का सब इन्तिज़ाम करते हैं। इसके सिवा बारह वर्ष की नीचे की उम्र की कन्याओं के लिए महरे और महरियाँ अलग ही नियुक्त हैं। जो लड़की बीमार हो जाती है उसकी सेवा के लिए दाई मौजूद रहती है।

प्रधान अध्यापिका ही इस छात्रावास की प्रबन्ध-कर्त्री हैं। उन्हीं की देख रेख में इसका भी इन्तिज़ाम होता है।

हिन्दू मुसलमान दोनों जाति की कन्याएँ इस स्कूल में भरती की जाती हैं। विवाहिता स्त्रियाँ एवं विधवाएँ भी भरती हो सकती हैं। साल भर में किसी समय कोई भी इस स्कूल में दाख़िल हो सकता है।

जो लड़कियाँ भरती होंगी उन्हें २०) माहवार वृत्ति भी मिलेगी। प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर स्कूल भर में वही पाठ्यक्रम प्रचलित है जो शिक्षा-विभाग ने निर्दिष्ट कर दिया है। कालेज में भी वही पढ़ाई होती है जो इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के दूसरे कालेजों में जारी है। इन बातों के सिवा सीने और बुनने की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।
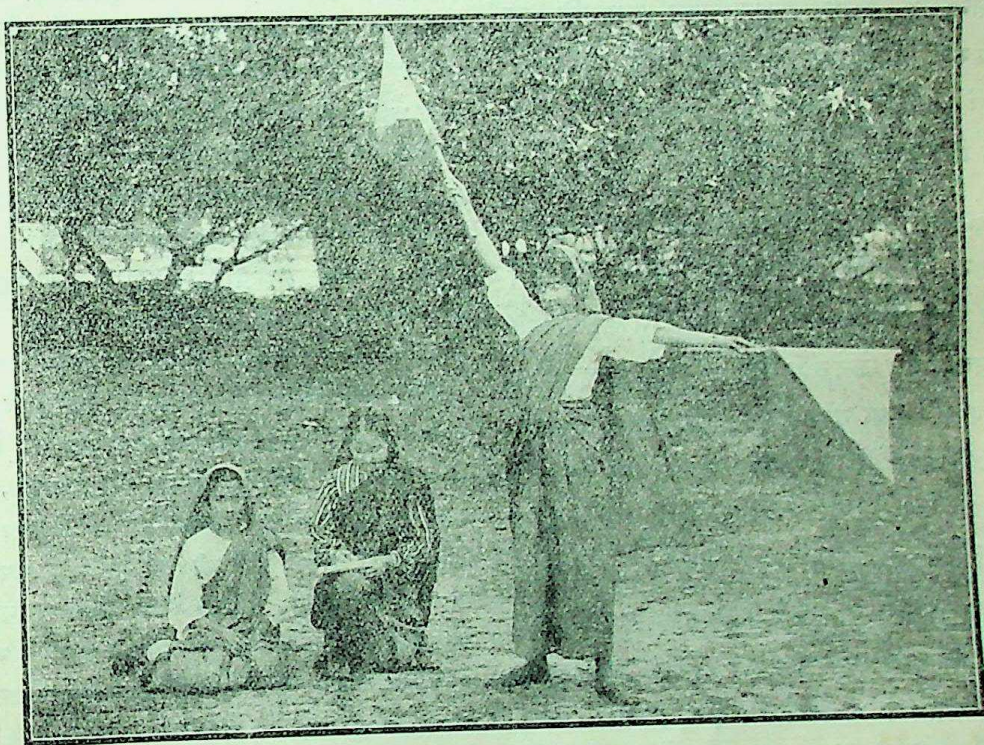
क्रास्थवेट गर्ल्स स्कूल की एक बालिका झंडी के इशारों से बातचीत करती है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मेट्रीकूलेशन दर्जे तक की शिक्षा यहाँ के स्कूल तथा बी० ए० तक की कालेज में दी जाती है। जो ट्रेनिंग क्लास इस स्कूल में खोला गया है उसमें मैट्रिक और स्कूल-लीविंग पास कन्याएँ ली जाती हैं। इस क्लास में

सेवा-सम्बन्धी कामों के व्याख्यान देने का भी प्रबन्ध इस स्कूल में किया गया है। इस विषय में गत वर्ष १७ कन्याएँ उत्तीर्ण हुई हैं। किसी को अचानक चोट लग जाय तो उसकी मरहमपट्टी किस तरह की जाय, इस बात की शिक्षा में ये

कन्याएँ सफलता-पूर्वक पास हुई हैं। गत वर्ष माघ-मेले में जो स्त्रियाँ यात्रा में आई थीं उनकी आवश्यक सहायता इन्होंने ख़ूब सेवाभाव से की थी। इसके सिवा ये दूसरे उपयोगी कार्य भी बराबर करती रही हैं।

इस संस्था ने दो डिबेटिंग क्लब भी खोल रक्खे हैं। इनमें कन्याएँ शिक्षा-सम्बन्धी तथा सामाजिक विषयों पर परस्पर वादविवाद करती हैं। इनके अधिवेशनों में प्रधान अध्यापिका सभापति का कार्य करती हैं। शहर की हिन्दू और मुसलमान महिलाएँ भी कभी कभी इन सभाओं में भाग लेने के लिए निमन्त्रित की जाती हैं।

इलाहाबाद के स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी इस विद्यालय का इतना ही संक्षिप्त विवरण है। इस स्कूल को समुन्नत करने के लिए लोगों से धन-दान की प्रार्थना के मतलब से यह लेख नहीं लिखा गया है। यह केवल इस उद्देश से लिखा गया है कि लोगों की सहानुभूति भर इसकी ओर हो। इस समय केवल इसी बात की विशेष आवश्यकता है। योरपवासियों, भारतीयों, हिन्दुओं और मुसल्मानों, सरकारी अधिकारियों और ग़ैर सरकारी लोगों ने, सबने मिल कर इस संस्था को इस स्थिति को पहुँचाया है। इस दृष्टि से यह स्कूल वास्तव में एक जातीय विद्यालय है। इसका प्रबन्ध विद्वान् और प्रतिष्ठित हिन्दू और मुसल्मान सज्जनों के हाथों में है। इसका द्वार हिन्दू मुसल्मान दोनों जाति की स्त्रियों के लिए उन्मुक्त है। मतलब यह कि इन प्रान्तों में यह संस्था अपने ढंग की एक ही है।

जसवन्त राय

आर्यों की जन्मभूमि।

[समालोचना।]

पूने में नारायण भवानराव पावगी नाम के एक सज्जन हैं। आप पहले कहीं "सब जज" (सदर-आला) थे। आप बड़े महत्त्वाकाङ्क्षी, बड़े विद्या-व्यसनी और मराठी भाषा के बड़े नामी लेखक हैं। पुरातत्त्वज्ञ पण्डित यदि आपकी गणना सर भाण्डारकर, आर० डी० बैनर्जी और हरप्रसाद शास्त्री आदि ख्यातनामा पुरातत्त्वज्ञों की श्रेणी के विद्वानों में न करें तो न सही, पर हम लोग, सर्व-साधारण जन, तो पावगी महाशय की ही पुस्तकों और लेखों से विशेष लाभ उठा सकते हैं। अशोक की प्रशस्तियों में अमुक 'क' की जगह 'ख' होना चाहिए, इस प्रकार की खोज करनेवालों का प्रकृत महत्त्व साधारण जन नहीं जान सकते। पर पावगी महाशय की खोज इस तरह की नहीं। आप एक बहुत बड़ा ग्रन्थ, मराठी में, लिख रहे हैं। उसका नाम है—भारतीय साम्राज्य। इस ग्रन्थ क्या, ग्रन्थराज, के ११ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। पर इतने ही अभी और प्रकाशित होने को हैं। जो भाग प्रकाशित हो चुके हैं, सुनते हैं, उनमें से कई एक पुस्तकें बड़े मोल की हैं। उनमें प्राचीन भारत के भूगोल, शास्त्र, कला, शासन, संस्थायें, धर्म, जाति, इतिहास, भाषाओं आदि का विशद विवेचन है। आपने और भी कई पुस्तकें, अपनी मातृ-भाषा में, लिखी हैं। अँगरेज़ी में भी आपने तीन पुस्तकों की रचना की है। उनका भी सम्बन्ध प्राचीन भारत से है। आपकी कुछ पुस्तकों की आलोचना सरस्वती में निकल भी चुकी है।

अभी हाल में आपने एक और पुस्तक लिख कर प्रकाशित की है। विषय के लिहाज़ से उसे अजूबाही कहना चाहिए। उसका नाम बहुत लम्बा है—"ऋग्वेदांतील सप्तसिन्धु चा प्रान्त अथवा आर्यावर्तांतील आर्य्यांची जन्मभूमी आणि उत्तरध्रुवाकडील त्यांच्या विस्तीर्ण वसाहती"—यह इतना बड़ा नाम सुभीते का नहीं। इस कारण हमने इसका नाम, अपने मन में, "आर्य्यों की जन्मभूमि" समझ रक्खा है और इसी नाम से, आवश्य-

कता पड़ने पर, इसका उल्लेख करेंगे। इसका मूल्य ३ रुपये है और मिलने का पता है—९८२, सदाशिव-पेठ, पूना।

भारतवर्ष की सभ्यता बहुत पुरानी है। कुछ लोगों का ख़याल तो ऐसा है कि उसकी प्राचीनता का ठीक ठीक पता ही नहीं लग सकता। पर कुछ का विचार इसके विपरीत है। इन "कुछ" में अधिक संख्या पाश्चात्य पण्डितों ही की है। ये लोग इस देश की सभ्यता-विषयक भिन्न भिन्न बातों को ईसा-मसीह की स्थिति के दो चार सौ वर्ष इधर ही उधर खींच-खांच कर लाने का यत्न करते हैं और कर भी चुके हैं; फिर, चाहे इनकी यह खींच-खांच ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर आश्रित हो, चाहे केवल अनुमान पर। भारतवर्ष के विद्वानों में भी कुछ लोग इसी कक्षा के हैं। जिस प्रकार इस श्रेणी के पाश्चात्य विद्वान् भारत की कितनी हीं बातों की प्राचीनता को कम समझते हैं उसी प्रकार इस देश के विशिष्ट विद्वान् उसे बहुत अधिक बढ़ा कर बताते हैं। उदाहरणार्थ—यदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों की समझ में ऋग्वेद ईसा के तीन ही चार हज़ार वर्ष पहले का है तो भारतीय विद्वानों की दृष्टि में वह उससे कई गुना अधिक पुराना है। अस्तु। पावगी महाशय, भारतीय विद्वानों की उसी श्रेणी के हैं जो भारतीय सभ्यता-सम्बन्धिनी कितनी ही बातों को बहुत—बहुत ही अधिक—पुरानी समझते हैं। पर, साथ ही वे अपनी इस तरह की उक्तियों को निराधार नहीं लिख मारते। प्रमाण भी देते हैं, तर्क के आधार पर चलते हैं, और यदि अनुमान से काम लेते हैं तो उस अनुमान को प्रमाण की सीमा के बहुत बाहर नहीं चला जाने देते। आपकी इस—"आर्यों की जन्मभूमि" नामक पुस्तक में इस बात के एकाधिक प्रमाण पाये जाते हैं।

पुरातत्त्व के कुछ पण्डितों का विचार है कि भारतवर्ष के आदिम आर्य्य, मध्य एशिया के किसी स्थान-विशेष से आकर, इस देश में आबाद हुए थे। कुछ यह समझते हैं कि, नहीं, वे तो येरप के किसी भाग से भाग कर भारत में आ बसे थे। तीसरे विभाग के विद्वानों के भालतिलक, तिलक महाराज, का कहना है कि आर्य्यों की उत्पत्ति मेरु-प्रान्त में हुई। हिम-प्रलय होने पर जब यह प्रान्त निवास-योग्य न रहा तब वे लोग उसे छोड़ कर भारत की ओर चले आये और पञ्जाब में आकर रहने लगे। पावगी महाशय ने इन तीनों तर्कवादों को हिला डालने की चेष्टा की है। आपने तिलक के सिद्धान्त का खण्डन बड़ी योग्यता से किया है, पर नम्रता को हाथ से नहीं जाने दिया। बड़े सौजन्य और आदर-भाव से आपने अपने मत को ठीक और उनके मत को भ्रान्त सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में आपने मनमानी घर-जाली नहीं की। जगह जगह पर आपने पाश्चात्य और कुछ एतद्देशीय विद्वानों की सम्मतियों का भी उद्धरण किया है और ऋग्वेद की ऋचायें उद्धृत कर करके अपने मत का पुष्टीकरण किया है। आपने लिखा है कि प्रस्तुत पुस्तक मेरे वर्सों के अध्ययन—इस विषय पर लिखी गई नाना पुस्तकों के आकलन और मनन—का फल है।

आपकी इस पुस्तक की प्रस्तावना के अन्त में तारीख़ है—१४ एप्रिल १९२१। अर्थात् यह पुस्तक इसी साल के अप्रेल महीने में छप कर प्रकाशित हुई है। आपने इस पुस्तक में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आदिम आर्य्य इसी आर्य्यावर्त में, सरस्वती नदी के किनारे, कहीं उत्पन्न हुए थे। अनन्त काल तक यहाँ रह चुकने पर, विजिगीषा के वशीभूत होने के कारण, वे उत्तर की ओर (शायद दिग्विजय करते हुए) मेरु-प्रान्त तक चले गये। उनमें से बहुत लोग वहीं स गये, क्योंकि वह प्रान्त या देश उन्हें बहुत रमणीक मालूम हुआ। कालान्तर में, हिमप्रलय होने पर, जब वह देश बर्फ़ से ढक गया और रहने लायक़ न रहा, तब वे लोग अपनी आदिम जन्मभूमि भारत को लौट आये। तिलक महाराज के कथनानुसार आर्यजन उत्तरी ध्रुव-प्रदेश से भारत में आये तो ज़रूर, पर इसका यह मतलब नहीं कि वे वहीं उत्पन्न हुए थे। नहीं, उनकी प्रधान शाखा तो यहीं भारत में रह गई थी। जो लोग उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में बस गये थे उनके वंशज मात्र भारत को फिर चले आये। यही है पावगीजी की खोज का निचोड़।

इस निचोड़ के कुछ अंश के एक हिस्सेदार भी निकल आये हैं। आपका नाम है—बाबू अविनाशचन्द्र दास। आपने अँगरेज़ी में एक पुस्तक लिखी है—The Rigvedic India—अर्थात् ऋग्वेद में वर्णित, या ऋग्वेद के समय का,

भारत। इस पुस्तक का पहला भाग भी इसी साल छप कर सर्वसाधारण के नयनगोचर हुआ है। पर पावगीजी की पुस्तक के पहले ही निकला है—अर्थात् १४ अप्रेल १९२१ के पहले—क्योंकि पावगीजी ने दास बाबू की कितनी ही उक्तियों का उल्लेख, अपने मत के पुष्टीकरण में, अपनी पुस्तक में, किया है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि दास बाबू की पुस्तक से पावगीजी ने उनके सिद्धान्त उधार लिये हैं। नहीं, दास बाबू की खोज उनकी निज की होगी, और पावगीजी की पावगीजी की होगी। दोनों के विचार और निष्कर्ष-मात्र कहीं कहीं लड़ गये हैं। दास बाबू की पुस्तक को कलकत्ते के विश्वविद्यालय ने बड़े महत्त्व और बड़े मोल की समझा है। उसकी महत्ता का वह इतना क़ायल हुआ है कि उसने, इसी बुनियाद पर, उन्हें पी—एच० डी० (Ph. D.) की पदवी दे दी है। इसी, इतनी उत्तम, पुस्तक की आलोचना उस दिन जूलाई १९२१ के "माडर्न रिव्यू" में पढ़ कर, समालोचक की समझ पर अफ़सोस हुआ। समालोचक हैं योरप महादेश के अन्तर्गत नारवे नामक देश के वासी एक साहब—Sten Konow. मालूम नहीं, आपके नाम का उच्चारण कैसा है। इसी से हमने उसे ज्यों का त्यों, अँगरेज़ी ही में, लिख दिया है। दास महाशय के सिद्धान्तों और मतों का ज्ञान प्राप्त करके समालोचक साहब के होश उड़ गये हैं। आपकी राय है कि दास बाबू ने अपनी यह पुस्तक लिख कर बड़े साहस का काम किया है; योरप के पुरातत्त्वज्ञ ऐसी बातें सुनने के आदी नहीं; लेखक के निष्कर्षों का आधार उनका कथन-मात्र है; इसलिए, भैया, हम और कुछ नहीं कहते; हम तो बस इतनाही इशारा करके क़लम को क़लमदान के हवाले करते हैं। समालोचक साहब की राय का सारांश यही है।

दास बाबू की पुस्तक तो हमने देखी नहीं। पावगीजी की कृपा से उनकी पुस्तक ज़रूर देखी है और उसके पाठ से अपनी ज्ञान-कणिकाओं का यत्किञ्चित् पुष्टीकरण भी किया है। उनकी विचार-सरणि पर दंश देने या उनकी तर्क-परम्परा की जाँच करने की शक्ति तो हम में है नहीं। हाँ, उनके मत की मोटी मोटी बातों का उल्लेख, थोड़े में, करने की चेष्टा हम किसी तरह करते हैं। वह स प्रकार—

भरतखण्ड का प्राचीन नाम आर्य्यावर्त है। वैदिक समय में वह सप्त-सिन्धु (अर्थात् सात नदियों का प्रान्त) कहलाता था। यही सप्त-सिन्धु-प्रदेश आर्यों का मूल निवासस्थान है। यहीं से हम आर्यों के पूर्वज धीरे धीरे उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम चारों दिशाओं में फैले हैं। यहीं से वे उत्तर-ध्रुव को गये। वहाँ, और अन्यत्र भी, उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किये।

अच्छा, तो सप्त-सिन्धु-प्रान्त में आर्य्य लोग बसे कब या पैदा कब हुए? इस सम्बन्ध में लेखक महाशय के अनुमान सुनिए। भूस्तरशास्त्र (Geology) के वेत्ताओं ने पृथ्वी के ५ रूपान्तरों की कल्पना की है। यथा—

(१) ज्वलनात्मक और बाष्पमय

(२) द्रवात्मक, पर अत्यन्त तप्त

(३) तप्त-समुद्रमय

(४) समुद्रों के अन्तर्गत कहीं कहीं शुष्कता और पर्वतोद्गमवाली।

(५) शीतल होने पर समुद्रवलयाङ्कित होकर प्राणियों के वास-योग्य।

इन रूपान्तरों के होने में अनन्त काल बीत गया। प्राणियों के वासयोग्य होने के पहले काल को अचैतन्य-युग और पिछले काल को चैतन्ययुग कहते हैं। इसी पिछले काल में क्रमशः उद्भिज्ज, जलज, भूमिज और स्तन प्राणियों की उत्पत्ति हुई। मनुष्य-जनन सबसे पीछे हुआ।

पृथ्वी की इन सभी अवस्थाओं का ज्ञान प्राचीन आर्य्यों को था। ऋग्वेद की कुछ ऋचायें इसका प्रमाण हैं—

(१) अपामुपस्थे विभृतोयदावसत् × × × × (अग्निः) १—१४४—२

(२) प्राचीनान् पर्वतानदंहत (इन्द्रः)—२—१७—५

(३) येन × × × × पृथिवी च दृढा—१०—१२१—५

भूमि के रहने योग्य हो जाने पर इन्द्र ने उसे मनु को दे दी (अहं भूमिमददामार्याय, ४—२६—२)

अब, ऋग्वेद के इन मन्त्रों का क्या अर्थ होता है, अथवा उनका वही अर्थ होता है या नहीं जो पावगीजी

करते हैं, इस पर विचार करना और इसका निश्चय करना वेदज्ञ विद्वानों का काम है। हमारा काम तो केवल पावगीजी के कोटि-क्रम का उल्लेख-मात्र कर देना है; क्योंकि हमारी पहुँच ही वहाँ तक नहीं।

ऋग्वेद से अधिक पुरानी पोथी और कोई नहीं; और चूंकि ऋग्वेद में लिखा है कि इन्द्र ने ही पहले पहल पृथ्वी को दृढ़ अर्थात रहने योग्य बनाया; अतएव आर्य्य भी अवश्य ही पृथ्वी के उसी दृढीभूत भाग में पहले पहल पैदा हुए होंगे। क्योंकि और भाग तो उस समय मनुष्य के वास-योग्य थे ही नहीं। यह भाग था सरस्वती-नदी का तट अथवा आसमन्तादूभाग। क्योंकि ऋग्वेद में लिखा है—

त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम्
२,४१,१७

इसमें "श्रितायूंषि" पद ही इस कल्पना का प्राण है। उसका अर्थ है, सरस्वती का वह भाग जिसमें मनुष्य के प्राणधारणोपयोगी अन्नों का सञ्चय उत्पन्न हुआ, अर्थात् जो समस्त वंशों, आयुष्यों, या प्राणों का आश्रयस्थान बना। पावगीजी का मत है कि अन्न से ही मनुष्य जीवन धारण कर सकता है (शाक, मांस, दूध से नहीं ?) इस कारण जहाँ पहले पहल अन्न उत्पन्न हुआ वहीं पहले पहल मनुष्यों की भी उत्पत्ति हुई होगी। लिखा भी है—

"अन्नाद् भूतानि जायन्ते" × × × "अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" (तै० उ० २—२)।

सचेतन प्राणियों का प्रादुर्भाव पहले पहल पञ्जाब के उस प्रान्त में हुआ जहाँ नमक की पर्वतमाला है। यह बात भूस्तरशास्त्र के बड़े बड़े ज्ञाताओं ने क़बूल की है और यह प्रान्त सरस्वती-नदी का ही प्रान्त है। क्योंकि उस ज़माने में, इन शास्त्रज्ञों के कथनानुसार, भूतल में और कोई देश, प्रान्त या स्थल मनुष्य के रहने योग्य ही न था। कहने की ज़रूरत नहीं, पावगीजी की राय है और यह शायद सच भी है, कि पुरानी, पर आज-कल लुप्त हुई, सरस्वती-नदी पञ्जाब से ही बहती हुई प्रयाग तक आई थी। इसी सरस्वती के आसपास के भूभाग को ऋग्वेद ने देवनिर्म्मित देश ("योनिं देवकृतम्" ३-३३-४) बताया है। मनुस्मृति में भी लिखा है—

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्म्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते—२,१७

वैदिक और स्मृतिकाल में लोग सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच के ही भाग को ईश्वरनिर्म्मित समझते थे और इसी को वे ब्रह्मावर्त कहते थे। जब भूस्तरशास्त्री कहते हैं कि यही प्रान्त पहले पहल मनुष्यों के वासयोग्य हुआ और वेद, पुराण, स्मृति-ग्रन्थ सभी इसे देवनिर्म्मित देश कह रहे हैं तब इसे छोड़ और कहाँ पहली मनुष्य-सृष्टि हो सकती है ?

वेबर, मूर, मोक्षमूलर आदि का मत है कि आर्य्य लोग कहीं बाहर से—योरप के किसी प्रान्त या हिन्दूकुश के आस-पास के किसी प्रदेश से—भारत में आये और यहाँ के मूल निवासियों को जीत कर यहाँ के अधीश्वर हो गये। पर पावगीजी का कथन है कि इस मत के पोषक कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण इन लोगों के पास नहीं। उलटा इन्हीं में से कई विद्वानों का मत है कि आर्य्यों के आदि स्थान का ठीक ठीक पता ज्ञात ही नहीं। फिर भला, इनकी बात कैसे मानी जा सकती है ? अजी, मनुष्य-सृष्टि के आरम्भ में और कोई भू-भाग मनुष्यों के रहने योग्य था भी ? फिर हमारे पूर्वज और कहीं से कैसे कूद पड़े ? यदि और कहीं से आते तो जैसे हम लोगों के पूर्वजों ने ऋग्वेद में और नाना प्रकार की बातें लिखी हैं वैसे ही उस बात का भी उल्लेख कर देते। स्पीजल साहब ने पारसियों की धर्म्मपुस्तक अवस्ता का अनुवाद किया है। उसके उपोद्घात में उन्होंने लिखा है कि पारसी, ग्रीक, रोमन, जर्मन इत्यादि जातियाँ आर्य्यों के ही कुटुम्ब की शाखायें हैं। अर्थात् आर्य्य ही आर्य्यावर्त से जाकर उन देशों में जा बसे हैं और वंश-विस्तार किया है। स्पीजल के लेख का मूल अंश इस प्रकार है—

"India was the fatherland of the Indo-Germanic races. From that country the individual branches of that stock migrated westward, and last of all the Iranians, who continued to dwell in the immediate vicinity of their original country, which henceforward remained in the sole possession of a single race, the Indians * * * * India is the craddle ; the Indian language (the Vedic Sanskrita) is the mother tongue of all the Indo-Germanic nations."

हमारे पूर्वज आर्य्य ही प्राचीनतम मनुष्य थे। वही आर्य्यावर्त्त से अन्य देशों को गये। और कहीं से वे भारत-वर्ष में नहीं आये। आते तो अपने आदि जन्मस्थान का कुछ तो हवाला हमारी प्राचीन पोथियों में मिलता। पर वहाँ तो उलटा यही लिखा है कि पहले पहल इसी देश के सरस्वती-प्रान्त को ईश्वर ने बसने योग्य बनाया और यहीं उसने या इन्द्र ने सरस्वती का भू-भाग मनु को दे डाला। इन्द्र-देवता का नाम और किसी जाति या देश के इतिहास में नहीं मिलता। वह हमारे ही पूर्वजों का कल्पित देवता है। जब उसके विषय में ऋग्वेद में यह लिखा है कि जल-वृष्टि और प्रकाश आदि का प्रादुर्भाव करके मनु को उसने सरस्वती-प्रान्त दे डाला तब उसका यही मतलब हो सकता है कि मनुही मनुष्यों के बाबा आदम थे और वे यहीं पैदा हुए थे। मनु को बाबा आदम न समझिए तो आर्य्यों के प्रथम पूर्वजों का समुदाय तो समझना ही पड़ेगा, क्योंकि विकाश-सिद्धान्त के अनुसार अपने से निम्नश्रेणी के किसी प्राणी या प्राणियों से पहले पहल यदि एक मनु न पैदा हुए होंगे तो एक ही साथ, या कुछ काल आगे पीछे, अनेक मानव अवश्य ही उत्पन्न हुए होंगे। ऋग्वेद में जहाँ जहाँ यह उल्लेख है कि इन्द्र ने पृथ्वी को दृढ़ किया, इन्द्र ने जल बरसाया, इन्द्र ने प्रकाश का प्रदान किया, इन्द्र ने भूमि का दान अपने प्यारे मनु को दिया तहाँ तहाँ यही समझना होगा कि भूमि का दान लेने और जलवृष्टि तथा प्रकाश से लाभ उठानेवाला कम से कम एक मनुष्य अवश्य ही उत्पन्न हो गया होगा। उसी को आप मनु अथवा मानवों का समुदाय समझिए।

तिलक महाराज ने अपनी एक अँगरेज़ी पुस्तक (Arctic Home in the Vedas) लिख कर पाश्चात्य विद्वानों के आर्य्योत्पत्ति अथवा आर्य्यागमन-विषयक मत को बेतरह झकझोर डाला। यह पुस्तक निकले बहुत वर्ष हो चुके। इसके प्रकाशित होने पर प्राच्य-विद्या-विशारदों के मण्डल में प्रचण्ड तूफ़ान सा आगया। आलोचनाओं पर आलोचनायें निकलीं। खण्डन-मण्डन का बाज़ार बेतरह गरम हो उठा। अनुकूल आलोचनायें ही अधिक हुईं। पर प्रतिकूल भी हुईं। तिलक के मत के खण्डन में दो एक पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। दक्षिण के एक मदरासी महाशय ने तो अपने अँगरेज़ी लेखों द्वारा तिलक महाराज के मत पर बड़ा ही निष्करुण आक्रमण किया। उन्होंने साफ़ साफ़ यहाँ तक लिख दिया कि तिलक महाराज ने अपने मत के पोषक प्रमाण तो ऋग्वेद से ले लिये हैं, पर घातक प्रमाण जानबूझ कर छोड़ दिये हैं। तिलक महाराज का मत यह है कि आदिम आर्य्यों का प्राथमिक वसतिस्थान उत्तरी मेरुप्रान्त था। क्योंकि ६ महीने की रात और ६ महीने के दिन का जो वर्णन ऋग्वेद में है वह उनके उसी प्राचीन वासस्थान का सूचक है। इतना बड़ा दिन और इतनी बड़ी रात सिवा ध्रुव-प्रदेश के अन्यत्र नहीं। उन्होंने अपने इस मत के प्रतिपादन में और भी ऐसे ही ऐसे प्रमाण, या विपक्षी विद्वानों की समझ के अनुसार, प्रमाणाभास दिये हैं। इसकी प्रतिकूलता पहले भी बहुत कुछ की जा चुकी है। अब पावगीजी भी इन्हीं विपक्षियों के तरफ़दार बन बैठे हैं, क्योंकि बिना तिलक महाराज के मत को ठिकाने लगाये उनका मत कैसे ठहर सकता। पावगीजी का कहना है कि आर्य्यों का कुछ समुदाय उत्तरी ध्रुव-प्रदेश से भारत में आया ज़रूर। पर वह समुदाय आदिम समुदाय न था। आर्य्यावर्त्त में उत्पन्न होकर, ऋद्धियों और सिद्धियों को प्राप्त करके, सभ्यता की बहुत ऊँची सीढ़ी पर चढ़ कर, देश विजिगीषा की इच्छा से —अपने बाहुओं की कण्डू शमन करने के इरादे से—आर्य्य लोग जैसे और और देशों तक पहुँच गये थे और वहाँ उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे वैसे ही उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में भी वे जा बसे थे। पावगीजी के शब्द ये हैं "भारतीय आर्य्यों ने तीसरे युग के अन्त और हिमयुग के पूर्व (अर्थात् कोई ढाई लाख वर्ष पहले), उत्तरी ध्रुव-प्रदेश का मार्गावलम्बन कर, वहीं अपने उपनिवेश, अपनी मनमानी जगहों में, स्थापित कर दिये थे" (मराठी-पुस्तक, पृष्ठ ११५) आपने नामी नामी शास्त्रियों और विद्वानों के वचन उद्धृत करके यह दिखाने की चेष्टा की है कि पहले उत्तरी ध्रुव के आस-पास की आबोहवा बड़ी अच्छी थी। वहाँ प्रायः वसन्त ऋतु ही बनी रहती थी। इसी से उस प्रान्त ने समागत आर्यों का मन मोह लिया और वे वहीं के हो रहे।

तिलक महाराज की आज्ञा है कि हिमप्रलय होने पर आर्य्य लोगों ने जब देखा कि उत्तरी ध्रुव-प्रान्त में अब नहीं रह सकते तब वे दक्षिण की ओर चले और आर्य्यावर्त में

आ बसे। पावगीजी कहते हैं, ठीक। आप यह तो बताइए कि जिस ऋग्वेद में उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन है उसी में अतिरात्र सोमसत्रों का भी वर्णन है या नहीं? क्या आर्य्यों का कोई भी प्रधान धर्म्मानुष्ठान बिना सोम के हो सकता था? सोमपान करके ही आर्य्य शक्तिमान और बलवान् हुए थे और उसी की बदौलत इन्द्र ने बल-प्राप्ति करके घोर अन्धकार का नाश किया था तथा और भी कितने ही अलौकिक कार्य्य किये थे। तो क्या सोम उत्तरी ध्रुव में भी कहीं पैदा होता था या अब होता है? यदि किसी के पास कुछ भी प्रमाण इसका हो तो आवे और अपने प्रमाण का प्रदर्शन करे। आप वेद का, अवस्ता का, तथा अन्य प्राचीन साहित्य का अवलोकन कर जाइए। आपको यही लिखा मिलेगा कि सोम का उत्पत्ति-स्थान मुञ्जवान् किंवा मूजवत, या मौजवत पर्वत है। यथा—

सोमस्य मौजवतस्य भक्षः × × × ऋग्वेद, १०–३४–१

मुञ्जवान् पर्वत हिमालय की एक चोटी का नाम है। वहाँ से धीरे धीरे यह सोमलता पञ्जाब (सप्त-सिन्धु-प्रदेश) में भी होने लगी। लोग इसका व्यापार करने लगे। नावों और बैलगाड़ियों पर लाद कर इसे दूर दूर ले जाने लगे। इसे पैदा करना और बेचना कुछ लोगों का पेशा हो गया। अब बताइए, यदि आर्य्य लोग पहले उत्तरी ध्रुव के आस-पास, या मध्य एशिया में, या योरप के किसी और खण्ड में रहते थे तो सोम उन्हें कैसे और कहाँ से मिलता था। और, बिना सोम के उनका एक भी धार्म्मिक कृत्य न हो सकता था। अतएव जो लोग आर्य्यों का आगमन मेरु-प्रान्त, या मध्य एशिया या और किसी पश्चिमी भू-भाग से बताते हैं वे बेपर की उड़ाते हैं। उनका कथन निःसार निराधार और विकार-विजृम्भण मात्र है। तत्त्व उसमें कुछ भी नहीं। आर्य्य, यहीं, आर्य्यावर्त में ही, सरस्वती-नदी के प्रान्त में—पञ्जाब की लवण-पर्वतश्रेणियों के इधर-उधर पैदा हुए थे। वे और कहीं से यहाँ नहीं आये। यहाँ हजारों वर्ष रह चुकने पर वे चारों तरफ़ फैले हैं और उत्तरी-ध्रुव तक जाकर वहाँ बसे हैं। ध्रुव-प्रान्त में हिमप्रलय होने पर, अपने आदि वास-स्थान का स्मरण करके, जो वृन्द आर्य्यों का वहाँ बस गया था वह फिर आर्य्यावर्त को लौट आया। पावगीजी का मत यही है और इसके पोषक समझ कर प्रमाण भी आपने दिये हैं। आप तिलक महाराज के मत के क़ायल नहीं। उस मत की उन्मूलक दलीलों की भी उद्भावना आपने जी तोड़ कर की है। एक जगह आप लिखते हैं—

"रा० रा० तिलक ने जो प्रमाण दिये हैं वे बिलकुल ही पङ्गु हैं। उन्हें उन्होंने केवल अपने मत के पुष्टीकरण के लिए दिया है। क्योंकि एक ही ग्रन्थ में, भिन्न भिन्न प्रसङ्गों के अनुसार, उन्होंने अपने मत के पोषक असम्बद्ध, जुदा, जुदा और केवल विसंवादी विचार प्रकट किये हैं। यह बात (उनके लेख से) स्पष्ट प्रकट होती है"।

अस्तु। प्राचीन ईरानियों अर्थात् पारसियों के भी पूर्वज आर्य्य ही थे। उनके और हमारे पूर्वज पहले सप्त-सिन्धु-प्रान्त में ही रहते थे। कालान्तर में धर्म्म-विरोध उत्पन्न हुआ। इस कारण उनमें परस्पर लड़ाइयाँ होने लगीं। फल यह हुआ कि हमारे पूर्वजों ने पारसियों के पूर्वजों को इस देश से निकाल बाहर किया। वे लोग यहाँ से भाग निकले। इसका उल्लेख पारसियों की पुस्तक अवस्ता में भी है और ऋग्वेद में भी इसका आभास मिलता है। अवस्ता में सप्त-सिन्धु (हसहिन्दु) का ही नहीं, पञ्जाब की सातों नदियों तक के नाम पाये जाते हैं। पारसियों और आर्य्यों के किसी समय एकत्र रहने का यह पक्का प्रमाण है। इस देश से निकाले जाने पर पारसियों के पूर्वज ईरान गये। पर वहाँ भी उनके विपक्षी आर्य्यों ने उन्हें चैन न लेने दिया। वे वहाँ से भी भागे और मेरु-प्रान्त में जा पहुँचे। जब वहाँ हिमप्रलय हुआ तब उन बेचारों को भी वहाँ से अपना डेरा-डण्डा उठाना पड़ा। पारसियों के पूर्वजों को भी सोम-याग आदि क्रिया-कलापों का परिचय था। अतएव यह निर्विवाद है कि वे लोग भी हिमप्रलय के पहले ही ध्रुव प्रान्त में पहुँचे थे और वहाँ भारतीय आर्य्यों के साथ रहे थे। प्रलय होने पर वे सब फिर नावों पर सवार होकर हिमालय पर्वत की ओर भाग आये और उत्तरगिरि पर आकर अपनी नावों का लङ्गर डाला (तेनैतमुत्तरं गिरिमधिदुद्राव-शतपथ-ब्राह्मण, १-८-१-५) जल-प्रलय होने

के पहले, बहुत काल तक, हमारे पूर्वज यहीं आर्य्यावर्त में रह चुके थे और यहीं से "पारसीक आर्य्य और कुछ भारतीय आर्य्य वीरखण्ड (वाकृट्रिया) और ईरान इत्यादि देशों से होते हुए उत्तरी-ध्रुव प्रदेश में जा बसे थे"। यही पावगीजी के परिश्रम दधि से प्राप्त हुआ नवनीत है।

पावगीजी ने भूस्तरशास्त्रज्ञों की सम्मति के आधार पर लिखा है कि हिम-प्रलय या हिमयुग का प्रारम्भ हुए अन्दाज़न २ लाख ४० हज़ार वर्ष हो चुके। यह प्रलय या युग १ लाख ६० हज़ार वर्ष तक रहा। इसके बाद कहीं प्रलय-स्थानीय भूभाग मनुष्य के निवास योग्य हुआ। अर्थात् इस बात को हुए कोई ८० हज़ार वर्ष हो चुके। बात यह कि दो ढाई लाख वर्ष के पहले ही हमारे और पारसियों के पूर्वज मेरुप्रान्त में पहुँच गये थे और वहाँ रहने लगे थे। सो हिमयुग के पहले अर्थात् तीसरे युग में ही भारतीय आर्य्य आर्य्यावर्त के सप्त-सिन्धु-प्रान्त में आबाद हो चुके थे, जिसको कि दस पाँच हज़ार नहीं, लाखों वर्ष हो चुके। उसी तीसरे युग में मानव प्राणी का भी उदय हुआ था। कहाँ? पञ्जाब के लवणगिरि के इतस्ततः उसी सरस्वती-नदी के प्रान्त में। अब आपही सोचिए कि हमारा ऋग्वेद, जिसके अवलम्ब पर ये सब बातें लिखी गई हैं, कितना पुराना होगा?

एक बात बहुत चेष्टा करने पर भी हमारी समझ में नहीं आई। जिस समय ईरानियों के और हमारे पूर्वज आर्य्य बहकते हुए उत्तर को चले जाते थे उस समय उत्तरी ध्रुव के इधर क्या कोई भी देश बसने योग्य उन्हें नहीं मिला। विना रेल, सड़क या अच्छे रास्ते के वे हज़ारों योजन दूर घोर और घने जङ्गलों और जलाशयों को पार कैसे करते चले गये! पावगीजी को कुछ प्रमाण ऐसे भी देने चाहिए थे जिनसे यह सूचित होता कि वे लोग क्यों और किस तरह उत्तर दिशा के छोर तक चले ही गये और वहीं जाकर दम लिया। उन्हें यह भी बताना था कि पारसियों के जिन पूर्वजों को आर्य्यों ने सप्त-सिन्धु-प्रदेश से मार भगाया था और जो उन्हें चोर, दास, राक्षस की पदवी से पूजते थे उन्हीं आर्य्यों के वंशजों या बन्धुओं के साथ ("भारतीय आर्य्यसमवेत च") पारसियों के पूर्वज उत्तर-ध्रुव प्रदेश में रहे क्यों और रह सके कैसे? पर महाजनों की बात काटना या उसमें शङ्का करना हम जैसों के लिए अनधिकारचर्चा होगी। इस कारण इस विषय में हम और कुछ कहने का साहस नहीं कर सकते। नावों पर सवार होकर आर्य्यों ने जब प्रलय-कालीन सलिलराशि को पार कर लिया और ठेठ हिमालय पर वे पहुँच गये तब सप्तसिन्धु-प्रदेश से मेरुदेश तक पहुँच जाना भी उनके लिए कौन बड़ी बात थी।

पावगीजी की यह भी राय है कि दस्यु, दास, राक्षस आदि शब्द जो वेदों में पाये जाते हैं उनका अर्थ "पतित आर्य्य" है। पारसियों के पूर्वज इन्हीं शब्दों से याद किये गये हैं और सुरासुर या देवासुर-संग्राम का मतलब पारसियों के पूर्वजों और आर्य्यों ही के युद्ध से है!

हम सिफ़ारिश करते हैं कि जो लोग मराठी भाषा पढ़ और समझ सकते हैं वे पावगीजी की पुस्तक पढ़ कर उससे अवश्य लाभ उठावें।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

समुद्र-यात्रा का आनन्द।

समुद्र-यात्रा का मज़ा वर्षा-ऋतु में अरब-सागर पार करते समय बम्बई और अदन के बीच मिलता है। उस समय की बात याद आते ही इस समय भी रोमांच हो आता है और साथ ही हँसी भी आती है। एक ओर भारत छोड़ने का खेद और दूसरी ओर समुद्र की बीमारी।

बम्बई में अगस्त में वर्षा का पूर्ण रूप दिखाई पड़ता है। रात-दिन की वर्षा से चित्त व्याकुल हो जाता है। ऐसे समय समुद्र के किनारे चौपाटी पर जाकर समुद्र के दर्शन करने और उसके भयङ्कर और उग्र रूप को देखने से हृदय में डर पैदा होता है। हृदय की ऐसी अवस्था में जहाज़ पर आना ही एक बुरा है। तिस पर किनारे को छोड़ते

एक ही घन्टे के भीतर बीच समुद्र में पहुँच जाने से चक्कर का आना ऐसा शुरू होता है कि मनुष्य के होश गुम हो जाते हैं—भयङ्कर लहरों के साथ जहाज़ के ऊपर-नीचे होने के कारण तबीयत मचलाने लगती है और उलटी का सिलसिला जारी हो जाता है। जहाज़ की छत पर समुद्र का पानी बड़े वेग से आने लगता है और यह प्रतीत होता है कि जहाज़ टुकड़े टुकड़े होकर शीघ्र ही रसातल में पहुँचना चाहता है। ऐसी दशा में सब यात्री छत से नीचे उतार दिये जाते हैं और अपनी अपनी बन्द कोठरियों में जाकर झूठमूठ बिस्तर कहलानेवाली वस्तु पर लेट जाते हैं। परन्तु आराम कहाँ? तबीयत मचलाती है, उलटियाँ जारी ही रहती हैं और मन इतना मलिन और व्याकुल रहता है जितना शायद और किसी भी बीमारी में नहीं रहता। ऐसी अवस्था को सी-सिकनेस (समुद्र की बीमारी) कहते हैं। यह एक विचित्र बीमारी है। जहाज़ के ऊपर-नीचे होने के कारण यात्री के पेट में इतनी खलबली मच जाती है कि उसके भीतर कोई चीज़ नहीं रह सकती।

परन्तु देखने में आया है कि यह समुद्र की बीमारी किसी को अधिक और किसी को कम होती है। जहाज़ के मल्लाहों को जहाज़ पर सब तरह की अवस्था में रहने का इतना अभ्यास हो जाता है कि उन्हें भयङ्कर से भयङ्कर तूफ़ान में भी कुछ पता नहीं लगता। क्रोध तो उस समय आता है जब हम तो बीमार पड़े हुए व्याकुलता से आह मार रहे हों और एक मल्लाह आनन्द से विचरता और हमारी हीनावस्था को देख कर हँसता है। अधिक व्याकुल होकर जब कोई बीमार यात्री जहाज़ के डाक्टर को बुलाता है तब डाक्टर भी हँस कर कह देता है कि कुछ चिन्ता की बात नहीं, शीघ्र अच्छा हो जायगा। उस समय ऐसा मालूम होता है मानो सारे संसार ने हमारे विरुद्ध जाल सा रच रक्खा है।

देखने में आया है कि मनुष्य की प्रकृति और स्वास्थ्य के अनुसार यह बीमारी किसी को अधिक और किसी को कम होती है। इसके सिवा दो चार बार समुद्र यात्रा कर लेने पर भी यह बीमारी कम होती है।

मेरी दूसरी समुद्र की यात्रा में मेरे साथ मेरे एक मित्र थे। बम्बई छोड़ते ही ये सख़्त बीमार हो गये थे। परन्तु मैं क़रीब क़रीब चङ्गा था। मुझे इधर-उधर घूमते और आनन्द से भोजन करते देख कर मेरे मित्र को आश्चर्य होता था, क्योंकि वे सारी यात्रा में लगभग बीमार ही पड़े रहे। उन्हें यह शक होने लगा कि मेरी सहानुभूति उनसे नहीं है और मुझे कोई ऐसी ओषधि मालूम है जिसे सेवन करने से मैं चङ्गा रहता हूँ और उन्हें नहीं बतलाता। परन्तु वास्तव में बात यह है कि इस बीमारी में कोई भी सहायता फलीभूत नहीं होती। मेरी वापसी की यात्रा में मेरे जहाज पर एक पारसी युवा कन्या मार्सेल से चढ़ी, पर यात्रा के आरम्भ से समाप्ति तक वह बराबर बीमार ही पड़ी रही और बम्बई में उतरने पर उसका शरीर अत्यन्त दुर्बल और क्षीण हो गया था।

इँग्लेंड से जहाज़ पर सवार होकर मार्सेल आने में बीच में पुर्तगाल देश के पश्चिमी तट पर बिस्के की खाड़ी बड़ी भयानक और विकट मिलती है। कोई भी मौसम क्यों न हो, इस भयानक खाड़ी को पार करने में प्रायः बड़ा कष्ट होता है। ख़ास कर जाड़े की ऋतु में तो ज़रूर ही तूफ़ान का सामना

करना पड़ता है। वे लोग बड़े भाग्यशाली समझे जाते हैं जो शान्तिपूर्वक इस खाड़ी को तय कर लें।

जाड़े में इँग्लेंड से अमरीका जाते समय भी बहुधा तूफ़ान का सामना करना पड़ता है। इस यात्रा में सन्तोष की बात यह है कि जहाज़ बहुत बड़े बड़े होते हैं। उनका वज़न इतना अधिक होता है कि समुद्र की तेज़ और शक्तिशाली लहरों की टक्करों की मार खाकर भी वे अधिक नहीं हिलते। इधर भारत को आने-जानेवाले जहाज़ों का वज़न अधिक से अधिक बारह हज़ार टन होता है। इसका कारण यह है कि इन्हें स्वेज़ की तंग नहर पार करनी पड़ती है। पर अटलांटिक महासागर पर चलनेवाले जहाज़ों का वज़न साठ साठ हज़ार टन तक का होता है। ये जहाज़ ख़ासे महल से होते हैं। इनमें आनन्द की सब सामग्री और सारे सामान प्रस्तुत रहते हैं। स्नान करने के लिए सुन्दर कुण्ड और सब लोगों को एक साथ मिल कर खाने के लिए सुहावना बड़ा कमरा होता है। सभा, सङ्गीत तथा नाटक इत्यादि के लिए अलग अलग कमरे होते हैं। इसके सिवा दिल बहलाने के लिए तरह तरह के खेलों की और और सामग्री भी उपस्थित रहती है। परन्तु तूफ़ान के समय ये आनन्द की सब चीज़ें व्यर्थ हो जाती हैं। पलँग पर लेटे रहने के अतिरिक्त किसी भी बात की सुध नहीं रहती। अच्छी अच्छी खाने की चीज़ें एक ओर और खेलने की चीज़ें दूसरी ओर पड़ी रहती हैं, उन्हें कोई नहीं पूछता।

जाड़े के बाद वसन्त-ऋतु में इँग्लेंड और अमरीका के बीच अटलांटिक महासागर की यात्रा बड़ी जोखिम की रहती है। जाड़े के दिनों में उसके उत्तर में सारा पानी जम कर बर्फ़ का पहाड़ सा बन जाता है। वसन्त आने पर वही पहाड़ टूट कर कई भागों में बट जाता है। फिर ये छोटे पहाड़ समुद्र-गर्भ पर तैरते हुए दक्षिण की ओर समुद्र की लहरों के साथ बह आते हैं। दूर से यह धुवाँ सा दृष्टिगोचर होता है जिससे आने-जानेवाले जहाज़ों को कुहरे का भ्रम हो जाता है और अपनी तेज़ चाल के कारण जहाज़ों की इस बर्फ़ के पहाड़ से टक्कर हो जाती है, जिससे वे टुकड़े टुकड़े होकर डूब जाते हैं। पाठकों को अभी तक स्मरण होगा कि टाइटानिक नामक साठ हज़ार टन वज़न का एक बड़ा भारी और नया जहाज़ किस प्रकार अपनी प्रथम यात्रा ही में इस बर्फ़ के पहाड़ से टकरा कर चूर हो गया था और अपने सारे क़ीमती माल और यात्रियों के सहित रसातल को पहुँच गया था।

गत योरोपीय महायुद्ध के समय ख़ास कर समुद्र की यात्रा बड़ी भयङ्कर बन गई थी। जर्मनी के पन-डुब्बी जहाज़ों ने (सबमेरीन) जहाज़ी यात्रियों की नाक में दम कर दी थी। वे बिना किसी सोच-विचार के जो जहाज़ मिलता उसी को डुबो देते थे। इसका कारण उनका यह सन्देह था कि यात्री जहाज़ों के द्वारा बारूद तथा सिपाही छिपा कर भेजे जाते हैं। अतएव जर्मन लोग इनके साथ निर्दोष यात्रियों को भी समुद्र के नीचे पहुँचा कर रसातल का मज़ा चखा देते थे।

मेरे एक मित्र सात वर्ष के बाद अमरीका से अपने देश को लौट रहे थे। रास्ते में इँग्लेंड में उतर पड़े—बड़े सोच-विचार के बाद वे फ्रांस आने का एक जहाज़ पर बैठे, परन्तु रास्ते ही में उनके जहाज़ को एक सबमेरीन ने ऐसी टक्कर मारी कि

उनका जहाज़ चकनाचूर हो गया और तमाम यात्री अपने जीवन से सदैव के लिए हाथ धो बैठे। मेरे मित्र की लाश दूसरे दिन इँगलेंड के किनारे पर मिली। हम लोग उनकी लाश लन्दन ले आये और गोल्डर्स ग्रीन के स्मशान में उसका दाह-कर्म किया गया।

इसी प्रकार एक दूसरे मित्र City of Birmingham नामक जहाज़ से देश को छः वर्ष बाद अपने तमाम सामान के साथ वापस आ रहे थे। रास्ते में मार्सेल बन्दर के निकट सवेरे के समय जर्मन की एक सबमेरीन ने जहाज़ को एक ऐसी टक्कर दी कि वह थोड़ी ही देर में अपने सारे साज-सामान के साथ समुद्र के नीचे जा रहा। मेरे मित्र को सौभाग्यवश जहाज़ की एक नाव मिल गई थी। अतएव वे उसी का सहारा लेकर पचास घन्टे तक बिना अन्न-जल समुद्र पर उतराते रहे। दूसरे जहाज़ ने पहुँच कर उनको बचाया। मिस्र देश में उतरने पर उनके शरीर पर उनका कोई वस्त्र नहीं था।

ऐसे ही विकट समय में मुझे भी इँगलेंड से स्वदेश को लौटना पड़ा था। परन्तु मैंने दक्षिण अफ्रीका होकर आने का निश्चय किया। इधर भी मेरे जापानी जहाज़ का पीछा एक सबमेरीन ने किया, किन्तु भाग्यवश बड़ी चतुराई से हमारा जहाज़-कप्तान अपने जहाज़ को ले भागा। रास्ते में डूबे हुए जहाज़ों के सामान बहुत नज़र आये थे और कुछ लाशें भी उतराती हुई देख पड़ी थीं।

ये सब विपत्तियाँ होते हुए भी समुद्र की यात्रा बड़ी रमणीय और स्वास्थ्यदायक होती है। समुद्र से निकल कर ओज़ोन वायु बड़े बड़े रोगों को दूर करती है। समुद्र-यात्रा भिन्न भिन्न देशों की भिन्न भिन्न जातियों और वस्तुओं का परिचय कराती है और ज्ञान की वृद्धि करती है। इसलिए यदि अवसर मिले तो इन तमाम आपत्तियों के होते हुए भी भारत के नवयुवकों को समुद्र-यात्रा अवश्य करनी चाहिए।

जगन्नाथ खन्ना

नानासाहब और कानपुर का हत्याकाण्ड।
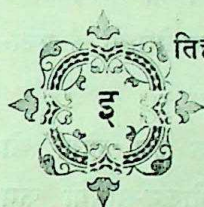
इतिहास-ग्रन्थों में प्रायः यही लिखा है कि अन्तिम पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र धोंधू-पन्त उपनाम नानासाहब सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोह के समय अँगरेज़ों के विरुद्ध हो गये थे और तदनुसार उन्होंने कानपुरस्थ अँगरेज़ों को घेर लिया था। कुछ समय तक अँगरेज़ लड़ते रहे, पर बाद को नानासाहब ने उन्हें नावों द्वारा इलाहाबाद पहुँचा देने की प्रतिज्ञा की; किन्तु ज्यों हीं वे नावों पर सवार हुए त्यों ही नानासाहब ने अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करके उनके ऊपर गोलों की वर्षा शुरू करा दी और इस प्रकार उनके संहार का उपाय किया। इस घटना के समय एक सौ पचीस स्त्री और बालक क़ैद भी हो गये थे। जब जनरल हैवलक की सेना कानपुर पहुँची तब नानासाहब उन सब क़ैदियों का वध करके वहाँ से भाग गये।

परन्तु श्रीमती होरटेस्टेट Mrs. Hortestet नामक एक अँगरेज़-महिला ने जो उक्त घटना के समय उपस्थित थीं—और जिन्होंने स्वयं विद्रोह-

जनित कष्टों को सहन किया था, सिपाही-विद्रोह के सम्बन्ध में फ़रासीसी भाषा में एक पुस्तक लिखी है। उसका अनुवाद फ़ारसी भाषा में हो गया है। उस अनुवाद-ग्रन्थ का नाम 'ख़ातुमे-इँगलिसी-दरबलवाए-हिन्द' है।

लेखिका ने अपनी पुस्तक में भारतवासियों की घोर निन्दा की है। अतएव भारतवासियों के पक्षपात का दोषारोपण उन पर नहीं किया जा सकता और उनका कथन विश्वास के योग्य है। उन्होंने अपने उस ग्रन्थ में उपर्युक्त घटना के सम्बन्ध में जो लिखा है उसका भाव इतिहास-प्रेमियों के मनोरञ्जनार्थ यहाँ दिया जाता है :—

"नानासाहब बीस दिन तक हम लोगों को घेरे रहे। हम लोगों के दुर्ग में भोजन-सामग्री कम पहुँचती थी। हमारा जेनरल घायल होगया था और वह अस्पताल में पड़ा था। इसी बीच भारतीयों ने हम लोगों पर आक्रमण किया। सन्धि के प्रस्तावानुसार नानासाहब ने हम लोगों को इलाहाबाद तक निरापद पहुँचा देने की प्रतिज्ञा की। मैं भी अस्पताल से बाहर निकल कर अपने बच्चों के सहित एक गाड़ी पर सवार हुई। नदी के किनारे पर हमारे लिए अनेक नावें प्रस्तुत थीं। हमारी गाड़ी नदी तक बिना किसी विघ्न-बाधा के पहुँच गई। आपत्ति से निस्तार पाने के कारण मैं अपने बच्चों सहित भगवान् को धन्यवाद देने लगी। नौकारूढ़ हो जाने पर हम लोगों को यह विश्वास हो गया कि अब दुष्ट भारतीय हमारा किसी प्रकार का अनिष्ट न कर सकेंगे।

"किन्तु अकस्मात् यह देख पड़ा कि हमारी नावों के ऊपर भीषण गोला-वृष्टि हो रही है। हमारे साथियों में से अधिकांश विनष्ट हो गये। दो एक गोले हमारी नाव पर भी आ पड़े। हम सब लोग भय से अधीर हो गये। हमारी नाव डूबने लगी। परन्तु न जाने किसकी दया से हवा का एक झोंका उसमें आ लगा। उसके प्रभाव से वह नौका डूबने से बच कर किनारे की तरफ़ को बहने लगी, और तट पर जा लगी। मैं, मेरी पुत्री, पुत्र और अन्य साथी सब नाव से उतर कर नदी के किनारे पर खड़े हो गये और मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगे। क्षण क्षण भर में हमें डर लग रहा था कि विद्रोही हम लोगों पर आक्रमण कर हमारे गले काट डालेंगे। उनके हाथों से हमारी मृत्यु अवश्यम्भावी है। भय के मारे हमारे नेत्र बन्द हो रहे थे।

"इसी अवसर पर नानासाहब घोड़े पर सवार अपने कई एक अनुचरों के सहित वहाँ आ पहुँचे। उनके इशारे से सब लोगों ने अपनी अपनी तलवारें म्यान में कर लीं। नानासाहब हम सबको क़ैद करके फिर शहर ले गये। क़ैदियों में स्त्रियाँ और पुरुष दोनों थे। हमारी संख्या कुछ एक सौ आठ थी। नानासाहब ने हम लोगों को एक मकान में रख कर हमारे लिए आराम का भी प्रबन्ध कर दिया। परन्तु हमें उस क़ैदख़ाने से बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी।

"इसी अवसर पर मैंने नानासाहब को सर्वप्रथम देखा था। लोग चाहे जो कुछ कहें, पर मैं बराबर यही कहूँगी कि कानपुर-हत्या-काण्ड के सम्बन्ध में नानासाहब कदापि दोषी नहीं। उस समय वे ३० वर्ष के युवक थे। उनका अन्तःकरण सीधा-सादा और स्वभाव बहुत अच्छा था। मैं ज़ोर देकर कहती हूँ कि यदि विद्रोही लोग नानासाहब

की बात मानते तो कानपुर का हत्या-काण्ड कदापि न हुआ होता। विद्रोहियों के प्रतिज्ञा-भङ्ग का यह कारण था कि जिस समय हम लोग इलाहाबाद जाने के लिए नावों पर सवार हुए उसी समय उस बारूदख़ाने में, जो अस्पताल के मध्य में था, आग लगा दी गई। इससे उन्होंने यह समझा कि अँगरेज़ों का एक दल युद्ध जारी रखने के अभिप्राय से जेनरल हैवलक की प्रतीक्षा में वहाँ छिपा हुआ है। किन्तु जीवित व्यक्तियों में जो लोग निर्दोष प्रमाणित हुए नानासाहब ने उनके प्राण-हरण नहीं किये।

"हम लोग पन्द्रह दिन तक नानासाहब की क़ैद में रहे। हम लोग बहुत सुखी थे। नानासाहब ने हमें बाहरी लोगों के साथ सम्पर्क रखने का निषेध कर दिया था, परन्तु कई एक अँगरेज़-स्त्रियाँ अपनी चञ्चल प्रकृति के कारण उनकी आज्ञा उल्लङ्घन करने लगीं। कुछ दिनों के बाद जासूस लोग पत्थरों के साथ चिट्ठियाँ बाँध कर क़ैदख़ाने में फेंकने लगे। उनमें से एक को पढ़ कर हमने जाना कि अँगरेज़ों ने नानासाहब की फ़ौज को पराजित कर दिया है और विद्रोही नगर छोड़ कर भागनेवाले हैं।

"दूसरे दिन भयानक कोलाहल सुनाई पड़ने लगा। यह जान पड़ता था कि कहीं घोर युद्ध हो रहा है। थोड़ी देर में नानासाहब का एक अफ़सर वहाँ आकर उपस्थित हुआ। जिन चार अँगरेज़-स्त्रियों ने बाहरी मनुष्यों के साथ पत्र-व्यवहार किया था उन्हीं को पकड़ने की आज्ञा उसे दी गई थी। वे पकड़ कर काट डाली गईं। सबसे पहले एक मुसलमान घातक द्वारा एक स्त्री का वध किया गया। उसके बाद आरम्भ हुआ अमानुषिक अत्याचार, निष्ठुरता सहित भीषण हत्या-काण्ड और रक्तपात।"

क्या इतने पर भी नानासाहब बदमाश या हत्याकारी नाम से अभिहित किये जाने के पात्र हैं, इस ओर ध्यान देना इतिहास के मार्मिक ज्ञाताओं का काम है।*

महावीरसिंह वर्म्मा

वर्षा।

निरन्तर एक ही समय के सेवन से कहीं प्राणी उकता न जायँ—इसी से मानों अनन्तलीलामय के विश्व-प्रपञ्च में परिवर्तन-शील षट्‌ऋतुओं का विकास हुआ है। इन षट्-ऋतुओं में वर्षा भी कैसी सुन्दर ऋतु होती है। इस ऋतु में मेघ-माला-मण्डित महीध्र-कुल, शस्य-श्यामला धरित्री, पत्र-कुसुम-फलावनत तरुकुञ्ज, एवं लहरी लीलाललित सर-सरिता और गिरि-निर्झर अपने अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। वर्षा की अवर्णनीय महिमा से मानव ही नहीं, वरन् पशु-पक्षी, स्थावर-जङ्गम और लता-गुल्म-वनस्पति भी सरस नवीन जीवन धारण कर लोकोत्तर आनन्द का उपभोग करने लगते हैं। समस्त संसार आनन्दमयी रसमयी एवं लावण्यमयी लहरों में लहराता हुआ दीखने लगता है। प्रत्येक प्राणी के मानस में भिन्न भिन्न भावों का सञ्चार होता है। परन्तु अखिल प्राणियों में मनुष्य ही ज्ञानवान् होता है। अतएव जब उसे सौन्दर्यमयी प्रकृति के मनोहर दृश्य दृष्टि-गोचर होते हैं तब उनका अनुभव करके वह उन्हें

---

* प्रवासी में प्रकाशित श्रीयुत अरुणदत्त के एक लेख के आधार पर।

अभिव्यक्त करता है। यदि अभिव्यञ्जक कवि है तो वह उन्हीं भावों को कवित्व-कला के योग से सजीव कर देता है। 'वार्षिकी' प्रकृति के मञ्जुल दृश्यों के निरीक्षण से हमारे प्राचीन संस्कृत कवियों के हृदय में कैसे भाव आविर्भूत हुए, उनके उत्कर्ष से उन्होंने कवित्व-कौशल का कितना परिचय दिया और उनमें कितनी प्रकृतिपर्य्यवेक्षण-पटुता है—इत्यादि बातों का यत्किञ्चित् परिचय संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध छः कवियों की कविताओं से यहाँ दिया जाता है। संस्कृत के आदि-कवि भी भगवान् वाल्मीकिजी ने रामायण के किष्किन्धा-काण्ड में विप्रलम्भ शृङ्गार-पोषक और उद्दीपन-विभावभूत 'वर्षा ऋतु' का अत्यन्त सरस और स्वाभाविक वर्णन किया है। शरद ऋतु की प्रतीक्षा करते हुए सीता-विरह-विधुर राम 'प्रस्रवण' गिरि पर अवस्थान किये हैं। वे लक्ष्मण से कह रहे हैं,—'देखो वर्षा ऋतु का समय आ गया है'। पहाड़ों के समान घन-घोर घटाओं से आकाश आवृत है।

"अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः।
संपश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसन्निभैः"॥

वैदिक-विज्ञान में यह प्रसिद्ध है कि (याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति) जिन किरणों से सूर्य तपता है उन्हीं से पर्जन्य बरसता है।

वाल्मीकिजी ने इस अनूठे भावबिन्दु को समासोक्ति-सीपी में गिरा कर कैसा अच्छा मोती बनाया है और उसे कविता देवी के श्रीचरणों में अर्पित किया है!

"नवमासधृतं गर्भमाकाशस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्"॥

अर्थात् आकाश ने सूर्य्य की किरणों से समुद्र के रस को पीकर नव मास पर्य्यन्त गर्भ धारण किया, और अब वर्षा में रसायन (षट् रसों के कारणभूत) जल को उत्पन्न किया। प्रस्तुत द्यौ वृष्टि से अप्रस्तुत अनेक नायिकाओं का नव मास तक गर्भ धारण करना और उनसे प्रेमास्पद पुत्रों की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है।

"मन्दमारुतनिश्वासं सन्ध्याचन्दनरञ्जितम्।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम्"॥

आकाश कामातुर विरही सा शोभित हो रहा है। उसका मेघमय-शरीर विरह-पाण्डु हो गया है। जो मारुत मन्द मन्द बह रहा है मानो वही उसका निश्वास है। मानो सन्तापहारी शीतोपचार के लिए उसने सायङ्कालीन अरुणिमा का चन्दन लगाया है।

अपनी ही तरह सभी को विरही देखने से राम की कितनी विरह-प्रबलता सूचित होती है! रूपकानुप्राणित उत्प्रेक्षा कितनी मर्मतलस्पर्शिनी है!

"एषा धर्म्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति"॥

आँसुओं से भीगी, शोक से विकल, मैथिली की भाँति ग्रीष्म-सन्तप्त-भूमि नवीन जल से सिक्त हो उच्छ्वास छोड़ रही है। पृथिवी का विरहिनी मैथिली से उपमा देना कितना औचित्य-पूर्ण है।

सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः।
पतन्तीवाकुला दिक्षु तोयधारास्समन्ततः॥

सम्पूर्ण दिशाओं में जल-धाराएँ गिर रही हैं। यह दृश्य ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों रतिक्रीड़ा में स्वर्गीय महिलाओं के हार-मौक्तिक टूट टूट कर बिखर रहे हैं।

आकाश से बरसते हुए जल-विन्दुओं से रमणियों के टूटे हुए हार के मोतियों की उत्प्रेक्षा कितनी हृदय-हारिणी है?

'नवाम्बुधाराहतकेसराणि द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि।
कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि नवानि हृष्टाः भ्रमराः पतन्ति'॥

नवीन अम्बुधारा से जिनका किञ्जल्क धुल गया है ऐसे कमलों पर से उड़ कर भौंरे किञ्जल्क-वाले नवीन कदम्ब-पुष्पों पर जा बैठते हैं।

कदम्ब के कुसुम वर्षाकाल के ही कुसुम हैं। वर्षा-ऋतु में जल के बरसने से उनमें किञ्जल्क पैदा होता है। और कमल वर्षा ही में नहीं किन्तु अन्य ऋतुओं में भी होते हैं। नवीन जल-विन्दु कमल के किञ्जल्क का जनक नहीं होता है। इसलिए जल-विन्दुओं से कमल का किञ्जल्क धुलता है और कदम्ब का नहीं। इसी भाव को झलकाने के लिए कवि ने नवाम्बुधारा में नव पद लगा दिया है।

'रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं प्रभुज्यते जम्बुफलं निकामम्।
अनेकवर्णं पवनावधूतं भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्'॥

वर्षा-ऋतु में रस से भरे हुए भौंरे की भाँति काले काले जामुन लोग खूब खाते हैं और विविध रङ्गवाले पक्के आम हवा से टूट टूट कर पट पट गिरते हैं।

इन दो पद्यों में 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' कैसा चमत्कार दिखा रहा है। घटना मूर्तिमती होकर आँखों के सामने अपने आप नाच उठती है।

मार्गानुगः शैलवनानुसारी सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य।
युद्धाभिकामः प्रतिनागशङ्की मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसन्निवृत्तः॥

मतवाला हाथी किसी पहाड़ी जङ्गल को जा रहा था। रास्ते में मेघ की गर्जना सुन कर वह दूसरे हाथी के भ्रम से लड़ने को लौट पड़ा।

यह श्लोक भ्रान्तिमान् का उत्तम उदाहरण है।

'वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाश्शिखिनः प्लवङ्गाः'॥

नदियाँ बह रही हैं, बादल गरज रहे हैं, मतवाले हाथी चिंघाड़ रहे हैं, वन-प्रदेश सुहावना लग रहा है, वियोगी अपने प्रिय का ध्यान कर रहे हैं, मयूर नाच रहे हैं, बन्दर आनन्द मना रहे हैं।

"षट्पादतन्त्री मधुराभिधानं
प्लवङ्गमोदीरितकण्ठतालम्।
आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु सङ्गीतमिव प्रवृत्तम्"॥

भ्रमरावली तन्त्री है, उसका मधुर गुञ्जार तन्त्री का मधुर स्वर है। मण्डूकों का निनाद कण्ठताल का काम दे रहा है। मेघरूप मृदङ्गों की मधुर ध्वनि हो रही है। ऐसा जान पड़ता है मानों वन में सङ्गीत आरम्भ हुआ है।

पाठकगण! आप लोगों ने वर्षा-ऋतु में देखा होगा कि बक-पंक्तियाँ बादलों के पास मँडराया करती हैं। किन्तु बड़े चाव से मँडराने का कोई दूसरा ही हेतु है। 'कर्णोदय' ग्रन्थ में लिखा है कि—गर्भं बलाकादधतेऽभ्रयोगान्नाके निबद्धावलयः समन्तात्—जब मादा बक आकाश में उड़ती हैं तब मेघ के योग से वे गर्भ धारण करती हैं। प्रकृति-निरीक्षण-पटु कवि इस प्रसङ्ग को कैसे अनूठे ढंग से वर्णन करता है।—

"मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती,
सम्मोदिता भाति बलाकपङ्क्तिः।
वातावधूतावरपौण्डरीकी
लम्बेव माला रचिताम्बरस्य"॥

सम्मिलन को चाहनेवाली मेघ की प्रेमिकायें, श्वेत बकपङ्क्तियाँ उत्तम वस्त्रों से सजे सजाये किसी शृङ्गारी की पवन से हिलती हुई श्वेतकमलों की माला सी शोभित हो रही हैं।

"बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुवृत्तेन शुकप्रभेव,
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन"॥

बीच बीच में महौरी रंग से रङ्गी हुई, तोते के पङ्ख जैसी हरी शाल ओढ़े हुए मानों कोई कामिनी शोभित हो रही है। बीच बीच में वीर-बहूटियों से चित्रित नवीन हरित तृणाङ्कुरों से वन-स्थली की शोभा ठीक ऐसी ही है।

"घनोपगूढं गगनं सतारं न भास्करो दर्शनमभ्युपैति।
नवैर्जलौघैर्धरणी विसृप्ता तमो विलिप्ता न दिशः प्रकाशाः"॥

दिन रात आकाश बादलों से छिपा रहता है। सूर्य्य तो कभी नहीं दिखलाई देता। पृथ्वी पानी से परिपूर्ण ही रहती है और दिशायें आकाश से आच्छादित रहती हैं। प्रकाश का तो कहीं नाम ही नहीं।

अच्छा जब सूर्य्य किसी समय नहीं दिखलाई देता था तब लोग सूर्यास्त की बेला कैसे जानते होंगे? उसके जानने का उपाय वाल्मीकिजी ने इस तरह बतलाया है—

"निलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः"॥

घोंसलों में बसेरा लेती हुई चिड़ियों तथा मुँदे हुए कमलों से एवं खिली हुई मालती से सूर्य्यास्त की बेला जान ली जाती थी।

पाठकों को उपर्युक्त कविता के पढ़ने से भली भाँति मालूम हो गया होगा कि वाल्मीकिजी की रचना में 'वैदर्भी रीति', प्रसाद गुण' एवं 'स्वभावोक्ति अलङ्कार' का कितना बाहुल्य है।

आदि-कवि की सरणी का अनुसरण करते हुए महाकवि 'कालिदास' ने भी कुबेर-शाप से अपनी प्रियतमा से बिछुड़े हुए किसी यक्ष की मानसिक वृत्ति का लक्ष्य करके विप्रलम्भशृङ्गार-विषयक मेघदूत-काव्य की रचना की है। उन्होंने मेघ को सन्देशवाहक बना कर अपने काव्य में वर्षा-ऋतु का बहुत ही हृदय-ग्राही वर्णन किया है। वाल्मीकिजी के नायक श्रीरामचन्द्र की भाँति यक्ष भी 'अबलाविप्रयुक्त' है। आदि-कवि की ही भाँति कालिदास का भी पर्वत और जङ्गल के दृश्यों को चित्रित करना वर्णनीय विषय है। कालिदास की कवित्व-प्रतिभा वर्षा-वर्णन में कितनी उन्मेषित हुई है यहाँ लेख के विस्तार भय से उसका दिग्दर्शन-मात्र पाठकों को कराया जाता है।

"आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्।
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श"॥

आषाढ़ के प्रथम दिवस में यक्ष ने रामगिरि की चोटियों को ढके हुए मेघ को इस धज में देखा मानों कोई मतवाला हाथी अपने तिरछे पैने दाँतों से खेल कर रहा हो।

रंग विरंगे धनुष से चित्रित श्याम मेघ की गोपवेषधारी श्यामसुन्दर के शरीर से उपमा कितनी मनोहारिणी है! यक्ष कहता है—हे मेघ! पद्मरागादि मणियों के प्रभापटल के मिश्रण के समान बांबी से जो इन्द्र-धनुष निकलता है उससे तुम्हारा शरीर उज्ज्वल और चन्द्रिका धारण किये हुए गोपवेषधारी कृष्ण भगवान् के कृष्ण कलेवर की कान्ति को धारण करेगा। वर्षा-ऋतु में कदम्ब

कुसुमित होते हैं, कन्दलिका मुकुलित होती है और पृथिवी से उत्कट गन्ध निकलती है।

यक्ष मेघ से कहता है—अधउगे केसर से हरे काले पीले कदम्ब के फूलों को देख कर तथा जल-प्रदेश में मुकुलित कन्दलिका को खाकर, एवं पृथिवी की उत्कट गन्ध को सूँघ कर सारङ्ग (हाथी, हिरन या भौंरे) तुम्हारा मार्ग सूचित करेंगे।

इसी भाव का एक श्लोक रघुवंश में भी है। लङ्का से लौटे हुए रामचन्द्रजी सीता से कहते हैं:—

> गन्धश्च धाराहतपल्वलानां
> कादम्बमर्धोद्गतकेसरञ्च।
> स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुः
> यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे।

धाराओं से आहत पल्वलों (छोटी छोटी तलैयों) की गन्ध, अधउगे केसरवाले कदम्ब के कुसुम और मयूरों की बोली तुम्हारे विना मुझे अतीव असह्य हुई।

आदि-कवि के वर्षा-विषयक पद्यों में और मेघ-दूत के पद्यों में कहीं कहीं भाव-सादृश्य पाया जाता है। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

'मेघाभिकामा परिसंपतन्ती'...इस श्लोक में 'आदि-कवि' ने बक-पङ्क्तियों को मेघों की प्रेमिका होने का उल्लेख किया है। कालिदास ने भी उसी भाव को 'नूनमाबद्धमाला सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः' (यक्ष कहता है बक-पङ्क्तियाँ आकाश में तुम्हारी सेवा करेंगी। प्रिय होने से तुम उनकी आँखों को बड़े सुन्दर लगते हो।) में दिखलाया है। 'वाल्मीकि' ने 'सुरतामर्दविच्छिन्नाः...' में आकाश से गिरे हुए जल-बिन्दुओं से काम-केलि में टूटे हुए मोतियों की उत्प्रेक्षा की है। 'कालिदास' ने भी "भावः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमानैः, मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्" (अलकापुरी वर्षा-काल में सात सात मञ्ज़िलवाले मकानों से सलिलधारा बरसानेवाले मेघ-मण्डल को मोतियों से गूँथी हुई अलकों के समान धारण करती है।) में जल-धाराओं की मोतियों से उपमा दी है। "प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्" (वर्षा-काल में पथिक अपने अपने देश को जाते हैं) इस श्लोक के भाव को कालिदास ने "यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतामध्वगानाम्। मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि" (मार्ग में थके हुए पथिकों के समूह को मन्द्र स्निग्ध ध्वनि से मेघ जाने के लिए प्रेरित करता है) में अभिव्यक्त किया है। "निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति" से वाल्मीकिजी बतलाते हैं कि विष्णु भगवान् वर्षा-काल में शेष-शायी होते हैं और शरद में उठते हैं। कालिदास भी वही बात "शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ" में व्यक्त करते हैं।

भक्ति-प्रधान श्रीमद्भागवत-ग्रन्थ के दशम स्कन्ध में वर्षा का वर्णन विलक्षण रीति से किया गया है। उसमें उपमालङ्कार द्वारा प्रत्येक वर्षा-विषयक घटना के साथ तत्त्वज्ञान का समावेश किया गया है। भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामायण में इसी पद्धति का अवलम्बन किया है। पर सबसे अधिक चमत्कार तो यह है कि जिस तरह दार्शनिक और पौराणिक होते हुए भी आपकी सहृदयता नष्ट नहीं हुई उसी तरह प्रस्तुत विषय की सरसता को गहन दार्शनिक तत्त्वों से उपमा देने में आप सफल रहे। निम्नलिखित वर्षा-विषयक कुछ उदाहरण भागवत से दिये जाते हैं:—

सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।
अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ॥

बिजली और उसकी कड़क के सहित सान्द्र और नीले मेघ से आच्छादित आकाश में सूर्य्य, नक्षत्र आदि कोई भी नहीं दिखलाई देते थे। वह जीव नामधारी सगुण ब्रह्म की तरह शोभित होता था। बिजली की सत्त्व से और उसकी कड़क की रजोगुण से एवं नीले मेघों की तमोगुण से उपमा दी गई है।

"अष्टौ मासान्निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु।
स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यःकाल आगते" ॥

सूर्य्य ने आठ महीने तक जो उदकमय वसु (धन) लिया था उसे समय आने पर उसने फिर देना आरम्भ किया। इसमें भी समासोक्ति अलङ्कार है, क्योंकि प्रस्तुत सूर्य्य के जल ग्रहण करने और वर्षा में त्यागने से किसी अप्रस्तुत राजा के कर लेने, और प्रजा के हित के लिए समय पर उसे व्यय करने की प्रतीति होती है। यह पद्य वाल्मीकिजी के 'नवमासधृतम्' की छाया का ही प्रतिविम्ब है। अलङ्कार भी दोनों में एक ही हैं। स्त्रीलिङ्ग द्यौः से गर्भवती नायिका की प्रतीति में अधिक चमत्कार है अथवा पर्जन्य से राजा की प्रतीति में, इसका निर्णय सहृदयों के ही ऊपर छोड़े देते हैं।

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे॥

गार्हस्थ्य जीवन-सुलभ तापत्रय से सन्तप्त विरक्त गृहस्थों के यहाँ जब कोई महात्मा विष्णुभक्त आ जाता है तब वे जैसा उत्सव मनाते हैं वैसेही मयूर मेघों के आने पर मनाते थे। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसका रामायण में अनुवाद ही कर दिया है—लक्ष्मण देखहु मोर गण, नाचत बारिद पेखि। गृही विरति रति हर्ष बस, विष्णु भक्त कँह देखि।

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः।
स्थैर्य्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥

गुणी पुरुषों में भी जैसे कामिनियों का प्रेम नहीं स्थिर रहता वैसेही सम्पूर्ण संसार के प्रिय होने पर भी मेघों में बिजली का प्रेम चञ्चल था।

"गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः" ॥

विपत्तियों पर विपत्तियाँ पड़ने पर भी विष्णु-भक्तों के समान पर्वत जल-धाराओं से आहत होने पर भी व्यथित नहीं होते थे। गोस्वामीजी ने इसे इस तरह कहा है—बूँद अघात सहैं गिरि कैसे, खल के वचन सन्त सहैं जैसे।

"मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्नाह्यसंस्कृताः।
नाभ्यस्यमाना श्रुतयो द्विजैः कालहता इव" ॥

कालचक्र के फेर से ब्राह्मणों से त्यक्त वेदों के समान तृणाच्छादित मार्ग संस्कार-भ्रष्ट और संदिग्ध हो गये थे।

जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥

कलियुग में पाखण्डियों के कुतर्क से जैसे वैदिक-मार्ग लुप्त हो गये हैं वैसेही मेघों के बरसने पर जल-प्रवाह से पुल टूट गये हैं। गोस्वामीजी ने 'मार्गा बभूवुः' इस श्लोक के उपमेय भाग के साथ 'जलौघैर्नरभिद्यन्त' इस श्लोक के उपमान भाग को सङ्कलन कर अपने वर्षा-वर्णन में इस तरह कहा है—हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परै नहिं पन्थ। जिमि पाखण्ड विवाद से, लुप्त भये सद्ग्रन्थ॥

यदि वाल्मीकिजी ने बीरबहूँटियों से चित्रित हरित वनस्थली को कामिनी बना कर बीच बीच में महौरी रङ्ग से रँगी हरी शाल ओढ़ाई है

तो व्यासजी ने भी उसे राजलक्ष्मी बना कर शिलीन्ध्र की छत्र-छाया की है ।

हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिता।
उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ।

बीर बहूँटियां से लाल, नवीन तृणों से हरी, और शिलीन्ध्र से छाया की हुई भूमि राजलक्ष्मी की तरह शोभित होती थी ।

ऋतु-वर्णन महाकाव्य ही का अंग है । महाकवि माघ और भारवि भी वर्षा-वर्णन में चुप नहीं हैं । इन कवियों के भी कुछ उदाहरण आगे दिये जाते हैं ।

जब विजयाकाङ्क्षी अर्जुन इन्द्रनील पर्वत पर तपश्चर्य्या कर रहे थे तब तपोभङ्ग के लिए इन्द्र ने वहाँ अप्सराओं को भेजा । उसी समय मानों समाधि-भङ्ग में अप्सराओं की सहायता के लिए वर्षा का भी आगमन हुआ था ।

"सजलजलधरं नभो विरेजे,
विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम् !
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने,
जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु " ॥

आकाश सजल मेघों से सुन्दर लगता था, विद्युत् की प्रभा विकास को प्राप्त हो रही थी । गम्भीर मेघ-ध्वनि सभी दिशाओं को गूँजती थी । जिससे प्रेमी और प्रेमिकाओं में मची हुई रति-कलह भग्न होती थी ।

व्यथितमपि भृशं मनोहरन्ती-
परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा ।
परभृतयुवतिः स्वनं वितेने,
नवनवयोजितकण्ठरागरम्यम् ॥

पके हुए जामुन खाने से अत्यन्त हृष्ट कोकिला अपने मधुर कण्ठ से नये नये राग अलापती थी, जिससे व्यथित हृदय भी आकृष्ट हो जाते थे !

"सरजसमपहाय केतकीनां
प्रसवमुपान्तकनीपरेणुकीर्णम् ।
प्रियमधुरसनानि षट्पदाली
मलिनयति स्म विनीलबन्धनानि" ॥

केतकी का पुष्पपराग पूर्ण था ही, समीपवाले कदम्ब पुष्प की पराग उस पर और भी जमा हो गई । किन्तु मधु की लोभिनी भ्रमर-पंक्ति उसे (केतकी के पुष्प को) छोड़ कर नीले वृन्तवाले बन्धूक-पुष्पों को मलिन कर रही थी ।

बन्धूक को भाषा में दुपहरिया का फूल कहते हैं । इसका वृन्त नीला होता है और पँखुरियाँ लाल होती हैं । कवि का भाव यह है कि भौंरे इतने लोभी हैं कि वे लाल पँखुरियों पर बैठ बैठ कर उनको नीला करना चाहते हैं, जिसमें और कोई मधु को न देख सके । मधु के पर्याप्त होने पर भी मधु-सञ्चय से भ्रमर विरत नहीं है । लोभ का भी कोई ठिकाना है !—इस श्लोक को पढ़ कर 'भारवेरर्थ-गौरवम्' की स्मृति आ जाती है ।

मुकुलितमतिशय्य बन्धुजीवं धृतजलबिन्दुषु शाद्वलीस्थलीषु ।
अविरलवपुषः सुरेन्द्रगोपाः विकचपलाशश्रियं समीयुः ॥

छोटे छोटे पौधों से हरी भूमि पर पानी के बूँद जमा थे । उस पर मोटी मोटी बीरबहूँटियाँ (अपनी ललाई से) बन्धूक की कलियों को नीचा दिखा कर खिले हुए किंशुक-कुसुमों की कान्ति को धारण करती थीं ।

भारवि की कविता में केतकी के फूलों को छोड़ कर भौंरों का बन्धूक के फूल पर जाने और बीरबहूँटियों का विकसित किंशुक-राशि की श्री को धारण करने का वर्णन अवश्य चमत्कार-पूर्ण है । पर वर्षा में कोकिलाकलाप खटकता है । क्योंकि आलङ्कारिकों ने नियम कर दिया है कि "मधावेव

पिकध्वनिः" अर्थात् कोकिल की ध्वनि वसन्त में ही होती है। यद्यपि कोकिला का शब्द श्रावण तक सुनाई देता है तथापि उसका वर्णन 'नियमपुरस्कारात्मक कविसमय' के विरुद्ध है। संस्कृत-कवियों में भारवि को छोड़ कर शायद ही अन्य किसी कवि ने वर्षा में कोकिल के बोलने का वर्णन किया हो।

"पिकं हि मूकीकुरु धूमयोने ! भेकं च सेकैः मुखरीकुरुष्व।
किन्तु त्वमिन्दोः प्रपिधाय बिम्बं खद्योतमुद्योतयसीत्यसह्यम्"॥

हे धूमयोने (मेघ), तू चाहे कोयल को मौन कर दे और चाहे मेंढकों को मुखर बना दे, पर चन्द्रमा के बिम्ब को छिपा कर जुगुनुओं का तेरा चमकाना सहा नहीं जाता। इस पद्य से भी वर्षा में कोकिल का मौन होना ही पाया जाता है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए कृष्ण भगवान् ने द्वारका से जब प्रस्थान किया तब मार्ग में 'रैवतक' पर्वत पड़ा। उसी पर्वत पर मानों भगवान् कृष्ण के स्वागत के लिए सब ऋतुएँ भी आईं। महाकवि माघ ने उसी स्थल पर वर्षा-ऋतु की घटनाओं को चित्रित किया है। महाकवि कालिदास के रघुवंश के वसन्त-वर्णन की तरह कविवर माघ ने द्रुतविलम्बित छन्द में वर्षा का वर्णन तथा उसके चतुर्थपाद में 'यमकालंकार' सर्वत्र सन्निवेश किया है। प्रत्येक पद्य में 'यमकालङ्कार' का अड़ंगा लगाने पर भी मनोगत भावों की अभिव्यक्ति में ज़रा भी शिथिलता नहीं आने पाई। और न उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालङ्कारों की ही न्यूनता हुई है। इन्हीं सब बातों को देख कर कहना पड़ता है—'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'।

'स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः, प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयां जगतीधरम्'॥

जिसके पयोधर (कुच और मेघ) गलित नहीं हुए और जिसमें बिजली नेत्रों के समान वार वार चमक रही है ऐसे जलधरों की पंक्ति, सङ्केत-समय के प्रतीक्षण में असमर्थ अधीर नायिका की भाँति अपने प्रियतम रैवतक से मिल गई है।

अनुययौ विविधोपलकुण्डलद्युतिवितानकसंवलितांशुकम्।
धृतधनुर्वलयस्य पयोमुचः शवलिमावलिमानमुषो वपुः॥

इन्द्र-धनुष को धारण किये मेघ की विचित्रता, तरह तरह की मणियों से जड़े हुए कुण्डलों के प्रभा-पुञ्ज से मिश्रित श्यामवर्णवाले कृष्ण भगवान् के शरीर का अनुसरण करती थी अर्थात् उसी तरह शोभित होती थी। "रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्" मेघदूत के इस श्लोकांश का भाव माघ की उपर्युक्त उक्ति में झलकता है।

द्विरददन्तवलक्षमलक्षयत स्फुरितभृङ्गमृगच्छविकेतकम्।
घन-घनौघविघट्टनया दिवः कृशशिखं शशिखण्डमिव च्युतम्॥

हाथी के दाँत की तरह सफ़ेद पतली कोर का केतकी का फूल ऐसा दिखलाई देता था मानों आपस में मेघों के टकराने से चन्द्रमा का टुकड़ा भूमि पर गिर पड़ा और उस पर बैठा हुआ भौंरा (चन्द्रमा में बैठे हुए) मृग की छवि देता था।

'दलितमौक्तिकचूर्णविपाण्डवः स्फुरितनिर्झरशीकरचारवः।
कुटजपुष्पपरागकणाः स्फुटं विदधिरे दधिरेणुविडम्बनाम्॥

पिसे हुए मोतियों के चूर्ण के समान सफ़ेद और बहते हुए झरनों के कणों की तरह सुन्दर कुटज के पुष्प की पराग के कण दही के रेणु की विडम्बना करते थे।

'प्रणयकोपिभृतोऽपि पराङ्मुखाः सपदि वारिधरारवभीरवः।
प्रणयिनः परिरब्धुमथाङ्गनाः ववलिरे वलिरेचितमध्यमाः'॥

प्रणय-कोप धारण किये हुए मानिनियाँ मुँह फेरे बैठी थीं। उसी समय एकाएक बादल गरज उठा।

फिर तो डर कर वे अपने प्रियतमों से इस तरह लिपट गईं कि उनका मध्य-भाग त्रिवलियों से ख़ाली हो गया।

विगतरागगुणोऽपि जनो न कश्चलति वाति पयोदनभस्वति।
अभिहितेऽलिभिरेवमिवोच्चकैरननृते ननृते नवपल्लवैः॥

मेघों की वायु लगने से कौन विरक्त मनुष्य चञ्चल नहीं हो उठता? इस सच्ची बात को भौंरों के ज़ोर से कहने पर ही मानों नवीन पल्लव नाचने लगते थे।

आनन्द वृन्दावन-चम्पू के रचयिता संस्कृत-साहित्य के अन्तिम कवि कविवर कर्णपूर ने वर्षा-वर्णन में कैसी पीयूष-वर्षा की है। उनके केवल दो पद्यों का ही उदाहरण देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं।

पुरन्दरधनुर्लतातिलकचारुभालस्थला-
तडित्कनककेतकीदललसत्तमःकुन्तला।
विलोलविसकण्ठिका विमलमालभारिण्यसौ
नवोन्नतपयोधरा हरिमनोहरा दिग्वधूः॥

नवीन और उन्नत पयोधरवाली, आशा-वधू ने कृष्ण भगवान् के मन को हरने के लिए अपने विशाल भालस्थल पर इन्द्र-धनुष का तिलक लगाया है। उसने विद्युत्-रूप केतकी के दलों से अन्धकार-रूप कचकलापों को गूँथा है और चञ्चल बकपङ्क्तियों की माला धारण की है।

सारङ्गीकुलकाकुकर्षणविधेराश्वासवाङ्मानिनी-
मानक्षोदनपेषणी भ्रमिवलन्सुस्निग्धमन्द्रध्वनिः।
नृत्यन्मत्तमयूरमौरजरवः प्राणेशविश्लेषणी-
प्राणाकर्षणमन्त्रपाठनिनदो मेघस्वनः श्रूयते॥

मेघ-ध्वनि ऐसी सुनाई पड़ती थी मानों 'पी कहाँ पी कहाँ' की राग गानेवाली चातकियों के झुण्ड को आश्वासन देनेवाली हो। या मानिनियों का मान पीसने के लिए घुमाई हुई पेषणी (सिल) का मन्द्र स्निग्ध ध्वनि हो। या नाचते हुए मत्त मयूरों के लिए मृदङ्ग-ध्वनि हो। या वियोगिनियों के प्राण खींचने के लिए मन्त्र-पाठ की ध्वनि हो।

रामसेवक पाण्डेय

ऊषे!

(१)

ऊषे, बता किस व्यक्ति ने निर्माण हाँ, तेरा किया?
बालार्क-सिन्दुर-बिन्दु तेरे भाल में किसने दिया?
सर्वप्रथम तेरा हुआ था जन्म कब संसार में?
किसने लिया निज गोद में सर्वाग्र तुझको प्यार में?

(२)

सुख-शान्ति-युत कमनीय वह कैसा मनोहर-काल था?
आलोक-मय करता गगन तब कौन सा ग्रह-जाल था?
उस काल हँसते थे कुसुम, क्या थी सुकोकिल बोलती?
तेरे सुस्वागत हेतु तटिनी क्या विकल थी डोलती?

(३)

प्रातः निकल निज गेह से करती अहो, जब तू गमन:
नव-रश्मियों का मुकुट तेरे शीश रखता कान जन?
क्या तरल चपल समीर कर लाती यहाँ तुझको वहन?
या ले तुझे निज अङ्क में लाता त्वरित है श्याम-घन?

(४)

ऊषे, यहाँ आती सदा तू बात किसकी मान कर?
किसने दिया यह रूप तुझको दिव्य-तम क्या जान कर?
तुझको कभी देखा नहीं सन्ताप में या शोक में,
किस वस्तु को सबसे अधिक तू चाहती है लोक में?

(५)

वन बाग़ बीच बिखेरती बहु नित्य मुक्ता-माल तू,
क्या तोड़ लाती मार्ग से निज मोतियों की डाल तू?
किसने सरलता-मय दिया यह भाव तुझको त्याग का?
किसने भरा तेरे हृदय में रङ्ग यह अनुराग का?

(६)

ऊषे, भला, किस हेतु करती तू निरन्तर हास है ?
किसको रिझाने के लिए यह सरल भृकुटि-विलास है ?
कहती न कुछ, बस, एक ही सी तू खड़ी है हँस रही ?
है जान पड़ता गेह से निज सीख कर आई यही।

(७)

क्षण-काल ही के हेतु हे ऊषे, सकल तव साज हैं।
चाञ्चल्य-पूरित बालिका के से सभी तव काज हैं।
इन्द्रप्रभा सी रङ्गिमा ले शीघ्र तू आती यहाँ,
चपला सदृश बस चमक कर है लौट फिर जाती कहाँ ?*

मुकुटधर

वृक्ष-चर प्राणी।

साधारणतः विचार करने से यह प्रकट होता है कि विश्वात्मा ने सृष्टि को शोभान्वित करने के हेतु वृक्षों की उत्पत्ति की है। यदि वृक्ष न उगते तो भू-मण्डल उदासीन और सूना जान पड़ता। परन्तु बात इतनी ही नहीं है। वृक्ष कवि के हृदय को भी विकसित करते और उस पर प्रफुल्ल प्रकृति के वसन्तोत्सव का आनन्द मेह बरसाते हैं। वे चित्रकार की दृष्टि में नैसर्गिक छटा प्रदर्शित करते हैं, सन्तप्त प्रेमियों को आश्वासन तथा भूखों को भोजन प्रदान करते हैं और पथिकों के शान्ति-निकेतन हैं। वे देवताओं को नित्य नया शृङ्गार देते हैं। वे ईश्वर का गौरव प्रकट करते हैं। इन सबके अतिरिक्त वे अगणित प्राणियों के संसार भी हैं।

वसन्त-ऋतु में वृक्षों पर नाना प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति होती है। ग्रीष्म-ऋतु के आते ही उनकी शाखायें कीड़े-मकोड़ों का क्रीड़ा-स्थल बन जाती हैं। प्रातःकाल और सन्ध्या समय वहाँ अगणित प्राणियों की मधुर-ध्वनि होती रहती है। सारांश यह कि प्रत्येक ऋतु और प्रत्येक काल में झूमते हुए वृक्ष-संसार पर आन्दोलन-पूर्ण साम्राज्य विद्यमान रहता है।

अब किसी जंगल के वृक्ष-शिखर पर ध्यान दीजिए। वहाँ भी अद्भुत व्यापार हो रहा है। कीड़े-मकोड़े, पक्षी और अन्य छोटे छोटे प्राणियों के अतिरिक्त वहाँ मनुष्य और हाथी के समान विशाल देहधारी प्राणियों की बस्ती है। ये प्राणी देखने में भयानक और अद्भुत हैं। इसी बस्ती में बसनेवाले एक-दो प्राणियों के सम्बन्ध में यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

कई एक बातों पर विचार करने से यही कहना पड़ता है कि वनमानुष और बन्दर अत्यन्त चित्ताकर्षक प्राणी हैं। महत्त्व की श्रेणी में मनुष्य के बाद इन्हीं का दर्जा आता है। आश्चर्य तो यह है कि बिना वृक्ष के इनकी जीवन-नौका सुरक्षित नहीं रह सकती। इनके शारीरिक गठन पर ध्यान देने से जान पड़ता है कि ईश्वर ने आजानुबाहु और तूल देह प्रदान करके इन वनचरों को वृक्ष ही पर निवास करने योग्य बनाया है। ये प्राणी भूमि पर चल तो सकते हैं; परन्तु ये चतुष्पद थलचारी नहीं कहे जा सकते। यथार्थ में ये चतुर्बाहु वृक्ष-चर जन्तु हैं और हमें ऐसा ही कहना उचित भी होगा। इनका जीवन वृक्ष ही पर निर्भर है। वह इन्हें निवासस्थान और भोजन देता है। इसके अतिरिक्त आपत्ति-काल में इनकी रक्षा भी वही करता है।

मनुष्य के पैर में उसकी देह को सँभालने, तोलने और उछालने की शक्ति है। इसी कारण जिस सहू-

---

* लेखक के "पादार्घ्य" से।

लियत से मनुष्य भूमि पर चल फिर सकता है वैसा पैर में पकड़ने की शक्ति न रहने से वह वृक्ष की पींड तथा उसकी डालों पर नहीं चढ़ सकता। परन्तु बन्दर और वनमानुष के पैर में देह के बोझ को सँभालने की शक्ति नहीं होती। जब ये जन्तु पृथ्वी पर चलते-फिरते हैं तब इनके पैर शरीर के बोझ से झुक जाते हैं। निस्सन्देह, इनके पैर में पकड़ने की अपूर्व शक्ति रहती है और इसी कारण इन्हें वृक्षों पर घूमना-फिरना सहज जान पड़ता है।

हाँ, प्रायः सब छोटे बड़े बन्दर अपने अपने वृक्षों से उतर कर जंगल में दूर दूर तक दौड़ लगाया करते हैं। परन्तु वनमानुष वैसा नहीं कर सकता। बन्दर की भाँति पृथ्वी पर दौड़ने में वनमानुष को उतना ही कष्ट होता है जितना कि मनुष्य की देहरूपी दो पाँव की गाड़ी को चतुष्पद जीवधारी के चार पाँव की तेज़ी से मुक़ाबिला करने में कष्ट होता है। सच तो यह है कि वनमानुष, बन्दरों के समान पृथ्वी पर चल ही नहीं सकता। और यदि वह चले भी तो बन्दर की बराबरी नहीं कर सकता। यह देखा गया है कि वनमानुष पृथ्वी पर चलते समय अपने लम्बे लम्बे हाथ और लम्बी लम्बी उँगलियों से लाठी का काम लेता है और पीछे के दोनों पाँव यहाँ तक सिकोड़ लेता है कि उँगली के जोड़ भूमि को छूने लग जाते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि बहुतेरे मनुष्याकृत बन्दर पृथ्वी और वृक्ष दोनों पर समानगति से चलते हुए देखे गये हैं।

इससे यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्राणी अपने पूर्व-पुरुषों के निवास स्थान से अलग किये जाने पर जीवित रह सकेंगे। यदि आज संसार भर के वृक्ष काट दिये जायँ तो ये सब प्राणी एक एक करके कुछ ही दिनों में अवश्य नष्ट हो जायँगे। प्रथम तो ये भूमि पर रह ही नहीं सकेंगे। यदि रह भी गये तो भोजन की अड़चन आ उपस्थित होगी। हाँ, स्लोथ के समान इनकी गति नहीं होगी।

स्लोथ एक वृक्ष-चर प्राणी है। उसका डील-डौल हाथी के समान होता है। वह उसी प्रकार वृक्ष पर उलटा लटका रहता है जैसा कि चमगीदड़। परन्तु उसमें ख़ूबी यह होती है कि वह चमगीदड़ के समान वृक्ष को छोड़ कर थोड़ी देर के लिए भी अन्यत्र नहीं जा सकता। और और वृक्षचर प्राणी कम से कम पानी पीने के लिए वृक्ष का परित्याग करते हैं। परन्तु स्लोथ पैदा होने के दिन से मरण समय तक वृक्ष का आश्रय नहीं छोड़ता। खुले दिन में पत्तों के रस से और बरसात में वृक्ष की शाख पर बहते हुए पानी से वह अपनी प्यास बुझाता है। कहते हैं कि यदि उक्त जीवधारी नीचे गिरा दिया जाय या उसका वृक्ष जड़ से काट दिया जाय तो वह अवश्य ही मर जायगा। पृथ्वी पर सरक कर चलना उसके लिए वैसा ही असाध्य है जैसा कि सिंह के लिए वृक्ष पर चढ़ना।

प्रायः ऐसा ही हाल चमगीदड़ और उड़नेवाली लोमड़ी का भी होता है। ध्यान रहे कि इन दोनों प्राणियों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है तो केवल डील-डौल का। यदि चमगीदड़ों का वृक्ष काट दिया जाय तो सम्भव है कि वे कन्दराओं, सूने मकानों और मन्दिरों में जा बसेंगे और किसी न किसी प्रकार अपनी गुज़र-बसर कर लेंगे; परन्तु उड़नेवाली लोमड़ी का ऐसा हाल नहीं होता। वे कृत्रिम स्थान—घर, मन्दिर आदि—में रह ही नहीं सकते। उन्हें उलटा लटक कर विश्राम करने के लिए

वृक्ष अवश्य चाहिए। बन्दर के बच्चे के समान इनके भी बच्चे अपनी माँ के पङ्ख से चिपटे रहते हैं। यदि सब वृक्ष काट दिये जायँ तो इनका घर और इनकी ज़िन्दगी दोनों नष्ट हो जायँ और इनके बाल-बच्चों का भी नाम निशान मिट जाय। सच तो यह है कि ये सारे प्राणी वृक्ष ही पर सुखी रह सकते हैं।

एक बार एक वन्य-पशु निरीक्षक ने केमरून के जङ्गल में एक जवान वनमानुष को तीस चालीस फ़ुट की लम्बी छलाँग भरते हुए देखा था। छलाँग भरने के लिए उस प्राणी को आहिस्ते से उछलते देख दर्शक को पहले ऐसा बोध हुआ मानों वह सात-आठ फ़ुट से अधिक दूर नहीं जा सकेगा। इसमें सन्देह नहीं कि ईश्वर ने इन मूल निवासियों को जो अपूर्व शक्ति प्रदान की है उसका मुख्य उद्देश यही है कि इन्हें वृक्ष के उच्च शिखर पर से भूमि पर की छोटी छोटी झाड़ियों में आने-जाने में सुगमता हो। कहने को तो यह ईश्वर की साधारण देनगी है; परन्तु इस देनगी की महत्ता उस समय जान पड़ती है जब चीता वनमानुष के बच्चों के निवास-कुञ्ज पर धावा करता है। ऐसे अवसर पर बच्चों का असाधारण कौशल और असीम साहस देखते ही बनता है। उसी निरीक्षक को जङ्गल में एक वनमानुष को लगभग सात फ़ुट ऊँचा देख कर बड़ा ताज्जुब हुआ था। वह प्राणी क्षण भर में एक ऊँचे वृक्ष के शिखर पर इस फुर्ती से जा चढ़ा कि दर्शक के अतिरिक्त वहाँ जितने जङ्गली मनुष्य खड़े थे उन सबको उसके चढ़ने के ढंग पर विस्मय होने लगा।

इन जीवधारियों का मार्ग वृक्ष के चोटियों के ऊपर से होता है। जब इनका कोई शत्रु इन्हें हानि पहुँचाने के लिए वृक्ष पर चढ़ता है तब वे शीघ्रता से एक वृक्ष की चोटी से दूसरे वृक्ष की चोटी पर जा पहुँचते हैं। यदि वहाँ भी बचाव का कोई लक्षण न दीखा तो वे निकट के दूसरे वृक्ष की चोटी की किसी मोटी शाखा को पकड़ कर यहाँ तक अपने नज़दीक खींच लाते हैं जिसमें उन्हें दूसरे वृक्ष की चोटी पर जाने में सुगमता हो। इस उपाय से वे एक वृक्ष की चोटी से दूसरे वृक्ष की चोटी पर कूदते-फाँदते चले जाते हैं। वृक्षों की चोटी को मार्ग बना कर सैर करना जितना आनन्ददायक होता है उससे अधिक भय भूमि पर गिरने और मृत्युमुख में पहुँच जाने का भी रहता है। परन्तु इन चतुर्बाहु वृक्षचरों को इस बात की थोड़ी भी परवाह नहीं रहती। वे कभी नीचे गिरते भी नहीं हैं।

वृक्षों पर वनमानुष के चलने-फिरने का ढंग बड़ा अनोखा होता है। एक सीध में ऊपर की ओर दौड़ लगाते समय वे अपने आगे की दोनों प्रलम्ब बाहुओं को सिर की सीध में ऊपर उठाये रहते हैं। इससे भी अधिक उनकी कौतूहल-वर्धक और चमत्कार-पूर्ण चाल तब देखने में आती है जब वे वायु-मण्डल में तीस-चालीस फ़ुट की लम्बी छलाँग भरते हुए आकाशवृत के समानान्तर बड़ी दूर दूर की यात्रा करते हैं। ऐसी लम्बी यात्रा के समय मार्ग में उन्हें वृक्षों की शाखाओं का आश्रय लेना ही पड़ता है; परन्तु प्रशंसा की बात यह है कि वे उस पर पल भर के लिए भी विश्राम नहीं करते। हाँ, जब कभी वे चलते चलते अपने मार्ग से विचलित होकर कुछ नीचे आ जाते हैं तब वे अपनी राह पकड़ने के लिए हाथ आई हुई शाखा के ऊपर इस सफ़ाई और नज़ाकत से आ बैठते हैं जिसे देख

'हारीज़न्टल बार' पर कसरत करनेवाला पहलवान भी दङ्ग हो जाता है।

पहले लोगों का ऐसा अनुमान था कि वन-मानुष अपने लिए घर नहीं बना सकता। वह किसी अन्य वृक्ष-चर प्राणी के बने बनाये घर पर अधिकार कर लेता है और वहीं सकुटुम्ब जा बसता है। परन्तु लन्दन के चिड़ियाख़ाने से निकल भागनेवाले वनमानुष के बच्चे ने लोगों के इस मिथ्या विश्वास पर पानी फेर दिया। ज्योंही वह जन्तु अपने पिँजरे से अलग हुआ त्योंही वह समीपस्थ सनोवर के वृक्ष पर जा चढ़ा। उस समय बर्फ़ पड़ रही थी। अतः वह शीत से बचने के लिए पत्ते और टहनियों का घर बना कर उसमें जा बैठा। प्रातःकाल जब उसकी खोज की गई तब लोगों को उसका भेद प्रकट हुआ। कहते हैं कि उस वनमानुष का बनाया हुआ घर दर्शकों के अवलोकनार्थ एक सुरक्षित स्थान में रख दिया गया है। देखने में तो वह घर बड़ा बेढङ्गा मालूम होता था, परन्तु था मज़बूत।

इन सब बातों से प्रकट होता है कि वृक्ष वन-मानुष का मार्ग है। उसमें लगनेवाले मधुर फल उसके और उसके आश्रितों के खाद्य पदार्थ हैं। उसकी नरम नरम टहनी और चिकने पत्ते उसकी सन्तति के लिए गृह-निर्माण करने की सामग्री है। यहाँ यह भी बता देना अनुचित न होगा कि रात्रि में जब वन-मानुष के बच्चे अपने घर में सोते रहते हैं तब उनका शूर पिता चौकसी करने के लिए नीचे उतर आता है और वृक्ष-पाद से टिक कर चैतन्य बैठा रहता है।

यों तो वृक्ष पर सभी प्रकार के बन्दरों की प्रबलता रहती है। परन्तु स्पाइडर नामक बन्दर की प्रचण्डता देख कर यही कहना पड़ता है कि उसके समान वृक्ष पर पूर्णतः अधिकार रखनेवाला प्राणी वनमानुष के अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है। उसके हाथ अङ्गुष्ठहीन होते हैं; परन्तु उसकी पूँछ शक्तिशाली होती है और वह वैसा ही कार्य कर सकती है जैसा कि हाथ से किया जा सकता है। इसलिए यदि उसकी पूँछ का नाम पञ्चम बाहु रक्खा जाय तो कुछ भी अनुचित न होगा। जिस प्रकार और दूसरे बन्दर वृक्ष पर अपने हाथ से लटक सकते हैं तथा झूल सकते हैं ठीक उसी भाँति वह भी अपनी पूँछ से लटक सकता है और झूल भी सकता है। इतना ही नहीं, वह उससे अपना भोजन भी सङ्ग्रह कर सकता है। हनुमानजी ने कपटी कालनेमि का वध उसे पूँछ से लपेट कर और भूमि पर पटक कर किया था। स्पाइडर बन्दर भी ठीक इसी युक्ति से अपने शत्रु का संहार करता है। प्रकृति बड़ी कौतुकमयी है। सिवा उसके यह कोई नहीं बता सकता कि अङ्गुष्ठ के अभाव की पूर्ति पूँछ में क्यों की गई है।

अन्त में यह बात बता देना आवश्यक होगा कि ऊपर कहे गये वृक्षचरों के अतिरिक्त और भी ऐसे छोटे-बड़े हज़ारों प्राणी हैं जिनका निर्वाह वृक्ष के बिना नहीं हो सकता। इनमें से कुछ तो आपत्ति से बचने के लिए और कुछ शिकार पकड़ने के हेतु वृक्ष पर जा बसे हैं। यथार्थ में ईश्वर ने इनके पूर्व-पुरुषों को वृक्ष पर नहीं पैदा किया था और न उन्हें वृक्ष पर सुगमता से चढ़ने-उतरने तथा छलाँग भरने योग्य अवयव ही दिया था। परन्तु आवश्यकता की प्रबल प्रेरणा ने इन्हें भूमि पर से भगा कर वृक्ष की शरण में पहुँचा दिया। वहाँ जीवन-सङ्ग्राम के लिए जिन

बातों की माँग इनको हुई वह सबकी सब इनके हाथ, पाँव, पञ्जे और पूँछ में विशेष प्रकार की शक्ति सञ्चित करके इन्हें दे दी गई। चीता, सर्प, रीछ आदि भयानक जीवधारियों को वृक्ष की शरण जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। तो भी वे वृक्षों पर घूमते फिरते हैं। इसका मूल कारण यही जान पड़ता है कि ये या तो घात लगाने के लिए वृक्ष पर जा चढ़ते हैं अथवा भूमि पर शिकार की कमी होने से वृक्षों पर उसकी बाहुल्यता देख धावा मारते हैं।

वनमालीप्रसाद शुक्ल

निषिद्ध फल।

[२]

दुर्गाचरण बाबू कुछ देर चुप्पी साधे बैठे रहे। अन्त में बोले—लौकिक दृष्टि से और धर्म के विचार से ऐसा करना ठीक भी होगा ?

बात काट देने पर राय बहादुर चिढ़ जाते हैं। उन्होंने कहा, "हमने अच्छा समझा है, इसी से लिखा है। यदि तुम्हें हमारा बतलाया उपाय पसन्द न हो तो अपनी लड़की ब्याहने के लिए कोई और घर देख लो। हम तो एकही बात कहते हैं। पहाड़ चाहे तो हिल जाय, पर प्रफुल्ल मित्र की बात कभी टल नहीं सकती।"—यह कह कर उन्होंने गम्भीरता धारण करली।

राय बहादुर की यह संजीदगी देख कर दुर्गाचरण बाबू डर गये। यदि यह लड़का हाथ से निकल जायगा तो जन्म भर पछतावा रहेगा। राय बहादुर को ज़मींदारी से चालीस हज़ार सालाना मुनाफ़ा होता है। कलकत्ते में उनके दो-तीन क़िता मकान हैं। यही एकलौता बेटा है। बी० ए० में पढ़ता है। लड़का सुशील है, चाल-चलन का अच्छा है, रूप-रङ्ग भी भला है—ठहराव में एक पैसा भी न देना होगा—ऐसा सुयोग और कहाँ मिल सकता है? इसी कारण बड़ी नम्रता से, ख़ूब मीठी मीठी बातें करके दुर्गाचरण बाबू अपने भावी समधी को मनाने का यत्न करने लगे। उन्होंने कहा—'घर में' सलाह करके जैसा निश्चय होगा उसकी सूचना राय बहादुर साहब के भवन पर जाकर दे आऊँगा।

तब राय बहादुर, प्रसन्न मन से, अपने मुसाहबों समेत वहाँ से बिदा हुए। उनकी बड़ी लैंडो गाड़ी, वेलर घोड़ों की टापों से, दुर्गाचरण बाबू की मामूली गली को कम्पायमान करती हुई सड़क की ओर चली गई।

[३]

फागुन में ही शुभ विवाह सम्पन्न हो गया। राय बहादुर के पुत्र का नाम है हेमन्तकुमार।

तो कुहवर का दस्तूर नहीं हुआ? हुआ तो था। किन्तु इसके पश्चात् ससुराल में जितने दिन वधू रही, उसके दर्शन तक हेमन्तकुमार को नहीं हुए। राय बहादुर ने पहले से ही अपनी स्त्री और अपने अन्यकुटुम्बियों को वह भीषण आज्ञा सुना दी थी। घरवाली अपने स्वामी के स्वभाव को भली भाँति जानती थी। अतएव उक्त आज्ञा को रद कराने के लिए उसने व्यर्थ उपाय नहीं किया।

एक सप्ताह के लगभग ससुराल में रह कर रानी अपने नैहर को चली गई।

दुर्गाचरण बाबू ने अपने जमाई को घर बुलाना

कुछ होशियारी का काम न समझा। गृहिणी ने इसके लिए उनसे कई बार अनुरोध किया तब उन्होंने कहा—देखो, जमाई को सबेरे बुला कर शाम होने से पहले ही वापस भेज सकता हूँ। किन्तु उनके पुत्र के साथ अपनी बेटी रानी की भेंट नहीं हुई—इस बात पर यदि समधीजी विश्वास न करें तो मैं सफ़ाई का गवाह कहाँ पाऊँगा? समधी के स्वभाव को तो तुम जानती ही हो?

जेठ के महीने में जमाई षष्ठी* हुई। दुर्गाचरण बाबू ने शिवपुर में, अपनी बड़ी लड़की की ससुराल में, रानी को भेज दिया और इस तरह एक मातबिर एलिबाई गवाह पैदा किया। इसके बाद हेमन्त-कुमार को अपने घर बुला कर उसका पूजन किया।

आषाढ़ में राय बहादुर ने पुत्र-वधू को अपने घर बुलवा लिया। हेमन्त अब तक अन्तःपुर में ही सोता था, इस बार उसके सोने के लिए बाहर-वाले कमरे में प्रबन्ध किया गया। इस वर्ष उसे परीक्षा के लिए तैयारी करनी थी, किन्तु वह मेघ-दूत को मुखाग्र करके और पयार आदि अनेक छन्दों में विरह-मूलक कविता रच करके वर्षा बिताने लगा।

दो बार जलपान और दो बार भोजन करने के लिए ही हेमन्त भीतर जाता था। रानी को इस घर में आये कोई पन्द्रह दिन हुए होंगे कि एक दिन अकस्मात् दोनों की 'चार आँखें' होगईं।

बीच बीच में अब इस प्रकार नेत्र-मिलन होने लगा। चार बार अन्तःपुर में प्रविष्ट होने के अति-रिक्त, वहाँ आने-जाने के लिए हेमन्त ने और भी बहाने ढूँढ़ लिये।

शाम को एक दिन हेमन्त भीतर से जल-पान करके आ रहा था कि एक स्थान पर रानी घूँघुट में मुँह छिपाये दुबकी हुई खड़ी थी। आस-पास कोई भी न था। तब हेमन्त उसकी साड़ी को स्पर्श करता हुआ चला आया।

इसके पश्चात् प्रतिदिन ही ऐसा होने लगा। फिर धीरे धीरे पत्र-विनिमय, ताम्बूल-विनिमय—और ठीक मालूम नहीं क्या क्या विनिमय,—उसी क्षणिक मिलन में होने लगा।

वर्षा बीत गई, शरद-ऋतु आई। भादों का अन्तिम सप्ताह है। (उस समय महीने की पहली तारीख़ को पत्र प्रकाशित होने का नियम न था।) 'वङ्गवाणी' नामक मासिक पत्रिका में हेमन्त की लिखी एक कविता प्रकाशित हुई। शीर्षक था "चकोर की व्यथा"। कविता के नीचे उसका नाम भी था। न जाने किस तरह उस कविता पर राय बहादुर की नज़र पड़ गई। दूसरे ही दिन उन्होंने अपने समधीजी को पत्र लिखा—"बहू को यहाँ आये बहुत दिन हुए। जान पड़ता है, वह अपनी मा की याद करती है। अतएव कनागत उतरते ही आप उसे कुछ दिनों के लिए लिवा ले जा सकते हैं।"—दुर्गाचरण बाबू बेटी की बिदा करा ले गये।

[४]

कार्तिक में, दुर्गापूजा की छुट्टी के बाद, प्रेसि-डेंसी कालिज खुले दो-तीन दिन हुए थे कि क्लास में हेमन्त को एक पत्र मिला। सिरनामे के अक्षर देख कर पहचाना नहीं जा सका कि किसने भेजा है। पता अँगरेज़ी में नहीं, बँगला में लिखा है। लिखावट किसी स्त्री के हाथ की जँचती है।

* बङ्गाल में इस तिथि को ससुर जमाई को अपने घर बुलाता और उसकी पूजा आदि करता है।

पत्र देख कर हेमन्त को अचम्भा हुआ। क्योंकि कालिज के पते पर उसकी चिट्ठी-पत्री कभी आती नहीं। चिट्ठी पर मुहर शिवपुर की है। पास बैठे हुए एक छात्र ने कहा—'क्या श्रीमतीजी का पत्र है'? "नहीं"—कह कर हेमन्त ने पत्र को कोट की बुक-पाकेट में छिपा लिया और ऐसा भाव दिखलाया मानों वह अध्यापक की वक्तृता में मन को विशेषरूप से सन्निविष्ट किये हो।

किन्तु असल बात यह है कि उसके मन में निम्नलिखित प्रश्न उदित होने लगे—

(१) शिवपुर में मेरी बड़ी साली की ससुराल है। तो क्या वहीं से पत्र आया है?

(२) और कभी नहीं आया। आज ही क्यों आया?

(३) तो रानी ने अपनी बहन की मारफ़त हमें पत्र भिजवाया है?

(४) यदि यही बात हो तो उसकी बहन के मारफ़त उसे चिट्ठी भेजना हमारे लिए अनुचित तो न होगा?

(५) यदि लिख भेजूँ तो वह मेरे पिता के हाथ तो नहीं पड़ सकती?

(६) सबके बाप जिस तरह के हैं, उस तरह के मेरे पिता जी क्यों नहीं? इतने कठोर, इतने निष्ठुर क्यों हैं?

इन्हीं दुरूह बातों को सोचते सोचते एकाएक हेमन्त को प्यास का अनुभव हुआ। क्लास के बिलकुल पीछे, दरवाज़े के पास ही, वह बैठा था। झट से बाहर खिसक गया। पानी के लिए उसे पानी पिलानेवाले के पास नहीं जाना पड़ा। क्योंकि पाकेट में, लिफ़ाफ़े के अन्दर वह चीज़ थी जिससे उसकी तृषा शान्त होने को थी। बग़ीचे में घुस कर वह पत्र खोल कर पढ़ने लगा।

उसमें लिखा था—

स्वस्तिश्री हेमन्त बाबू,

मालूम नहीं, हमें पहचान सकोगे या नहीं; क्योंकि तुमने हमें कुहबर में सिर्फ़ एक ही दिन देखा था। उसे ८।६ महीने होगये। हम तुम्हारी जेठ सास हैं, तुम्हारे ससुर की बड़ी लड़की। ऊपर लिखे पते पर हमारी ससुराल है।

हमारी सास ने तुम्हें नहीं देखा—एक बार देखना चाहती हैं। तुम्हारे कालिज से शिवपुर बहुत दूर नहीं—बहुत होगा तो एक घण्टे का रास्ता। शिवपुर घाट पर उतर कर जिसे हमारा पता बताओगे वही रास्ता बतला देगा। तुमसे हमें भी अत्यन्त आवश्यक काम है—अतएव जितनी जल्दी हो सके, एक दिन अवश्य अवश्य आओ। दोपहर को बारह बजे से लेकर दो बजे के बीच में आओ तो अच्छा हो। हम अपनी सास की अनुमति से तुम्हें यह पत्र लिख रही हैं।

आशीर्वादिका
यामिनी।

पुनश्च :—रानी भी कल से यहीं है। अगले रविवार को पिताजी इसे लिवा ले जायँगे।

१७ नं० विनोद बोस की गली,
शिवपुर।
२५ कार्तिक।

पत्र को, ख़ास कर अन्त की दो पंक्तियों को, दो तीन बार पढ़ कर हेमन्त क्लास में लौट आया। उस समय अध्यापक महोदय सानेट का स्वरूप समझा कर कह रहे थे कि अन्त की दो पंक्तियों में ही सानेट का सारा मधुर रस सञ्चित रहता है।

हेमन्त नहीं कह सकता कि उस दिन कालेज में, बाक़ी घण्टों में कौन कौन वक्तृताएँ हुईं।

रात को पलँग पर लेट कर वह सोचने लगा—

रानी आई है, इसी लिए क्या यामिनी ने मुझे बुलाया है? अथवा उनकी सास मुझे देखने के लिए सचमुच ही उत्सुक हैं? वहाँ जाने पर क्या रानी से भेंट होगी? भाग्य तो ऐसा है नहीं। "पिता की बात रखने के लिए रामचन्द्र वन को चले गये थे, मैं कन्या होकर पिता के सत्य को क्यों डिगाऊँ?"—यामिनी के मन का यह भाव हो तो?—हो तो हुआ करे। वे यदि मुझे कुछ खिलाना-पिलाना चाहेंगी तो मैं हर्गिज़ राज़ी न हूँगा। पान का एक बीड़ा भी न खाऊँगा।—नहीं, मुलाक़ात क्यों न होगी? अवश्य होगी। मालूम होता है कि सब बातों पर विचार करके ही यामिनी उसे अपने घर ले गई हैं। यामिनी के पिता ही सत्य के रज्जु से आबद्ध हैं—यामिनी तो उस फन्दे से बाहर हैं। जान पड़ता है कि हमारे दुःख से उनका हृदय पसीज गया है—इसी से इस उपाय की योजना की है। नहीं तो घर के पते पर चिट्ठी न भेज कर कालेज के पते पर क्यों भेजतीं? और यह बात लिखने का क्या कारण है कि वहाँ रानी रविवार तक रहेगी?—ऐसा जान पड़ता है कि भेंट हो जायगी।

इस प्रकार का सोच-विचार करने में रात बीत गई। सबेरा होगया। हेमन्त ने आज स्नान भोजन आदि शीघ्र ही कर लिया। और दिन की अपेक्षा आज वह एक घण्टे पहले ही कालेज के लिए रवाना होगया। मानों आज ग्यारह बजे से ही लेक्चर शुरू होने को है।

पौने ग्यारह बजे कालेज के फाटक के आगे गाड़ी से उतर कर हेमन्त ने कोचवान से कहा, "आज देर से घर आऊँगा, अतएव चार बजे से पहले यहाँ गाड़ी लाने की ज़रूरत नहीं।"

गाड़ी वापस चली गई। दरवान के पास पुस्तकें आदि रख कर हेमन्त एक किराये की गाड़ी में जा बैठा। उस समय कलकत्ते में बिजली के द्वारा चलनेवाली ट्रामगाड़ी न थी। घोड़े की ट्राम थी जो बीच बीच में अचल हो जाती थी। इसलिए ट्राम का विश्वास करना हेमन्त को ठीक न जँचा।

किराये की गाड़ी ने उसे चाँदपाल घाट तक पहुँचाया—वहाँ से शिवपुर के लिए वह नौका पर सवार हुआ। गङ्गा के वक्ष से ही शिवपुर नज़र आने लगा। उस ओर हेमन्त व्याकुलता-पूर्ण दृष्टि से टक-टकी लगा कर देखने लगा। नौका चल रही है—बिलकुल मतवाले हाथी की चाल से!—मल्लाह महा आलसी हैं! क्यों नहीं जल्दी डाँड़ चलाते।

शिवपुर घाट पर उतर कर मकान का पता लगाने में भी कुछ समय नष्ट हुआ। मालूम हुआ कि घर-मालिक छबड़े के वकील हैं। उनका पुत्र—जो बाग़ बाज़ार में ब्याहा है—कलकत्ते के किसी हाउस का नायब ख़ज़ाञ्ची है। रास्ते में ही एक आदमी से हेमन्त ने ये सब बातें पूछ लीं।

१७ नम्बरवाले मकान के सामने पहुँचते ही हेमन्त ने घड़ी निकाल कर देखा—कालेज से यहाँ तक आने में एक घण्टा और बीस मिनिट का सदुपयोग होगया।

आवाज़ देने पर एक नौकर ने किवाड़ खोल दिये। परिचय पूछ कर वह भीतर ख़बर देने गया। फिर एक नौकरनी ने आकर कहा, "जमाई बाबू, आप प्रसन्न तो हैं? आइए, भीतर आइए"।—उसके पीछे पीछे हेमन्त क्रम से एक दोमञ्ज़िले के कमरे में पहुँचा।

ज़रा ही देर में उन्नीस बीस वर्ष की उम्रवाली

एक गोरी, हँसमुख युवती ने उस कमरे में यह कहते हुए प्रवेश किया कि "भला मुझे पहचान सकोगे?" उसकी गोद में साल भर का एक बालक था।

हेमन्त को याद आई, क़ुहवर में इसे देखा तो ज़रूर था।—"यामिनी दीदी" कह कर वह उसे प्रणाम करने को उद्यत हुआ।

"चलो रहने दो, मैं यों ही तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ। और आशीर्वाद की ही ऐसी क्या ज़रूरत है? राजा तो उसी दिन हो गये जिस दिन रानी के साथ तुम्हारा ब्याह हुआ था।"—यह कह कर यामिनी ने मधुर हास्य की झड़ी लगा दी। साथ ही साथ, बन्द जङ्गले के बाहर बरामदे से एकाधिक तरुणियों के गले की दबी हुई हँसी की ध्वनि सुनी गई। "कौन होरी लड़कियो। भागो, यहाँ से"—कह कर ज्यों ही यामिनी कमरे से बाहर हुई त्यों ही झन झन शब्द करते करते कई चरण-युगल ज़ीने से नीचे उतरे।

यामिनी के फिर लौटने पर हेमन्त ने पूछा—भला हमें यहाँ क्यों बुलाया है?

"जो बतला सको तो तुम्हीं बतलाओ—सन्देश खिलाऊँगी"—यह कह कर यामिनी हँसने लगी।

"नहीं, मैं नहीं बतला सकता—सन्देश मेरे भाग्य में नहीं बदा है।"—यह कह कर हेमन्त ने बच्चे को लेने के लिए हाथ बढ़ाये।

बिलकुल अपरिचित व्यक्ति की गोद में जाने के लिए बालक राज़ी न हुआ। उसकी माता ने उसे कई तरह से समझाया-बहलाया—बेटा जाओ, गोद में जाओ; तुम्हारे मौसा हैं, तुम्हें बहुत चाहते हैं—प्यार करते हैं, राजा बेटा उनकी गोद में जाओ। अभागे उनकी गोद में नहीं जाता तो इससे उनका क्या हर्ज होगा।

घर की राज़ी-ख़ुशी की ख़बर पूछ कर यामिनी बोली—हाँ, तुम यहाँ कै बजे तक ठहर सकते हो?

हेमन्त ने इसका निर्णय पहले ही कर लिया था। उसने कहा—मुझे यहाँ से ढाई बजे चल देना होगा।

घर में क्लाक थी। यामिनी ने देखा, साढ़े बारह बजना चाहते हैं। उसने कहा—अच्छा तो मैं अपनी सास को बुला लाऊँ।

दो मिनिट में ही हेमन्त ने सुना, लच्छियों की झनझनाहट का शब्द उसी की ओर को होता आ रहा है। हेमन्त ने सोचा, यामिनी के पैरों में तो सिर्फ़ डायमंड-कट की एक एक लच्छी है। फिर यह झनझनाहट किसके पैरों की है। तो क्या यामिनी की सास के पैरों की यह आवाज़ होगी?

किन्तु वह शब्द उस कमरे तक नहीं आया, बाहर ही रुक गया। यामिनी अकेली आई और हँस कर बोली—सासजी को अभी छुट्टी नहीं। वे पूजा-पाठ कर रही हैं। तुम्हें और किसी की ज़रूरत हो तो कहो। किस की ज़रूरत है?

हेमन्त के चेहरे पर सुर्ख़ी दौड़ गई। आशा और आनन्द से उसका हृदय मत्त होकर नाचने लगा।

यामिनी हँस कर जिसे बाहर से खींच लाई, वह कुसुम रँग की साड़ी से आपाद मस्तक छिपी हुई थी। उसे भीतर की ओर ठेल कर कहा—"राजा साहब, लो सँभालो अपनी रानी को। राजा और रानी के अभिनय को कोई लुक छिप कर न देखेगा उसे तो हम नाटक में ही देख चुकी हैं। लो, मैं

चली। तुम निश्चिन्त होकर दो बजे तक राज्य करो। तब तक मैं तुम्हारे जल पान के लिए तैयारी करूँगी।''—उत्तर की अपेक्षा किये विना ही यामिनी चली गई। ज़ीने से उतरने का उसके पैरों का शब्द स्पष्ट सुन पड़ा।

[५]

कार्तिक महीना बीत गया, अगहन लगा। रानी अपने नैहर में है। अब हेमन्त को कालेज की फ़िक्र नहीं है, वक्तृताएँ पूर्ण हो चुकीं। फागुन में परीक्षा होगी। कई दिन घर पर रह कर हेमन्त ने कहा—यहाँ शोर गुल होने से मेरे पढ़ने लिखने में विघ्न होता है, मैं कलकत्ते में किसी मेस में कुछ महीने तक रहना चाहता हूँ।

पुत्र की इस अध्ययन-स्पृहा में पिता ने हस्तक्षेप नहीं किया।

हेमन्त मेस में रहने लगा। इस दर्मियान साढ़ू कुञ्जलाल से भी उसका हेलमेल होगया था। बीच बीच में आफ़िस की छुट्टी होने पर कुञ्ज आता और हेमन्त को पकड़ कर शिवपुर ले जाता था। यामिनी का भगिनी-स्नेह भी इस समय अत्यन्त बढ़ गया था—वह जब तब रानी को नैहर से बुलवा कर अपने पास रखती थी।

फागुन में हेमन्त की परीक्षा हुई। राय बहादुर ने भी बहू की फिर बिदा कराली।

वैशाख के अन्त में बी० ए० का फल प्रकाशित हुआ। गज़ट में हेमन्त का नाम, खोजने पर भी, न मिला।

गर्मियों की लम्बी छुट्टियाँ समाप्त होने पर कालेज खुला। राय बहादुर ने बेटे से कहा—घर की गड़बड़ में यहाँ पढ़ना-लिखना भली भाँति न हो सकेगा। अच्छा हो, तुम कलकत्ते में ही किसी मेस में रहने लगो।

पिता को कुछ उत्तर देने का साहस हेमन्त को न हुआ। माता के पास जाकर उसने उन कष्टों का वर्णन किया जो मेस में रहने पर खाने-पीने, नहाने-धोने आदि का सुप्रबन्ध न होने से होते हैं और जो स्वास्थ्य के लिए बड़े हानिकर हैं। उस बेचारी ने डरते डरते स्वामी के पास जाकर यह चर्चा छेड़ी, परन्तु झिड़कियाँ खाकर लौट आई। हेमन्त को मेस में जाना पड़ा।

पिता की आज्ञा के अनुसार हेमन्त प्रति रविवार को सबेरे घर आता था और कलेवा आदि करके तीसरे पहर फिर लौट जाता था। घर में जाते समय अब उसे किसी जगह रानी की साड़ी का रङ्ग भी देखने को नहीं मिलता।

इस तरह दो रविवार निकल गये तब घर की एक नौकरनी को रिशवत देकर हेमन्त ने स्त्री के पास चिट्ठी भेजी। हर आठवें दिन, रविवार को, नौकरनी के मारफ़त दोनों का पत्र-व्यवहार होने लगा।

अब दुर्गापूजा की छुट्टी हुई। मेस छोड़ कर हेमन्त घर आया। उसने प्रबल इच्छा की थी कि कम से कम विजया-दशमी को प्रणाम करने के लिए तो रानी क्षण भर मेरे पास आसकेगी—किन्तु उसकी वह आशा भी विफल होगई। इस समय से हेमन्त बहुत ही हताश होगया। जब कभी घर आता है, चुप्पी साधे बैठा रहता है। उसकी दृष्टि से उदासी टपकती है। कभी कभी हाथ पर सिर रक्खे बैठा रहता है।

एक रविवार को एकान्त पाकर नौकरनी ने

हेमन्त से कहा—छोटे बाबू, बहूजी रोज़ रात को रोया करती हैं।

हेमन्त—क्यों ? किस लिए रोती हैं ?

नौकरनी—छोटे बाबू, हज़ार सुख हों परन्तु स्वामी के दूर रहने पर सब फीके हैं! बहूरानी कहती हैं, मेरा ऐसा अभाग्य है कि एक बार नज़र भर के स्वामी का दर्शन भी नहीं कर सकती।

"तूने कैसे समझा ?"

"जिस कमरे में बहू रानी रात को सोती हैं, उसी में ज़मीन पर बिस्तर बिछा कर मैं भी न सोती हूँ।"

अगले रविवार को नौकरनी ने कहा—छोटे बाबू, एक बार आप बहूरानी से भेट कर लें।

हेमन्त—इसके लिए उपाय ?

"आप एक काम करें तो हो सकता है।"

"क्या ?"

"जिस तरह आप हर रविवार को आते हैं उसी तरह किसी दिन यह कह कर कि हमारी तबीयत अच्छी नहीं, या किसी और बहाने से यहीं रह जाइए। फिर रात को जब घर में सब लोग सो जायँगे तब आपके लिए मैं, आहट बचा कर, धीरे धीरे दरवाज़ा खोल दूँगी।"

हेमन्त सोचने लगा। दोमञ्ज़िले पर, ज़ीने के पास ही, जो पहला कमरा है उसी में रानी सोती है। पिता जिस कमरे में सोते हैं वह उस कमरे से ज़रा अन्तर पर है। यदि खूब सावधानी से जा सकूँ तो सफलता हो भी सकती है। किन्तु बड़ा डर लगता है। यदि पकड़ लिया जाऊँ—छिः छिः बड़े कलङ्क की बात है।

नौकरनी—तो छोटे बाबू, क्या हुक्म है ?

"बहू ने तुझसे क्या कहा ?"

"वे कहती थीं कि ऐसा न करना, मुझे बड़ा डर लगता है।"

"अच्छा, मैं सोचूँगा"—कह कर हेमन्त ने नौकरनी को बिदा किया।

मेस में पहुँच कर 'रोमिओ जूलियट' नामक नाटक पढ़ते पढ़ते उसे एकाएक यह युक्ति सूझी—कि यदि रस्सी की निसेनी मिल जाय तो बाग़ीचे की ओर से, पिछवाड़े के जङ्गले में होकर, रात को मैं भी रानी के शयनागार में पहुँच सकता हूँ। पता लगाने पर मालूम हुआ कि किसी साहब के यहाँ ऐसी निसेनी १५) में मिल सकती है। तब, बिना ही विलम्ब किये वह वैसी निसेनी ख़रीद लाया।

अगले रविवार को हेमन्त उस रस्सी की सीढ़ी को एक हैण्ड बैग में छिपा कर घर ले गया। समय पाकर नौकरनी के हाथ उसने वह सीढ़ी और पत्र स्त्री के पास भिजवा दिया!

पत्र में लिखा था:—

मेरे हृदय की रानी,

एक वर्ष तक मैं वियोग-व्यथा सहता रहा, अब नहीं सह सकता। एक बार भी तुम्हें न देख सकूँगा तो पागल हो जाऊँगा। नौकरनी ने जो उपाय बताया था उसे तुमने स्वीकार नहीं किया। मैंने भी बहुत सोच-विचार करके उसे विघ्नों से अछूता नहीं समझा। किन्तु इस बार मैंने एक बहुत ही बढ़िया उपाय ढूँढ़ा है। यदि तुम ज़रा सी हिम्मत करो तो मिलन हो सकता है।

नौकरनी के हाथ मैंने जो चीज़ भेजी है वह रस्सी की निसेनी है। उसके एक छोर को, अपने कमरे के बग़ीचे की ओरवाले जँगले में बाँध कर दूसरे को बाहर लटका देना। मैं बाग़ में घुस कर उस निसेनी के द्वारा सहज ही तुम्हारे कमरे में आ जाऊँगा। रस्सी खूब मज़बूत है। टूटने का डर नहीं। तुम्हारे साहस करने भर की देर है।

कल रात को ग्यारह बजे रस्सी की निसेनी को जँगले से खूब मज़बूती के साथ बाँध कर नीचे की ओर लटका देना। ग्यारह से लेकर साढ़े ग्यारह बजे तक मैं दीवार फाँद कर बाग़ में आऊँगा और फिर तुम्हारे जँगले के समीप पहुँचूँगा।

इस प्रस्ताव पर यदि तुम सहमत न होगी तो समझ लेना कि मुझे मर्मान्तिक कष्ट होगा। मेरी प्यारी, कहीं इन्कार न कर देना। रत्ती भर भी डर नहीं है, किसी विपत्ति का भी अँदेसा नहीं। फिर, सवेरे पहर, मैं इसी सीढ़ी के सहारे नीचे उतर कर कलकत्ते को लौट जाऊँगा। किसी को ख़बर भी न होगी।

तुम्हारा स्वामी

कोई दो घण्टे बाद नौकरनी के लौटने पर हेमन्त ने पूछा—क्यों राज़ी हैं न?

नौकरनी—हाँ, बड़ी मुश्किल से माना।

"तो फिर, कल रात को मैं ग्यारह बजे के बाद आऊँ न?"

"आइए सरकार।"

"अच्छा तो सावधान रहना। कहीं भूल भाल न जाना।"

"बहुत अच्छा छोटे बाबू।"

[६]

कलकत्ते में ठण्ड इस बार बहुत ही जल्द पड़ने लगी है। अभी अगहन का ही अमल दख़ल है, फिर भी पानी के दाँत पैने हो गये हैं, शाम से ही रज़ाई प्रिय लगने लगी है और, लोगों ने दिन को भी गरम मोज़े पहनना आरम्भ कर दिया है। समाचार-पत्रों ने लिखा है, कोहाट की पहाड़ियों में बर्फ़ गिरी है।

अँधेरी रात है। बिर्जी तालाब की घड़ी ने टन् टन् करके ग्यारह बजा दिये। भवानीपुर के जिस अंश में रायबहादुर प्रफुल्ल मित्र निवास करते हैं वह रसा रोड से कुछ पश्चिम ओर को है। सदर फाटक बड़ी सड़क पर है। मकान के पीछे बाग़ के दोनों ओर ऐसा रास्ता है जो बहुत ही कम चलता है। बाग़ के पश्चिम ओरवाले रास्ते पर आदमियों की सूरत बहुत ही कम देख पड़ती है। क्योंकि उस रास्ते के उस तरफ़ सुर्खी पीसने की कुछ कलें हैं। वहाँ ज़्यादा आदमी नहीं रहते।

ग्यारह बजने के कुछ ही देर बाद काँसारी मुहल्ले के मोड़ पर एक किराये की गाड़ी आकर खड़ी होगई। काले अलवान से शरीर को छिपाये हुए एक व्यक्ति ने गाड़ी से उतर कर गाड़ीवान को किराया दिया। धीरे धीरे गाड़ी वहाँ से चली गई।

कहना न होगा कि यह युवक और कोई नहीं, विरह-ज्वराक्रान्त हेमन्त ही है।

[असमाप्त।

लल्लीप्रसाद पाण्डेय।

तारे के प्रति।

शान्त पड़ा है जब जग सारा, देती निद्रा इसे हिलोर—
तब तिमिरावृत नभो श से देख रहे हो किसकी ओर?
किसकी राह देखते निशि में टँगे हुए हो बन्धु! समौन?
जाग रहे हो किसके हित तुम, वह दुखिया प्राणी है कौन?
आवेगा भी कैसे वह, जब बन्द सभी तम से हैं द्वार!
कहो, तुम्हारी पुण्य-प्रभा का पा सकता है वह आधार?
वह परदेशी! जिसके हित अब व्याकुल हो तुम रहे महान्—
क्या इस व्याकुलता पर किञ्चित जाता है उसका भी ध्यान!
तुम इतने ऊँचे से नाहक़ बता रहे हो उसे प्रकाश?
उसका पथ आलोकित होगा, होता है ऐसा विश्वास?
वह सोता है, जाओ, उसको नहीं तुम्हारी चिन्ता लेश!
भटक रहा वह कहीं, नहीं हो पाई उसकी यात्रा शेष॥
भूल गया वह तुमको, करता है वह और किसी को प्यार
सुनते होगे अवश्य तुम तो उसकी करुणापूर्ण पुकार

छिप जाओ बस, व्यर्थ तुम्हारी है यह चिन्ता उसके अर्थ ।
उसे जगाने में होगी कल बस उसकी ही ज्योति समर्थ ॥

मनोहरप्रसाद मिश्र

विविध विषय ।

१—सामयिक पत्रों और पुस्तकों पर सम्पादक का नाम ।

देश में क्या हो रहा है—किस बात की चर्चा हो रही है, किस काम पर चर्चा से कितनी हानि या लाभ की सम्भावना है, राजा-प्रजा का सम्बन्ध कैसा है इत्यादि बातें जहाँ लोग चुपचाप सुना करते हैं; न उन पर अपनी सम्मति ही देते और न प्रतिकूल या हानिकारक आयोजनों के प्रतीकार की चेष्टा ही करते वह देश या जाति सजीव नहीं, निर्जीव समझी जाती है। इस देश में इस प्रकार की निर्जीवता का दौर-दौरा बहुत समय तक रहा। इधर कई साल से कई कारणों से अपने देश में भी सजीवता के चिह्न दिखाई देने लगे हैं। यह सजीवता आरम्भ में तो योंहीं नाम-मात्र के लिए दिखाई पड़ती थी। पर गवर्नमेंट की नीति और अँगरेज़ी शिक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव की बदौलत, वह धीरे धीरे प्रबल होती गई। यह प्रबलता कहीं कम, कहीं अधिक होगई। बात यह है कि विवेक और विकार सब में एक से नहीं होते। किसी किसी के हृदय में उत्पन्न हुए विकार थोड़े से भी उद्दीपक कारणों से बहुत उद्दाम हो उठते हैं। यदि उसमें विवेक की मात्रा कम हुई तो वह उन विकारों के वशीभूत होकर कुछ का कुछ कहने या कुछ का कुछ करने लगता है। विकारों से अभिभूत हुए ऐसे मनुष्य नियम-निर्दिष्ट सीमा के बाहर भी निकल जाते हैं और ऐसे ऐसे काम करने लग जाते हैं जिनसे दूसरों को हानि पहुँचने का डर रहता है। किसी के कार्यों या विचारों का सम्बन्ध जब तक अकेले उसी से है तब तक वह चाहे जो करे या चाहे जो कहे। पर जब वह सम्बन्ध औरों तक भी पहुँच जाता है तब देश के क़ानून को उसका प्रतिबन्ध या नियमन करना पड़ता है। ऐसे अवसर पर वाद उपस्थित होता है। जिसके कार्यों या विचारों की प्रतिकूल समालोचना होती है वह बहुधा यही कहता है कि मैंने निर्दिष्ट सीमा का अतिक्रमण नहीं किया। पर समालोचक कहता है कि नहीं, तुमने ज़रूर किया है; तुम्हारे इस काम से औरों को हानि पहुँच सकती है; देश में विप्लव हो सकता है; परस्पर जाति-विद्वेष की अग्नि भड़क सकती है; अतएव तुम जैसों का नियन्त्रण होना चाहिए।

अपने देश में लोकमत जागृत होने पर जब उसके किसी किसी अंश में विशेष जान आगई—जब वह समधिक प्रबल हो उठा—तब गवर्नमेंट ने उसे दबाने का निश्चय किया। उसने कहा, इस प्रकार की उच्छृङ्खलता से देश में अराजकता फैल सकती है; अतएव इसका दमन या निग्रह करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर उसने इंडियन प्रेस ऐक्ट (१९१०) और न्यूज़पेपर्स (इनसाइटमेंट टु आफेंसेज़) ऐक्ट (१९०८) बना दिये।

इन नये क़ानूनों की कृपा से सामयिक पुस्तकों और पत्रों के द्वारा प्रकट किये जानेवाले लोकमत का नियन्त्रण हो गया। आज्ञा होगई कि बस यहीं तक बोलो, आगे नहीं। गवर्नमेंट की राय में जो उसके आगे गये उन्हें दण्ड मिला। इस पर बड़ा आन्दोलन हुआ। गवर्नमेंट से बहुत कुछ कहा सुना गया। उस पर सख़्ती करने के इलज़ाम लगाये गये। उसे ऊँच-नीच समझाया गया। पर इसका कुछ भी फल न हुआ। इन क़ानूनों के कारण जो हानियाँ हो रही हैं उनके विवरण सुन कर भी गवर्नमेंट ने उन्हें मन्सूख़ करना मन्ज़ूर न किया।

पर गत वर्ष, जब शासन का कुछ भार प्रजा के पक्षों पर भी रक्खा गया तब, गवर्नमेंट के विचार बदले। इससे उसने एक कमिटी बना दी और उससे कहा—देखो, ये क़ानून कैसे हैं। क्या इन्हें मन्सूख़ कर सकते हैं ? यदि नहीं तो क्या इनमें कुछ तरमीम हो सकती है ? और हो सकती है तो कैसी ?

कमिटी ने १४ जुलाई १९२१ को, इन क़ानूनों के विषय में, अपनी रिपोर्ट दे दी। उसने लिखा है कि इन्हें अब मन्सूख़ कर देना चाहिए। पर एहतियातन उसने कुछ

नये नियम बनाने की सिफ़ारिश की है। उनमें से उसने एक नियम यह तजवीज़ किया है।

इस समय अख़बारों और सामयिक पुस्तकों में यदि कोई अनुचित लेख या समाचार छप जाता है तो उसके ज़िम्मेदार प्रिंटर (छापनेवाला) और प्रकाशक दोनों ही समझे जाते हैं। उन्हीं को अपने नाम ज़िले के अफ़सर के दफ़्तर में लिखाने पड़ते हैं। सम्पादक बहुधा नहीं पूछा जाता। ऐसे भी मुक़द्दमे हुए हैं जिनमें पूछ-पाछ करने पर भी पता नहीं चला कि सम्पादक कौन है। अथवा यह कहना चाहिए कि अमुक मनुष्य अमुक पत्र का सम्पादक है, इस बात का सबूत ही नहीं पहुँचाया जा सका। इसी से कमिटी ने सिफ़ारिश की है कि जैसे प्रिंटर और पबलिशर (प्रकाशक) के नाम पत्रों या पुस्तकों पर छापे जाते हैं वैसे ही सम्पादक का भी नाम छापा जाना चाहिए। इस सिफ़ारिश के अनुसार काम करने से हर्ज है और है भी नहीं।

नाम भी बिकता है, यह सर्वथा सच है। जो सम्पादक नामी लेखक हैं या जिन पर लोगों की श्रद्धा है उनके नाम तो लोग ख़ुदही सामयिक पुस्तकों पर छाप देते हैं। हाँ, यदि किसी कारण से, वे ऐसा न करने के लिए मजबूर किये गये तो बात ही दूसरी है। पर जिन सम्पादकों में ये गुण नहीं, वे चाहे कितने ही अच्छे लेखक या विद्वान् हों उनका नाम देने से आर्थिक हानि की कुछ सम्भावना ज़रूर रहती है। परन्तु तभी तक जब तक पाठकों की श्रद्धा उनमें नहीं हो जाती। श्रद्धोत्पादन के अनन्तर नाम छिपाने की तादृश आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि कोई मनुष्य कोई काम ऐसा करता हो जिसके कारण वह खुले तौर पर सम्पादकीय कार्य न कर सकता हो, तो उसकी बात ही निराली है। पूर्वोक्त नियम बन जाने से वह कभी सम्पादकीय कार्य न कर सकेगा।

समाचारपत्रों की बात और है। उन पर सम्पादक का नाम छापना सुभीते की बात नहीं। नाम छापने से भी कभी अनेक हानियाँ हो सकती हैं, जिनका उल्लेख इस छोटे से नोट में नहीं हो सकता।

यदि कमिटी की सिफ़ारिश के अनुसार काम करना ही हो तो सम्पादक का नाम ज़िले के अफ़सर के दफ़्र में दर्ज कर लिया जाया करे। उसे पत्रों या पुस्तकों पर छाप देना अनिवार्य्य न किया जाय। मतलब, सिर्फ़ सम्पादक का नाम-धाम और पता जानने से है, जिससे ज़रूरत होने पर वह हाज़िर किया जा सके या उससे कैफ़ियत ली जा सके। सो यह बात उसका नाम आदि कचहरी के रजिस्टर में दर्ज करने से भी बख़ूबी हो सकती है।

२—भू-गर्भ-निदर्शक यन्त्र।

संस्कृत-भाषा में ऐसी पुस्तकें भी सुनी जाती हैं जिनमें यह बताया गया है, अथवा जिनमें इस बात का अनुमान किया गया है, कि पृथ्वी के पेट में कहाँ और कितनी गहराई पर क्या चीज़ है। ज्योतिषियों से लोग अकसर पूछने जाते हैं कि किस दिन और किस समय कुवाँ खोदने से अच्छा और यथेष्ट पानी निकलेगा। कोई कोई ज्योतिषी तो इस बात का भी दम भरते हैं कि हम जहाँ बता देंगे वहाँ ज़रूरही पानी निकलेगा, बहुत निकलेगा और कुवाँ खोदने में कोई विघ्न न होगा। ज्योतिषियों की यह विद्या या यह दावा सच है या झूठ, इस पर कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। पर ज्योतिष के जिन ग्रन्थों में इस प्रकार के मुहूर्तों की विधि है उनसे सूचित होता है कि पुराने शास्त्रज्ञों ने पृथ्वी के पेट का हाल जानने की कुछ न कुछ चेष्टा ज़रूर की थी। इस दशा में यदि ऐसे भी ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में पाये जायँ जिनमें यह जान लेने या अनुमान करने की तरकीबें लिखी हों कि कहाँ पर धन गड़ा है तो आश्चर्य्य की बात नहीं। ऐसे ग्रन्थों की बदौलत कोई कोई पण्डित खँड़हर तक खुदवा डालने का आयोजन कर बैठते हैं। ज़िला उनाव में एक ज्योतिषीजी थे। उनको इस शास्त्र के ज्ञान का बड़ा गर्व था। उन्होंने एक दफ़े एक राजा साहब से कहा कि अमुक राजधानी के खँड़हरों में पुराना ख़ज़ाना गड़ा हुआ है; मैं बता दूँगा, कहाँ पर है; आप खुदाइए। राजा साहब उनके कहने में आगये। बहुत रुपया खुदाई में ख़र्च किया। पर निकला कुछ नहीं। सम्भव है, पण्डितजी ने "विचार" करने में ग़लती की हो। सम्भव है, यह शास्त्रही भ्रमसञ्जात हो। कुछ भी हो, किसी समय, इस प्रकार के निधि-निदर्शक ग्रन्थों पर लोगों की श्रद्धा अवश्य थी।

ये तो इस देश के निधिज्ञानी पण्डितों की बात हुई। अब एक जर्मन-शास्त्री की बात सुनिए। अँगरेज़ी में एक

सामयिक पुस्तक है। उसका नाम है—पापुलर सायन्स (Popular Scence) उसमें लिखा है कि जर्मनी के निवासी जाइरट्का नाम के एक यञ्जिनियर ने एक ऐसा यन्त्र निर्माण किया है। उसे ज़मीन के ऊपर रख देने सेही उस ज़मीन के भीतर का हाल मालूम हो जाता है। यह यन्त्र बहुत सीधा-सादा है। कांच के एक बर्तन में सिरके की तरह का एक पदार्थ भरा रहता है। ऊपर उसके ढक्कन रहता है। बर्तन और ढक्कन के बीच कुछ कल-पुर्ज़े रहते हैं। ज़मीन पर पात्र रखने से उसके निश्चित कल-पुर्ज़ों में हलचल उत्पन्न होती है। उस हलचल की गति और बलाबल के सूचक चिह्न देख कर यह ज्ञात हो जाता है कि वहां पर नीचे, भू-गर्भ में, जल है, या कङ्कड़ है, या पत्थर है। यदि वहां कोई क्षार-पदार्थ, कोयला या धातु हुई तो उसका भी हाल मालूम हो जाता है। यन्त्र के निर्माता का दावा है कि सोना, चांदी, लोहा, तांबा, जस्ता आदि धातुओं में से कोई भी धातु क्यों न हो, वह बता देगा कि यहां यह चीज़ है। यदि इस यञ्जिनियर का दावा ठीक हो तो इस यन्त्र की उपयोगिता का क्या कहना है। भारत के खँड़हरों में ख़ज़ाना ढूंढनेवालों को यह यन्त्र ज़रूर मँगा लेना चाहिए। वे रत्न-गर्भा वसुन्धरा के पेट से लोहा, तांबा, अभ्रक इत्यादि का पता लगा कर खान का काम करने का तो स्वप्न तक नहीं देख सकते। पुरानी गढियों में गड़े हुए ख़ज़ाने ढूंढ करही धनकुबेर बन जाने की चेष्टा करें।

३—पूसा-इंस्टीस्यूट।

१९०३ में मि० हेनरी फ़िप्स नामक अमरीका के एक यात्री ने, भारत-भ्रमण से परम प्रसन्न हो, लार्ड कर्ज़न को तो और भी अच्छा—लगा दी जाय। इस रक़म का कुछ हिस्सा तो दक्षिण भारत के कोनूर-नगर में एक पास्टुर
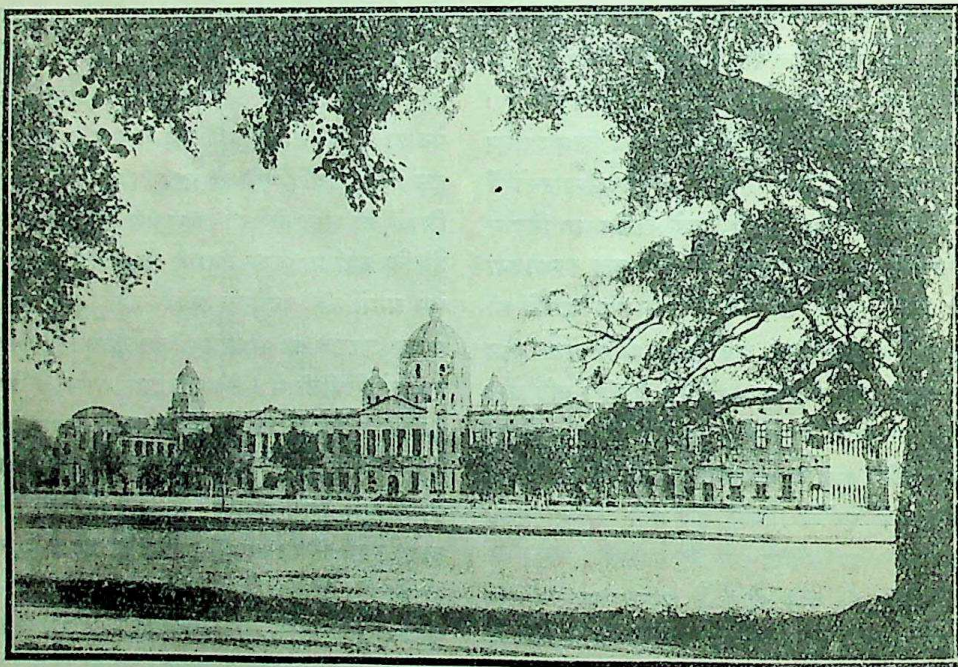
पूसा-कृषि-इन्स्टीट्यूट।

३०,००० पौंड की रक़म इस उद्देश से दी थी कि यह लोकलाभ के किसी कार्य्य में—वैज्ञानिक अनुसन्धान में हो इन्स्टीट्यूट बनाने में लगाया गया और विचार हुआ कि बाक़ी रक़म से एक ऐसी प्रयोगशाला बनाई जाय जो इस

देश में कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान-कार्य्य का केन्द्र हो। पर बाद सरकार ने अपना विचार-वृत्त बढ़ा दिया और उसी के फल-स्वरूप दरभङ्गा ज़िले के पूसा स्थान में जगद्विख्यात "एग्रीकल्चरल कालेज एंड रिसर्च इन्स्टीट्यूट" की नींव पड़ी। यह संस्था अखिल भारतवर्षीय है और अनुसन्धान कार्य के अलावा यहाँ इस देश में सर्व्वोच्च कोटि की कृषि-शिक्षा दी जाती है। संस्था के साथ एक 'फ़ार्म' है जिसका

पूसा-इन्स्टीट्यूट का गोवंश।

विस्तार १,३०० एकड़ है। यहाँ कृषि की प्रत्येक शाखा की प्रयोगशालाएँ हैं, अजायबघर है और वनस्पतियों तथा कीटों का अपूर्व्व सङ्ग्रह है। एक पुस्तकालय है जिसमें २५ हज़ार से ज़्यादा पुस्तकें हैं। समय समय पर कितनी ही पुस्तक-पुस्तिकायें प्रकाशित होती हैं। एक पत्र भी दो महीने पर निकलता है। पशुपालन तथा रेशम, लाह और शहद पैदा करने की भी अच्छी शिक्षा दी जाती है।

४—भविष्य शान्ति का भव्यरूप।

गत महायुद्ध से योरप का अञ्जर पञ्जर ढीला हो गया है। युद्ध के कारण जो भयङ्कर कष्ट संसार को भोगने पड़े हैं उनसे योरप तबाह हो गया। उनका पूर्ण अनुभव योरप के राजनीतिज्ञों को हो गया है। अतएव भविष्य में युद्ध न हो, इसके लिए 'लीग आव् नेशन्स' नाम की एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा क़ायम की गई है। और और बातों के सिवा इस महासभा ने यह भी निश्चय किया है कि जो राष्ट्र उस सभा के सदस्य हों उनकी सैनिक-शक्ति सभा द्वारा निर्धारित परिमाण में रहे। परन्तु सभा के इस नियम का पालन कहाँ तक हुआ है, इसका परिचय योरपीय राष्ट्रों की सैन्य-संख्या के देखने से भली भाँति प्रकट हो जाता है। इस सम्बन्ध में 'लिविंग एज' नाम के सामयिक पत्र में एक महत्त्व-पूर्ण लेख निकला है। उसमें योरप के भिन्न भिन्न जङ्गी राष्ट्रों के सैन्य-दल के अङ्क दिये गये हैं। योरप में इस समय कुल ३०,००,००० सैन्य-दल है। इसमें फ्रांस और उसके मित्रों के पास ही अकेले २३,००,०००जवान हैं। फ्रांस की सैन्य-संख्या ८,००,०००, पोलेंड की ६,००,०००। जुगोस्लेविया (पुराना सर्बिया) की २,००,०००, जेचोस्लोवेकिया की १,४४,००० और रूमानिया की १,६०,००० है। इनके सिवा बेलजियम में १,०५,००० और ग्रीस में २,५०,००० सैनिक हैं।

इधर शत्रु-दल की सेनायें तोड़ दी गई हैं। जर्मनी में १,००,०००, आस्ट्रिया में ३०,०००, बलगेरिया में ३३,००० और हंगरी में ३५,००० सैनिक हैं। परन्तु लेखक लिखता है कि हंगरी की यह सैन्य-संख्या ठीक नहीं है। उसके पास इस समय १,५०,००० जवान हैं।

हाँ, इटली ने अपने सैन्य-दल की संख्या अवश्य कम कर दी है। उसकी आबादी फ़्रांस के बराबर और पोलेंड से दूनी है। परन्तु उसके पास केवल ३,००,००० सैनिक हैं। स्पेन की सैन्य-संख्या २,००,०००, हालेंड की २१,०००, नारवे की १५,००० और स्वीडन की १६,००० है। स्वीज़रलेंड की मिलीशिया सैन्य दल की संख्या २,००,००० है।

यह सैनिक-लेखा देकर लेखक लिखता है कि इसे एक कार्ड बोर्ड में छाप कर फ़्रांस में सर्व-साधारण में बाँट देना चाहिए। निस्सन्देह समर-सज्जा का यह वैषम्य संसार की शान्ति का विघातक है। इससे इस बात की कदापि आशा नहीं की जा सकती कि संसार का भविष्य शान्तिमय है।

५—फ़िलिस्तीन में द्वीपान्तरवासी यहूदी।

यहूदी जाति संसार में एक महत्त्वशालिनी जाति है। इसकी गणना प्राचीन सभ्य-जातियों में है। इन लोगों का मूल वासस्थान तुर्क साम्राज्यान्तर्गत एशिया मायनर का फ़िलिस्तीन नामक प्रान्त है। गत योरपीय युद्ध के समय तुर्की साम्राज्य का यह प्रदेश अँगरेज़ सरकार ने विजय कर लिया था। वर्सेलीज़ की सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ था कि इस देश में उन यहूदियों के वंशज फिर बसाये जायँ जो वहाँ से २,००० वर्ष पहले रोमन लोगों के अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर भाग गये थे। फलतः इस समय योरप और अमरीका में अवस्थान करनेवाले यहूदियों को वहाँ आबाद करने की व्यवस्था की गई है। वहाँ बसने के लिए यहूदियों के दल के दल आने लगे हैं। परन्तु फ़िलिस्तीन पहले ही से आबाद देश है। उसकी जितनी आबादी है उसी के भरण-पोषण के लिए वहाँ गुञ्जायश नहीं। वहाँ की भूमि भी उर्वरा नहीं है। इसके सिवा और भी किसी तरह की सुविधा नहीं है। न तो अधिक संख्या में अच्छी सड़कें हैं और न रेलें ही हैं। पर अपने 'धार्मिक' स्वदेश-प्रेम से उत्साहित होकर यहूदी सब प्रकार के कष्ट सहने को तैयार हैं। जो यहूदी फ़िलिस्तीन में बसने को आ रहे हैं वे कहते हैं कि हम वहाँ की बञ्जर-भूमि को आबाद कर लेंगे। इस समय इस देश में तीन चौथाई मुसलमान हैं और कुल आबादी का बारहवाँ हिस्सा यहूदी तथा उसका सातवाँ हिस्सा ईसाई हैं। यदि २,००० वर्ष से द्वीपान्तरवासी यहूदी लोग स्वदेश वापस लाये जाकर फिर बसाये जायँ और इस कार्य में सफलता हो गई तो फ़िलिस्तीन एक बार फिर यहूदी देश हो जायगा। निस्सन्देह यह घटना संसार के इतिहास में महत्त्व-पूर्ण समझी जायगी।

६—आयुर्वेदशास्त्र की उन्नति।

हम लोग भारतीय आयुर्वेदशास्त्र का यशोगान करते हैं। हमें इसका गर्व है कि प्राचीनकाल में भारतीय आयुर्वेदशास्त्र की उन्नतावस्था थी। हम यह भी कहा करते हैं कि अन्य देशों ने भारतवर्ष से ही ज्ञान प्राप्त किया। यह सब कहने पर भी हमने भारतीय आयुर्वेदशास्त्र को उन्नत करने की चेष्टा कभी नहीं की है। जिन देशों ने हम से ज्ञान प्राप्त किया उन्होंने तो अपने ज्ञान को खूब बढ़ा लिया और हम केवल प्राचीनता का ही पिष्ट पेषण करने में लगे हैं। सच पूछा जाय तो ज्ञान पर किसी जाति का स्वत्व नहीं है। भारतीय आयुर्वेदशास्त्र भारतवर्ष ही की सम्पत्ति नहीं है और न योरप के चिकित्सा-विज्ञान पर योरप ही का अधिकार है। जब हम ज्ञान के स्रोत को देश और काल की सीमा में बद्ध कर रखते हैं तब वह मलिन हो जाता है। विज्ञान की उन्नति तभी होती है जब हम उसकी अपूर्णता का अनुभव करते हैं। यदि हम अन्धविश्वास से भारतीय आयुर्वेदशास्त्र में किसी प्रकार की त्रुटि न देखें और उसे पूर्ण समझ कर उसी से सन्तोष रक्खें तो उसकी उन्नति कभी होने की नहीं। जो आयुर्वेदशास्त्र के पारङ्गत विद्वान् हैं उन्हें अब वैज्ञानिक रीति से अपने शास्त्र की परीक्षा करनी चाहिए। आज-कल जगह जगह विद्यालय खोले जाते हैं और जगह जगह समितियाँ स्थापित होती हैं जो परीक्षा लेकर आयुर्वेदभास्कर और मार्तण्ड की उपाधियाँ प्रदान करती हैं। ऐसी संस्थाओं से लाभ नहीं, उलटा हानि है। ऐसे ही विद्यालयों के कारण अब देश में स्वास्थ्य-नाशक दवाओं की वृद्धि हो

रही है और वैद्यकशास्त्र के नाम पर गन्दी किताबों का प्रचार बढ़ रहा है।

कोई भी विज्ञान हो उसकी उन्नति सहसा नहीं होती। वर्षों के परिश्रम और अध्यवसाय के बाद कोई नया आविष्कार होता है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न अङ्गों में शस्त्र-क्रिया बड़ी सुगमता से की जाती है। उसकी यह विशेषता कुछ दो-चार वर्षों का फल नहीं है। शस्त्र-क्रिया का आरम्भ कब से है, यह कहना कठिन है। सुश्रुत के समय में यह विद्या उन्नत थी। सर्व-साधारण का यही ख़याल है कि यह विद्या विज्ञान की उन्नतावस्था में ही प्रचलित हो सकती है। परन्तु इसके भी प्रमाण मिले हैं कि जब संसार की बर्बरावस्था थी उस समय भी अस्त्र क्रिया की जाती थी। प्रस्तर-युग में धातुओं का काम पत्थरों से लिया जाता था। फ़्रांस के एक विद्वान् (Marcel Balldouind) को प्रस्तर-युग की एक क़ब्र मिली। उसमें उन्हें १३० ठठरियाँ मिलीं। उनकी हड्डियों की परीक्षा करने से मालूम हुआ कि उनमें अस्त्र-चिकित्सा की गई है। तब से आज तक उसकी उन्नति होती आई है। अब तो चीर-फाड़ का काम ऐसे ढँग से किया जाता है कि देख कर दङ्ग रह जाना पड़ता है।

योरप के चिकित्सा-विज्ञान को कुछ आविष्कारों ने खूब उन्नत किया। सन् १७९६ में टीका लगाने की प्रथा निकली। इसके बाद १८४६ में क्लोरोफ़ार्म का प्रचार हुआ। १८८० से १८८४ तक पास्टुर साहब ने रोग के कीटाणुओं के सम्बन्ध में आविष्कार किये। पास्टुर की कीर्ति का सबसे अच्छा स्मारक उनके इन्स्टीट्यूट हैं। रेडियोएक्टिविटी (Radio activity) और एक्सरेज़ सम्बन्धी आविष्कारों से भी चिकित्सा-विज्ञान को खूब लाभ हुआ। यह अध्यवसाय का फल है। यदि भारतवर्ष के इन दर्जनों आयुर्वेद विद्यालयों के स्थान में एक निरीक्षणालय स्थापित हो जाय तो उससे अधिक लाभ होने की सम्भावना है।

पुस्तक-परिचय।

१—अमरीकन संयुक्त-राज्य की शासन-प्रणाली—लेखक श्रीयुत देवीप्रसाद गुप्त (कुसुमाकर) बी० ए०, एल-एल० बी०, प्रकाशक शारदा-पुस्तक-माला, जबलपुर. पृष्ठ संख्या २१२ और मूल्य १।), सजिल्द का १॥-) है।

संयुक्त राज्य अमरीका की शासन-प्रणाली के सम्बन्ध में हिन्दी में एक भी पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई। यह पुस्तक अपने ढँग की पहली है। लेखक ने विलसन साहब की (The State) नाम की प्रसिद्ध और प्रामाणिक पुस्तक के आधार पर इसकी रचना की है। उपनिवेश-स्थापन के समय से लेकर वर्तमान समय तक अमरीका में जिस प्रकार शासन की व्यवस्था सङ्गठित होती रही है उसका सिलसिलेवार वर्णन संक्षेप में इस पुस्तक में कर दिया गया है। अमरीका में उपनिवेश स्थापित होने के समय वहाँ किस प्रकार की शासन-व्यवस्था चलाई गई, धीरे धीरे लोगों में किस प्रकार प्रजा-तन्त्र के भाव उत्पन्न हुए, वहाँ की शासन-व्यवस्था का विकास किस प्रकार हुआ, स्वतन्त्रता के बाद वहाँ किस प्रकार का प्रजा-तन्त्र स्थापित किया गया और इस समय वहाँ का शासन-चक्र किस प्रकार चलता है आदि बातों का वर्णन पृथक् पृथक् अध्यायों में इस पुस्तक में क्रम-पूर्वक दिया गया है। पुस्तक महत्त्व-पूर्ण और उपयोगी है भाषा और लेखन-शैली अवश्य कुछ कुछ जटिल है, पर विषय की कठिनता तथा पारिभाषिक शब्दों के बाहुल्य से इससे अधिक सरल रीति का अवलम्बन भी नहीं किया जा सकता।

परिशिष्ट में अमरीका की स्वतन्त्रता के युद्ध का वर्णन एवं यत्किञ्चित् पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या देकर पुस्तक की जटिलता दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

❀

२—कालिदास और भवभूति—अनुवादक, पण्डित रूपनारायण पाण्डेय, पृष्ठ-संख्या २०८ और मूल्य १॥) है। जिल्द सहित का दो रुपया है।

बम्बई के हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय ने द्विजेन्द्रलाल राय के सभी नाटकों के अनुवाद प्रकाशित किये हैं। वहीं

से उनका यह समालोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। अपने नाटकों में द्विजेन्द्रलाल ने एक नवीन जगत् की सृष्टि की है। यह जगत् पाठकों के क्षणिक कौतूहल ही की तृप्ति करता हो, पर है यह उन्हीं की उपज। उनके पहले शाहजहाँ, नूरजहाँ, महावत खाँ, आदि का अस्तित्व नहीं था। कुछ लोग समझेंगे कि ये ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। परन्तु हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि द्विजेन्द्रलाल के शाहजहाँ उन्हीं के शाहजहाँ हैं। इतिहास-प्रसिद्ध शाहजहाँ से उनका उतना ही सम्बन्ध है जितना शकुन्तला का रविवर्मा-अङ्कित शकुन्तला नामक चित्र से है। 'कालिदास श्रीर भवभूति' में उन्होंने कुछ नवीन सृष्टि नहीं की है। इसमें कालिदास श्रीर भवभूति ही की सृष्टि का दिग्दर्शन कराया गया है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि इसमें द्विजेन्द्रलाल राय का विशेषत्व नहीं है। सच पूछो तो हम यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि इसमें द्विजेन्द्रलाल राय ने अभिज्ञान शाकुन्तल का जो चित्र खींचा है वह कालिदास की सृष्टि है। लोगों का यह भ्रम है कि समालोचक कवि ही का मर्म प्रकट करता है। समालोचक अपने ग्रन्थ में अपना भी भाव प्रकट करता है। जिस प्रकार कवि के सामने एक जगत् रहता है जो उसके काव्य का उपादान है उसी प्रकार समालोचक के सामने कवि-निर्मित जगत् रहता है जिसके आधार पर वह अपनी रचना करता है। समालोचना में समालोचक का व्यक्तित्व विशेषरूप से विद्यमान रहता है। इस समालोचना में भी द्विजेन्द्रलाल का विशेषत्व परिलक्षित होता है।

द्विजेन्द्रलाल राय की सम्मति है कि दुष्यन्त लम्पट पुरुष ही थे। कालिदास ने अपनी कुशलता से उन्हें लम्पट होने से किसी तरह बचाया है। पर वे कामुक ज़रूर प्रमाणित होते हैं। शकुन्तला भी यथार्थ में कामुकी है। दोनों के चरित्र का माहात्म्य उनके उत्थान श्रीर पतन में है। यह उनकी राय है। दुष्यन्त श्रीर शकुन्तला कामुक श्रीर कामुकी हो सकते हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि उनके उत्थान श्रीर पतन से उनका माहात्म्य नहीं प्रकट होता। कालिदास ने यह साफ़ बतला दिया है कि एक अलक्षित शक्ति के प्रभाव से दुष्यन्त श्रीर शकुन्तला का विच्छेद श्रीर मिलन हुआ है। कर्मवाद ने उनके नाटक की सभी घटनाओं को कार्य-कारण की शृङ्खला में बाँध रक्खा है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस मृग के पीछे दुष्यन्त लगा रहा वह शकुन्तला के तपोवन का मृग था। जिस समय दुष्यन्त तपोवन में पहुँचा उस समय कण्व नहीं था। जब दुष्यन्त ने एक ही बार शकुन्तला को देखा था तब उसे यह विश्वास नहीं था कि वह शकुन्तला को फिर देख सकेगा। पर उसी समय यह सुयोग उसे मिल गया कि वह तपोवन में ठहर गया। यदि इनमें से एक भी बात न होती तो शायद दुष्यन्त श्रीर शकुन्तला की प्रेम-कथा ही न बनती। दुर्वासा का अभिशाप श्रीर दुष्यन्त का स्वर्ग-निमन्त्रण, ये दोनों भी उसी अलक्षित शक्ति के सूचक हैं जिसके कारण उपर्युक्त घटनायें हुई थीं। यदि हम इसी शक्ति की प्रधानता मानें तो दुष्यन्त पर किसी प्रकार का दोषारोपण किया ही नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि कालिदास ने दुष्यन्त का जहाँ कहीं साधुत्व श्रीर वीरत्व प्रकट किया है वहाँ द्विजेन्द्रलाल ने कवि का व्यर्थ प्रयास कह कर टाल दिया है। इसका कारण है। वह यह कि द्विजेन्द्रलाल राय महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान को भूल नहीं सके। उन्होंने अभिज्ञान-शाकुन्तल में कवि की नवीन सृष्टि नहीं देखी। उन्होंने यह पहले ही निश्चय कर लिया कि दुष्यन्त कामुक थे श्रीर इसी लिए दुष्यन्त के चरित्र की उज्ज्वलता को उन्होंने कवि का प्रयास समझ लिया। यह सच है कि कालिदास ने महाभारत के आधार पर अपने नाटक की रचना की है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि कालिदास के दुष्यन्त महाभारत के दुष्यन्त नहीं हैं। कालिदास ने अपने नाटक के लिए श्रेष्ठ ही नायक चुना, अतएव उन्होंने दुष्यन्त को धीरोदात्त अङ्कित किया है, उनके चरित्र को उज्ज्वल करने की व्यर्थ चेष्टा नहीं की है। अस्तु।

द्विजेन्द्रलाल राय की यह समालोचना है बड़ी सरस। भाषा भी खूब उपयुक्त है। कहीं कहीं उन्होंने दो-चार शब्दों में ऐसे अच्छे ढंग से भाव व्यक्त कर दिया है कि पढ़ते ही बनता है। पाण्डेयजी के अनुवाद के विषय में हमें कुछ कहना नहीं है हिन्दी-साहित्य के सभी प्रेमी पाठक जानते हैं कि आपका अनुवाद पढ़ते समय मौलिक

ग्रन्थ का आनन्द आता है। हमें आशा है कि जिन लोगों ने द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक पढ़े हैं वे उनकी इस समालोचना को भी पसन्द करेंगे।

❋

३—श्रीकृष्ण-विज्ञान—छोटे आकार की इस बड़ी ही सुन्दर छपी हुई पुस्तक को देख कर विशेष नयनानन्द हुआ। इसकी छपाई निर्णय-सागर प्रेस की है। इस पर मनोहारिणी जिल्द है। काग़ज़ मोटा और टाइप बड़ा है। आरम्भ में कृष्णार्जुन का एक रङ्गीन और अनुवादक महाशय का हाफ़-टोन चित्र है। पृष्ठ-संख्या २०० के ऊपर है। इसके साधारण संस्करण का मूल्य १॥) और राज-संस्करण का २॥) है। श्रीपारीकहितकारिणी सभा, जयपुर, के मन्त्री को लिखने से यह मिल सकती है। श्रीमद्भगवद्गीता का यह पद्यात्मक हिन्दी-अनुवाद है। अनुवादक हैं—जयपुर के ताज़ीमी सरदार, पुरोहित रामप्रतापजी। गीता के अनेक गद्यात्मक अनुवाद हिन्दी में निकल चुके हैं; पर हम उनकी बात नहीं कहते। हम कहते हैं छन्दोबद्ध अनुवादों की बात। गीता के सदृश सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का ठीक ठीक अनुवाद, गद्य में भी कर डालना सहज नहीं, पद्य में करना तो बहुत ही दुष्कर है। यदि कोई किसी तरह कर भी डाले तो अर्थ लिखने में साम्प्रदायिक दोष से बचना तो और भी कठिन काम है। पर इस अनुवाद के कर्त्ता इस काठिन्य-परम्परा को साफ़ पार कर गये हैं। उन्होंने बोल-चाल की सरल हिन्दी में सम्पूर्ण गीता का अनुवाद पद्य में कर डाला है और साम्प्रदायिकता नहीं आने दी। भाषा ऐसी रक्खी है कि पढ़ते ही भाव समझ में आ जाता है। गीता के सदृश आध्यात्मिक ग्रन्थ के अनुवाद में इस दुर्लभ प्रसाद-गुण को साध लेना बहुत बड़ी बात है। पर हम निःसंशय कह सकते हैं कि इस अनुवाद में यह गुण प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। साथ ही मूल का भावार्थ भी (शब्दार्थ की बात हम नहीं कहते) इसमें बड़ी ख़ूबी से निबाह लिया गया है। उदाहरण—

नहीं मुझे प्रिय अप्रिय कोई मैं हूँ सबको एक समान
जो भजते हैं मुझे भक्ति से मैं उनमें; वे मुझमें जान ९—२९
अज, अनादि जो मुझे जानता लोक महेश्वर अपन आप
मोहरहित होकर वह मानव तज देता है सारे पाप १०—३
इस प्रकार योगेश्वर हरि ने कह कर हे धृतराष्ट्र नृपाल
दिखलाया अर्जुन को अपना ईश्वरीय वह रूप विशाल ११—९

ऐसा अच्छा और मूल का प्रायः सर्वांश में भावबोधक, पद्यात्मक हिन्दी-अनुवाद, आज तक, और कोई हमारे देखने में नहीं आया। अनुवादक को अपने इस कठिन काम में यथेष्ट सफलता हुई है। हिन्दी में यह पुस्तक रत्नरूप है और पाठ करने के लिए गीता-प्रेमियों के सदा पास रहने योग्य है। इसमें यत्र तत्र "नाना भुजें" (पृष्ठ १०४) आदि जो भाषा-सम्बन्धिनी त्रुटियां हैं वे सर्वथा नगण्य हैं।

❀

४—हिन्दी-पुस्तक-माला की तीन पुस्तकें—बनारस में एक हिन्दी-ग्रन्थ-भण्डार कार्यालय है। वहां से हिन्दी-पुस्तक-माला का प्रकाशन होता है। हमारे पास इसी माला की तीन पुस्तक आई हैं। पहली पुस्तक का नाम है-(१) प्रबन्ध पूर्णिमा। इसमें भिन्न भिन्न विषयों पर भिन्न भिन्न लेखकों के पन्द्रह निबन्ध सङ्गृहीत हैं। ये निबन्ध पहले इन्दु नामक मासिक पत्र में निकल चुके थे। सम्पादक महोदय ने कदाचित् उनकी उपयोगिता का ख़याल कर उनको अब पुस्तकाकार प्रकाशित किया है। हमारी समझ में ये निबन्ध मासिक-पत्रों में ही शोभा पा सकते हैं। इनका महत्त्व इतना स्थायी नहीं है कि ये पुस्तकाकार छपाये जायँ। तो भी लेखों की उपयोगिता में हमें सन्देह नहीं है। १३३ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य १) है। (२) विशाख—यह एक ऐतिहासिक नाटक है। श्रीयुत बाबू जयशङ्करप्रसाद की यह रचना है। नाटक का कथा-भाग राजतरङ्गिणी से लिया गया है, इसी लिए यह ऐतिहासिक कहा गया है। जब कोई घटना कवि की कल्पना में रँग जाती है तब उसका ऐतिहासिक रूप नष्ट हो जाता है। यही नहीं, उसमें प्राचीन काल की अपेक्षा कवि के युग की ही छाया दिखाई पड़ती है। अतएव इस नाटक में (जिसकी घटना ईसा की पहली शताब्दी की है) हमें यदि बीसवीं शताब्दी का चित्र देखने को मिले तो हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। नाटक मनोरञ्जक है, खेलने लायक़ है। मूल्य ॥) है। (३) चोट—इसमें छोटी छोटी ग्यारह कहानियां हैं। सभी कहानियां साधारण हैं। श्रीयुत अनादिधन वन्द्योपाध्याय, बी० ए०, ने इनकी रचना की है। मूल्य ॥=) । काग़ज़ और छपाई तीनों पुस्तकों की अच्छी है।

५—असहयोग का इतिहास—मिस्टर ए० पेतर ब्रांकवे की एक छोटी सी अँगरेज़ी पुस्तक का यह अनुवाद है। इस समय संसार की जो पराधीन जातियां अपने अपने शासकों से असहयोग करके स्वाधीनता प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हुई हैं उनकी क्रियाशीलता का संक्षिप्त परिचय ब्रांकवे महोदय ने अपनी इस पुस्तक में दिया है। पूर्व-काल में हंगरी देश ने आस्ट्रिया सरकार से सर्व-प्रथम असहयोग किया था उसी के विवरण से इस पुस्तक का श्रीगणेश किया गया है तदनन्तर मिस्र, कोरिया और आयर्लैंड के विवरण देकर इसकी समाप्ति की गई है। अनुवादक महोदय ने पुस्तक के आरम्भ में १२ पृष्ठ का 'निवेदन' लिख कर मूललेखक एवं पुस्तक दोनों का थोड़े में परिचय भी दे दिया है। यह पुस्तक सामयिक है और अँगरेज़ी न जाननेवाले हिन्दी-भाषी असहयोगियों के बड़े काम की है। पुस्तक की छपाई और काग़ज़ साधारण अच्छा है। परन्तु एक बड़ी भारी यह ग़लती होगई है कि १५ वें पृष्ठ से लेकर ३३ वें पृष्ठ के बीच के सारे पृष्ठ नदारद हैं। १०० पृष्ठ की इस छोटी पुस्तक का मूल्य ॥।) है और यह मनमोहन पुस्तकालय, नीचीबाग़, काशी के पते पर मिलती है।

❁

६—श्री आत्मतिलक ग्रन्थ सोसायटी की दो पुस्तकें—

(१)—उच्चजीवन के सात सोपान—अनुवादक, मुनि श्रीतिलक विजयजी पञ्जाबी। पृष्ठ-संख्या ३० और मूल्य =) हैं।

श्रीयुत दोसीमणिलाल नथुभाई बी० ए० लिखित उच्चजीवननुं अठवाडियुँ नामक एक गुजराती निबन्ध का भाषान्तर है। इस पुस्तक में सदाचार-सम्बन्धी छोटे छोटे सात लेख हैं। अनुवाद की भाषा विकृत है।

(२) असहयोग—लेखक, स्वामी सत्यदेव, पृष्ठ-संख्या ३५ और मूल्य ढाई आने हैं।

प्रसिद्ध वक्ता स्वामी सत्यदेव ने असहयोग के सम्बन्ध में देश के भिन्न भिन्न शहरों में जो व्याख्यान दिये हैं उन्हीं का सङ्ग्रह इस पुस्तक में हुआ है।

ये दोनों पुस्तकें पूर्वोक्त सोसाइटी की १६ और २० नम्बर की पुस्तकें हैं। पुस्तकों की छपाई और उनका काग़ज़ सुन्दर है। पूर्वोक्त सोसायटी के शा० सदुभाई तिलकचन्द, रतनपोल, अहमदाबाद को लिखने पर ये पुस्तकें मिल सकती हैं।

७—निखट्टू गुरु की कहानी—अनुवादक, श्रीशिवनारायण वर्मा, । प्रकाशक, पाणिनि आफ़िस, बहादुरगंज, इलाहाबाद। पृष्ठ-संख्या ३२ और मूल्य ।) हैं।

यह पुस्तक अँगरेज़ी की The Adventures of Mr. Gooroo Noodle नाम की पुरानी पुस्तक का भाषान्तर है। कहानी साधारण और हास्यरस-व्यञ्जक है।

❁

८—विकट जासूस—अनुवादक, पण्डित कृष्णानन्द जोशी, बी० ए०, एल-टी। प्रकाशक, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद, पृष्ठ-संख्या १२३, मूल्य ॥। है।

अँगरेज़ी में सर कानन डायल के उपन्यासों की बड़ी तारीफ़ है। उनके जासूसी उपन्यासों में शर्लाक होम्स की कहानियां ख़ूब प्रसिद्ध हैं। इस पुस्तक में उसी की तीन कहानियां सङ्गृहीत हैं। तीनों मनोरञ्जक हैं। इनमें घटना-वैचित्र्य है और जासूस की कुशलता का दिग्दर्शन भी है। हिन्दी में शर्लाक होम्स की कुछ कहानियों के अनुवाद पहले भी होगये हैं। परन्तु उनमें अँगरेज़ी समाज को हिन्दू-समाज का रूप दे दिया गया। कृष्णानन्दजी ने इसकी ज़रूरत नहीं समझी। भाषा रोचक है। पुस्तक के आरम्भ में पण्डित ज्वालादत्त शर्म्मा की लिखी एक छोटी सी भूमिका भी है।

❁

९—बोलशेविक जादूगर—लेखक श्रीयुत रमाशङ्कर अवस्थी, प्रकाशक, भारत-पुस्तक-भण्डार, ३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या ७९ और मूल्य ।) है।

रूस के प्रसिद्ध बाल्शेवी नेता मोशियो लेनिन और मोशियो ट्रॉटस्की का नाम इस समय किसको नहीं मालूम है। संसार-प्रसिद्ध इन दो यहूदी महात्माओं के चरित का परिचय इस छोटी पुस्तक में लेखक ने भाव के आवेश में लिखा है। लेखन-शैली मनोरञ्जक और सरल है। उपर्युक्त महात्माओं के सम्बन्ध की मुख्य मुख्य सारी बातें इस पुस्तक में ख़ूबी के साथ एकत्र की गई हैं।

चित्र-परिचय।

सरस्वती के इस अङ्क में 'बुद्ध भगवान् और उनकी शिष्य-मण्डली' नामक चित्र दिया जाता है।

Printed and Published by Apurva Krishna Bose, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.
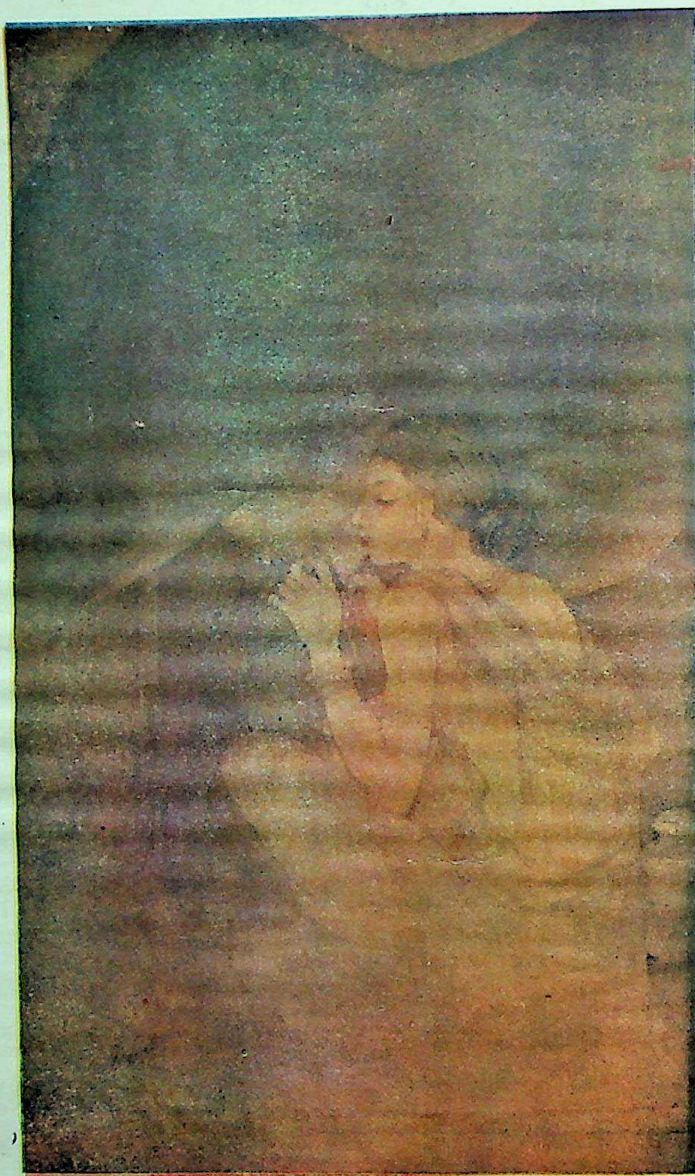
दुहिता ।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग ।

भाग २२, खण्ड २] नवम्बर १९२१—कार्तिक १९७८ [संख्या ५, पूर्ण संख्या २६३

लाहोर के क़िले में पच्चीकारी की रङ्गीन चित्रावली।

हर आदमी की यह इच्छा रहती है कि उसके पिता, पितामह या अन्य पूर्वज की यादगार बनी रहे। इसी से वह उन लोगों की छोटी से भी छोटी चीज़ों की रक्षा, बड़ी सावधानी से, करता है। उनके चित्रों और पुस्तकों को वह बड़े प्रेम से रखता है। उनकी बनवाई हुई बुरी भी इमारतों को वह यह समझ कर नहीं बिगड़ने देता कि ये हमारे अमुक पूर्वज की यादगार हैं। इससे मनुष्य के हृदय में उन पूर्वजों के सम्बन्ध में श्रद्धा-भक्ति भी जागृत रहती है और उनके समय के कला-कौशल, कारीगरी और वस्त्राच्छादन आदि का ज्ञान भी अक्षुण्ण रहता है।

इस विषय में जो बात एक मनुष्य के लिए चरितार्थ है वही सारे देश के लिए भी। देश की प्राचीन कारीगरी, प्राचीन इमारतों और प्राचीन पदार्थों की रक्षा करना देश के शासक या राजा का बहुत बड़ा कर्तव्य है। इससे अनेक लाभ हैं, जिनकी पुनरुक्ति करना अनावश्यक है, क्योंकि इस सम्बन्ध में सरस्वती में पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है। पश्चिमी देशों में प्राचीन वस्तुओं की रक्षा करना और उन्हें खोज निकालना बड़े महत्त्व का काम समझा जाता है। इसी से वहाँ बड़ी बड़ी संस्थायें संस्थापित हैं। जो काम राजा से नहीं हो सकता वह ये संस्थायें करती हैं। ये प्राचीन भग्नावशेषों का पता लगाती हैं, प्राचीन चित्रों और मूर्तियों की खोज करती हैं, प्राचीन इमारतों की रक्षा का प्रबन्ध करती हैं, और पृथ्वी के पेट तक में पहुँचे हुए हज़ारों वर्ष के पुराने मन्दिरों और नगर-खण्डों को

खोद निकालती हैं। अपने देश में यह काम कुछ कुछ गवर्नमेंट ही करती है। पहले तो वह इस काम को यों ही, नाममात्र के लिए, करती थी। पर लार्ड कर्ज़न के समय से उसने अपने इस कार्य्य-क्षेत्र का विस्तार बढ़ा दिया है। अस्तित्व में आई हुई कुछ नूतन संस्थायें भी अब इस काम को करने लगी हैं। अतएव, आशा है, भारत की बची बचाई प्राचीन कीर्ति नष्ट होने से अब बहुत कुछ बच जाय।

मुग़ल बादशाहों की बनवाई हुई इस देश में अनेक विशाल इमारतें—महल, क़िले, मसजिदें, मक़बरे आदि—हैं। उनमें से अनेक अभी तक ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। उनकी रक्षा का थोड़ा-बहुत प्रबन्ध गवर्नमेंट ने कर दिया है। उनके सम्बन्ध में गवर्नमेंट के पुरातत्त्व-विभाग (Archæological Department) ने आज तक कितनी ही रिपोर्टें लिख कर प्रकाशित की हैं। उन्हें देखने से इन इमारतों के सम्बन्ध की बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं। अभी, हाल में, उसने एक बड़े महत्त्व की पुस्तक प्रकाशित की है, जिसकी एक कापी पूर्वोक्त महकमे के अध्यक्ष, सर जान मार्शल, की कृपा से हमें भी प्राप्त हुई है। इस पुस्तक का नाम है—Tile Mosaics of the Lahore Fort—पुस्तक अँगरेज़ी में है और ख़ूब लम्बी-चौड़ी है। उसमें सैकड़ों रङ्गीन चित्र हैं। बड़ी बड़ी प्लेटों ही (चित्र-समुदायों ही) की संख्या ८० तक पहुँच गई है। इसी से दाम भी उसका ५५), फ़ी कापी, है। उसमें लाहोर के क़िले के एक महल की रङ्गीन चित्रावली का वर्णन है।

लाहोर के क़िले के भीतर कितने ही शाही महल हैं। काल बली ने उनमें अनेक विकार उत्पन्न कर दिये हैं। कहीं कहीं पर वे कुछ के कुछ हो गये हैं। उनका वह प्राचीन रूप-रङ्ग अपनी मूल स्थिति में नहीं। जो भाग जिस काम के लिए था—जिस अंश में जो राजकीय कार्य्य होते या जो लोग रहते थे—वह अब कहीं तो ख़ाली पड़ा है, कहीं अपने रूपान्तर को देख कर रो रहा है और कहीं अपने नवीन आश्रित जनों की दिनचर्य्या की तुलना शाही समय के निवासियों की दिनचर्य्या से कर करके अपने सौभाग्य या दुर्भाग्य की चिन्ता में निमग्न है।

भगवान् की इच्छा, जिस दीवानख़ाने में शाहेजहाँ का सिंहासन था और उस पर बादशाह के आसीन होने पर जहाँ बड़े बड़े राजा-महाराजा और अमीर-उमरा, बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहने हुए, बादशाह की निगाह का रुख़ देखा करते थे वही अब सूनसान पड़ा हुआ है, उसी के आसपास गोरों की बारिकें बन गई हैं, और वहाँ अब सुकुमार बेगमों के आभरणों की झनकार के स्थान में किरचों की खटाखट सुनाई पड़ती है!

शाही ज़माने का अन्त होने पर इन महलों पर सिक्खों का आधिपत्य रहा, रञ्जीतसिंह और उनके बन्धु-बान्धवों, वंशजों और कर्म्मचारियों ने बहुत दिनों तक इन्हें अपना लीला-निकेतन बनाया। तदनन्तर अँगरेज़ों ने इन्हें सनाथ किया। जिस दीवानख़ाने में उनके प्रतिनिधि ने पञ्जाब के शासन का सूत्र सिक्खों से छीन कर अपने हाथ में लिया था उसकी एक दीवार पर, पत्थर की एक पटिया जड़ कर, उस पर उन्होंने उस घटना का उल्लेख भी कर दिया।

मुग़ल-बादशाह विलासप्रिय होने पर भी अच्छी अच्छी इमारतें बनवाने के बड़े प्रेमी थे।

लाहोर के क़िले की इमारतें कई बादशाहों की बनवाई हुई हैं। इन इमारतों में एक महल का नाम है—समन-बुर्ज। इस नाम में समन शब्द अरबी, मुसम्मन, शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। इस अरबी शब्द का अर्थ शायद अष्टभुज या अष्टकोणाकृति है। सम्भव है, इस महल का यही आकार हो गा रहा हो। शाही ज़माने में तो यह महल शाहबुर्ज कहलाता था। पर जब से क़िले पर सिक्खों का अधिकार हुआ तब से उन्होंने इसका नाम समन-बुर्ज रख दिया और तभी से यह इस नाम से प्रसिद्ध है। क़िले के भीतर जाने के लिए कई प्रवेश-द्वार हैं। उनमें से एक का नाम है हाथी-पोल। इसी द्वार से प्रवेश करके, एक टेढ़े मेढ़े मार्ग से कुछ दूर जाने पर, समन-बुर्ज के दर्शन होते हैं। इसी के एक भाग में वह चित्रकारी है, जिसका वर्णन समालोच्य पुस्तक में किया गया है। पुस्तक के प्रणेता हैं—डाक्टर जे० पी० वोजल, पी-एच० डी०। आप पहले यहाँ पुरातत्त्व-विभाग में सुपरिंटेंडेंट थे। अब हालेंड के लीडन-विश्वविद्यालय में वहाँ के छात्रों को संस्कृत और भारतीय प्राचीन-वस्तु-विद्या पढ़ाते हैं। सर जान मार्शल महाशय ने पुस्तक का सम्पादन किया है और गवर्नमेंट आव् इण्डिया ने उसे अपने ख़र्च से छपाया है।

समन-बुर्ज में जो चित्रकारी है वह सन् १६२० और १६३० ईसवी के बीच की मालूम होती है। अर्थात् उसके कुछ अंश का चित्रण जहाँगीर के और कुछ का शाहेजहाँ के समय में हुआ है। और और प्रकार की चित्रकारियों का वर्णन तो योरप से इस देश में आये हुए कई यात्रियों ने किया है। कम्पनी के एक-आध अफ़सर ने भी उनका उल्लेख किया है। पर इस पच्चीकारी की चित्रशाला का वर्णन शायद ही किसी पुराने विदेशी यात्री ने किया हो। हाँ, इसी देश के एक आध मुसलमान इतिहास-लेखक ने ज़रूर उसका वर्णन किया है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि यह चित्रकारी महल के उस भाग में है जिसमें ख़ुद बादशाह और उनकी बेगमें रहती थीं। फिर, भला, ऐसी जगह तक अन्य देश-वासी फिरङ्गियों की पहुँच कैसे हो सकती थी।

लाहोर के क़िले की इमारतें मामूरख़ाँ नाम के यञ्जोनियर की देख-भाल में तैयार हुई थीं। वे सब १६१७-१८ ईसवी में बन कर तैयार हो गई थीं। जहाँगीर ने अपने आत्मचरित्र या दिनचर्य्या (Memoirs) में लिखा है कि २० नवम्बर १६२० को उसने बड़ी ही शान-व-शौक़त से क़िले के भीतर प्रवेश किया और इन्द्र नाम के हाथी पर सवार होकर, प्रवेश करते समय, हज़ारों रुपये लुटाये। यह भी लिखा है कि क़िले की इमारतें बनवाने में ७ लाख रुपया ख़र्च हुआ था। जहाँगीर के बाद कई इमारतें शाहेजहाँ ने भी बनवाईं। शाहबुर्ज (आज-कल का समन-बुर्ज) भी उसी के समय में बन कर तैयार हुआ था। उसका नक़शा लाहोर के गवर्नर यमीनुद्दौला आसफ़ख़ाँ ने तैयार किया था।

जिस पच्चीकारी के काम का वर्णन इस पुस्तक में है और जिसके नमूने इसमें दिये हुए हैं वह इस देश में फ़ारिस से आया है। वह काशी या काशानी कहाता है। कोई कोई उसे काशीगरी भी कहते हैं। पर इस शब्द का सम्बन्ध काशी अर्थात् बनारस से नहीं। इराक़ में एक शहर का नाम है काशान। वहाँ के और उसी प्रान्त के एक और

शहर कूम के कुम्हार इस कला में बड़े निपुण थे। इसी से शायद इस कारीगरी का नाम काशानी पड़ गया है। पर किसी किसी का मत है कि फ़ारसी में काश काँच या शीशे को कहते हैं। यह काम भी काँच ही की तरह चमकदार पटियों पर होता है। इसी से यह काशी कहा जाता है। कुछ भी हो, इस पुस्तक के लेखक की राय है कि इस प्रकार की कारीगरी, मुसलमान बादशाहों के ज़माने में, फ़ारिस ही से इस देश में आई है। पर बहुत सम्भव है, वहाँ इसका प्रचार चीन की कारीगरी देख कर हुआ हो। क्योंकि चीन में इस प्रकार का काम बहुत पहले से होता आया है।

पञ्जाब-गवर्नमेंट के केमिकल एग्ज़ामिनर, डाक्टर सेंटर, की राय है कि एक प्रकार के कड़े पलस्तर, या पोर्सलेन की तरह की किसी चीज़, पर पिसे हुए काँच की तह बिछा दी जाती है। उसके भिन्न भिन्न आकार के टुकड़े काट कर वे सब भट्टी में पका लिये जाते हैं। उनमें चमक आ जाती है और जिस रङ्ग के काँच का चूर्ण बिछाया जाता है वही रङ्ग उसमें आ जाता है, जो बहुत काल तक प्रायः वैसा ही बना रहता है। इन टुकड़ों के तीन भाग होते हैं—ख़मीर, काँच और अस्तर। ख़मीर ही को पलस्तर कहते हैं; उसी की ज़मीन बनाई जाती है। उस पर मसाले का अस्तर लगा कर, काँच के टुकड़े उस पर जड़ दिये जाते हैं। काँच बनाते समय ही उसमें, मसाले की सहायता से, लाल, नीले, पीले इत्यादि रङ्ग उत्पन्न कर दिये जाते हैं। इन टुकड़ों को जोड़ कर अष्टभुज, चतुर्भुज इत्यादि आकार की पटियाँ बनाई जाती हैं। ईंट की बनी हुई इमारतों में यही पटियाँ जड़ दी जाती हैं। ये टुकड़े इस तरह काट कर जड़े जाते हैं कि उनके मेल से अभीष्ट चित्र बन जाते हैं।

इस तरह की कारीगरी के चित्र लाहोर के क़िले के सिवा और जगहों में भी पाये जाते हैं। ईरान और एराक़ की बात हम नहीं कहते; वहाँ तो इस प्रकार की बहुतेरी चित्रावलियाँ हैं हीं। यहाँ इस देश में भी देहली (शाहदरा) और लाहोर आदि की अन्य इमारतों में भी ये पाई जाती हैं। और भी कई शहरों में इस तरह के चित्र विद्यमान हैं। कुछ शाहेजहाँ के पहले के हैं, कुछ पीछे के। देहली के पास एक मन्दिर में भी इस तरह के चित्र देखे जाते हैं। पर जो ख़ूबी समन-बुर्ज के चित्रों में है वह अन्यत्र नहीं। जान पड़ता है, उस समय, इस कला के जाननेवाले काशीगरों (कुम्हारों) का अभ्यास, इस प्रकार के चित्र-निर्म्माण में, ख़ूब बढ़ा-चढ़ा था।

मुसलमानों को धार्म्मिक आज्ञा है कि मनुष्य ही नहीं, किसी भी प्राणी की तसवीर या मूर्ति न बनानी चाहिए। प्राणिनिर्म्माण करना परमेश्वर ही का काम है। उसकी इस कारीगरी की नक़ल करना पाप है। मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि की तसवीर बनाना मानों ख़ुदा-ताला का उपहास नहीं तो उसकी प्रतिस्पर्धा ज़रूर करना है। इसी से औरङ्गज़ेब के सदृश बिगडदिल मुसलमान को जहाँ जहाँ इस तरह की तसवीरें या मूर्त्तियाँ देख पड़ती थीं वहाँ वहाँ वह उन्हें तुड़वा देता था। पर जहाँगीर और शाहेजहाँ आदि कई बादशाह ऐसे भी हो गये हैं जो इस धर्म्माज्ञा का कुछ दूर तक उल्लङ्घन करते नहीं डरे। उनकी बनवाई हुई इमारतों में साधारण और असाधारण बेल-बूटों और कुरान की

आयतों के सिवा जीवधारियों के भी चित्र पाये जाते हैं। एक बात समझ में नहीं आती। इन लोगों के प्रसिद्ध सिंहासन तख़्तेताऊस पर ही मोर की मूर्ति थी। उसे औरङ्गज़ेब या उसके से धार्म्मिक विचार रखनेवाले किसी अन्य बादशाह ने क्यों नहीं तुड़वाया?

समन-बुर्ज की जो दीवार पच्चीकारी या काशीगरी की इन चित्रावलियों से चित्रित है उसकी लम्बाई कोई ५०० गज़ और ऊँचाई १६ गज़ है। उसका क्षेत्रफल ८,००० गज़ होगा। समालोच्य पुस्तक में इन चित्रों में से ११६ चित्रों के रङ्गीन प्रतिविम्ब हैं। जुदा जुदा प्लेटों (या चित्रमय पृष्ठों) की संख्या ८० है। जिस चित्र में जैसा रङ्ग है वह वैसा ही उसी रङ्ग में दिया हुआ है। जिस चित्र में जितने रङ्ग हैं, अथवा जो अंश जिस रङ्ग में है, वह ज्यों का त्यों दिखाया गया है। चित्रगत प्रत्येक टुकड़ा अलग अलग देख पड़ता है। टुकड़ों को जोड़ कर चित्र बनाने पर पटिया में जो जगह ख़ाली रह गई है उसमें मसाला भर दिया गया है। वह भी रङ्गीन है और पटिया की ज़मीन के रङ्ग से मिलता है।

पुस्तक-लेखक की राय है—हमारी नहीं, क्योंकि हम चित्रकला के ज्ञाता होने का दावा नहीं कर सकते—कि कोई कोई चित्र तो बहुत ही सुन्दर हैं; उन्हें उत्तम चित्रकला के नमूने कहना चाहिए। पर कुछ उतने अच्छे नहीं। इससे अनुमान यह कहता है कि चित्रों की सभी पटियाँ एक ही कारीगर की रचना नहीं। कई कारीगरों ने मिल कर उनका निर्म्माण किया है। अपने काम में जो कारीगर जितना ही निपुण था उसकी रचना भी उतनी ही अच्छी हुई है।

चित्र अनेक प्रकार के—अनेक विषयों के—हैं। उनमें कितने ही तत्कालीन दृश्य अङ्कित हैं। कहीं हाथियों का परस्पर युद्ध अङ्कित है; कहीं अमीरों की सवारियों का दिखाव है। कहीं कोई शेर किसी हिरन पर झपट रहा है; कहीं कोई क्रुद्ध हाथी किसी घुड़सवार का पीछा कर रहा है। एक आदमी आराम से बैठा हुक़ा पी रहा है; दूसरा आईना हाथ में लिये अपना मुँह देख रहा है। चमर, पानी से भरी सुराही और पानदान लिये हुए कितने ही आदमियों के चित्र सजीव से जान पड़ते हैं। उन सबके वस्त्राच्छादन, कपड़ों के काट-छाँट, चलने-फिरने और बैठने के ढंग देख कर शाही ज़माने का दृश्य प्रत्यक्ष सा हो जाता है। हाथियों, घोड़ों, ऊँटों, बैलों इत्यादि के अनेक चित्र हैं। उन सबके साज़ो-सामान वैसे ही हैं जैसे उस समय रायज थे। फरिश्तों, परियों, अज़दहों तथा और भी कितने ही अतिप्रकृत प्राणियों के भी चित्रों की कापियाँ पुस्तक में हैं। तीन सौ वर्ष पहले साधारण आदमियों, अमीरों, शाहज़ादों और नौकर-चाकरों के कपड़े-लत्ते कैसे होते थे, यह इन चित्रों को देखने से अच्छी तरह मालूम हो जाता है। चित्रों में नाना प्रकार के बेल-बूटे, फूल और पत्तियाँ हैं। अनेक प्रकार की, बड़ी ही विचित्र, रेखामय बेलें देख कर उनके निर्म्माता कारीगरों के कौशल की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता।

दुःख की बात है, इस तरह की पुरानी कारीगरी की रक्षा अब तक यथेष्ट नहीं हुई। इसी से लाहोर के क़िले की इस चित्रावली के भी कुछ अंश ख़राब हो गये हैं। अन्य स्थानों के चित्रों की आज तक कितनी दुर्दशा हो चुकी होगी, यह भगवान् ही

जाने। यदि आर्कियालाजिकल महकमे के उद्योग और गवर्नमेंट के ख़र्च से इस पुस्तक का प्रकाशन न होता तो इस चित्रावली की ख़बर तक लोगों को न होती। आशा है, गवर्नमेंट, ललित-कला के इन नमूनों को अन्यत्र भी नष्ट होने से बचाने का प्रयत्न करेगी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

महाराष्ट्रीय रंग-भूमि।

संसार के सुधार तथा मनुष्य-प्राणी की प्रगति में रङ्गभूमि को स्थान मिल सकता है। दर्शकों की मनोवृत्ति को आकर्षित कर उन्हें सुपथ की ओर ले जाने के लिए रङ्ग-भूमि के सदृश दूसरा सहज सुन्दर मार्ग नहीं। नाटक को संसार का चित्र कहते हैं। उसमें संसार का चित्र चित्रित किया जाता है और कुशल नटों द्वारा समाज के सम्मुख साभिनय दिखाया जाता है। इस जीवित चित्र को देख कर दर्शकों के भावना-प्रधान हृदय तथा बुद्धि-प्रधान मस्तक को प्रगति मिलती है और वे अपनी दशा पहचान कर सुमार्ग के आविष्करण में लग जाते हैं। कहते हैं कि अमरीका में यदि किसी को शराब पीकर मतवाला बनने की आदत हो तो लोग उसे उस व्यसन से बचाने के लिए एक विचित्र उपाय करते हैं। जब वह शराबी मनुष्य नशे में नहीं होता तब उसका मित्र उसे मतवाले का अभिनय करके दिखाता है। वह झूठ-मूंठ शराबी बन मुँह से नीच शब्दों का प्रयोग करने लगता है, वह अपने कपड़े फाड़ कर नाली में भी गिर जाता है। इतना करने के पश्चात् वह अपने शराबी मित्र से कहता है, "कहो, इस समय क्या मैं मनुष्य कहलाने योग्य हूँ?" बेचारा शराबी निरुत्तर हो जाता है। यही नहीं वह अपनी दशा का चित्र देख कर लज्जित हो जाता है और धीरे धीरे अपने दुर्व्यसन से मुक्त हो जाता है। यही सम्बन्ध नाटक और समाज का है। समाज नहीं समझता कि हम किस दशा में हैं, परन्तु जब उसके सामने उसका चित्र चित्रित किया जाता है तब आश्चर्य नहीं कि वह अपने को पहचान ले। यदि नाटक अच्छा हो और नट अपने कार्य में कुशल हो तो उसका प्रभाव दर्शकों पर अच्छा पड़ता है। एक बार इँग्लेंड के एक नाटक-गृह में शेक्सपीयर का "अथेलो" खेला जा रहा था। उसके दुष्ट पात्र (Villain) की भूमिका एक कुशल नट ने ली थी। उसके अभिनय का प्रभाव एक दर्शक पर इतना अधिक पड़ा कि वह—यह नाटक है, इसे भूल कर—उस नट को मारने के लिए तमञ्चा लेकर स्टेज पर चढ़ गया। उत्तररामचरित्र में भी इसी प्रकार की एक कथा है। भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मण के साथ वाल्मीकि-रचित नाट्यप्रयोग देखने गये थे। नाटक में रामचन्द्र और सीता का चित्र खींचा गया था। रङ्ग-भूमि में सीता और गङ्गा का संवाद हो रहा था। उस संवाद में रामचन्द्र की निन्दा तथा सीता के पातिव्रत की प्रशंसा हो चुकने के बाद शोक-विह्वला सीता को गङ्गा तथा पृथ्वी द्वारा अन्तरिक्ष में ले जाना दिखलाया गया। इस दृश्य को देख कर रामचन्द्र मूर्छित हो गये। लक्ष्मण ने, उनसे 'तात नाटकम् इदम्' बता भी दिया, पर वे सँभल न सके। यह सब लिखने का प्रयोजन यह है कि समाज-सुधार के काम में नाटक पूरी तरह से सहायता प्रदान कर सकता है।

प्राचीन काल से भारत में नाटक खेले जाते रहे हैं। इन्द्र-सभा में अप्सरायें अभिनय किया करती थीं, यह बात पुराणों में लिखी है। सौभाग्य से भारत में भी 'शिलर, गेटी, शेक्सपीयर, सदृश नाटककार हुए हैं। कविकुल-मुकुटमणि कालिदास तो शकुन्तला से सारे संसार को प्रसन्न कर रहे हैं। योरप के कविसम्राट् गेटी को शकुन्तला के सामने सारा संसार तुच्छ मालूम पड़ता है।

'सरस्वती' के गत विशेषाङ्क (जनवरी १९२१) में नाटक के विषय पर एक लेख निकला था उसमें महाराष्ट्रीय नाटकों के सम्बन्ध में कुछ कहा गया था। अतएव प्रस्तुत लेख में महाराष्ट्रीय रङ्ग-भूमि का कुछ परिचय देने की चेष्टा की जाती है।

महाराष्ट्र में नाट्य संस्था का उदय सन् १८८० के लगभग हुआ। उसके पहले भी नाटक खेले जाते थे, पर

उन्हें नाटक की अपेक्षा तमाशा ही कहना ठीक होगा। वहाँ नाट्य-कला को उच्च दिशा दिखानेवाले श्रीअण्णा साहब किर्लोस्कर थे। महाराष्ट्र के आदि-नाटककार विष्णुपन्त भावे माने जाते हैं, परन्तु उनके नाटक न तो खेले जाते हैं और न वे प्रसिद्ध ही हैं। श्रीअण्णा साहब किर्लोस्कर ने "किर्लोस्कर-सङ्गीत-मण्डली" की स्थापना की और 'शाकुन्तल' और 'सौभद्र' ये दो नाटक खेले। उनके सौभाग्य से या महाराष्ट्रीय रङ्ग-भूमि देवता की कृपा से उन्हें भाऊ राव कोल्हटकर सदृश कुशल तथा गान-पटु नट भी मिल गये। स्वर्गीय भाऊराव कोल्हटकर का स्वर्गवास हुए कई वर्ष बीत गये, परन्तु महाराष्ट्र अब तक उन्हें नहीं भूला। स्त्री की भूमिका आप बहुत सुन्दर रीति से करते थे। जब स्वर्गीय अण्णा साहब किर्लोस्कर सदृश नाटककार और स्वर्गीय भाऊराव कोल्हटकर सदृश अद्वितीय नट रङ्ग-भूमि पर चमकने लगे तब महाराष्ट्र के सुशिक्षित जनसमुदाय का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। बस तभी से महाराष्ट्र में नाट्यकला का विकाश आरम्भ हुआ। श्रीकृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर और श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर बी० ए०, एल०-एल० बी० सदृश विद्वान् नाटक लिखने लगे। इससे महाराष्ट्र का ध्यान और भी नाट्य-संस्था की ओर झुक गया।

श्रीकोल्हटकर महाराष्ट्र के प्रतिभा-सम्पन्न लेखक तथा टीकाकार हैं। इन्होंने सामाजिक विषय पर नाटक लिखे हैं। इस समय भी वे खेले जाते हैं। उनमें से मुख्य सङ्गीत मूकनायक, मतिविकार, गुप्तमञ्जूषा और जन्मरहस्य हैं। इनकी रचना में विनोद की पुट अधिक रहती है।

खाडिलकर भी महाराष्ट्र के प्रतिभाशाली लेखक हैं। इन्होंने पहले गद्यात्मक नाटक—जिनमें गाने नहीं होते—लिखना प्रारम्भ किया। पीछे से इन्होंने सङ्गीत नाटक भी लिखे। परन्तु आपके गद्य-नाटक सङ्गीत नाटकों की अपेक्षा अच्छे हैं। गद्य-नाटकों में 'कीचकवध,' 'मोहनी,' 'सवाई माधवराव की मृत्यु' और सङ्गीत नाटकों में 'मानापमान' तथा 'स्वयंवर' अच्छे नाटक हैं। 'कीचकवध' नाटक का खेला जाना सरकार ने बन्द कर दिया है। कोल्हटकर और खाडिलकर के समय में प्रसिद्ध नाटक-लेखक स्वर्गीय श्री-देवल भी थे। इनके नाटकों में स्वभाव का विकास ठीक तरह से होता है। इनके 'शारदा नाटक' ने महाराष्ट्र में बड़ा नाम कमाया।

महाराष्ट्र में नाटक के दो भेद हैं। एक सङ्गीत नाटक जिनमें गाने होते हैं और दूसरे गद्यात्मक नाटक। दो प्रकार की नाटक-कम्पनियाँ भी हैं। गद्यात्मक नाटक खेलनेवाली कम्पनियों में अभिनय विशेष अच्छी तरह से पाया जाता है। श्रीगणपतराव जोशी महाराष्ट्र के सर्वोत्तम नट हैं। ये गद्यात्मक नाटकों में ही अभिनय करते हैं। उनकी नाटक-मण्डली का नाम "शाहू नगरवासी नाटक-मण्डल" है। उनके अभिनय की प्रशंसा बड़े बड़े विद्वानों ने की है। वे आज-कल के नट-सम्राट् हैं। वे 'हेमलेट' की भूमिका बहुत अच्छी करते हैं महाराष्ट्र के रजवाड़ों में से एक महाराज लन्दन गये थे। वहाँ उन्होंने 'हेमलेट' देखा। हेमलेट का काम वहाँ के सुप्रसिद्ध नट सर हर्बर्ट बीरबाम ट्री ने किया था। जब महाराज भारत लौटे तब उन्होंने गणपतराव को अपने घर बुला कर उनका अभिनय कराया। जोशीजी की 'हेमलेट' की भूमिका ट्री से उन्हें अधिक पसन्द आई।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ से नाट्य-कला की वृद्धि शीघ्र होने लगी। अनेक नाटक-मण्डलियाँ स्थापित हुईं और अनेक नाटककार उत्पन्न हुए। स्वर्गीय भाऊराव कोल्हटकर की मृत्यु से इस सम्बन्ध में महाराष्ट्र की भारी हानि हुई, परन्तु सौभाग्य से इस समय महाराष्ट्र में उनकी बराबरी के दो नट नाट्य-रङ्ग-भूमि की शोभा बढ़ा रहे हैं।

इनमें से एक का नाम श्रीनारायण श्रीपाद राजहंस है। इन्हें बालगन्धर्व की पदवी मिली है। दूसरे का नाम श्री केशव विट्ठल भोंसले है। ये दोनों महाराष्ट्र के सङ्गीत-नट-रत्न हैं। बालगन्धर्व का स्वर अत्यन्त मधुर है और वे स्त्री की भूमिका अच्छी करते हैं। उनकी कम्पनी का नाम "गन्धर्व-नाटक-मण्डली" है।

श्री केशवराव भोंसले की कम्पनी का नाम "ललित-कलादर्श सङ्गीत नाटक-मण्डली है"। श्री भोंसले शास्त्र की रीति से गाते हैं। विशेषतः नाटक के गानेवाले ताल या गायन-शास्त्र की ओर नहीं देखते. परन्तु श्री भोंसले का गाना शास्त्र-सम्मत होता है। वे प्रतिभाशाली गायक हैं। वे स्त्री तथा पुरुष दोनों की भूमिका करते हैं। पहले वे 'शारदा नाटक' में 'शारदा' की भूमिका करते थे। उस समय वे एक "मूर्तिमंत

भीति उभी''—यह गाना गाते थे। इसे वे इतने मधुर स्वर में गाते थे कि लोग दस दस बार उसे फिर गाने के लिए आग्रह करते थे। लोग नाटक देखने नहीं, किन्तु वही गाना सुनने जाया करते थे। गत ७ जुलाई को बालगन्धर्व और भोंसले दोनों मिल कर 'मानापमान' नाटक खेलनेवाले थे। इसके पहले इन दोनों अद्वितीय नटों ने एक साथ मिल कर कभी अभिनय नहीं किया था, यह अपूर्व प्रसङ्ग था। सम्भवतः इस खेल की आमदनी पचीस तीस हज़ार से कम न हुई होगी।

नाटककार भी महाराष्ट्र में अनेक हुए। उनमें से मुख्य केलकर वाभणगांवकर, जोशी, स्वर्गीय गडकरी कोल्हटकर विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

केसरी के सम्पादक श्रीनरसिंह चिन्तामणि केलकर, बी० ए०, एल-एल० बी०, भी नाट्य-रङ्ग-देवता की उपासना करते हैं। इनका ''तोतयाचें बंड'' नाम का नाटक उत्तम है। वाभणगांवकर कोल्हटकर के शिष्य हैं। इन्होंने 'धनु-भंङ्ग और 'आत्मतेज' नामक दो सङ्गीत नाटक लिखे हैं।

वामनराव जोशी (जो आज-कल सरकार की क़ैद में हैं) ने अधिक नाटक नहीं लिखे। उनका एक ही नाटक प्रसिद्ध है और वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। वह नाटक ''राक्षसी महत्त्वाकांक्षा'' है। इसे श्री केशवराव भोंसले की 'ललित-कलादर्श नाटक-कम्पनी' खेलती है।

स्वर्गीय रामगणेश गडकरी महाराष्ट्र के प्रतिभासम्पन्न कवि, चतुर गद्य-लेखक तथा उच्च श्रेणी के नाटककार थे। इनकी मृत्यु सन् १९१९ में हुई। उस समय इनकी उम्र केवल पैंतीस वर्ष की थी। इनके नाटकों में काव्य-गङ्गा की विमल धारा बहती है और शुद्ध विनोद भी ख़ूब रहता है। इनके चार नाटक—प्रेमसंन्यास, पुण्यप्रभाव, एकच्प्याला और भावबन्धन – प्रसिद्ध हैं।

प्रेमसंन्यास गद्य है और उसे ''महाराष्ट्र नाटक-मण्डली'' खेलती है। उसमें हिन्दू-बाल-विधवाओं का करुणा-जनक चित्र चित्रित किया गया है। 'पुण्यप्रभाव' नाटक अनेक मण्डलियों में खेला जाता है। उसमें आर्य स्त्री के पातिव्रत का चित्र खींचा गया है। 'एकचप्याला' में मद्यपान के दुष्परिणाम का चित्र है। इस नाटक को बालगन्धर्व की ''गन्धर्व-नाटक-मण्डली'' खेलती है। बालगन्धर्व इस नाटक में 'सिन्धू' का काम अत्यन्त कुशलता के साथ करते हैं। श्री बोडस इस नाटक में ''सुधाकर'' का काम करते हैं। यह नाटक बहुत ही अच्छा है। भावबन्धन नाटक का कथानक एक अनोखे ढङ्ग का है। श्री० गडकरी के नाटक महाराष्ट्र में जितने लोकप्रिय हुए उतने और किसी के नहीं हुए। एकचप्याला नाटक की पांच हज़ार पुस्तकें छः महीने में हाथों हाथ बिक गईं। श्री गडकरी की मृत्यु से महाराष्ट्र की रङ्गभूमि को भारी हानि हुई है।

महाराष्ट्र में सबसे पहली नाटक-कम्पनी ''किर्लोस्कर सङ्गीत मण्डली'' है। यह सन् १८८० में स्थापित हुई थी। इस नाटक-कम्पनी की पहले बड़ी ख्याति हुई, परन्तु अब वह वैसी नहीं रह गई है। श्री बालगन्धर्व जोगलेकर भाऊराव कोल्हटकर, बोडस, टेंबे सरीखे अद्वितीय नट उसी में थे। परन्तु इनमें से कुछ स्वर्गवासी हो गये, अतएव उस कम्पनी की वह स्थिति जाती रही। श्री बोडस भी एक उत्तम नट हैं। आज-कल वे बालगन्धर्व की कम्पनी में हैं।

इस समय महाराष्ट्र में कई एक सङ्गीत-नाटक-मण्डलियाँ और गद्यात्मक नाटक-मण्डलियाँ हैं। सङ्गीत में मुख्य मुख्य ये हैं:—''गन्धर्व-नाटक-मण्डली''—इसमें मुख्य नट बालगन्धर्व बोडस, और मास्टर कृष्णा हैं। ललित-कलादर्श नाटक-मण्डली—इसमें श्रीकेशवराव भोंसले हैं। इसके सिवा बलवन्त-सङ्गीत-मण्डल, यशवन्त-सङ्गीत-मण्डल, नूतन सङ्गीत-मण्डल इत्यादि नाटक-मण्डलियाँ भी प्रसिद्ध हैं।

गद्यात्मक नाटक-कम्पनी में मुख्य ''शाहू नगरवासी नाटक-मण्डली'' है। इसमें महाराष्ट्र के नट-रत्न श्री गणपतराव जोशी हैं। इसके सिवा 'महाराष्ट्र-नाटक-मण्डली' गणेश-नाटक-मण्डली, भारत-नाटक-मण्डली, लोकमान्य-नाटक-मण्डली इत्यादि गद्यात्मक नाटक-मण्डलियाँ महाराष्ट्र में हैं। यदि महाराष्ट्रीय नटों के दो विभाग किये जायँ तो पहले दर्जे के नटों में श्री जोशी, बालगन्धर्व, भोंसले, बोडस, पोतनीस हैं और दूसरे दर्जे के नट अनेक हैं। उनमें से नानबा गोखले, चिन्तोबा गांधी, कृष्णराव गोरे, कृष्णा, दीनानाथ, सवाई गन्धर्व, चिंतामणराव कोल्हटकर, टिपणीस प्रधान हैं। महाराष्ट्र में कई नट शिक्षा-प्राप्त हैं। इन्होंने मेट्रिक पास कर और कालेज छोड़ अपने अभिनय से

महाराष्ट्र रङ्ग-भूमि को उच्च पद प्राप्त कराया है इनमें से मुख्य, श्री जोगलेकर, टेंबे, भागवत टिपणीस, कारखानिस हैं।

महाराष्ट्र रङ्ग-भूमि का अल्प परिचय करा देने की चेष्टा मैं कर चुका। विस्तारपूर्वक लिखा जाय तो उसके कई अङ्गों का विस्तारपूर्वक विवेचन हो सकता है। परन्तु केवल उसका संक्षेप में परिचय करा देना ही इस लेख का उद्देश है और वह पूर्ण हो चुका। महाराष्ट्र-नाट्य-भूमि की उन्नति अच्छी तरह हो रही है। रङ्ग-भूमि और नाट्य-साहित्य में महाराष्ट्र प्रान्त भारत के किसी भी प्रान्त से यदि बढ़ कर नहीं तो पीछे भी नहीं है। नाट्य-साहित्य भी हिन्दी में कम है और यहाँ की नाटक-कम्पनियाँ जो नाटक खेलती हैं उनसे समाज को बहुत कम लाभ पहुँचता है इस ओर हमारी राष्ट्र-भाषा के भक्तों का ध्यान नहीं जाता, यह शोक की बात है।

श्रीकृष्ण सदाशिव निगुडकर

जीवनी शक्ति।

क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा-
पञ्च रचित यह अधम शरीरा।

जिन महाशयों ने आक्टोबर १९२० ईसवी की संख्या में 'जीवन और जीवनी शक्ति' नामक लेख पढ़ने की कृपा की है उन्हें भली भाँति मालूम होगा कि मैंने रक्ताणुओं को एक में जुटे रखनेवाले जीवन-मूल (Protoplasm) के सूक्ष्म-तन्तुओं ही को जीवनी शक्ति माना है। उस लेख में यह बात दिखला दी गई है कि कमज़ोरी, बीमारी और मृत्यु इन्हीं तन्तुओं के कमज़ोर—अंशतः या बिलकुल नष्ट—हो जाने से होती है। शरीर-विज्ञान-रसायन (Physiological Chemistry) ने सिद्ध कर दिया है कि जीवन-मूल कुछ मूलतत्त्वों का रासायनिक सम्मेलन (Chemical Compound) है। जीवन-मूल के विभेदन (decomposition)—अर्थात् जीवधारियों की मृत्यु—के लिए ठीक वही नियम हैं जो अन्यान्य रासायनिक सम्मेलनों के लिए हैं। प्रायः सब प्रकार का रासायनिक विभेदन तापोत्पादक होता है, और ताप ही द्वारा उसका आरम्भ तथा वृद्धि होती है—ताप चाहे प्रकट हो या अप्रकट। प्रत्येक रासायनिक सम्मेलन के स्थायित्व के तापक्रम का मण्डल (Range of temperature) नियत होता है। इसी नियत तापक्रम में कम या अधिक ह्रास-वृद्धि हो जाने से रासायनिक सम्मेलन का अंशतः या पूर्णतः विभेदन हो जाता है। जीवन-मूल भी इसी सर्व-सृष्टि-व्यापी रासायनिक नियम के अधीन है। अस्तु, प्राणिमात्र की मृत्यु केवल दो ही कारणों से हो सकती है—असामान्य ताप से या असामान्य शीत से। मृत्यु से मेरा आशय जीवन-क्रियाओं का शिथिल या मन्द हो जाना है।

जीवन-मूल के कण सहज चञ्चल और कर्मशील हैं। इनमें दूसरे कणों से मिलने या उन्हें अपने में मिलाने की शक्ति रहती है। ये निर्जीव (खाद्य) पदार्थों में से अपने सदृश वस्तु चूस सकते हैं और विजातीय द्रव्य को अलग कर सकते हैं। इसी सहज क्रिया-शक्ति के कारण जीवन-मूल द्वारा निर्मित जीवधारी बढ़ते, बीमार पड़ते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अपनी क्रियाशीलता के कारण जीवन-मूल के असंख्य कण जीवित शरीर में हरदम बरबाद होते और मलरूप में मलोत्सर्जक इन्द्रियों द्वारा शरीर से निकलते रहते हैं। पाचन और सदृशीकरण शक्ति इस हानि को पूरा करती है और जीवधारी की उत्तरोत्तर उन्नति और विकास में

सहायता देती है। मलोत्सर्जन का नियम यह है कि सबसे पहले पाचन और सद्दशीकरण क्रियाओं का अवशेष शरीर से बाहर निकलता है और तत्पश्चात् क्रियाशीलता के कारण उत्पन्न हुआ मल। अतएव स्वस्थ और दीर्घजीवी बनने के लिए यह आवश्यक है कि पहले किये हुए भोजन का अनपच अवशेष ठीक तरह से बाहर हो जाने के कुछ देर बाद दूसरी बार भोजन किया जाय। इस नियम का उल्लङ्घन करने से पाचन और सद्दशीकरण शक्ति क्षीण हो जाती है और शरीर का पोषक और मलोत्सर्जक प्रबन्ध बिगड़ जाता है। भूख और गन्दगी से सारा शरीर व्याकुल हो जाता है। शरीर में एकत्र मल और मृत्युदल दोनों एक बात हैं।

जीवाणुओं और मलकणों के परस्पर सङ्घर्षण से ताप और पीड़ा उत्पन्न होती है। ताप से रासायनिक प्रीति (Chemical affiinity) उत्तेजित होती है और मलकण जीवाणुओं में भिद भिद कर उनके आकार और सङ्गठन का सत्यानाश करने लगते हैं। जीवन-मूल में इस प्रकार रासायनिक परिवर्तन आरम्भ होते ही जीवनी शक्ति क्षीण होने लगती है, कमज़ोरी बढ़ने लगती है। और यदि ताप रोकने का उचित प्रबन्ध न किया गया तो मृत्यु हो जाती है। मैंने इसी बात का ध्यान रख कर कितने ही मनुष्यों को अकाल-मृत्यु से बचाया है और जीवन से रासायनिक सम्बन्ध रखनेवाली इसी ज़रा सी बात को भूल कर हमारे डाक्टर और वैद्य लोग लाखों रोगियों का प्रतिदिन संहार करते हैं—औषधों की गर्म्मी में रोग और रोगी दोनों ही भस्म हो जाते हैं।

इस लेख में मैं इस बात का उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ कि जो रोग औषधों द्वारा 'अच्छे' हो जाते हैं उनका वास्तव में क्या हो जाता है। किसी मात्रा तक ताप का प्रभाव उत्तेजक और तत्पश्चात् भस्मीकरण होता है। औषधें पहले जीवनी शक्ति को उत्तेजित करके रोगोत्पादक द्रव्य को जीवाणुओं में खपाने का प्रयत्न करती हैं। इसे वैद्य लोग 'रोग पचाना' कहते हैं। यदि जीवनी शक्ति अधिक हुई और रोगकारी द्रव्य थोड़े हुए तो वे रुधिर के साथ रासायनिक रीति से सम्मिलित हो जाते हैं। कहने को रोग 'अच्छा' हो जाता है, पर वास्तव में रुधिर की शक्ति क्षीण हो जाती है। ब्राह्मण और म्लेच्छ के बीच रोटी-बेटी का सा रिश्ता हो जाता है। रुधिर में नाना प्रकार के रासायनिक विभेदन आरम्भ हो जाते हैं। ग्रामीण कहावत है कि "वैद्य घुस कर घर जल्दी नहीं छोड़ता"। यदि औषधों द्वारा एक रोग अच्छा हुआ तो दूसरा उठ खड़ा होता है। मेरी सम्मति में रोग-जनक पदार्थ का केवल रूप बदल जाता है। वह शरीर से निकलता नहीं और न शरीर को स्वस्थ होने देता है। शरीर में रोग-जनक विजातीय द्रव्य के रूपान्तरों का हिसाब न अब तक हुआ है और न भविष्य में होने की सम्भावना है। रोगों के असंख्य नामों से आयुर्वेद भरा हुआ है। दिन दिन नये नये रोग सुनने में आते हैं। थोड़े दिनों में रोगों के नामों का एक अलग ही अमरकोष बनाना पड़ेगा, जिसे रटते रटते वैद्यजी की आयु समाप्त हो जाया करेगी। तब शायद मनुष्य-जाति का कुछ कल्याण हो!

परन्तु हज़ारों रोगी ऐसे भी होते हैं जिन्हें औषधों से कोई लाभ नहीं होता और उनका

रोग औषध-सेवन के साथ साथ बढ़ने लगता है। ऐसे रोगी केवल दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनकी जीवनी शक्ति थोड़ी और रोग अधिक होता है। दूसरे वे रोगी जिनकी जीवनी शक्ति असामान्यतः अधिक होती है—औषधों द्वारा उत्तेजित होने पर भी उनका स्वच्छ रुधिर अपनी सत्ता को नहीं छोड़ता और विजातीय द्रव्य को अपने में मिलाना पसन्द नहीं करता। पहले प्रकार के रोगी प्राणान्त तक औषध का सेवन बढ़ाते जाते हैं। इनसे इन्हें लाभ मालूम होता है। औषध की गर्मी में ये चल-फिर सकते हैं। दूसरे प्रकार के रोगी दो-चार बार दवाई खाकर दवाई बन्द कर देते हैं। इन लोगों को दवाइयों से हानि मालूम होने लगती है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि औषधें उत्तेजक होती हैं। वे जीवनी शक्ति को बढ़ाती नहीं, भड़काती हैं। उत्तेजक पदार्थों द्वारा जीवनी शक्ति को भड़का कर चलता-फिरता बनाना अपनी जड़ काटना है। लोग उस जुलाहे पर हँसते हैं जो वृक्ष पर चढ़कर उसी डाल को काटने लगा जिस पर वह खड़ा था, पर मुझे औषधों के सेवन करनेवालों पर उससे कहीं ज़ियादह हँसी आती है। क्योंकि वह ज्ञान-हीन जुलाहा था और औषध-पूजकों में बड़े बड़े ज्ञानी विद्वान् शामिल हैं। उत्तेजक पदार्थ दिवालिये होते हैं। वे जीवन-क्रियाओं को जारी रखने के लिए परिमित जीवनी शक्ति से चक्र-वृद्धि ऋण लेते हैं जिसे वे फिर कभी नहीं अदा कर सकते।

प्रकृति में की विभिन्नता की कोई हद नहीं। जहाँ तत्वों के परस्पर सङ्गठन के लिए रासायनिक और भौतिक बातें एकत्र हुईं वहीं एक नया जीवधारी बन कर तैयार हो गया। हमारे ऋषियों ने वेदों में 'एकोऽद्वितीयम्' का मण्डन किया, पर आयुर्वेद बिलकुल ही उलटा लिखा गया। रोगों की भिन्नता में एकता पर विचार ही नहीं किया गया। इसका यह फल हुआ है कि हम उनकी सन्तान आज-कल स्वास्थ्य-सुधार के लिए इधर-उधर मारे मारे घूमते हैं। कोई झाड़-फूँक कराते हैं तो कोई दवाइयों के पीछे सिरखपी करते हैं।

सारी सृष्टि में रोगी होने का दुर्भाग्य मनुष्यों ही के हिस्से में पड़ा है और रोग को दवाइयों से दूर करने की तरकीब भी केवल इन्हीं ज्ञानियों को सूझी है। प्राकृतिक दशा में अन्य जीवधारी कभी बीमार दिखाई नहीं पड़ते। इनका स्वाद और घ्राणेन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि ये पहले तो रोग-जनक सामग्री शरीर में घुसने ही नहीं देतीं और यदि भूले भटके यह चोर कभी शरीर में एकत्र हो गया तो इन्हें उसका झट पता लग जाता है और रोगरूप धारण करने के पहले ही शरीर से प्राकृतिक नियमों द्वारा वह निकाल बाहर किया जाता है। आज-कल की झूठी सभ्यता की धार में पड़ कर मनुष्य का शरीर भ्रष्ट होगया है। उसकी ज्ञानेन्द्रियों में अब हिताहित परखने की नैसर्गिक शक्ति नहीं रह गई है। मिर्च मसाला लगा कर जैसा जी चाहे हलाहल विष कलेजे तक पहुँचा दो। जिह्वा और नासिका कोई रोक-टोक न करेंगी। मनुष्य ने उन्नति अवश्य की है, पर अधिकांश के व्यावहारिक सिद्धान्त झूठे हैं, जिनका फल आत्म-हत्या है।

हमारे देश में उन्नत पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रचार के साथ साथ कितने भीषण

रोग घुस आये हैं? कुछ दिन पहले जब अस्पतालों और चेचक के टीके का रवाज कम था, इस देश की मृत्यु-संख्या केवल चौबीस प्रति सहस्र थी। आजकल चौंतीस और छत्तीस तक का नम्बर पहुँच चुका है। यह इस देश के स्वास्थ्य का भयङ्कर रूप है। अँगरेज़ सरकार ने अस्पताल और टीका आदि का प्रचार हम लोगों की स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए किया है, पर इनसे हमारे स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुँची है। जीवनी शक्ति घट गई और मृत्यु-संख्या ऐसी बढ़ रही है जैसे रात में ककड़ी। टीका लगाने से चेचक या तो निकलती ही नहीं और यदि निकलती है तो बहुत हलकी। परन्तु शरीर में एकत्र मल, जिसे प्रकृति चेचक के रूप में निकाल देती, रुधिर में खप जाता है। यह मल या तो किसी दूसरे भीषण रोग के रूप में प्रकट होकर प्राण का हरण करता है या शरीर को तमाम उम्र निर्बल और रोगी रखता है। इसका असर हमारी भावी सन्तान पर भी पड़ता है। कौन्सिलों में हमारे प्रतिनिधियों को चाहिए कि सरकार से इसका हिसाब माँगें कि आरम्भ से अब तक कितने मनुष्यों को टीका लगाया गया है? उनमें से कितने मर चुके हैं? और जो जीवित हैं उनमें से कितने हृष्ट पुष्ट हैं? मुझे पूर्ण आशा है कि इन सवालों के जवाबों से टीका की उपयोगिता पर ख़ासा प्रकाश पड़ेगा। साधारणतः, देखने में भी हमारे टीका लगे हुए युवक ही नूतन भीषण रोगों के शिकार होते हैं। वृद्ध लोग इन रोगों में कम मरते हैं। इस सम्बन्ध में मेरी यह राय है कि टीका-सम्बन्धी नियम मनसूख़ कर देना चाहिए। जिसकी इच्छा हो वह टीका लगवावे, जिसकी इच्छा न हो वह न लगवावे। टीका के सम्बन्ध में सरकार के सलाहकार डाक्टरों के सिद्धान्त ग़लत हैं। इस सम्बन्ध में इन महानुभावों ने प्राकृतिक दृश्य की जो निर्णायक परीक्षा की है उसका अनुमान और विवरण करते समय इनकी बुद्धि भ्रम में पड़ गई है। भ्रमजनित विचारों को व्यवहार में लाने का प्रत्यक्ष फल असफलता और दुःख है।

चेचक बिना टीका लगाये भी रोकी जा सकती है। यदि बच्चा पैदा होते ही उसे पहले माता ही का दूध पिलाया जाय और वह प्राकृतिक नियमों के अनुसार रक्खा जाय तो शायद मरते दम तक उसे चेचक न निकलेगी। स्वास्थ्य की कुञ्जी पाचन-क्रिया है। आयु की दीर्घता और स्वास्थ्य की कुशल-क्षेम पोषण-संस्थान की शक्ति पर निर्भर है। गर्भ-काल में बच्चे की आँतों में एक प्रकार का पित्त-मिश्रित मल इकट्ठा हो जाता है। इस मल को डाक्टरी भाषा में मिकोनियम (Meconium) और वैद्य लोग शायद कीट कहते हैं। बच्चे के भावी स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि यह कीट उसकी आँतों से निकल जाय। पोषण-संस्थान के अन्यान्य भागों को हानि पहुँचाये बिना कीट से आँतों को अच्छी तरह से साफ़ कर देने की शक्ति केवल माता के प्रथम दूध (फेवस) में होती है। अस्तु, बच्चा पैदा होने के बाद माता के दूध के सिवा और कुछ भी न देना चाहिए। गाय या बकरी का दूध पिलाना बहुत बुरा है। इससे नवजात शिशु के कोमल आमाशय में असामान्य गरमी उत्पन्न होती है। इस गरमी के प्रभाव से कीट का अंश विशेष आँतों में भिद जाता है और पाचन-क्रिया को बिगाड़ देता है। फल यह होता है कि आरम्भ ही से बच्चे के शरीर में रोगकारी सामग्री एकत्र होने लगती है। आँतों की तरह तरह

की बीमारियाँ आरम्भ हो जाती हैं। आज दस्त जारी तो कल पेचिश की बारी और परसों क़ब्र की तैयारी। लाखों बच्चे मा की गोद ही में भूखी भवानी का भोजन बनते हैं। जो बचते हैं उनके शरीर में मल का भार इतना असह्य हो जाता है कि प्रकृति उसे चेचक या किसी अन्य भीषण रोग के रूप में एकदम बाहर निकालने का प्रयत्न करती है। मेरे सिद्धान्तों के अनुसार चेचक का इलाज बहुत ही सरल है। मैंने लखनऊ में चेचक से पीड़ित एक ऐसे बच्चे को सहज ही में अच्छा कर दिया जिसकी तकलीफ़ को देख कर उसके माता-पिता मेरी चिकित्सा का आरम्भ होने के पहले रात रात भर रोते और अपना सिर पीटते थे। फुन्सियाँ सारे शरीर में गुँथी हुई थीं। कहीं उँगली तक रखने का स्थान न था। मैंने सबसे पहले रोगी की आँतें साफ़ करने की आज्ञा दी। तत्पश्चात् एक व्रत कराया और फिर अपना सशक्त दूध (Vilalized milk) पीने को दिया, जिसने आँतों की असामान्य गरमी को एकदम शिथिल कर दिया। रोग के हथियार छिन गये और रोगी अच्छा हो गया। बात केवल यह थी कि आँतों में असामान्य गरमी के कारण एकत्र मल सारे शरीर में उबल उबल कर निकल रहा था, जैसे चूल्हे पर चढ़ी चावल की बटलोई में बुलबुले। चूल्हे से आग खींच ली और बटलोई में थोड़ा ठंडा गंगाजल डाल दिया, बुलबुले निकलने बन्द हो गये।

इस बात को पाश्चात्य परिपाटी के डाक्टर लोग भी मानते हैं। चेचकादि भयङ्कर रोगों से अच्छा हो जाने के बाद फिर बहुत दिनों तक शरीर रोग-रहित रहता है। रहे क्यों न ? शरीर से विजातीय द्रव्य तो निकल ही जाता है।

देश के बिगड़े हुए स्वास्थ्य को पुनः सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि जन-साधारण की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय और नीरोगता से सम्बन्ध रखनेवाले सच्चे और असली सिद्धान्तों का प्रचार हो।

रघुवरदयालु गुप्त

अचल।

(अर्थात् पर्वत का मेघ के प्रति उपालम्भ)

(१)

अचला पर हम अचल अटल हैं विचल न सकते
तपन-ताप से तप्त रहें पर पिघल न सकते।
प्रलय काल के बिना निलय हम छोड़ न सकते
जन्म-धरा से ज़रा कभी मुख मोड़ न सकते॥

(२)

बहती रहे बयार सदा चौआई बल से
या आँधी उठ पड़े हमारे ऊपर छल से।
पर हिल सकते नहीं कभी हम अवनीतल से
साधुजनों की टेक न टल सकती है खल से॥

(३)

शुभ्र शरद के जलद यदपि जल-धार गिराते—
हम पर, हमको चमक दमक कर बहुत डराते।
कभी स्वप्न में भी न भीत हो सकते इससे
कहिए तो कम कड़े पड़े हैं हम कब किससे ?॥

(४)

मत बरसाओ मेघ ! व्यर्थ ओलों के गोले
भोले हैं हम नहीं, न ऐसे हैं हम पोले।
हो जाओगे नष्ट, नहीं स्थिर निज को जानो
स्थायी हम हैं अचल हमें अस्थिर मत मानो॥

(५)

आये हो तुम कुछी दिनों के लिए-यहाँ पर
आगन्तुक भी अचल रूप हो रहा कहाँ पर ?॥

तितर बितर हो इधर-उधर फिर कहीं रहोगे
सम्मानित थे, शीघ्र असित अपमान सहोगे ॥

(६)

सच बोलो तुम मेघ ! बने क्या सदा यहाँ थे ?
कुछी दिनों के प्रथम न जाने छिपे कहाँ थे ?।
ऊँचों से भी उच्च बने हो सम्हल रहो तुम
जड़ घन ! हम हैं उच्च अचल मत नीच कहो तुम ॥

(७)

नभचारी हो गरज तरज कर वृष्टि करो तुम
भीति-हीन हो स्वयं भीति की सृष्टि करो तुम ।
स्मरण रहे यश अयश जगत में रह जाता है
जो घन ! आता जहाँ वहाँ से बह जाता है ॥

(८)

दावानल लग जाय जले यदि अङ्ग हमारा
तो भी तिल भर धैर्य न होगा भङ्ग हमारा ।
लाक्षा के या मोम कांच के बने नहीं हम
ऐन्द्र वज्र-आघात हमी सहने में हैं क्षम ॥

(९)

अगणित नर शार्दूल सिंह हैं पास हमारे
डरते मन में मनुज दनुज तक त्रास हमारे ।
पर रहता है क्षमा-शस्त्र ही हाथ हमारे
सदा सत्य के सहित धर्म है साथ हमारे ॥

(१०)

वारिद ! अत्याचार तुम्हारा हम सहते हैं
कहते हैं कुछ नहीं किन्तु निर्भय रहते हैं ।
शान्त रहो, उत्पात करो मत, तुम चंचल हो
टिक सकते हो नहीं अचल के साथ अचल हो॥

(११)

मनमाना तुम मौज मना लो मेघो तब तक
जब तक चातुर्मास, देवगण जगे न जब तक ।
फिर तो कुछ भी पता लगेगा नहीं तुम्हारा
नहीं लगेगा मूढ़ ! ठिकाना कहीं तुम्हारा ॥

(१२)

जैसे ऊष्मज जन्तु उपज कर मर जाते हैं
नहीं मही पर अधिक दिवस रहने पाते हैं ।
वैसे तुम भी मेघ ! यहाँ से अब जाओगे
दुख देकर मत दुखी रहो, अपयश पाओगे ॥

रामचरित उपाध्याय

विश्व-वाटिका ।
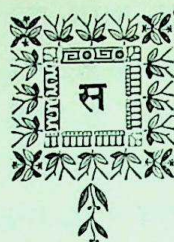
सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है और आवश्यकता आविष्कारों की । सभ्यता के आदि-काल में मनुष्यों की आवश्यकतायें परिमित होती थीं, अतएव उनकी पूर्ति के लिए उन्हें विशेष परिश्रम भी न करना पड़ा । प्रकृति से ही उन्हें अपने जीवन की सभी सामग्री मिल जाती थी । तब प्रकृति के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था । जब प्रकृति से उनका सम्पर्क छूट जाता है तब वे सभ्यता के पथ पर अग्रसर होते हैं । जब सभ्यता की उन्नति होती है तब मनुष्यों की आवश्यकतायें भी बढ़ती हैं और तभी उनकी पूर्ति में उनकी बुद्धि का विकास होता है । कला सभ्यता का निदर्शन है । कला कृत्रिम है । वह मनुष्यों की सृष्टि है । जब तक मनुष्य प्रकृति के वशीभूत होता है तब तक कला की ज़रूरत नहीं रहती और इसी लिए उसकी सृष्टि भी नहीं होती । जब मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह प्रकृति के विरुद्ध अपनी सृष्टि करता है । कला मानव-शक्ति की महत्ता सूचित करती है । वह मनुष्यों के प्रकृति-विजय का द्योतक है । कुछ लोगों का ख़याल है कि कला में मनुष्य प्रकृति का अनुकरण करता है । परन्तु यह भ्रम है । अनुकरण करने में सजीवता नहीं आ सकती । यदि कला प्रकृति का अनुकरण-मात्र है तो वह उसकी प्राण-हीन छाया है । उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है । जब हम सजीव प्रकृति का दर्शन कर सकते हैं तब हम उसकी मृत छाया के लिए उद्योग क्यों करें । सच बात यह है कि कला प्रकृति का अनुकरण-मात्र नहीं है । वह मनुष्य की

सृष्टि है। जब हम किसी चित्र में वन का दृश्य देख कर मुग्ध होते हैं तब हम प्रकृति के कौशल पर ध्यान नहीं देते। उस समय हम चित्रकार के कला-नैपुण्य की प्रशंसा करते हैं। चित्र में चित्रकार की अन्तर्निहित शक्ति लीन रहती है। मनुष्यों के हृदय में बाह्य-जगत् प्रविष्ट होकर नवीन रूप धारण कर लेता है। चित्र मनुष्य के अन्तर्जगत् का दृश्य है, बाह्य जगत् की प्रतिच्छाया नहीं है।

मानव-जाति भिन्न भिन्न खण्डों में विभक्त हो गई है। देश और काल ने उनमें बड़ा विभेद उत्पन्न है। साहित्य और विज्ञान उसी के फल हैं। कला और सङ्गीत उसी के परिणाम हैं।

कला किस जिज्ञासा का फल है? चित्रों पर अपने अन्तःकरण की छाया को अङ्कित कर मनुष्य क्या देखना चाहता है? ध्वनियों की गति को निश्चित कर सङ्गीत के द्वारा वह अपनी किस अव्यक्त भावना को व्यक्त करना चाहता है? पत्थर और मिट्टी के मेल से एक विशाल भवन निर्मित कर वह अपने हृदय की किस उच्च अभिलाषा को पूर्ण देखना चाहता है? प्रकृति की स्वच्छन्दता को नष्ट
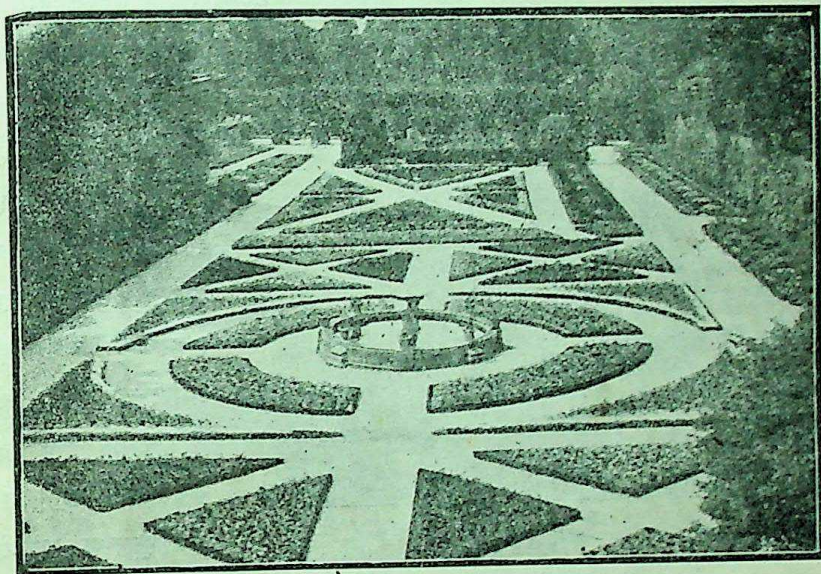
इटली का उद्यान।

कर दिया है। परन्तु इस विभिन्नता में भी एक समानता है। सभी में मनुष्यत्व का गुण वर्तमान है। वह मनुष्यत्व क्या है? मनुष्यों की वह विशेषता क्या है जो उन्हें अन्य पशुओं से पृथक् कर देता है और सब मनुष्यों को एक सूत्र में गूँथ देता है। वह ज्ञान-लिप्सा। सभी मनुष्यों में यह गुण विद्यमान

कर, उसकी लीला को एक क्षुद्र सीमा में परिमित कर, वह उद्यान में अपनी किस शक्ति को प्रत्यक्ष करना चाहता है?

जब मनुष्य ने संसार का पहले पहल दर्शन किया होगा तब उसने प्रकृति की अनन्त शक्ति का अनुभव किया होगा। तब क्या उसने यह नहीं

सोचा होगा कि यह सब किसके लिए है? कहा जाता है कि अनन्त विश्व के सामने मनुष्य अपनी क्षुद्रता का अनुभव करता है। परन्तु क्या क्षुद्र मानव-जाति ही के लिए प्रकृति ने अपना यह अनन्त अञ्चल फैला रक्खा है? क्या क्षुद्र मनुष्यों ही के लिए सूर्य और चन्द्र बनाये गये हैं? यह निःसीम अरण्यमाला, यह गगनस्पर्शी गिरि-समूह, समुद्र का यह अनन्त वक्षस्थल, प्रकृति का यह विराट् रूप क्या क्षुद्र-मनुष्यों के उपभोग के लिए है? नहीं, मनुष्य क्षुद्र नहीं है। क्षुद्र के लिए इतना आयोजन नहीं हो सकता। वह भी अनन्त का प्रतिबिम्ब है। अनन्त प्रकृति को देख कर उसने
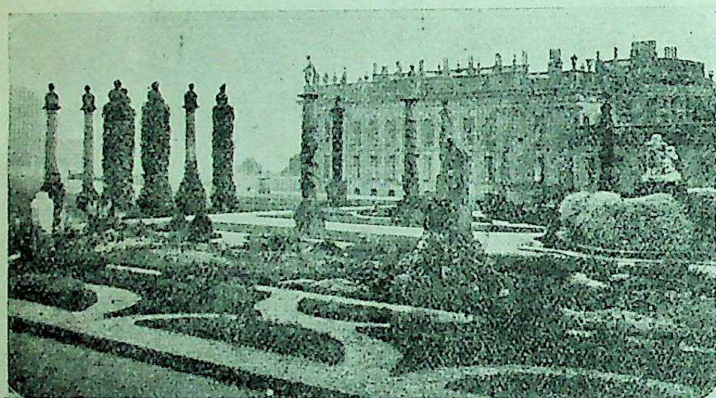
फ्रांस का उद्यान।

अपने अनन्त अन्तर्जगत् का अनुभव किया और उसी अनन्त की भावना को स्पष्ट करने के लिए कला की सृष्टि हुई। कला मनुष्य की अनन्त-शक्ति का परिचायक है।

यहाँ हम अपने पाठकों को संसार के उद्यानों का परिचय देना चाहते हैं। हम कह आये हैं कि सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है। ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव करने लगता है त्यों त्यों वह उसके विकास के लिए समधिक चेष्टा करने लगता है। उद्यानों की आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य नगर बना लेता है। जिस उद्यान में मनुष्यों का जितना ही शक्ति-वैचित्र्य प्रकट होगा वह उतना अच्छा समझा जायगा।

प्रकृति ने वनों की सृष्टि की है, मनुष्य ने उपवनों की। आज-कल संसार में जितने उद्यान हैं उनके दो विभाग किये जा सकते हैं। पहले भाग में ऐसे उद्यान हैं जिनमें मनुष्य प्रकृति का सादृश्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इन्हें हम उपवन कहेंगे। दूसरे प्रकार के उद्यानों में मनुष्य अपना रुचि-वैचित्र्य प्रकट करता है। उन्हें हम प्रमोद-कानन कह सकते हैं। प्रकृति की सृष्टि में भव्यता और उच्छृङ्खलता रहती है, अतएव उपवनों में भी संयत भव्यता और उच्छृङ्खलता लाने की चेष्टा की जाती है। प्रमोद-काननों में कोमलता रहती है। उनमें प्राकृतिक सौन्दर्य का यथेष्ट विकास नहीं हो सकता। सभी फूल-पत्ते मनुष्यों के नियम से संयत रहते हैं। उन्हें एक पद भी आगे बढ़ने की आज्ञा नहीं है। उन्हें एक क्षुद्र सीमा में ही अपना सौन्दर्य प्रकट करना पड़ता है।

योरप में इटली अपने उद्यानों के लिए खूब प्रसिद्ध है। कितने लोगों का ख़याल है कि ऐसे उद्यान संसार में अन्यत्र कहीं नहीं हैं। उद्यानों के जो दो विभाग हमने ऊपर किये हैं उनमें इटली के उद्यानों की गणना द्वितीय श्रेणी की है। इनमें

प्रकृति की सदृशता लाने की चेष्टा नहीं की जाती। ये मनुष्यों के लिए बनाये गये हैं, अतएव उनमें मनुष्यों की सुविधाओं का खूब खयाल किया जाता है। घर में मनुष्यों को जो आराम है वही आराम उसे इन उद्यानों में मिलता है। इनकी शोभा फूलों से नहीं है। फूलों का स्थान गौण है। वे इनकी शोभा-वृद्धि के सहायक-मात्र हैं। शिल्पी अपने कला-प्रदर्शन के लिए उद्यान को एक विशेष साँचे में ढालता है। वह साँचा ही उसका यथार्थ

हालेंड का उद्यान।

सौन्दर्य है। फूलों को उसमें स्थान अवश्य मिलता है, पर उद्यान की शोभा होती है शिल्प-कला से—उसके काट छाँट से। इटली की यह उद्यान-कला कुछ काल के लिए विलुप्त हो गई थी। जब योरप में पुनरुत्थान-काल हुआ तब अन्य कलाओं के साथ ही साथ इस कला की भी श्री-वृद्धि हुई। पुनरुत्थान-काल के प्रारम्भ में इटली के प्राचीन उद्यान श्री-हीन हो गये थे। वहाँ झाड़-झंखार उग आये थे, फ़ौवारे नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे और सीढ़ियाँ टूट-फूट गई थीं। पर उनका आकार-नक़शा ज्यों का त्यों था। सोलहवीं शताब्दी में लोगों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ और नेपल्स के जगत्प्रसिद्ध उद्यानों का नवीन संस्कार हुआ।

इँग्लेंड के कृत्रिम उद्यानों में रमणीयता नहीं है। एलिज़ाबेथ के समय के उद्यानों में यह बात बिलकुल स्पष्ट है। उनमें कई तरह के फूलों के वृक्ष लगा दिये जाते थे और उनके आस-पास ईंट की दीवार या लकड़ी के छोटे छोटे तख़्तों का घेरा लगा देते थे। अब वहाँ अन्य देशों के उद्यानों का अनुकरण किया जाता है। ख़ास इँग्लेंड की उद्यान-कला की यदि कोई विशेषता थी तो वह यह थी कि उसमें प्राकृतिक दृश्यों का नमूना देखने को मिल जाता था। फ़्रांस के एक उद्यान-शिल्पी ने कहा था, "अँगरेज़ी उद्यानों को तैयार करना बड़ा सरल है। माली को ख़ूब शराब पिला कर बग़ीचे में छोड़ दे और उसको यथेष्ट काट छाँट करने दे। बस, अँगरेज़ी उद्यान तैयार हो गया।" उद्यान में प्रकृति की स्वच्छन्दता का अर्थ यही है।

फ़्रांस की उद्यान-कला को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचानेवाला एक ही शिल्प था। उसका नाम था ले नोट्रे। उद्यान-शिल्प में जितना प्रभाव उसका है उतना अन्य कला में किसी भी कला-कोविद का नहीं है। उसका प्रभाव आज तक विद्यमान है। लोग उसे उद्यान-का शेक्सपियर कहते हैं।

लें नाट्रे का जन्म सन् १६१३ में हुआ था। उसके बाप की इच्छा थी कि वह शिल्पकार हो। उसकी सौन्दर्य-भावना बड़ी प्रबल थी। भाग्य से उस समय फ़्रांस के राजसिंहासन पर लुई चौदहवें का आधिपत्य था और कला की उन्नति के लिए सभी लोग मुक्तहस्त थे। लुई ने उसका बड़ा आदर किया। वर्सलीज़ उसकी कला-कुशलता का अच्छा नमूना है।

डच लोगों को फूलों का बेहद शौक़ है। जापान को छोड़ कर ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ फूलों की इतनी चाह हो। ग़रीब से ग़रीब डच के घर में भी एक छोटा सा पुष्पोद्यान अवश्य होगा। अँगरेज़ मालियों को डचों के उद्यान ज़रा भी पसन्द नहीं हैं। उनकी दृष्टि में वे उद्यान क्या हैं, बच्चों के खिलौने हैं। 'लान' के बीचोंबीच एक चौकोर ज़मीन चुन ली जाती है। वह तीन चार फ़ोट गहरी खोदी जाती है। फिर उसके चारों ओर ईंट की एक छोटी सी दीवार घेर दी जाती है। दीवार पर गुलाब के झाड़ लगा दिये जाते हैं। भीतर क्यारियों और गमलों में तरह तरह के फूलों के पौधे लगाये जाते हैं। ये पौधे बारहों महीने बने रहते हैं। उत्तर में ऐसे झाड़ लगाये जाते हैं जो छाया में उगते हैं। दक्षिण में धूप चाहनेवाले झाड़ लगाये जाते हैं। पश्चिम की ओर ग्रीष्म और शरद के पौधों का स्थान रहता है। पूर्व में सभी तरह के पौधों की भरमार रहती है। पुष्पोद्यान के बीच में हरी हरी घास छोड़ दी जाती है। वहीं एक छोटा सा जलाशय भी बना दिया जाता है। कभी कभी फ़ौवारा भी बनाया जाता है।

निशात बाग़।

प्राचीन-काल में भारतीय आर्यों को उद्यानों का बड़ा शौक़ था। भारतवर्ष का जल-वायु भी ऐसा उष्ण

है कि उन्हें उद्यानों की ज़रूरत थी। आज-कल प्राचीन उद्यानों का चिह्न तक नहीं पाया जाता। परन्तु संस्कृत-काव्यों में उद्यानों का उल्लेख किया गया है। उनसे विदित होता है कि भारतीयों ने उद्यान-शिल्प में अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। जब भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तब उद्यान-शिल्प में
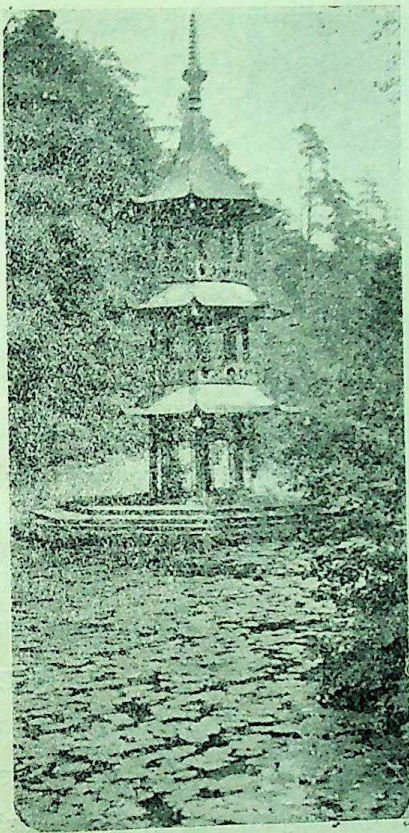
चीन का उद्यान।

यथेष्ट विकास हुआ। सच तो यह है कि इस कला में फ़ारस और तुर्किस्तान की अच्छी प्रतिभा थी। फ़ारस के कवि उद्यानों के सौन्दर्य-वर्णन में ही मुग्ध हो जाते थे। क़ुरान में कहा गया है कि भगवान् ने सबसे पहले उद्यान की सृष्टि की। हाफ़िज़ की कविता उद्यानों के वर्णन से भरी है। फूलों पर मुसलमान जाति का बड़ा अनुराग है। इसका कारण कदाचित् यह है कि क़ुरान में मनुष्य और पशुपक्षियों का चित्र बनाना निषिद्ध है। इसी से मुसलमानों के कला-कौशल में फूलों की प्रधानता है। जब सभी कलाओं में फूलों का आदर है तब पुष्पोद्यान का निर्माण करना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य उद्यानों को देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानों फूल और पौधे अपने अस्तित्व को प्रकट करने के लिए विशेष यत्नशील हैं। परन्तु भारतीय उद्यानों में जलाशय ही उद्यान का प्राण है। इटली के उद्यानों में भी कृत्रिम जलाशय बनाये जाते हैं। परन्तु वे सिर्फ़ शोभा-वृद्धि के लिए हैं। भारतीय उद्यानों में जल ही प्रधान वस्तु है। यदि जल न रहे तो उद्यान को कोई उद्यान न कहे।

मुग़लों के उद्यानों के चारों ओर ऊँची ऊँची दीवारें घिरी रहती हैं। प्रत्येक कोने में एक गुम्मज़ रहता है। उद्यान के सीमान्त में एक बड़ा प्रासाद रहता है और सामने विशाल फाटक। विशालता ही मुग़लों की पद्धति है। उद्यान में बड़े बड़े वृक्ष श्रेणी-बद्ध लगाये जाते हैं। बीच बीच में कहीं गुलाब-कुञ्ज हैं तो कहीं कुञ्ज-गृह। शान्ति का तो वह निवास-स्थान रहता है।

काश्मीर और उत्तर-भारत में मुग़लकालीन कितने ही उद्यान हैं। काश्मीर का सबसे प्रसिद्ध उद्यान है निशातबाग़। "इसमें सात सीढ़ियाँ भीतर और तीन चार बाहर हैं। प्रत्येक सीढ़ी पर फूलों की क्यारियाँ और फलों के पेड़ हैं। प्रत्येक सीढ़ी के बीच में पानी बहने के लिए चौड़ी नाली है। प्रत्येक नाली का पानी, जो पहाड़ से आता है,

प्रपात के द्वारा नीचे की दूसरी नाली में गिराया जाता है। इसी प्रकार जितनी सीढ़ियाँ हैं उतने ही प्रपात हैं। प्रत्येक नाली में कई फ़ौवारे हैं सामने झील है और पीछे ऊँची पर्वत-श्रेणी।"

आज-कल भारतीय उद्यानों में पाश्चात्य उद्यान-शिल्प का सम्मिश्रण हो गया है। इससे उसकी
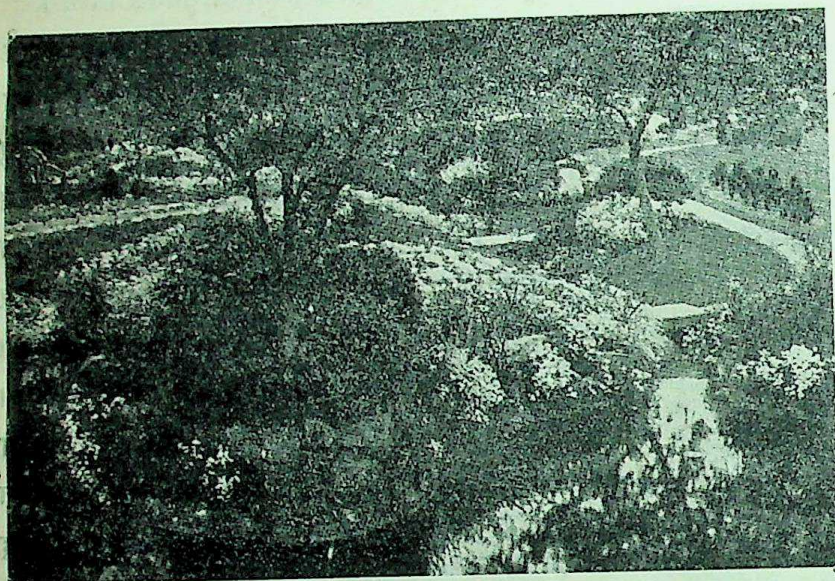
जापान का उद्यान।

भव्यता कम हो गई है। भारतीय उद्यानों की भव्यता का अनुमान दर्शक ही कर सकते हैं।

यदि भारतीय उद्यानों की विशेषता उनकी विशालता है तो जापानी उद्यानों की विशेषता उनकी सूक्ष्मता है। एक ही क्यारी में एक उद्यान का दृश्य प्रदर्शित कर दिया जाता है। कभी कभी तो एक गमले में ही उद्यान आ जाता है। जापानी उद्यानों में कितने ही झाड़ साठ वर्ष के पुराने हैं और उनमें फल, फूल और पत्ते लगे हैं, पर उनकी ऊँचाई सिर्फ़ एक फ़ुट है!

जापान के उद्यान-शिल्प को समझ लेना सरल नहीं है। यदि किसी देश का उद्यान-शिल्प जटिल है तो जापान का है। इँग्लेंड में कई उद्यानों में जापानी शिल्प का अनुकरण किया गया। उनमें जापानी फूल और पौधे तो ज़रूर लगे हैं, पर जापानी शिल्प का सर्वथा अभाव है। जापानी उद्यानों में छोटी से छोटी बात भी नियम-बद्ध है। जापान की कला का अनुकरण जापानी ही कर सकता है। जापानी उद्यानों में पौधों की कौन कहे, पत्थरों तक का स्थान निर्दिष्ट है। उद्यान रहस्यों का भाण्डार होता है, प्राकृतिक दृश्यों के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण किया जाता है। कुछ पहाड़ों से शान्ति का सङ्केत किया जाता है तो कुछ पौधों से पवित्रता का रूप स्पष्ट किया जाता है। इसी प्रकार सभी फूल-पत्तों का कुछ न कुछ साङ्केतिक अर्थ अवश्य होता है। जापानी कला की एक विशेषता यह भी है कि प्रकृति का दृश्य एक ही गमले में दिखा दिया जाता है।

वहाँ भिन्न भिन्न वृक्षों के भिन्न भिन्न नाम होते हैं। पत्थरों के भी पृथक् पृथक् नाम होते हैं। कला-कोविदों की राय है कि उद्यान-शिल्प में सबसे अधिक उन्नति जापान ने की है।

हरिनारायण श्रीवास्तव

स्नेह का मूल्य ।

(१)

पिताजी श्रीवैष्णव थे, दिन में ४ बार स्नान करते थे, कभी कोई किसी अर्थ में 'मांस' या 'ख़ून' कह देता तो दस बार हरि का नाम जपते थे किन्तु दूसरी ओर राय बहादुर भी थे और इस 'बहादुरी' का सार्टीफ़िकेट पाने के लिए उन्हें न मालूम कितनी मुर्ग़ियाँ, कितने अण्डे, विदेशी शराब की कितनी बोतलें और कलकत्ते और लखनऊ की बनी कितनी 'केकें' गौराङ्ग प्रभुओं के 'हाज़मा दुरुस्त पेट' की भेंट करनी पड़ी थीं ! सड़े से सड़ा अँगरेज़ आता तो वे मिलने जाते और कभी ख़ाली हाथ न जाते। कहते थे कलियुग के देवता अँगरेज़ हैं। कलक्टर साहब कभी दौरे में निकल आते तो उन्हें बिना भोज दिये न रहते। डिप्टी सिप्टियों के यहाँ भी ऊसा भूसा भेजते रहते थे। मुन्सिफ़ सदराला भी फल-फूल पाते थे। यों, जब किसी अँगरेज़ से मिल कर लौटते तो तत्काल स्नान करते—कपड़े बदलते—तब पानी पीते। साधना का फल निकला, राय बहादुर बने, आनरेरी मजिस्ट्रेट बने, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर चुने गये। तहसील में तो उनके जोड़ का कोई था नहीं, ज़िले में भी वे किसी से कम न थे।

एक दिन उनके मित्र टीकाराम ठेकेदार कह रहे थे—'सेठजी, मैं तो ४) की मुर्ग़ी देकर इञ्जीनियर से १००) का काम निकालता हूँ, बिना २००) के लाभ के कभी १०) की शराब नहीं देता।'

पिताजी ने कहा—'मित्र, मुझे तो राय बहादुरी के मूल्य में ही यह सब कुछ करना पड़ा है। अब देखता हूँ, राय बहादुरी क्या बड़ी से बड़ी उपाधि का भी जनता की दृष्टि में कुछ मूल्य नहीं है। पहले तो ख़िताब के कारण लोग झुकते थे, अब सुना सुना कर गालियाँ देते हैं। परसों की बात है, कचहरी करके वापिस आ रहा था, कम्बख़्ती की बात एक दूकानदार से लँगड़े आमों का भाव-ताव करने लगा। वहीं देवीप्रसाद चौबे का लड़का खड़ा था, मुझसे बोला—'सेठजी, जंट साहब दौरे में आनेवाले हैं उनके लिए २-४ अच्छी मोटी ताज़ी मुर्ग़ियाँ ख़रीद रखिए, वक़्त पर अच्छी चीज़ नहीं मिलती है—बुढ़ापे में तो इस लम्बे तिलक की लाज करो, यम के डंडे से जंट साहब का हुक्म रक्षा नहीं करेगा।'

भाई, उसकी ये बातें सुन कर मेरे शरीर में आग लग गई। जी में आया अभी थानेदार को बुलाऊँ, इसकी अक़्ल ठीक कराऊँ, फिर ख़याल आया, यह लड़का किसी अँगरेज़ी अख़बार का 'संवाद-दाता' है, ज़रा सी बात मनहूस अख़बारों की बदौलत तूल पकड़ जायगी, गुस्से को पीकर बोला—'बेटा रामदत्त, तुम्हारे पिता मुझे अपना बड़ा भाई समझते थे। तुमने पढ़-लिख कर अपने बड़ों का ऐसा सत्कार करना सीखा है ?'

ठेकेदारजी—यह सुनकर वह क्या बोला। 'सुनिए—उसने कहा—'ताऊजी, यह सच है और उसी सम्बन्ध के कारण मैं आपसे यह कह रहा हूँ। यदि मेरे पिता श्रीवैष्णव होकर अँगरेज़ों की मेहमानदारी में मुर्ग़ियों की गर्दन पर चाक़ू चलवाते तो मैं उनका त्याग कर देता, उनसे वास्ता न रखता। ऐसे पिता 'केवलं जन्म हेतवः' हैं और उनके इस हेतु की साधुता में भी भारी सन्देह का अवकाश है।' इस पर मैंने कहा—'तब पिता का सम्मान कुछ न रहा।' उसने कहा—'कौन कहता है, किन्तु अधर्म्म किसी का बर्दाश्त न करना चाहिए। हिरण्यकशिपु की कथा याद है या अँगरेज़ों की ख़ातिरदारी में सब भूल गये ?'

आख़िर भाई मैंने उस प्रगल्भ लड़के से पीछा छुड़ाने के लिए आम भी छोड़े और घोड़े की रास भी।

ठेकेदारजी ने पूछा—'यह लड़का क्या करता है ?'

पिताजी ने कहा—'बी० ए० में पढ़ता था, 'गांधी सिद्धान्त' का शिकार होकर पढ़ना छोड़ आया है, कपड़ा बुनता है और किसी अँगरेज़ी अख़बार में कुछ लिखता है। भाई, 'जो कुल डूबन हार कि लड़का कूबरे।''

(२)

पिताजी के पास कई लाख की सम्पत्ति थी, गाँव थे, मकान थे, दो तीन बँगले थे, शहर के क़रीब दो तीन बग़ीचे भी थे, लेन-देन का कारोबार भी था,. किन्तु जब कोई उनका ख़ास मिलनेवाला आता तब उसे कुछ न दिखाते—दिखाते घर के बाहर का लम्बा चबूतरा, ऊपर का

बड़ा कमरा और उसकी खिड़कियाँ और इस मिष से उस ऐतिहासिक मुक़द्दमे का हाल सुनाते जिसकी सफलता पर उन्हें बड़ा नाज़ था। बात यह थी हमारे पड़ोस में एक मध्य-वित्त ब्राह्मण पण्डित शिवनाथ रहा करते थे। वृत्ति की दृष्टि से तो ब्राह्मण न थे, सूद पर रुपया चलाते थे, किन्तु सरलता और पवित्रता के लिहाज़ से सच्चे ब्राह्मण थे। बचपन में अपने समवयस्क उनके लड़के के साथ मैं खेला करता था और दिन का बड़ा भाग उनके घर ही मेरा कटता था। लड़के का नाम हरदत्त था। हरदत्त की माता मेरा बहुत दुलार करती थीं। हरदत्त के साथ मुझे भी वह मक्खन पराँठा देती थीं और उसके हिस्से के बराबर देती थीं। किन्तु जब पिताजी ने उनके मकान की ओर परकाले उतारे और ऊपर के कमरे में उन्हीं की ओर तीन बड़ी बड़ी खिड़कियाँ लगाईं और उनकी ज़मीन में बड़ा चबूतरा बनाने का उपक्रम किया तब मुक़द्दमेबाज़ी शुरू हुई और मेरा जाना बन्द हुआ। पिताजी के मशीर मुन्शी रामबख़्श ने कहा—'लड़के को वहाँ न भेजा कीजिए, कोई कुछ दे दे।' उसके बाद हरदत्त की माँ जब मिलतीं, पूछतीं—'बेटा केशव अच्छे हो।' मैं भी प्रणाम करके कहता—'हाँ चाची, अच्छा हूँ।' बस। हरदत्त मुझसे न बोलता था, शत्रुता रखता था, यदि वह बोलता होता तो मेरा उनके यहाँ आना-जाना बिलकुल न छूटता।

पिताजी के साथ जब मुक़द्दमेबाज़ी शुरू हुई तो क़स्बे में हलचल पड़ गई। शिवनाथजी भी खाते-पीते थे, उधर उन्हें दो-चार लफङ्गे मिल गये थे, उन्होंने एक तूमार बाँध दिया। दीवानी और फ़ौजदारी दोनों अदालतों में मुक़द्दमे दायर हुए। ख़ाली आदमियों को काम मिला, कामवालों का काम छूटा। हाईकोर्ट तक मुक़द्दमेबाज़ी हुई। कोई ४ साल में अन्तिम परिणाम निकला। पिताजी जीत गये। मामला बिल्कुल झूठा था, पण्डितजी का पक्ष सच्चा था। किन्तु जहाँ न्याय बिकता हो वहाँ इसे कौन देखता है। ज़िले का कौन ऐसा बड़ा अफ़सर था जिसके पास हर त्यौहार पर पिताजी की डालीनुमा घूँस न पहुँचती थी। फिर वे इस काम को बहुत दिनों से और नियम-पूर्वक कर रहे थे और बड़ी तर्कीब से कर रहे थे यानी जैसा मुँह देखते वैसा थप्पड़ लगाते थे। हमारे बाग़ के आम अफ़सरों के लिए 'रिज़र्व' रहते थे। घर के लिए बाज़ार से आते थे। भादों के महीने में फजरी आमों के लिए डिप्टी और मुन्सिफ़ तो चिट्ठी तक लिख भेजते थे, बड़े अफ़सरों के यहाँ योंहीं काफ़ी तौर पर भेज दिये जाते थे। आरम्भिक अदालत में हमारा झूठा मुक़द्दमा झूठे पर सुलभ गवाहों के बयान से ऐसा कुछ पुष्ट हो गया कि प्रान्त की न्यायपीठ यानी हाईकोर्ट को भी वैसा ही करना पड़ा।

उस समय मेरी अवस्था १४-१५ साल की थी, फिर भी मुझे यह अच्छा न लगता था। एक दिन पिताजी जब मेरी माँ को अपनी पैरवी का हाल सुना रहे थे तब मैंने भी कहा—लालाजी, चाची के मकान की ओर खिड़कियाँ मत निकालो। सब कहते हैं, सेठजी रुपये के मद में ब्राह्मण को तङ्ग कर रहे हैं—इस लोक की अदालतों से परलोक की अदालत बड़ी है।

उन्होंने मुझे प्यार करके कहा—'बेटा, तुम अभी इन बातों को क्या समझो। जब ऊपर का कमरा बन कर तयार हो जायगा तब मालूम होगा कि मकान में कितना आराम बढ़ गया है। आदमियों की बात पर मत जाओ। तुम्हारी सगाई में दावत खिला कर उन्हें प्रसन्न कर दूँगा। रही परलोक की अदालत की बात, उससे मैं भी डरता हूँ और इसी लिए रोज़ ३-४ घंटे वहाँ हाज़िरी देता हूँ। देखते नहीं हो, मेरा अधिक समय पूजा-पाठ में ही जाता है।

उस समय मैं चुप हो रहा, आज यह बात होती तो कहता और ज़रूर कहता कि पितृदेव, मन्दिर में झाड़ू लगाने से लेकर भगवान् की आर्ती तक के कामों में आपका ३-४ घंटे का जो समय लगता है वह ईश्वर के दरबार की हाज़िरी नहीं है, आपका एक अच्छा अभ्यास है। रहने को तो मन्दिरों में अनेक चिड़ियाँ दिन-रात रहती हैं। भगवान् का सच्चा मन्दिर मनुष्य का मन है, उसका संस्कार हुए बिना उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना असम्भव है और यही भक्ति-योग है। आपसे तो वह बुढ़िया अच्छी है जो सच्चे मन से—और उस मन से जिसमें किसी के लिए हिंसा का भाव नहीं है—भगवान् पर एक फूल चढ़ा जाती है और एक सरल प्रणाम झुका जाती है।

मुझे उनकी दो बातें बहुत खटकती थीं—एक तो इतना समय बीत जाने पर भी उस मुक़द्दमे का हाल सुनाने

का व्यसन और दूसरी—अँगरेज़ों की अतिरिक्त भक्ति। सड़े से सड़ा अँगरेज़ होता, रेलवे का ड्राइवर होता और उनसे कर्ज़ ही लेने आता, किन्तु उसके टोप और सफ़ेद चमड़े को देख वे घबरा कर खड़े हो जाते और बड़े आदर से उसे बिठाते और ऐसे प्रसन्न होते मानो भगवान् मिल गये। जब ये दोनों प्रसङ्ग उपस्थित होते तो मैं टल जाता, मुझसे वहाँ न बैठा जाता।

(३)

पण्डित शिवनाथ को मुक़दमे में भारी कसर बैठी। जो कुछ लगाया वह गया, ऊपर से पिताजी के कई हज़ार रुपये ख़र्च में पड़े। जो कुछ पूँजी थी वह सब इस मुक़दमे की भेंट होगई और कुछ 'देना' भी हो गया। उनका अन्तिम समय बड़ी चिन्ता में कटा और लोग कहते हैं—जिसे मैं भी असत्य नहीं समझता—यही चिन्ता रोग के रूप में प्रकट होकर उन्हें संसार से उठा ले गई।

पहले तो उन पर उनके किसी रिश्तेदार का कर्ज़ था, बाद को पिताजी ने दलालों को बीच में डाल कर अपने एक मिलनेवाले के नाम से उन्हें कुछ कम सूद पर रुपया दे दिया था और इस तरह उनके मकान को 'फाँस' लिया था। वह कहा करते थे कि जब यह मकान आ जायगा तब हमारा मकान चौकोन हो जायगा और पीछे की ओर एक छोटे से बाग़ के लिए भी ज़मीन बच रहेगी।

एक दिन शाम को मैं बाहर बैठा हुआ था कि हरदत्त आया। उसने बड़ी कठिनाई से कहा—'तुम्हें मेरी माँ ने बुलाया है। हमारे मकान के ४ हज़ार उठते हैं, तुम चाहो तो लेलो। बैनामा तुम्हारे नाम कर देंगे, तुम्हारे भक्त पिता के नाम नहीं जिसने हमारा सर्वनाश कर दिया और हमें इस हालत को पहुँचा दिया। ठाकुर बख़्तावरसिंह ख़रीदार हैं, उन्होंने ले लिया तो तुम्हारे पिता बहुत परेशान होंगे।'

मैंने कहा—'चाची के पास मैं सुबह ही आऊँगा, आओ भाई हरदत्त आज बरसों बाद बोले हो, तुम्हारा मुँह मीठा करूँ, ज़रा बैठो तो।'

उसने भारी आवाज़ से कहा—'भाई माफ़ करो, पड़ोस में रहने ही की काफ़ी सज़ा मिल चुकी है, अब मिठाई खाने की हिम्मत नहीं है।'

यह कह कर वह चला गया और मानों मेरे दिल में एक तीर चुभो गया।

मुझसे न रहा गया, मैं अपनी माँ के पास गया, वह शाम का दिया जलाने तुलसी के मन्दिर में ऊपर गई थीं; मैंने उन्हें वहीं घेरा और जो कुछ दिल में भर रहा था सब कहा। उन्होंने बड़ी ख़ुशी से मेरी बात मान ली। उस समय उनके चेहरे से हर्ष का कैसा सुहावना भाव टपक रहा था। मेरी तजवीज़ पर वह मानो फूली नहीं समाती थीं। उस दिन मुझे मालूम हुआ कि मेरी माता को सब 'साक्षात् लक्ष्मी' जो कहते हैं वह कितनी 'प्रियमप्यमिथ्या' बात है।

मैंने सुबह को मौक़ा पाते ही पिताजी से कहा—'लालाजी कल हरदत्त आया था। वह कहता था, ठाकुर बख़्तावरसिंह ने उसके मकान के ४ हज़ार लगा दिये हैं। तुम लोग चाहो तो मेरी माँ के पास हो आओ। वह तुम्हें दे देगी, तुम्हारे पिता को तो न देगी। आप कहें तो मैं हो आऊँ और कमती बढ़ती सौदा तय कर लूँ'।

'उन्होंने कहा—'हाँ, ज़रूर जाओ और कमती बढ़ती तय कर लो।'

मैं चुपके से चल दिया।

(४)

कोई दस वर्ष बाद इस स्थान पर पहुँचा जहाँ मेरे बचपन का बहुत सा समय खेल-कूद में बीता था। दहलीज़ में पहुँच कर मेरे पांव कांपने लगे। साध्वी चाची के सामने जाने की हिम्मत न होती थी। मुझे देख कर वह यही समझेगी कि मकान का नाम सुन कर दौड़ा हुआ आया, वैसे कभी न आया। इसी लिए पांव कांप रहे थे।

जो मकान सदा साफ़-सुथरा रहता था उसकी दुर्दशा देख कर मेरा जी हिल गया। दीवारों का प्लास्टर उखड़ चुका था, ईंटें जहाँ तहाँ खिसक रही थीं, चौखटें अपने स्थान से हिल गई थीं—हाँ, नीम का पेड़ ज़रूर वैसा ही हरा था और सब नक़्श धुँधला पड़ गया था। मैंने सोचा पण्डितजी के उठ जाने पर चाची के साथ मानो हवेली भी विधवा हो गई! मकान की मरम्मत कौन कराता। दीख रहा था, यह न रहेगा। फिर ग़रीबी की क्षीण पूँजी उस पर कैसे ख़र्च की जाती। हरदत्त के शब्दों का मुझे

बार बार ध्यान आता था—पड़ोस में रहने की ही काफ़ी सज़ा मिल चुकी है! मकान का वह सूना रूप मुझे काटने लगा। मैंने मन में कहा—'ईश्वर, मुझे बल दीजिए'।

सामने के दालान में शान्ति का अवतार मेरी चाची बैठी हुई दाल बीन रही थीं। मैंने चुपके से जाकर उनके चरण पकड़ लिये। मेरी आँखों से आंसू जारी थे। उन्होंने मुझे पास बिठा कर कहा—'बेटा केशव, क्यों रोते हो, कितने दिन बाद मेरे पास आये हो, आज घर में मक्खन होता तो तुझे अपने हाथ से बासी परांठे का एक टुकड़ा खिलाती। मेरे लिए तो तू वही केशव है।' यह कह मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगीं।

मैंने कहा—'चाची, तुम्हारे घर का वैभव जिसने अकारण नष्ट किया है उसका मैं अधम पुत्र हूँ। तुम मुझे मक्खन न खिलाओ, मेरे मुँह में ख़ाक भरो। तुम्हारा कैसा सुख का घर था, सब कुछ था, गाय भैंसें थीं, नौकर-चाकर थे, रोज़ मक्खन निकलता था और मुझे भी हरदत्त की बराबर हिस्सा मिलता था। हाय! उसी घर में हमारी कृपा से आज एक बछिया भी नहीं।' कहते कहते मेरा गला रुँध गया।

चाची ने अपने आँचल से मेरा मुँह पोंछते हुए कहा—'बेटा ऐसा मत कहो, किसी के दोष से नहीं, अपने भाग्य के दोष से यह सब हुआ है। तुम क्यों अपना मन बुरा करते हो? अब हरदत्त की नौकरी लग रही है, ३०) मिल रहे हैं और यह ४०) मांगता है। इधर मकान का सौदा हो रहा है। ले देकर १५००) बच रहेंगे। कोई छोटा सा मकान किराये पर ले लेंगे, फिर अच्छी तरह गुज़र होने लगेगी। अब की बार गाय पालूँगी तो तुझे ज़रूर बुलाऊँगी। तुझे मक्खन परांठा खिलाने की मेरी बड़ी इच्छा है।'

मैंने कहा—'चाची मकान के ४ हज़ार ही लगे, किसी ने ज़ियादा न लगाये?'

उसने कहा—'बेटा, पहले तो तीन हज़ार ही लगते थे। ठाकुर बख़्तावरसिंह ने ४ हज़ार लगाये हैं। कल से उसका आदमी कई बार आ चुका है, बड़ी जल्दी मचा रहा है। सुना है, सेठजी से उसकी दुश्मनी है। क्या यह सच है?'

मैंने कहा—'हाँ सच है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की मेम्बरी के लिए पारसाल वह भी खड़ा हुआ था। पिताजी अपनी कोशिश और ख़र्च से हो गये, वह रह गया। अक्खड़ आदमी है, मूछों के बल पर ही मेम्बरी चाहता था। उस दिन से मन में गांठ रखता है।'

उसने कहा—'जब से मैंने यह सुना है तभी से उसे देने का विचार छोड़ दिया है। तेरे पड़ोस में रह कर वह तुझे कष्ट देगा यह मैं कैसे सह सकती हूँ, इसी लिए मैंने हरदत्त को कल तेरे पास भेजा था। तू अपने नाम से लेना चाहे तो ले ले, सेठजी के नाम तो बैनामा न करूँगी। हरदत्त के पिता कहा करते थे कि सेठजी मकान की फ़िक्र में हैं, मैं उन्हें बीस हज़ार में भी न दूँगा। इतनी तो उनकी बात रक्खूँगी ही। उन्होंने ये शब्द न कहे होते तो मैं उनके नाम ही बैनामा कर देती। जब बेचना आया तो कोई ख़रीद ले। तेरी तो वह भी सदा प्रशंसा करते थे। तेरे हाथ बेचने से तो उनकी आत्मा को भी कष्ट न होगा—यों—बात एक ही है। क्या करूँ, तेरी मुझे हरदत्त जैसी ही ममता है। अच्छा तो बता, ४ हज़ार में यह मकान लेगा?"

मैंने कहा—'चाची, चार हज़ार में नहीं, बीस हज़ार में।'

उसने कहा—'हट, सच बता।'

मैंने कहा—'सचमुच, बीस हज़ार में ही और आज ही। सुन, सेठजी ने अभी हाल में मेरे नाम से एक गाँव के छः बिस्वे १५ हज़ार में ख़रीदे हैं। उस गाँव की ज़मीन बड़ी अच्छी है, अन्न ख़ूब पैदा होता है। अब हमें उसके बीस हज़ार मिलते हैं, बेचें तो कुछ और ज़ियादह मिल जायगा। उसमें दो पक्के कुँवे हैं, एक डेरे का पक्का मकान है, ३ बाग़ हैं और महीने में २ दिन बाज़ार लगता है। अब हरदत्त किसी की नौकरी नहीं करेगा, वह नौकर रख कर 'सीर' करायेगा और 'डेरी' खोलेगा, फिर मैं वहाँ आकर तेरे हाथ से मक्खन परांठा खाया करूँगा और हफ़्तों तेरे चरणों की पवित्र छाया में रहने का पुण्य प्राप्त किया करूँगा। सम्भव है, उस समय उस कुकर्म का प्रायश्चित्त हो जाय जो हमने तुम्हारे ऊपर किया है। चाची, मैं उस गाँव के बदले इस मकान को ख़रीदने आया हूँ।'

उसने कहा—'तू पागल होगया है। केशव, सेठजी

सुनेंगे तो क्या कहेंगे । तुझे भी घर से निकाल देंगे और मुझे भी नाम धरेंगे ।'

मैंने कहा—'चाची, तू मकान नहीं देगी तो भी मैं गांव तेरे नाम करके जाऊँगा । आज का यह शुभ मुहूर्त्त टलेगा नहीं—माताजी की भी यही आज्ञा है ।'

उसने कहा—'क्या तूने माताजी से पूछा था और उन्होंने ऐसा करने की आज्ञा दे दी है ?'

मैंने कहा—'हां, उनकी आज्ञा के बिना तो मैं कुछ भी नहीं करता, चाची तेरी दशा पर मुझसे अधिक वह खिन्न हैं । अच्छा, अब मैं जाता हूँ, मेरे एक मित्र वकील हैं उनसे दोनों काग़ज़ लिखा कर लाता हूँ । तू इतने में रोटी बना रख, आज तेरे हाथ की रोटी खाऊँगा । चलो भाई हरदत्त ।'

दोनों काग़ज़ लिख गये, मित्र ने कहा—मामला बड़ा है, सेठजी के 'नोटिस' में ले आओ, बाद रजिस्ट्री करा देना और सम्भव हो तो उनके हस्ताक्षर भी अपने लिखे काग़ज़ पर करा देना । मैंने भी सोचा—ठीक है । फिर मन में निर्बलता आई, कहीं बना बनाया काम बिगड़ न जाय । दिल में कहा—जब माताजी साथ हैं तब पिताजी कहीं बीस हज़ार के लिए हम दोनों के दिल को थोड़े ही तोड़ सकते हैं, उनके दिल में इतनी ताक़त नहीं है । जो पिता सात समुद्र पार के प्रभुओं की मनस्तुष्टि के लिए 'इदं न मम' बिना कहे ही हज़ारों स्वाहा कर देते हैं वह अपने आश्रित और आश्रय हम दो के लिए क्या इतना करने से भी हिचकेंगे—दिल ने कहा—हर्गिज़ नहीं । मैंने मकान पर जाकर देखा तो पिताजी भोजन करने के लिए जा रहे थे, मुझे देख कर रुक गये और बोले—'केशव, कहो तय कर आये, कुछ कम में ?'

मैंने कहा—'मुफ़् में ही समझिए ।'

यह कह कर मैंने दोनों काग़ज़ उनके हाथ में दे दिये । उन्हें पढ़ कर वह अचम्भे में रह गये । बोले—'यह क्या किया, होश में है या बेहोशी' । मैंने कहा—'आपने ही तो कहा था कि कमती बरती—'

उन्होंने बात काट कर कहा—'क्या बकता है' चार हज़ार के सौदे में बीस हज़ार की 'कमती बरती' होती है ? पागल ! यह क्या कर लाया ?'

मैंने कहा—'तो जाने दीजिए, आप इतने नाराज़ क्यों होते हैं ? गांव रखिए और मेरा मोह छोड़िए । मैं उनके साथ रहूँगा और वकालत करके उनका क़र्ज़ा निबटाऊँगा ।'

उन्होंने कहा—'तू तो कहा करता है वकालत करना पाप है, अब वकालत करेगा ।'

मैंने कहा—'हां, अपने लिए पेशे के रूप में अब भी मैं उसे पाप ही समझता हूँ किन्तु उस बड़े पाप को धोने के लिए जो अपने पड़ोसियों पर अत्याचार करके अपनी इच्छा से अपने ऊपर थोप लिया है—यथासम्भव पाप और झूठ से बचते हुए इस वृत्ति का आश्रय लूँगा ।'

उन्होंने माताजी से कहा—'देखा तुमने, तुम्हारे शाहज़ादे क्या कौतुक कर आये हैं ? ४ हज़ार का मकान २५ हज़ार की जायदाद देकर मोल ले रहे हैं ।'

माताजी ने कहा—'मुझे सब मालूम है । मुझसे पूछ कर ही वह गया था ।'

पिताजी ने कहा—'तुम ने मना नहीं किया ?'

माताजी ने कहा—'२५ नहीं ३० हज़ार देकर भी उस पाप का प्रायश्चित्त हो जाय तो मना करने की बात है या आज्ञा देने की ? अब तक सब निन्दा करते हैं शाम से ही सबका विचार बदल जायगा । मेरे दो-चार पुत्र हैं क्या, ले देकर यह एक ही तो है, भगवान् की दी हुई लाखों की सम्पत्ति है, किसी का जी न दुखे, इसे कोई न कोसे, फिर तुम्हें क्या मालूम, चाची को वह मेरे बराबर ही समझता है, डर के मारे उसने और मैंने आज तक तुमसे न कहा, अब हम दोनों ने मिल कर यह हिम्मत की है, अब उसका जी छोटा मत करो, तुम्हारे लिए यह कुछ बड़ी बात है ? हां, उसे आवाज़ दो वह बाहर को जा रहा है ।'

पिताजी ने कहा—'केशव, इधर आ ।'

मैंने पास जाकर कहा—'कहिए क्या आज्ञा है ?'

बोले—'तू ने वकालत का पहला हाथ मुझ पर ही साफ़ किया, अपनी मां को पहले ही सांठ लिया था । जब तुम दोनों की यही इच्छा है तो मुझे भी कुछ वक्तव्य नहीं है । रजिस्ट्री करा दो ।'

मैंने फाउन्टेन-क़लम देते हुए कहा—'अजित बाबू कहते हैं आपके हस्ताक्षर भी होने चाहिए।'

उन्होंने फिर कुछ न कहा—हस्ताक्षर कर दिये।

मुझसे न रहा गया। मैं उनके चरणों पर गिर पड़ा। आज मुझे अपने भक्त पिता के चरणों में वही शान्ति मिली जो भक्तों को ईश्वर के पादपद्मों के चिन्तन में मिलती है। उनके धुले हुए पाँव मेरे आँसुओं से तर हो गये।

× × × × ×

चाची ग्वाले के हाथ हरदत्त की 'डेरी' का इतना मक्खन रोज़ भेज देती है कि हमारे लिए काफ़ी से ज़ियादा होता है। हर फ़सल पर हरदत्त की सीर से हमारे ख़र्च से ज़ियादा अनाज आ जाता है। मैंने इन चीज़ों की क़ीमत देने की हज़ार कोशिशें कीं किन्तु कामयाब न हुआ। मेरे बहुत ज़िद करने पर उसने एक दिन कहा—'केशव, एक दिन तेरा कहना मान लिया, अब बार बार अपना स्नेह थोड़े ही बेचूँगी।'

सच यह है, स्नेह या प्रेम अमोल चीज़ें हैं। इन्हें क्या देकर कोई ख़रीद सकता है।

ज्वालादत्त शर्म्मा

ऋतु-परिवर्तन।

इस सृष्टि में जो अनेक परिवर्तन हुआ करते हैं उनमें ऋतु-परिवर्तन बड़े महत्त्व का है। ऐसे महत्त्व-पूर्ण विषय का काम-चलाऊ ज्ञान भी अनेक लोगों को नहीं रहता। इस कारण इस विषय का विवेचन यहाँ संक्षेप में किया जाता है।

हिन्दुस्तान में लोग बहुधा तीन ऋतु—शीत, उष्ण और वर्षा—मानते हैं। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार छः ऋतु—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर—हैं। 'भूगोल शास्त्र' के अनुसार चार ऋतु—वसन्त, ग्रीष्म, शरद और शीत होते हैं। इन विभिन्न वर्गभेदों में कुछ कुछ विशेषता है। पहला भेद नितान्त स्पष्ट लक्षणों के अनुसार किया गया है। जब ठंड पड़ती है तब शीतकाल होता है। जब गरमी पड़ती है तब उष्णकाल होता है और जब वर्षा होती है तब वह वर्षाकाल कहलाता है। इन लक्षणों के अनुसार यदि ऋतु-भेद किये जायँ तो ऋतुओं की संख्या पृथ्वी पर कई बार बदलेगी। गरमी और ठंड थोड़े बहुत परिमाण से अनेक देशों में क्रम क्रम से पाई जायगी, पर वर्षा के विषय में कोई एक नियम नहीं है। कहीं वर्षा छः महीने होती है, कहीं बारहों महीने होती रहती है और कहीं दो ही महीने होती है। इस प्रकार वर्षा का काल एक देश से दूसरे देश में बहुत कुछ भिन्न है। और वर्षा भी एक ही समय सब जगह नहीं होती, कहीं गरमी में तो कहीं ठंड में होती है। भारत में भी यही बात देख पड़ती है। यहाँ बहुतेरे प्रान्तों में जुलाई से सितम्बर या आक्टोबर तक वर्षा होती है, पर मदरास-प्रान्त में असली वर्षा शीतकाल में होती है। इसलिए सारी पृथ्वी के लिए वर्षा को ऋतु मानना ठीक नहीं है। यह भेद केवल एक देश के लिए ठीक हो सकता है। इस कारण यदि लक्षणों के अनुसार ऋतु-भेद किये जायँ तो पृथ्वी के हर एक देश में ऋतुओं की संख्या भिन्न भिन्न होगी। कहीं ग्रीष्म-ऋतु और वर्षा-ऋतु मानने होंगे तो कहीं ग्रीष्म और वर्षा साथ ही मानने होंगे, तो कहीं साल भर वर्षा होने के कारण केवल ग्रीष्म और ठंड मानने होंगे। एक देश के ऋतुओं की संख्या दूसरे देश के ऋतुओं की संख्या से नहीं मिलेगी और न उनके नाम ही मिलेंगे।

पहले प्रकार के ऋतु-वर्ग-भेद पर जो आक्षेप किये गये हैं वही दूसरे वर्ग-भेद पर भी लागू होते हैं। इस वर्ग-भेद में ऋतुओं के लक्षण अधिक सूक्ष्म रीति से ठहराये गये हैं। इस कारण तीन की जगह छः ऋतु माने गये हैं। परन्तु ये भी बाहरी लक्षणों के कारण कल्पित किये गये हैं। इसलिए यह वर्ग-भेद भी आक्षेपार्ह है।

तीसरा वर्ग-भेद वास्तव में पृथ्वी की वार्षिक गति पर निर्भर है। पृथ्वी चौबीस घंटे में अपने चारों ओर घूमती है। उसी प्रकार वह सूर्य के भी चारों ओर घूमती है। परन्तु प्रत्यक्ष में यह देख पड़ता है कि सूर्य ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। यह परिवर्तन सब देशों में नियमानुसार हुआ करता है। इस कारण सूर्य की इस प्रत्यक्ष गति के अनुसार ऋतुओं का वर्ग-भेद करना ठीक है। इस वर्ग-भेद में भी सूर्य के स्थान के कारण कुछ बाहरी लक्षण अवश्य पैदा होते हैं।

इस कारण उनका नामकरण क़रीब क़रीब इन लक्षणों के अनुसार ही है। तथापि पूर्वोक्त दोनों भेदों और इसमें यह अन्तर है कि वे दो भेद स्थान स्थान पर बदलते हैं, पर यह तीसरा सर्वत्र एक सा लागू होता है। इसलिए हम इसी क्रम का विचार करते हैं।

तो ऋतु-परिवर्तन ही न हो। सूर्य सदा एक ही सा उदय-अस्त होता रहेगा। एक अक्षांश से दूसरे अक्षांश पर दिवस और रात्रि का मान अवश्य भिन्न होगा, परन्तु वह एक ही अक्षांश पर सदा बना रहेगा। और इस कारण ऋतु-परिवर्तन न होगा। परन्तु केवल पृथ्वी की इस गति के ही कारण ऋतु-परिवर्तन नहीं होता। उसके और भी कुछ कारण हैं।

चित्र-संख्या १
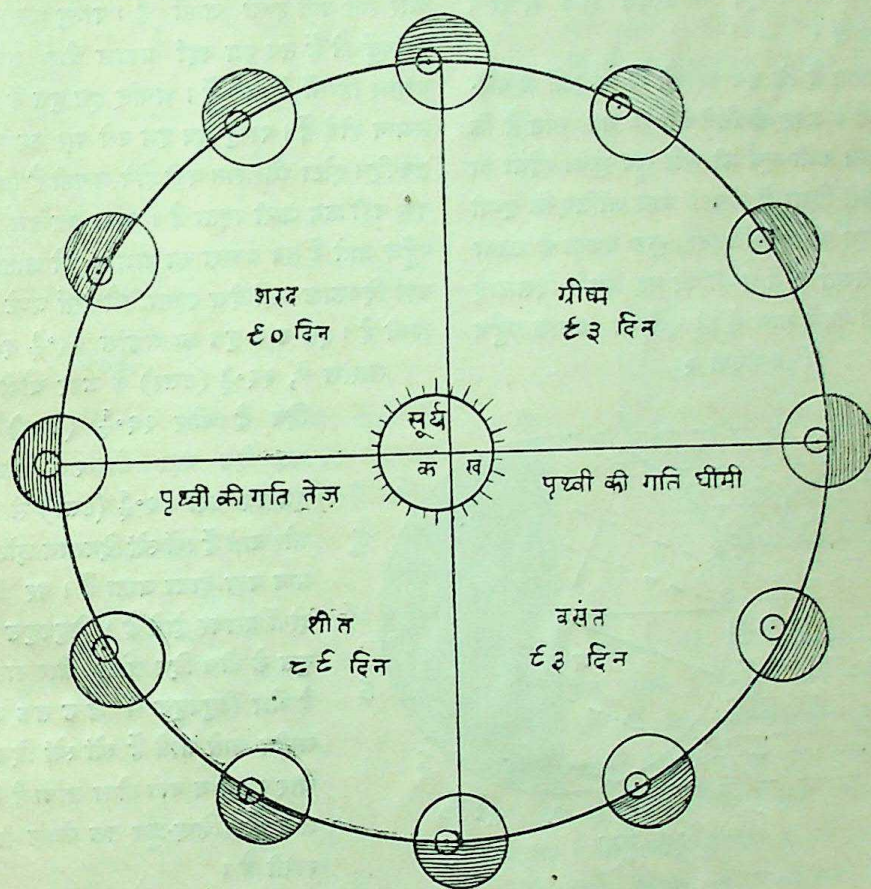
[टिप्पणी—इस चित्र को समझने के लिए यह कल्पना करो कि दर्शक आकाश में सूर्य के मध्य से बड़ी दूरी से सूर्य और पृथ्वी को एक वर्ष तक देखता रहा है। छाया रात्रि और प्रकाश दिन है। पृथ्वी की आकृतियों में जो बिन्दु बीच में है वह उत्तर-ध्रुव है। स्मरण रहे, सूर्य पृथ्वी से बहुत ही बड़ा है। पर यहां यह भेद नहीं दिखलाया जा सकता। ऋतु उत्तर गोलार्द्ध के हैं।]

ऋतुओं के अस्तित्व का मुख्य कारण पृथ्वी की वार्षिक गति है। यदि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी न घूमे

पृथ्वी की कील का कोण उसके क्रान्तिवृत्त* पर क़रीब क़रीब ६६°½ का बनता है और वह कील सदा एक ही दिशा में बनी रहती है। यह दिशा क़रीब क़रीब ध्रुव की दिशा है। दूसरे शब्दों में यों कहेंगे कि कील की सब स्थितियाँ एक दूसरे से समानान्तर पर रहती हैं। इन दो बातों को समझने के लिए एक गोले के बीचोंबीच कील डाल कर परीक्षा करलो। वास्तव में सूर्य की प्रत्यक्ष गति से ही ये बातें मालूम हुई हैं।

अब यह देखना है कि इन कारणों से ऋतुओं में परिवर्तन कैसे होता है। ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी का उत्तर-ध्रुव कभी सूर्य की ओर खूब झुका रहेगा तो कभी सूर्य से दूसरी दिशा में रहेगा। मान लीजिए कि पृथ्वी का उत्तर-ध्रुव सूर्य की ओर जितना झुक सकता है उतना झुका है। चित्र-संख्या २ में पृथ्वी की यह स्थिति दिखलाई गई है। पृथ्वी के आधे भाग में ही एक बार प्रकाश पहुँच

चित्र-संख्या २
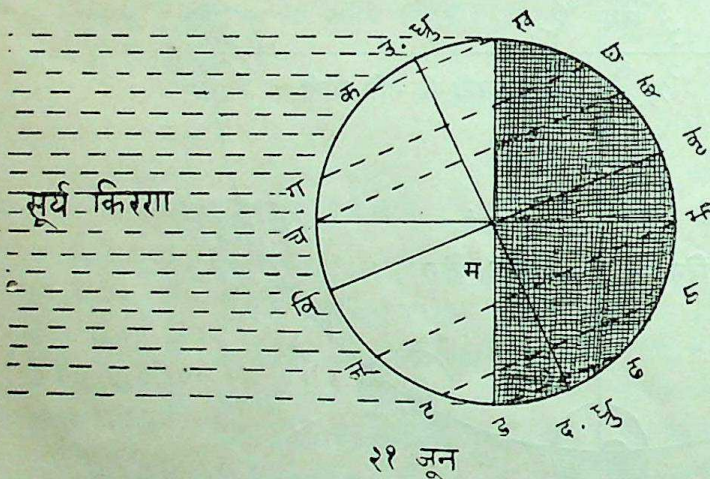
सकता है, यह बात चित्र में खण्ड-प्रकाश रेखा से दिखलाई गई है। पाठक स्मरण रक्खें कि पृथ्वी कील—अर्थात् उत्तर-ध्रुव और दक्षिण-ध्रुव—के चारों ओर घूम रही है। इस कारण उत्तर-ध्रुव के नीचे का कुछ भाग चौबीसों घण्टे प्रकाश में रहता है। यहाँ चौबीस घण्टे दिन बना रहता है। यह स्थिति क ख अक्षांश तक रहती है। उसके नीचे के स्थान कभी प्रकाश में तो कभी अन्धकार में रहते हैं। अर्थात् इन स्थानों में कभी रात तो कभी दिन होता है। पर एक बात स्पष्ट है। दिन रात की अपेक्षा बड़ा होता है। तथापि क ख रेखा से ज्यों ज्यों नीचे आओ, त्यों त्यों दिन छोटा होता और रात बड़ी होती जाती है। परन्तु जब हम विपुववृत्त पर पहुँचते हैं तब हम वहाँ प्रकाश और अन्धकार बराबर बराबर हिस्सों में पाते हैं। अर्थात् इस वृत्त में रात और दिन समान होते हैं। परन्तु जब हम उसे पार कर आगे बढ़ते हैं तब दिन छोटा और रात बड़ी होने लगती है। और ड ढ रेखा तक यही क्रम जारी रहता है। परन्तु जब हम ड ढ वृत्त पर पहुँच जाते हैं तब प्रकाश का अभाव हो जाता है। अर्थात् वहाँ दिनकाल नहीं देख पड़ता, चौबीसों घण्टे रात ही बनी रहती है। इस ड ढ वृत्त का अक्षांश ६६°½ दक्षिण है।

सारांश में, ६६°½ (उत्तर) के ऊपर चौबीस घण्टे का दिन है और ६६°½ (उत्तर) से विपुववृत्त तक दिन बड़ा और रात छोटी होती है। हम ज्यों ज्यों ६६°½ (उत्तर) से विपुववृत्त की ओर आते हैं त्यों त्यों दिनमान छोटा और रात्रिमान बड़ा होता जाता है। पर विपुववृत्त पर दोनों बराबर होते हैं। विपुववृत्त और ड ढ वृत्त के बीच दिन छोटा और रात बड़ी होती है और विपुववृत्त से ड ढ तक ज्यों ज्यों हम समीप आते जाते हैं त्यों त्यों दिनमान छोटा और रातमान बड़ा होता जाता है। इसके बाद ड ढ से दक्षिण-ध्रुव तक केवल रात ही रात रहती है।

अब पृथ्वी की उस दशा की कल्पना कीजिए जब वह उत्तर-ध्रुव सूर्य से बिलकुल परे है। उत्तर-ध्रुव इस समय नितान्त अन्धकार में चला गया है। क ख अक्षांश तक केवल अन्धकार ही अन्धकार देख पड़ता है। इसके नीचे विपुववृत्त तक दिन छोटा और रात बड़ी है, परन्तु क ख से नीचे प्रत्येक अक्षांश पर दिनमान बढ़ता ही जाता है। विपुववृत्त पर दिन और रात बराबर हो गये हैं। उसके नीचे ड ढ तक दिन बड़ा तथा रात छोटी है और धीरे

*सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का जो मार्ग बनता है वह क्रान्तिवृत्त कहलाता है। वास्तव में वह मामूली वृत्त नहीं है, दीर्घवृत्त है।

धीरे दिन बड़ा ही होता है। ड ढ पर चौबीस घण्टे का दिन है और यही बात दक्षिण-ध्रुव तक है। सारांश, अब की दशा पहली से नितान्त विपरीत है।

चित्र-संख्या ३

२१ दिसम्बर

इन दो दशाओं के बीच दो ऐसी दशायें होती हैं कि जब सारी पृथ्वी पर प्रकाश और अन्धकार बराबर बराबर रहता है अर्थात् जब रात-दिन बराबर होते हैं।

चित्र-संख्या ४

पहली अवस्था में उत्तर-गोलार्द्ध में दिन बड़ा और रात छोटी होती है। इस समय सूर्य की किरणें भी अधिक सीधी पड़ती हैं। इन दो कारणों से उष्णता बहुत बढ़ जाती है। अतएव दिन में उष्णता अधिक मात्रा में एकत्र होती है और रात में वह बहुत कम परिमाण में विलीन होती है। इस कारण ये दिन बहुत गरम होते हैं। यही ग्रीष्म-काल है। सूर्य की किरणें २३° ½ अक्षांश (उत्तर) पर लम्ब रूप से गिरती हैं। इसलिए वहाँ बहुत अधिक उष्णता रहती है। इस अक्षांश से ज्यों ज्यों ऊपर या नीचे जायँ, त्यों त्यों सूर्य की किरणों के पृथ्वी-तल से होनेवाले कोण छोटे होते जाते हैं, अर्थात् त्यों त्यों पृथ्वी पर किरणें अधिकाधिक तिरछी गिरती जाती हैं।
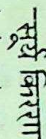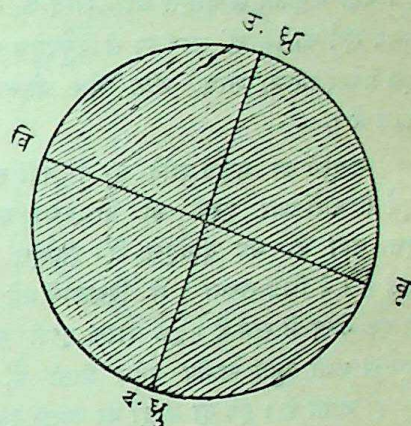
चित्र-संख्या ५
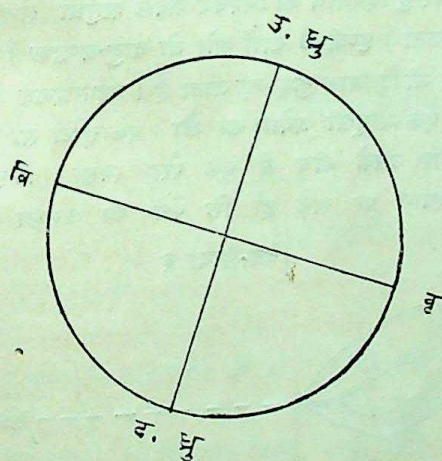
इस कारण उष्णता का मान भी इस अक्षांश से ऊपर या नीचे कम होता जाता है। कोई प्रश्न करे कि इस अक्षांश के नीचे तो यह बात ठीक जँचती है, क्योंकि दिन भी छोटा होता जाता है, पर इस अक्षांश के ऊपर तो दिन बड़ा होता है फिर उष्णता कम क्यों? इसका उत्तर यह है कि केवल दिनमान ही पर उष्णता अवलम्बित नहीं है। वह किरणों के सीधी या तिरछी पड़ने पर भी बहुत कुछ अवलम्बित है। ज्यों ज्यों किरणों का तिरछापन बढ़ता जाता है, त्यों त्यों इस कारण का प्रभाव दिनमान के प्रभाव से अधिक होता जाता है। इसलिए इस अक्षांश के उत्तर में भी उष्णता कम होती जाती है।

जिस समय उत्तर-गोलार्द्ध में ग्रीष्मकाल है, उसी समय दक्षिण-गोलार्द्ध में दिन छोटा और रात बड़ी है और किरणें भी पूर्वोक्त प्रकार से अधिकाधिक तिरछी

पड़ती हैं। इस कारण उष्णता कम होती जाती है अर्थात् ठंड बढ़ती जाती है। इस समय यहाँ शीत-काल है।

दूसरी अवस्था में पहली अवस्था के ठीक विपरीत बातें देख पड़ती हैं। ऊपर बतलाये हुए कारणों से उत्तर-गोलार्द्ध में शीत-काल और दक्षिण-गोलार्द्ध में ग्रीष्म-काल है। इस प्रकार उत्तर तथा दक्षिण-गोलार्द्ध के ग्रीष्म और शीत-काल नितान्त भिन्न समयों पर हुआ करते हैं। ऊपर पृथ्वी की जो दो अवस्थायें दिखलाई गई हैं वे जून और दिसम्बर की हैं।

सितम्बर के महीने में दिन और रात बराबर बराबर होते हैं। यही अनुक्रम से वसन्त और शरद के काल हैं। इस समय सूर्य की किरणें लम्बरूप से विषुववृत्त पर पड़ती हैं। इस प्रकार ग्रीष्म, शरद, शीत और वसन्त ऋतु हुआ करते हैं।

ऋतुओं का वर्णन इतने ही में नहीं समाप्त होता। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की जो कक्षा बनती है वह वृत्त नहीं है, वह दीर्घवृत्त है। दीर्घवृत्त के दो केन्द्र होते हैं। ये चित्र संख्या १ में दिखलाये गये हैं। इन्हीं में से एक केन्द्र में सूर्य है। इस कारण पृथ्वी अपनी कक्षा में सूर्य से कभी बहुत समीप पहुँच जाती है, कभी बहुत दूर हो जाती है। इन दो केन्द्रों का अन्तर ३० लाख मील के लगभग है। जब पृथ्वी सूर्य के बहुत समीप रहती है उस समय उत्तर-गोलार्द्ध में शीत-काल रहता है। अगर पृथ्वी की कक्षा दीर्घवृत्त न होकर मामूली वृत्त ही होती तो यह दूरी बढ़ जाती और दूरी बढ़ने से शीत-काल अधिकतर ठंड हुआ होता। इसी समय दक्षिण-गोलार्द्ध में ग्रीष्म होता है। केवल वृत्त की कक्षा से होनेवाले ग्रीष्म की अपेक्षा दीर्घवृत्त की कक्षा के कारण दक्षिण-गोलार्द्ध का ग्रीष्म अधिक उष्ण रहता है। जब पृथ्वी दूर जाती है उस समय उत्तर-गोलार्द्ध में ग्रीष्म रहता है। दूरी के कारण यह उतना उष्ण नहीं रहता जितना कि केवल वृत्तवाली कक्षा के कारण हुआ होता। इसी समय दक्षिण-गोलार्द्ध में शीत-काल रहता है। दूरी बढ़ जाने से यहाँ का शीत-काल केवल वृत्तवाली कक्षा से होनेवाले शीत से अधिक ठंड रहता है। सारांश, कक्षा के दीर्घवृत्त होने से उत्तर-गोलार्द्ध सदा लाभ में रहता है।

इस तरह की कक्षा का एक और परिणाम होता है। जब सूर्य से पृथ्वी की दूरी बढ़ जाती है तब आकर्षण-शक्ति घट जाने से पृथ्वी की परिक्रमा की गति का वेग कुछ कम हो जाता है। इस कारण उत्तर-गोलार्द्ध के ग्रीष्म और वसन्त के दिनों का योग यहाँ के शीत और शरद के दिनों के योग से ७ दिन बढ़ जाता है। ग्रीष्म के ९३ दिन और वसन्त के ९३ दिन मिला कर १८६ दिन होते हैं, पर शरद के ९० दिन और शीत के ८९ दिन मिला कर १७९ ही होते हैं।

इससे कोई शायद यह अनुमान करे कि उत्तर-गोलार्द्ध को वर्ष भर में अधिक उष्णता मिलती है और दक्षिण-गोलार्द्ध को कम। परन्तु यह भूल है। वर्ष भर की उष्णता का विचार करते समय ऊपर बतलाये गये परिणामों को न भूलना चाहिए। अगर उत्तर-गोलार्द्ध के ग्रीष्म और वसन्त के दिनों का योग बढ़ जाता है और दक्षिण-गोलार्द्ध में यह योग कम हो जाता है तो यह स्मरण रखना चाहिए कि उत्तर-गोलार्द्ध के ग्रीष्म और वसन्त दक्षिण-गोलार्द्ध के इन्हीं ऋतुओं से कहीं कम उष्ण रहते हैं। इस तरह दिनों की अधिकता की भरपाई हो जाती है और दोनों गोलार्द्धों को वर्ष भर में समान उष्णता मिलती है।

परन्तु दिनमान का निश्चय केवल ऋतुओं से ही नहीं हो सकता। पृथ्वी के चारों ओर जो वायु-मण्डल है उसके कारण भी दिनमान कुछ बढ़ जाता है। यह समझने के लिए पहले एक मामूली प्रयोग कर लो। एक छोटी सी प्याली लो और उसके बीच में एक पैसा रक्खो। फिर ऐसे एक स्थान पर खड़े हो कि पैसे का अगला सिरा

चित्र-संख्या ६
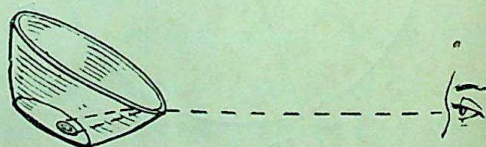
बहुत कम दीख पड़े। तदनन्तर उस प्याली में पानी भर दो और फिर पहले स्थान पर खड़े हो कर देखो। अब शायद पूरा पैसा दिखाई पड़ेगा। यह किरणों की वक्रता का परिणाम है। एक ही पदार्थ में से किरणें सीधी

जाती हैं, परन्तु जब उन्हें दूसरे पदार्थ में से अपना रास्ता तय करना होता है तब उस नये पदार्थ के पास उन्हें अपना रास्ता कुछ टेढ़ा कर लेना पड़ता है। मान लो कि

चित्र-संख्या ७
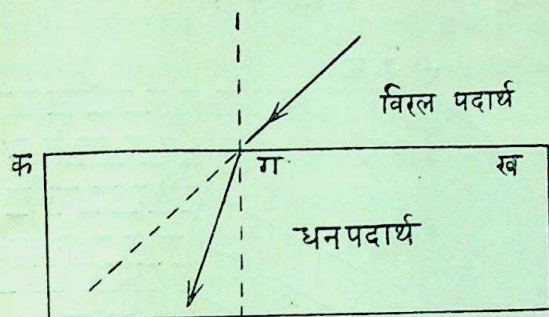
क ख रेखा वायु की अपेक्षा घन पदार्थ की सतह है। अर्थात् वायु उससे विरल पदार्थ है। वायु से उसमें जानेवाली एक किरण उसके ग स्थान पर मिलती है। ग पर एक लम्ब बनाओ। पदार्थ के भीतर जानेवाली किरण लम्ब की ओर झुकेगी। इसके विपरीत यदि घन पदार्थ से विरल पदार्थ में किरण जाय तो वह लम्ब से दूर जायगी। हमें केवल यही स्मरण रखना है कि विरल पदार्थ

चित्र-संख्या ८
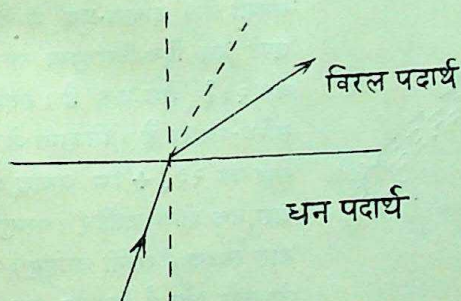
से घन पदार्थ में जानेवाली किरणें लम्ब की ओर झुकती हैं। यही बात वायु-मण्डल में होती है। पृथ्वी से ज्यों ज्यों ऊँचे जाओ, त्यों त्यों वायु विरल होती जाती है। या यों कहो कि ऊँचे से ज्यों ज्यों पृथ्वी की ओर आओ, त्यों त्यों वायु घन होती जाती है। इस कारण वायु-मण्डल में प्रवेश करनेवाली किरणें आकाश के प्रत्येक बिन्दु पर तिरछी पड़ती हैं। यह बात चित्र-संख्या ९ में दिखलाई गई है। उदय के पहले सूर्य क्षितिज के नीचे रहता है, परन्तु वक्रता के कारण वह क़रीब दो मिनट पहले ही क्षितिज पर दिखलाई देता है। और यही बात अस्त के बाद होती है। अस्त होने पर भी सूर्य्य क्षितिज के ऊपर

चित्र-संख्या ९
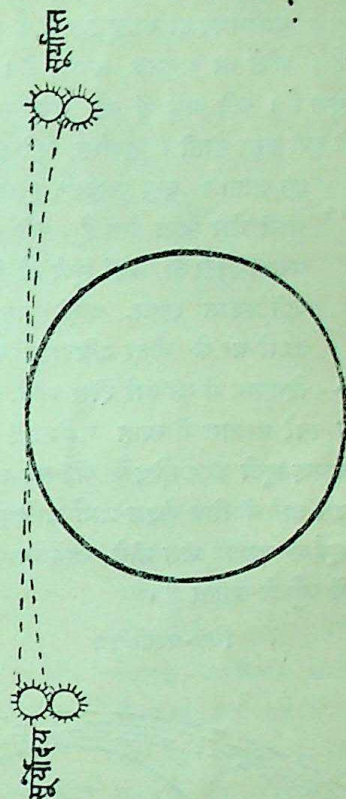
दीखता है। अर्थात् जिस समय वह हमें क्षितिज पर डूबते दीखता है उस समय जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, वह वास्तव में क्षितिज के नीचे रहता है। इस स्थिति को भी वही काल लगता है, अर्थात् प्रत्यक्ष दिनमान ४ मिनट बढ़ जाता है। कई लोग पञ्चाङ्ग से सूर्योदय या सूर्यास्त का काल देख कर घड़ी का समय लगाया करते हैं। इसमें दो भूलें होती हैं। एक तो पञ्चाङ्ग में दिया हुआ सूर्योदय या सूर्यास्त का काल वहीं का होता है जहाँ वह बनाया जाता है, पर देशान्तर रेखा के अनुसार पृथ्वी पर सूर्योदय या सूर्यास्त भिन्न भिन्न समय पर हुआ करते हैं। दूसरे, जब सूर्य्य क्षितिज पर दीखता है उस समय वह वास्तव में क्षितिज के नीचे रहता है।

हुए कारण क़रीब दो मिनट का और अन्तर हो जाता है।

इसी से सम्बन्ध रखनेवाला एक और चमत्कार है। सूर्य्य के प्रत्यक्ष दीखने से पहले 'सन्धि-प्रकाश' रहता है। वायु में केवल वक्रीभवन ही का गुण नहीं है परावर्तन का भी गुण है। शीशे का अनुभव सबको है। इसमें यही परावर्तन गुण है। यदि वायु में यह गुण न होता तो हमारी बड़ी बुरी दशा होती। सूर्यास्त होते ही अन्धकार छा जाता। वायु परावर्तन द्वारा प्रकाश को चारों ओर फैला देता है। यदि इस गुण का अभाव होता तो जहाँ सूर्य्य की किरणें पड़तीं वहीं प्रकाश रहता, बाक़ी सब अन्धकार! हमारे घर के भीतर उजियाला कहाँ होता! दिनमान में भी तारे दीख पड़ते, क्योंकि फिर सूर्य-प्रकाश सारे आकाश में व्याप्त न होता! परन्तु परावर्तन के कारण सूर्य्य की उपस्थिति में सब जगह प्रकाश रहता है, उसे जाने के लिए केवल मार्ग चाहिए। इस गुण के कारण सूर्य के अठारह अंश नीचे रहने पर भी उसका प्रकाश हमें पहुँचने लगता है।

चित्र-संख्या १०
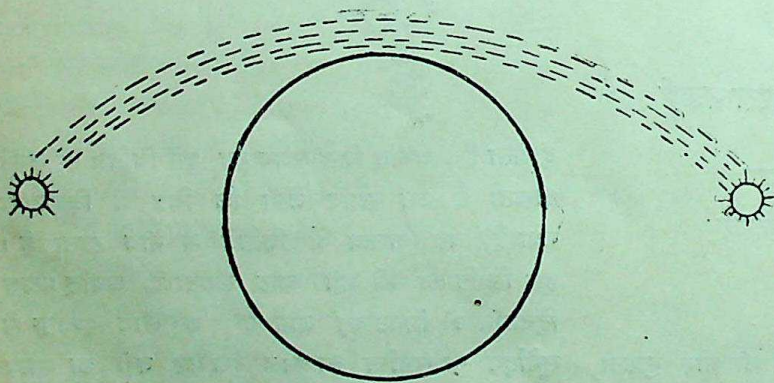
चित्र-संख्या ११

चित्र-संख्या १२ में प्र वृ रेखा तक प्रकाश-वृत्त है। उसके बाद सन्धि-प्रकाश है। वह धीरे धीरे गहरा होता जाता है और लगभग अठारह अंश तक रहता है। उसके बाद बिलकुल अन्धकार है। विषुववृत्त पर यह सन्धि-प्रकाश एक घण्टे बारह मिनट रहता है और ज्यों ज्यों ऊपर या नीचे जाओ त्यों त्यों उसका कालमान बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि ध्रुवों पर वह ढाई महीने तक रहता है। इस कारण ध्रुव-प्रदेशों में इसका परिणाम महत्त्व-कारक होता है। पहले ही बताया गया है कि उन प्रदेशों

चित्र-संख्या १२
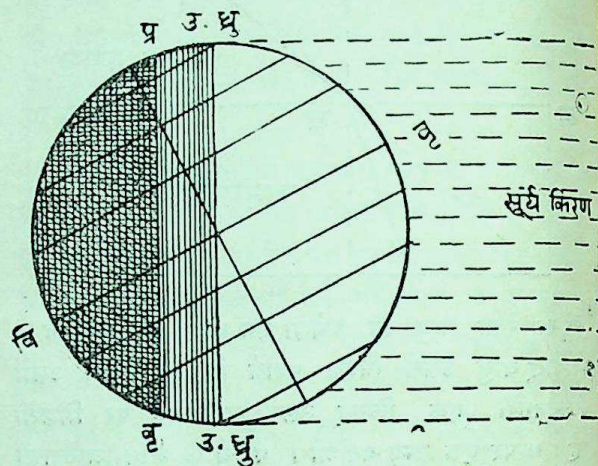
में चौबीस घण्टे का दिन ध्रुव से २३½ अंश तक हो सकता है। परन्तु सन्धि-प्रकाश के कारण चौबीस घण्टे का व्यावहारिक दिन और भी दूर तक हो सकता है। चित्र-संख्या १२ से यह बात स्पष्ट हो सकती है। दक्षिण-ध्रुव में चौबीस घण्टे का दिन दिखलाया गया है। वह २३½ अंश तक है। तदनन्तर सन्धि-प्रकाश है। सिद्धान्त के अनुसार वह २३½ + १८ अर्थात् ४१½ अंश तक होना चाहिए। परन्तु एक बात स्मरण में रखनी चाहिए। ऊपर जो कहा गया है कि १८ अंश नीचे से क्षितिज पर प्रकाश आ जाता है, यह बात गणित की दृष्टि से ठीक है। उतनी दूरी से क्षितिज प्रकाशमान होने लगता है। परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में यह सन्धि-प्रकाश बहुत देर तक किसी काम का नहीं रहता। इसी प्रकार विषुववृत्त पर एक घण्टा बारह मिनट से ध्रुव पर ढाई महीने तक का सन्धि-प्रकाश का काल सिद्धान्तात्मक है। इसमें का बहुत सा

काल प्रत्यक्ष जीवन के व्यवहार के उपयोगी नहीं होता। इस कारण चौबीस घण्टे का व्यवहारोपयोगी दिन ४१½ अंश तक नहीं रहता, उससे कम दूरी तक रहता है और ऋतुमान के अनुसार यह बदलता रहता है। इसी सन्धि-प्रकाश के कारण ध्रुवों की छः महीने की रात प्रत्यक्षतः छः महीने की नहीं रह जाती। इस तरह इस प्रकाश का ध्रुव-प्रदेशों में बहुत भारी उपयोग है।

अब केवल एक चमत्कार का वर्णन और करना है। सब लोगों ने देखा होगा कि आकाश में सूर्य्य का स्थान ऋतु के अनुसार बदलता रहता है। लोगों को बहुधा थोड़े स्थान का अनुभव होता है। परन्तु पृथ्वी पर सूर्य की यह प्रत्यक्ष गति किस प्रकार बदलती रहती है, यह जानने की बात है।

यह पहले ही दिखला चुके हैं कि २१ जून को सूर्य उत्तर-गोलार्द्ध के २३°½ अंश पर मध्याह्न के समय ठीक सिर के ऊपर रहता है। इसी प्रकार २१ दिसम्बर को दक्षिण-गोलार्द्ध के २३°½ अंश पर मध्याह्न के समय

चित्र-संख्या १३

२१ दिसम्बर

२१ जून
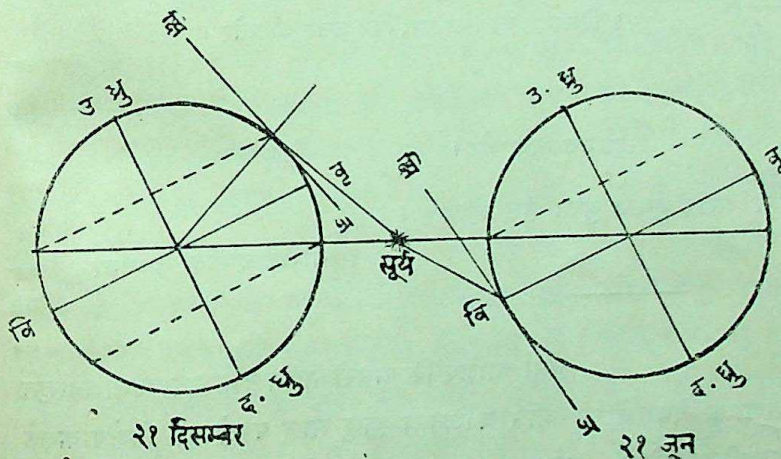
और २३ मार्च और २३ सितम्बर को विषुववृत्त पर मध्याह्न के समय वह ठीक सिर पर आता है। पहले यह जानना चाहिए कि अन्य कालों में इन स्थानों पर सूर्य किधर जाता दीख पड़ेगा।

उत्तर-गोलार्द्ध के २३°½ अंश तक सूर्य सिर पर आ सकता है। अर्थात् इस अंश के उत्तर में सूर्य सिर पर कभी नहीं आ सकता। अर्थात् शेष समय इस अक्षांश पर सूर्य दक्षिण की ओर से जाता दीख पड़ेगा। चित्र-संख्या १३ के देखने से इस बात का पता लग सकता है। २१ दिसम्बर के

चित्र-संख्या १४
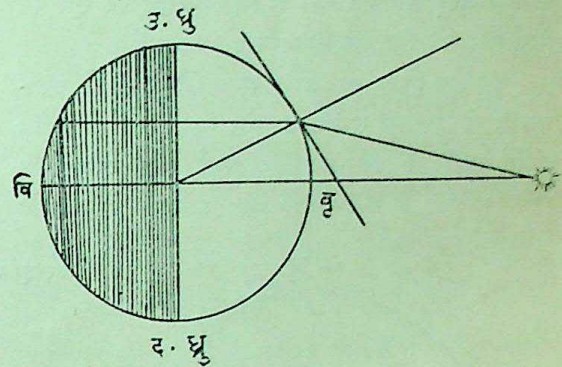
चित्र में २३°½ उत्तर-अक्षांश से सूर्य की ओर देखते हैं तो वह ख स्वस्तिक † से दक्षिण की ओर है। इसी प्रकार मार्च और सितम्बर की आकृतियों में जून का २३°½ उत्तर-अक्षांश से सूर्य दक्षिण ही की ओर दीखता है। अब २३°½ दक्षिण-अक्षांश का विचार कीजिए। २१ दिसम्बर को सूर्य मध्य पर है। फिर वह [समझ में आने के लिए आकृति को हमने सीधा कर दिया है और छाया और प्रकाश का आधा आधा भाग किया है। सितम्बर और मार्च के लिए एक ही आकृति काफी है।] उत्तर की ओर जाने लगता है। अर्थात् इसके नीचे सूर्य कभी मध्य पर नहीं पहुँचता। इस कारण शेष समय में सूर्य यहाँ उत्तर ही की ओर देख पड़ेगा।

एक बार सूर्य २३°½ उत्तर-अक्षांश पर सिर पर आता है और इसी तरह वह एक बार २३°½ दक्षिण-अक्षांश पर सिर

† ख स्वस्तिक सिर के ऊपर आकाश का बिन्दु है।

पर आता है। अर्थात् सूर्य की किरणें लम्बरूप से इन्हीं दो अक्षांशों के बीच पड़ सकती हैं और यह परिवर्तन छः छः मास में होता है। अर्थात् इन दो अक्षांशों के बीच प्रत्येक स्थान पर साल में सूर्य दो बार ठीक मध्य पर आवेगा। शेष समय में वह कभी उत्तर को तो कभी दक्षिण को होगा। ऊपर बतलाया गया है कि विषुववृत्त पर सूर्य २३ मार्च और २३ सितम्बर को मध्य पर आता है।

अब शेष पृथ्वी का हाल सरल है। २३°½ उत्तर-अक्षांश के उत्तर में सूर्य कभी सिर पर आता ही नहीं। अर्थात् यहीं से उत्तर-ध्रुव तक सूर्य सदा दक्षिणायन रहता है। २३°½ दक्षिण-अक्षांश के दक्षिण में सूर्य कभी सिर पर नहीं आता। अर्थात् यहाँ से दक्षिण-ध्रुव तक वह सदा उत्तरायण बना रहता है।

यह स्पष्ट ही है कि सूर्य के मध्याह्न बिन्दु का अन्तर क्षितिज से अक्षांश के अनुसार कम होता जायगा और यह ऊपर लिखा जा चुका है कि एक ही स्थान में ऋतु के अनुसार भी यह अन्तर कम तथा अधिक होता रहता है—ठण्ड में कम और ग्रीष्म में अधिक। इन बातों को भी ध्यान में रखना चाहिए। सूर्य के अयन के वर्णन का सारांश चित्र-संख्या १५ में दिया गया है।

चित्र-संख्या १५
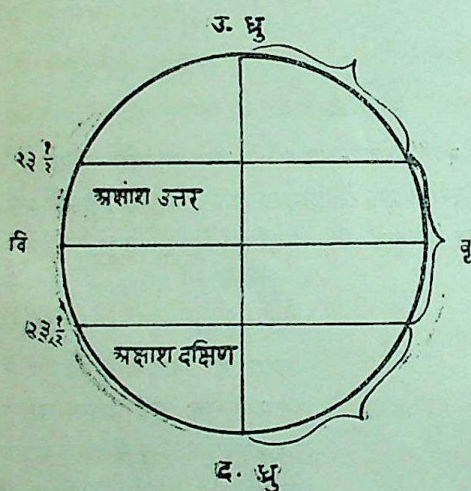
सदा दक्षिण की ओर।

२१ जून को सिर पर, फिर दक्षिण की ओर।

दो बार सिर पर फिर कभी उत्तर की ओर तो कभी दक्षिण की ओर।

२१ दिसम्बर को सिर पर, फिर उत्तर की ओर।

सदा उत्तर की ओर।

इस प्रकार सूर्य आकाश में पृथ्वी पर प्रत्यक्ष घूमता हुआ दीख पड़ता है।

गोपाल दामोदर तामस्कर

अमरीका।

सरस्वती के पाठक अमरीका के विषय में समय समय पर भारतीय यात्रियों के लेख प्रायः पढ़ते रहे हैं। उन लेखों को पढ़ कर अनेक विद्यार्थी और श्रमजीवी या व्यापारी अमरीका आने का सङ्कल्प कर लेते हैं, परन्तु उन्हें जान लेना चाहिए कि अमरीका का द्वार अब उतना विस्तृत नहीं रहा जितना कुछ साल पहले था, विशेष करके भारत, चीन और जापान के लिए तो वह बहुत ही सङ्कुचित होगया है। इन देशों के यात्रियों को यहाँ, अमरीका में, अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। मैं स्वयं भाग्य-दोष से इन आपत्तियों में आ फँसा हूँ! मेरी इच्छा है कि कोई भारतवासी अब अम-

रीका को बिना पूरी तैयारी के कदापि न आवे। जो श्रमजीवी हैं—विद्यार्थी नहीं हैं—उनको तो इस ओर क़दम ही न उठाना चाहिए। यदि विद्यार्थी यहाँ आना चाहें तो भारत से यहाँ आते समय अपने सम्बन्ध में जितने अधिक सर्टिफ़िकेट वे प्राप्त कर सकें उन्हें लेकर आवें। इसके सिवा उनका स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए, किसी प्रकार के संसर्गज रोग से ग्रस्त न हों। यहाँ स्वास्थ्य की जाँच बहुत सावधानी से की जाती है। थोड़ी सी बात के लिए भी चार चार पाँच पाँच महीने तक यात्रियों को अस्पताल में पड़ा रहना पड़ता है। व्यापारी और पर्यटक को अपने पास पूरे प्रमाण-पत्र रखने चाहिए। द्रव्य जितना ही अधिक अपने पास हो उतना ही अच्छा है।

जिन जिन आपत्तियों में से मुझे गुज़रना पड़ा है संक्षेप में पाठकों के ज्ञान एवं लाभ के लिए मैं यहाँ उनका उल्लेख करता हूँ।

इँगलेंड में आठ महीने तक रहने के बाद मार्च की तीस तारीख़ को अमरीका को Passage book कराने के लिए मैं कुक के दफ़्तर में गया। अमरीका के लिए पासपोर्ट मैंने पहले ही प्राप्त कर लिया था। इसलिए इस काम में कुछ भी देर न लगी। रुपये गिन कर मैंने शिपिङ्ग एजन्ट को सुपुर्द किये। उसने मुझे निश्चय करा दिया कि जो जहाज़ ३० तारीख़ को लिवरपुल से चलेगा उसमें तुम्हारा प्रबन्ध हो जायगा। तुम निश्चिन्त रहो।

सत्ताईस तारीख़ को मुझे कुक का एक पत्र मिला। उसमें लिखा था कि मुझे अपने सब प्रमाण-पत्रों पर भी अमरीका के कांसल के हस्ताक्षर कराने चाहिए। उसके हस्ताक्षर उन पर भी उतने ही आवश्यक हैं जितना कि पासपोर्ट पर। जहाँ मैं था वहाँ से मान्चस्टर निकट ही था और वहाँ अमरीका का एक कांसल था। अतएव २८ तारीख़ को मैं मान्चस्टर गया और वहाँ अमरीका के कांसल से मिला और उससे अपने प्रमाण-पत्रों पर हस्ताक्षर कर देने के लिए प्रार्थना की। साथ ही उसे वह पत्र भी दिखाया जो मुझे कुक के दफ़्तर से मिला था। सब वृत्तान्त सुन चुकने और पत्र पढ़ लेने के बाद कांसल ने मुझसे कहा कि इन काग़ज़ों पर हस्ताक्षर की कोई आवश्यकता नहीं है, पासपोर्ट पर जो हस्ताक्षर है वही पर्याप्त है। उसके कथनानुसार विवश होकर मैं उसी दिन सायङ्काल लिवरपूल को चला गया। दूसरे दिन जहाज़ बारह बजे छूटनेवाला था। अतएव सवेरा होते ही मैं 'ह्वाइटस्टार लाइन' के दफ़्तर में पहुँचा। अमरीका के लिए टिकट वहीं मिलता था। पहले तो वहाँ के एक आफ़िसर ने कई प्रश्न किये। तदनन्तर उसने पासपोर्ट और प्रमाण-पत्र माँगे। हस्ताक्षर-शून्य प्रमाण-पत्रों को देखते ही वह कहने लगा कि तुम अमरीका नहीं जा सकते। तुमने प्रमाण-पत्रों पर अमरीका के कांसल के हस्ताक्षर क्यों नहीं कराये?

मैंने बहुतेरा कहा कि मैं कांसल के पास गया था, किन्तु उसने कहा कि इन काग़ज़ों पर मेरे हस्ताक्षरों की कोई आवश्यकता नहीं है, पासपोर्ट के हस्ताक्षर ही से तुम्हारा काम चल जायगा। परन्तु उसने एक न सुनी और अन्त में लाचार होकर मुझे फिर मान्चस्टर को लौटना पड़ा।

मान्चस्टर आते आते शाम हो गई थी। सब दफ़्तर बन्द हो गये थे। इसलिए कांसल के पास न जा सका। दूसरे दिन प्रातःकाल ही फिर कांसल के कार्यालय में पहुँचा और उससे सारा हाल कह

सुनाया। मुझे वापिस आया देख कर वह झुँझला कर बोला, "मैं नहीं जानता कि ये प्रमाण-पत्र तुमको किसने दिये हैं। इन पर किसी मजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर करा कर लाओ।" सौभाग्यवश वहाँ के दो एक मजिस्ट्रेटों से मेरा परिचय हो गया था। उन्होंने बिना फ़ीस लिये ही मेरे काग़ज़ों पर अपने हस्ताक्षर कर दिये। इस कार्य के हो जाने से मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। मैंने समझा कि अब कोई दिक़्क़त न उठानी पड़ेगी। परन्तु हुआ बिलकुल मेरी धारणा के विपरीत। अपने मामले को जितना सुलझाने का यत्न मैंने किया उतना ही वह उलझता गया। जब कांसल ने सारे प्रमाण-पत्रों पर एक मजिस्ट्रेट के ही नहीं, किन्तु दो दो मजिस्ट्रेटों के हस्ताक्षर देखे और उसके साथ ही पार्लियामेन्ट के एक मेम्बर का एक बहुत उत्तम पत्र—जिसमें लिखा था कि मैं Bonafide student हूँ और अमरीका पढ़ने के लिए जाना चाहता हूँ—पढ़ा तब भी उसने साफ़ जवाब दे दिया कि मैं इन पर हस्ताक्षर नहीं करूँगा। यदि ह्वाइटस्टार लाइन तुमको नहीं जाने देती तो तुम किसी दूसरी जहाज़ी कम्पनी से अपनी यात्रा का प्रबन्ध करो। उसके इस अन्तिम उत्तर से मेरा मन बहुत ही खिन्न हो गया। मैंने सोचा कि हम भारतीयों के लिए इस संसार में सद् व्यवहार की आशा व्यर्थ है। हमारी पराधीनता हमारे कार्यों में सर्वत्र आड़े आती है।

कनार्ड लाइन नाम की एक दूसरी जहाज़ी कम्पनी है। यह भी इँगलैंड से अमरीका को यात्रियों को ले जाती है। इसका बड़ा दफ़्तर लन्दन में है। इसकी एक शाखा मान्चस्टर में है। यहाँ भी भाग्य की परीक्षा की। किन्तु परिणाम वही निकला। पैसेजबुक करने के चार दिन बाद यहाँ से उत्तर मिला—

"We are sorry. We cannot help you in any way, owing to your nationality. we are not allowed to book you."

मेरे लिए अब कोई और उपाय शेष नहीं था, क्योंकि भारतीय होने का दोष अनिवार्य था। अन्त में मैं एक भारतीय सज्जन के पास गया और इनसे अपना सारा कच्चा हाल कह सुनाया। ये महाशय यहाँ कई साल से हैं और व्यापार करते हैं। कई एक जहाज़ी कम्पनियों से इनका परिचय भी है। ये मुझको एक शिपिंग एजेन्ट के पास ले गये। उसने मुझे पूर्ण विश्वास दिला दिया कि २० एप्रिल को जानेवाले एड्रियाटिक नामक जहाज़ में मेरे लिए स्थान का प्रबन्ध अवश्य हो जायगा। मैंने भी तुरन्त दूसरे दर्जे का किराया कोई ३६ पौण्ड उनके सुपुर्द किये। उसने रसीद मेरे हवाले की। इसके बाद उसने १८ तारीख़ की दोपहर को टेलीफ़ोन से मुझे सूचित किया कि यदि तुम दूसरे दर्जे से जाना चाहते हो तो तुमको पूरी केबिन रिज़र्व करानी पड़ेगी और उसका किराया ५५ पौंड देने पड़ेगा। इसका भी कारण वही मेरा भारतीय होना था। मेरी देह भारत की मिट्टी से बनी है जिसको गोरा संसार घृणा की दृष्टि से देखता है। उसने स्पष्ट बता दिया कि तुम्हारे केबिन में कोई गौराङ्ग बैठना न स्वीकार करेगा। अतएव कम्पनी की हानि होगी।

मैंने उससे कहा कि यदि दूसरे दर्जे का किराया ५५ की जगह ६० पौंड होता तो भी मैं प्रसन्नता से देकर उसी दर्जे से यात्रा करता। परन्तु

जब मामला ऐसा है तब मैं तीसरे दर्जे से ही जाने को तैयार हूँ।

१९ एप्रिल की दोपहर को मुझे सूचना मिली कि २० तारीख़ को चलनेवाले एड्रियाटिक नाम के जहाज़ में थर्ड क्लास में मुझे जगह मिल गई है। सौथम्पटन से मैं अमरीका के लिए प्रस्थान कर सकता हूँ। तुरन्त बोरिया विस्तर उठा कर मैं मान्चस्टर से लंदन को रवाना हुआ। मुझे वहाँ अपने एक मित्र से मिलना था। दस बजे रात को गाड़ी लंदन पहुँची। मेरे मित्र स्टेशन पर ही मिल गये। वे ग्यारह बजे तक मेरे साथ रहे। इसके बाद वे अपने स्थान को चले गये। मुझे दूसरे दिन प्रातः सात बजे की गाड़ी लेनी थी, जो लंदन से सौथम्पटन को जाती थी, इसलिए मैं स्टेशन के पास होटल में ठहर गया।

२० तारीख़ को बारह बजे कई परीक्षाओं में से निकलता हुआ मैं जहाज़ पर चढ़ा। यहाँ एक नया ही दृश्य देखने में आया। जैसे बड़े बड़े शहरों में चिड़िया-घरों में भाँति भाँति के और भिन्न भिन्न रङ्ग के एवं नाना प्रकार की बोली बोलनेवाले पक्षी एकत्र किये जाते हैं, उसी तरह यह जहाज़ भी मनुष्यों का एक चिड़िया-घर था। कोई दस बारह देशों के भिन्न भिन्न जाति के नर-जीव इसमें सङ्ग्रह किये गये थे। न तो उनकी बोली मिलती थी, न पहरावा ही। कोई ग्रीक था, कोई इटेलियन था। कितने ही हंगेरियन थे, एक अच्छी संख्या रोमानियन लोगों की थी। लगभग आधे के यहूदी थे। इसके अतिरिक्त कितने ही ऐसे छोटे छोटे देशों के निवासी थे जिनका नाम तक मैंने कभी नहीं सुना था। भारतीय होने का दावा केवल मैं ही करता था। मेरे सिवा उस जहाज़ पर और कोई भारतीय यात्री नहीं था। इस यात्रा में मुझे जहाँ अनेक कष्ट सहन करने पड़े वहाँ कुछ भिन्न भिन्न देशों के निवासियों का आचार-व्यवहार, रहन-सहन, बोल-चाल आदि जानने का अच्छा अवसर मिल गया। सबसे अधिक आश्चर्य यहूदी जाति की स्त्रियों के पहरावे को देख कर हुआ। उनके पहिरावे में और कलकत्ते की मारवाड़ी स्त्रियों के पहरावे में रत्ती भर का अन्तर नहीं था। वे उसी प्रकार के बड़े घेरदार लहँगे और उसी प्रकार के आभूषण हाथों और कानों में पहने थीं जैसे मारवड़ी स्त्रियाँ पहनती हैं। अन्तर था तो इतना ही कि मुँह पर घूँघट नहीं था। यहूदी लोग अपनी कृपणता के लिए संसार में प्रसिद्ध हैं। उनके साथ रहने का भी अवसर मुझे मिला है। पर इन यहूदी यात्रियों में ऐसे बहुत कम थे जो अँगरेज़ी बोल सकते थे। उनका पहरावा भी अँगरेज़ों से बहुत भिन्न था। उनके कपड़े-लत्ते बहुत ही मैले थे। अपने रंग-ढङ्ग से वे दरिद्रता के पूरे अवतार मालूम पड़ते थे। उनकी लम्बी लम्बी दाढ़ियाँ समुद्र की तीव्र वायु से उड़ उड़ कर पास बैठे हुए यात्रियों के मुख-मण्डल को जब 'साफ़्टब्रश' का काम देने लगती थीं तब यात्रियों के हास्य के लिए ख़ासा अवसर उपस्थित हो जाया करता था। इटली-निवासियों की भी संख्या कुछ कम नहीं थी। इन लोगों का गाना और नाचना बहुत कुछ भारतीय गान और नाच से मिलता-जुलता है।

पहला दिन शान्ति से निकल गया। समुद्र शान्त था। दूसरे दिन प्रातःकाल ही से डेक की दशा भयङ्कर होने लगी। समुद्र की बीमारी का ज़ोर

बढ़ने लगा। जहाँ देखो वहाँ वमन। डेक पर यात्रियों के बैठने के लिए काफ़ी बेंचें नहीं थीं। एक तिहाई यात्रियों के लिए बेंचों पर स्थान नहीं था। सैकड़ों बच्चे और स्त्रियाँ डेक पर ही पड़ जाती थीं। जब चक्कर आता था तब पास ही वमन भी कर देती थीं। बहुत भयङ्कर दृश्य था। यह दशा दो दिन रही। तीसरे दिन समुद्र का प्रकोप भी कम हुआ और यात्री भी उसके अभ्यस्त हो गये थे। धीरे धीरे सब लोग स्वास्थ्य-लाभ करने लगे।

२८ एप्रिल को सायङ्काल कोई आठ बजे हमारा जहाज़ अमरीका की स्वतन्त्र-भूमि के दर्शन करता। अतएव उस दिन प्रातःकाल ही से सब यात्रियों के मुख उत्साह और प्रसन्नता से खिल उठे। प्रातःकाल यह हुक्म मिला कि डाक्टर पहले सब लोगों की जाँच करेगा। उसके बाद यदि समय रहेगा तो तीसरे दर्जे के यात्री उतार दिये जायँगे। जाँच का समय सवेरे सात बजे निश्चय हुआ था, परन्तु डाक्टर साहब साढ़े नौ बजे तशरीफ़ लाये। हम लोगों का निरीक्षण ढाई बजे तक होता रहा। बहुत से यहूदी और इटली-निवासी मैले होने के कारण रोक लिये गये। जहाज़ चार बजे के लगभग बन्दरगाह में पहुँचा। पहले और दूसरे दर्जे के यात्री उतर गये। तीसरे दर्जे के यात्रियों को ये आज्ञायें दी गईं—उनको रात में गरम पानी से स्नान करना पड़ेगा। जो कपड़े वे पहने हैं वे सब मशीन में धोये जायँगे, अतएव जब तक कपड़े न मिलें तब तक कम्बल लपेट कर गुज़र की जाय और सब सामान बाहर डेक पर निकाल कर रख दिया जाय। स्नान के बाद कोई आदमी केबिन में न जा सकेगा।

हम लोगों का स्नान-कार्य रात के तीन बजे तक समाप्त न हो सका। जो कपड़े धुल कर मिले वे ऐसे मसल गये थे कि पहनने के योग्य न रह गये थे। विवश होकर उन्हीं को पहनना पड़ा। ढाई बजे रात को अपना अपना सामान उठा कर हम लोग जहाज़ से नीचे उतरे। कोई आधा मील पैदल चलने के बाद हम लोग एक बड़े कमरे में पहुँचाये गये। यहाँ फूस के गद्दे पड़े थे। उन्हीं पर किसी तरह उलटे सीधे पड़ कर रात काटी, किन्तु इस बात की चिन्ता बढ़ रही थी कि देखें कल क्या होता है। दिन भर कुछ भी खाने को न मिला था और रात में सोना भी न नसीब हुआ। जैसे तैसे सवेरा हुआ। चाय और डबल रोटी के कुछ टुकड़े खाने को मिले। उसके बाद अपना सामान उठा कर चुङ्गीघर पहुँचे। यहाँ सामान की तलाशी हुई। यह प्रक्रिया समाप्त होने के बाद आज्ञा हुई कि सब यात्रियों को 'एलिस आइलेंड' जाना होगा। वहाँ फिर डाक्टरी परीक्षा होगी। एक दूसरे छोटे बोट पर सब यात्री सवार हुए और पौन घण्टे में एलिस आइलेंड जा पहुँचे। न्यूयार्क से कोई डेढ़ दो मील के अन्तर पर समुद्र में छोटे छोटे तीन द्वीप हैं। यही एलिस आइलेंड कहलाते हैं। इन्हीं में से एक द्वीप में एमीग्रेशन बोर्ड का दफ़्तर है। इसमें प्रायः तीसरे दर्जे के सब यात्रियों को आना पड़ता है। यहाँ उनकी फिर डाक्टरी होती है। इसके सिवा उन्हें कई एक दफ़्तरों में हाज़िर होना पड़ता है। वहाँ उनसे भिन्न भिन्न प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं। अन्त में Immigration Authorities के दफ़्तर में जाना पड़ता है। यहाँ की परीक्षा में उत्तीर्ण होना ज़रा टेढ़ी खीर है। जो यहाँ से पार हो गया उसको न्यूयार्क में उतरने की आज्ञा मिल जाती है। जो अनुत्तीर्ण

हुआ उसे अपना सा मुँह लेकर वापिस लौटना पड़ता है। जिन यात्रियों का मामला विचाराधीन कर दिया जाता है उनको इसी द्वीप में एक दिन से लेकर एक एक बरस तक पड़ा रहना पड़ता है। ईश्वर न करे किसी आदमी को यहाँ एक दिन भी रहने का अवसर प्राप्त हो। इस स्थान को निरपराधियों का जेल समझना चाहिए। यहाँ के लोग यात्रियों के साथ पशुओं से भी बुरा व्यवहार करते हैं। निस्सन्देह यहाँ हर जगह ऐसे साइनबोर्ड लगे हुए हैं जिन पर बड़े बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है कि "Immigrants are treated with civility and kindness." परन्तु वास्तव में यहाँ के लोगों में मनुष्यता का नाम भी नहीं है। यहाँ के मामूली से मामूली मज़दूर भी पहले और दूसरे दर्जे के बड़े बड़े आदमियों तक के साथ ऐसी बुरी तरह से पेश आते हैं कि जिसका कुछ कहना नहीं। कितने ही यात्रियों को मैंने फूट फूट कर रोते देखा है।

प्रायः डेढ़ दो हज़ार यात्री इस द्वीप में सदा बने रहते हैं। उनके रहने के लिए बड़े बड़े मकान बने हुए हैं। वे दिन में एक बड़े हाल में गिन कर भर दिये जाते हैं और बाहर से ताला लगा दिया जाता है। जब जिसको बुलाना हुआ ताला खोल कर बाहर निकाल लिया और फिर ताला लगा दिया। तीसरे दर्जे के यात्रियों के कमरों में बैठने को जगह नहीं मिलती। जिस कमरे में तीन सौ आदमी भरे हुए हों उसमें दस-पाँच बेंचों से कैसे काम चल सकता है? जिसको मौका मिला वही बैठ गया। बाकी लोग ज़मीन पर पड़े रहते हैं। दूसरे दर्जे के यात्रियों के कमरे में कुछ अधिक बेंचें रख दी जाती हैं, बस इतना ही अन्तर है। सारे यात्री सवेरे सात बजे कमरों में बन्द कर दिये जाते हैं और नाश्ते के लिए साढ़े सात बजे निकाले जाते हैं। खाने को जो मिलता है उसकी कथा न पूछिए। हम जैसे निरामिष भोजियों को कई दिन चाय ही से रोटी खाकर सन्तोष करना पड़ा। जो मांस-भोजी हैं वे भी खाने की रकाबियाँ न छूते थे। नाश्ते के बाद फिर उसी कोठरी में बन्द कर दिये जाते हैं और साढ़े बारह बजे भोजन करने के लिए फिर निकाले जाते हैं। भोजन के उपरान्त कोई पौन घण्टे तक एक बड़े बरामदे में घूमने के लिए आज्ञा दी जाती है। वह बरामदा भी चारों ओर लोहे के सीख़चों से घिरा होता है। इस वायु-सेवन के बाद फिर वही कमरा हम लोगों का आश्रय-स्थल बनता था। सायङ्काल चार बजे चाय और रोटी खाने को मिलती है, सात बजे सायङ्काल फिर गिनती होती है और सोने के कमरों में भेजे जाते हैं। यहाँ सिर्फ़ दो कम्बल मिलते हैं। एक ऊपर ओढ़ने को दूसरा बिछाने के लिए। तकिया और चादर का दस्तूर नहीं है। यहाँ के पलँगों पर एक आदमी मुश्किल से सिकुड़ कर एक करवट सो सकता है। प्रातः ६ बजे से फिर वही कवायद शुरू होती है; सोनेवाले कमरे से निकाल कर दूसरे कमरे में फिर बन्द कर दिये जाते हैं। यहाँ की दुर्दशा अवर्णनीय है।

दूसरा द्वीप उन यात्रियों के लिए है जो कुछ बीमार पाये जाते हैं। तीसरा द्वीप सङ्क्रामक रोगों के रोगियों के लिए है। ईश्वर की कृपा से इन दोनों द्वीपों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मुझे नहीं प्राप्त हुआ।

अच्छा, जब एलिस टापू में आये तब फिर डाक्टरी परीक्षा हुई। इसमें उत्तीर्ण होने के बाद एमीग्रेशन

बोर्ड के सम्मुख उपस्थित किये गये। यहाँ मुझसे अनेक प्रकार के प्रश्न किये गये। मैंने उनका सन्तोष-जनक उत्तर दिया। अन्त में मुझसे पूछा गया कि तुम्हारा कोई मित्र यहाँ है? तुम किसके पास जाकर ठहरोगे? मैंने कहा कि न्यूयार्क में एक हिन्दुस्तान-असोसिएशन है। प्रायः सब हिन्दुस्तानी वहीं जाकर ठहरते हैं। मैं भी वहीं जाऊँगा। उसके सेक्रेटरी के नाम मेरे पास एक पत्र भी है। इस पर उसने कहा कि अच्छा, हम उनको तार देते हैं। जब वे यहाँ आकर तुम्हें छुड़ाने के लिए उपस्थित होंगे तब तुम उनके साथ जा सकोगे। तब तक तुम्हें यहीं रहना होगा।

हिन्दुस्तान-असोसिएशन के मंत्री का पत्र मुझे तीन मई को मिला था। उसमें उन्होंने लिखा था कि हम बहुत शीघ्र आकर तुमको छुड़ा ले जायँगे, परन्तु अत्यन्त शोक से लिखना पड़ता है कि तीन तारीख़ से लेकर १३ तारीख़ तक मुझे कोई छुड़ाने न आया। अन्त में यंगमैन क्रिश्चियन असोसिएशन (Y. M. C. A.) के आदमियों ने आकर मुझे छुड़ाया। जब इस ईसाई संस्था के आदमी ने मुझको अपना आदमी बताया तब मुझे बड़ी लज्जा मालूम हुई। जिनसे हमारा कुछ सम्बन्ध नहीं उनको हमारी इतनी चिन्ता है और जो हमारे देशी भाई हैं वे इतने लापरवाह हैं। जब एलिस टापू की काल-कोठरी से मेरा छुटकारा हुआ तब मैंने ईश्वर को सहस्रों धन्यवाद दिये। यह किसे ज्ञात था कि अमरीका जैसे स्वतन्त्र देश में इतनी परतन्त्रता भोगनी पड़ती है। अस्तु इस बात का भी पूरा अनुभव हो गया।

अपने देश-बन्धुओं से मेरा यह निवेदन है कि जो व्यक्ति अमरीका आना चाहे उसे आगे लिखी हुई बातों की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

१—तीसरे दर्जे में यात्रा कभी न करे।

२—द्रव्य जितना ला सके उतना ही अच्छा है। कम से कम उसके पास तीन हज़ार रुपये होने ही चाहिए।

३—आने से पहले यहाँवालों से अच्छी तरह पत्र-व्यवहार कर ले। यदि विद्यार्थी है तो विश्वविद्यालयों से पत्र-व्यवहार कर रक्खे और उस पत्र-व्यवहार को अपने साथ लेता आवे। यदि व्यापारी है तो उसको पूरे प्रमाण-पत्र रखने चाहिए कि वह व्यापार के लिए आया है।

४—जिनकी आँखें रोग-ग्रस्त हैं उन्हें यहाँ आने का कष्ट न उठाना चाहिए। इसी प्रकार संक्रामक रोग से पीडित लोगों को भी इस देश में आने का यत्न न करना चाहिए, डाक्टरी परीक्षा बहुत सावधानी से होती है।

५—यदि कोई एलिस टापू में पड़ जाय तो उसे चाहिए कि तुरन्त Y. M. C. A. वालों को सूचित करे। वे लोग तुरन्त आकर सब अवस्था पूछते हैं और छुड़ाने का पूरा यत्न करते हैं।

आशा है अन्य भारतीय जो इस देश में आवेंगे इन कठिनाइयों से दुःख न उठावेंगे जो मुझे उठाने पड़े हैं।

एस० बहादुर

मछलियों की प्रकृति और उनके गुणों के विषय में कुछ बातें।

मछलियां भी एक विचित्र जीव हैं। इनका निवासस्थान जल ही है। ये जल-चर जीव हैं और बिना जल ये क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकतीं। "माही बे आब" अथवा "जल बिना मछली" की लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसका कारण यह है कि मछलियों की श्वासेन्द्रियां (Respiratory organs) और श्वास लेने की रीति अन्य जीवों की अपेक्षा भिन्न होती है। अतएव जल के बाहर श्वास की कठिनाई के कारण ये तत्काल मर जाती हैं।

चित्र (१) मछली की श्वासेन्द्रिय।
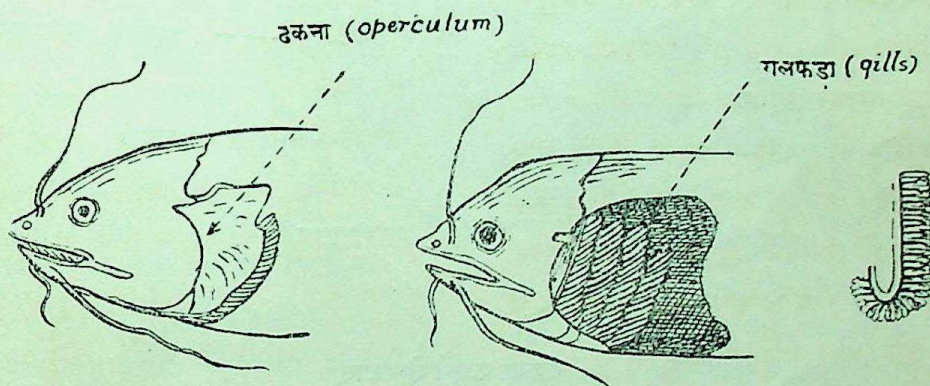
(क) 'ढकने' अपनी असली अवस्था में। (ख) 'ढकने' काटने के पश्चात्। (ग) रक्त से परिपूर्ण गलफड़ा।

बहुधा जीवों में श्वास दो प्रकार के होते हैं :—

(१) एक तो ब्रेन्कायल रिसपिरेशन (Branchial respiration) अर्थात् वह श्वास जो गलफड़े (Gills) के द्वारा ली जाती है। यह साधारण मछलियों में होती है।

(२) दूसरी पलमोनरी रिसपिरेशन (Pulmonary respiration) अर्थात् वह श्वास जो फेफड़े के द्वारा ली जाती है। यह कछुआ, घड़ियाल, खरगोश, मनुष्य इत्यादि में पाई जाती है।

मछलियों की श्वासेन्द्रियां अर्थात् गलफड़े सिर के दोनों ओर होते हैं। प्रत्येक ओर के गलफड़े गिनती में ४ वा ५ होते हैं। अर्थात् दोनों ओर के मिला कर वे कुछ ८ वा १० के लगभग होते हैं। ये एक ढकने से दोनों ओर ढके रहते हैं (चित्र सं० १ क)। गलफड़े रक्त की नाड़ियों और नसों से व्याप्त होते हैं। इस कारण इनका भी रंग लाल होता है। (चित्र सं० १ ग) जब मछली श्वास लेने लगती है तब उसके गलफड़ों के ढकने बार बार खुलते और बन्द होते हैं। इस क्रिया के कारण मछली के कण्ठ में जल पहुँच जाता है और उससे दोनों तरफ़ के गलफड़े खूब तर रहते हैं।

श्वास के विषय में भी कुछ वर्णन करना आवश्यक है। वह क्या वस्तु है, इसका भी उल्लेख कर देना ज़रूरी है आक्सिजन वायु को कारबनद्वियोजन (Carbon dioxide) के बदले में लेना ही श्वास कहलाता है। आक्सिजन वायु और जल में होता है और वह प्राण के लिए अमूल्य पदार्थ है। इसके बिना सांसारिक जीव कभी जीवित नहीं रह सकते और न उनका स्वास्थ्य ही ठीक रह सकता है। कारबनद्वियोजन एक विषैला वायु है। शरीर में इसकी अधिक मात्रा का होना हानिकारक है। यह विषैला वायु रक्त की नाड़ियों तथा नसों में जीवों के खाद्य पदार्थ से उत्पन्न होता है। ऊपर लिखा जा चुका है कि मछली के गलफड़े में रक्त की नाड़ियां तथा नसें होती हैं और वे जल से तर रहती हैं। फलतः रक्त में आक्सिजन का शोषण हो जाता है और रक्त का विषैला वायु अर्थात् कारबनद्वियो-

जन जल में सम्मिलित हो जाता है। मछलियां इसी रीति से श्वास लेती हैं।

फेफड़ेवाले जीव जिस प्रकार श्वास लेते हैं वह इस तरह है। इन जीवों में प्रायः ऐसे भी हैं जो जल-निवासी हैं। कछुआ, घड़ियाल, ह्वेल इत्यादि इसी श्रेणी के जीव हैं। श्वास लेने के समय ये जीव अपना सिर जल से बाहर निकालते हैं और वायु को नासिका के द्वारा भीतर खींचते हैं। इस तरह वायु उनके फेफड़ों में पहुँच जाता है और उसके आक्सिजन का शोषण फेफड़े की नाड़ियों तथा नसों में हो जाता है। इनकी नासिका में दो छिद्र बाहर और दो भीतर होते हैं। पर इनकी अपेक्षा मछलियों की नासिका में केवल बाहर ही छिद्र होते हैं। मछली की नासिका श्वास के समय कुछ काम नहीं करती। वह केवल सूँघने का काम करती है। फेफड़ेवाले जीवों की अपेक्षा मछली अपनी श्वासेन्द्रियों की बनावट की विचित्रता के कारण जल के बाहर जीवित नहीं रह सकती। वह केवल जल ही के द्वारा आक्सिजन ग्रहण करने में समर्थ होती है।
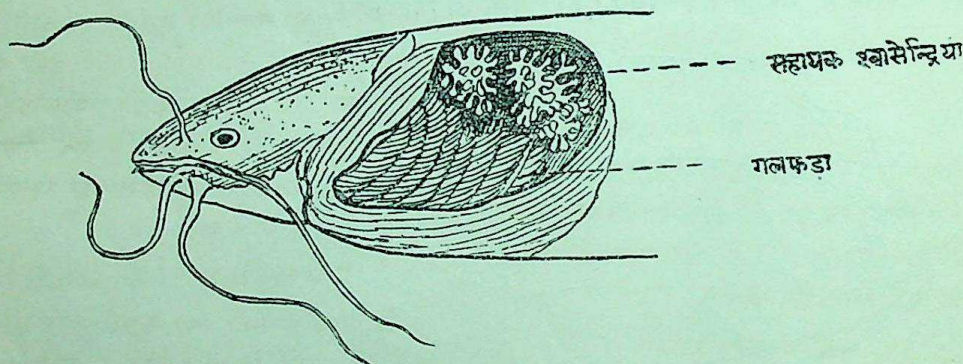
अन्य मछलियों की श्वासेन्द्रियाँ।

ऐसी जाति की भी मछलियाँ होती हैं जो जल के बाहर बहुत देर तक जीवित रहती हैं। इसका क्या कारण है? इन मछलियों में केवल गलफड़े ही नहीं होते, किन्तु इनके अतिरिक्त और प्रकार की श्वासेन्द्रियाँ होती हैं। इनको "सहायक श्वासेन्द्रियाँ" कहते हैं। मगुरी, सौरी, सींग, कोंई, कछिया आदि जाति की मछलियों में सहायक श्वासेन्द्रियाँ होती हैं। ये मछलियाँ बहुधा अपने प्राकृतिक स्थान जल को छोड़ कर भूमि पर भी निवास करती हैं और "सहायक श्वासेन्द्रियों" के द्वारा श्वास लेती हैं। इस कारण ये जल के बाहर भी जीवित रहती हैं। इन मछलियों की प्रत्येक जाति का रूप तथा उनकी बनावट विभिन्न प्रकार की होती है।

यहाँ हम केवल मगुरी और सींग की श्वासेन्द्रियों का वर्णन करते हैं। मगुरी में ये इन्द्रियाँ गलफड़े के ऊपर के स्थान में होती हैं और घने वृक्ष के समान शरीर के दोनों ओर लगी रहती हैं। (चित्र सं० २) रक्त की नाड़ियों से परिपूर्ण होने के कारण इनका भी रंग लाल होता है। सींग की सहायक श्वासेन्द्रियाँ थैले के समान होती हैं। ये गिनती में दो होती हैं और इनकी लम्बाई मछली की शरीर की लम्बाई की आधी होती हैं। ये शरीर के दोनों ओर मांस-पेशियों में घसी रहती हैं। इनका रंग सफ़ेद होता है। सहायक श्वासेन्द्रियों के कारण कोई मछली मिट्टी के ख़ाली बरतन में भी कई दिन तक जीवित रहती है।

चित्र (२) 'मगरी' मछली के श्वासेन्द्रिय का

ढकना काटने के पश्चात्

लन्दन के एक प्रसिद्ध पशु-विद्याविद् हिकसन साहब का कथन है कि पेरियोपथैलमस (Periopthalmus) जाति की मछली पूँछ के द्वारा श्वास लेती है। यह मछली समुद्र-तट पर बहुधा जल के बाहर बैठी रहती है, पर इसकी पूँछ जल के भीतर ही डूबी रहती है। हेडन साहब ने उस मछली के विषय में परीक्षा द्वारा यह निश्चय किया है कि जल के बाहर उसके गलफड़े श्वास-क्रिया का कुछ कार्य नहीं करते और पूँछ रक्त की नाड़ियों

से पूर्ण तथा अधिक रक्त वर्ण की होने के कारण श्वासेन्द्रियों का कार्य करती है। हमने भी यह विचित्र ढंग टेंगड़े जाति की मछली में देखा है। इस मछली की भी पूँछ रक्त की रगों से खूब सुर्ख़ होती है और इसके शरीर का आधा हिस्सा बहुधा जल से बाहर निकला रहता है। निस्सन्देह यह मछली पूँछ के द्वारा जल से आक्सिजन शोषण करती है।

उपर्युक्त प्रकार की जाति की मछलियाँ अद्भुत प्रकार के जीव हैं। इनके रूप, प्रकृति तथा गुणों को देख कर यही प्रतीत होता है कि ईश्वर ने इन्हें भिन्न भिन्न कार्य्यों के लिए उत्पन्न और नियुक्त किया है। इन्हीं बातों को जानने की चेष्टा वैज्ञानिक लोग सदा किया करते हैं। इन मछलियों की प्रकृति और गुण के कारण इनके विचित्र नाम रक्खे गये हैं। जैसेः—

(१) Climbing perch अर्थात् चढ़नेवाली मछली
(२) Poisonous fish " विषैली मछली
(३) Electric fish " विद्युत् मछली
(४) Phosphorescent fish " जगमगानेवाली मछलियाँ
(५) Flying fish " उड़नेवाली मछली
(६) Cave fish " गुफ़ानिवासी मछली

इन मछलियों का वर्णन हम यहाँ देते हैं।

(१) चढ़नेवाली मछली।

'कोई' एक बहुत प्रसिद्ध 'चढ़नेवाली' मछली है। यह बहुधा अपने जल-मार्ग को छोड़ कर भूमि पर आ जाती है। भारत में यह मछली गङ्गा में साधारणतया मिलती है, पर बङ्गाल की हुगली नदी में अधिकता से होती है। यह कभी कभी यमुना में भी आ पहुँचती है। यह ५ फुट ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाती है। इसके 'आपरक्युलम' (operculum) अर्थात् गलफड़े के 'ढक्कन' के आगे की ओर काँटे होते हैं। ढकने और डेने (fin) के काँटों के द्वारा यह वृक्षों पर चढ़ती है। लोगों ने इसे वृक्षों पर चढ़े हुए प्रायः देखा और पकड़ा है।

(२) विषैली मछलियाँ।

इस जाति की मछलियाँ सर्प के समान विषधर होती हैं। ट्रेकाईनस वाईपेरा (Trachinus Vipera) और ट्रेकाईनस ड्रेको जाति की मछलियाँ ऐसी ही श्रेणी में परिगणित हैं। योरप के भू-मध्यसागर तथा पश्चिमी अफ़्रीका के समुद्र-तट पर ये पाई जाती हैं और भारत-महासागर में भी आ पहुँचती हैं। इनके ढकने तथा ऊपर के काँटे में विष की थैली होती है। ये भयङ्कर मछलियाँ बहुधा जल के छिछले स्थान की रेतियों में दबी पड़ी रहती हैं और स्नान करनेवालों के पैर के नीचे पड़ जाने पर ये उनकी देह में अपने विषैले काँटे चुभो देती हैं। इनके विष के प्रभाव से मनुष्य तथा अन्य जीव बहुधा मर जाते हैं। जो सींग मछली यहाँ तालाबों और नदियों में होती हैं वह भी अपने काँटे (Dorsal fin Spines) से लोगों को कष्ट देती हैं। लोगों का विश्वास है कि यह मछली भी विषधर होती है। बहुधा इसके काँटे के आघात से टिटेनस (Tetanus) नाम का रोग हो जाता है। इसलिए पकड़े जाने के पश्चात् इसके काँटे बहुधा तोड़ दिये जाते हैं। इसकी विषेन्द्रियों का पूरा पता अभी नहीं लगा है। वे हमें भी अन्वेषण करते समय नहीं मिली हैं। सिनेन्सीया विरुकोसा (Synancea Verrucosa) भी एक विषधर मछली होती है। यह भारतीय महा-समुद्र की निवासिनी है और मनुष्य एवं दूसरे जीवों का शत्रु है।

(३) विद्युत् मछली (Electric fish)।

विद्युत्-शक्ति अभी तक केवल मछलियों में ही देखी गई है। सम्भव है कि और जीवों में भी हो। परन्तु अभी तक उनके देह में किसी विशेष विद्युतेन्द्रिय का पता नहीं लगा। निम्न-लिखित जाति की मछलियों में विद्युतेन्द्रियाँ होती हैंः—

(१) गिमनारकस (Gymnarchus) = आफ़्रीका की नील नदी और उसके पश्चिमी भाग में।
(२) मेलाप्टेरियुरस (Malapterurus) = आफ़्रीका की नदियों में।
(३) गिम्नोटस (Gymnotus electricus) = दक्षिण अमरीका की नदियों में।
(४) टारपिडो (Torpedo) = मदरास और बम्बई के समुद्र-तट के निकट; पैसफिक, अटलान्टिक इत्यादि महासागरों में।

इनमें गिम्नोटस जाति की मछली में सबसे प्रबल

विद्यु त्-शक्ति होती है। मेलाप्टेरियुरस एवं टारपिडो में इसकी अपेक्षा कम और शेष मछलियों में और भी कम विद्यु त् होती है। गिम्नोटस ६ फुट लम्बी और मनुष्य की जाँघ के सदृश मोटी होती है। यह बड़ी भयङ्कर होती है। यह मछली केवल थोड़ी ही दूर से मनुष्य एवं पशुओं को अपनी विद्युत्-शक्ति से आकर्षित करके मूर्छित कर देती है। निर्बल जीव तत्काल मर जाते हैं। इसकी विद्युतेन्द्रिय शरीर के पिछले हिस्से में अर्थात् दुम के दोनों ओर होती हैं। (चित्र सं० ३)। अन्य मछलियों में विद्युतेन्द्रिय का स्थान

चित्र (३) गिम्नोटस मछली का

शरीर के भिन्न भिन्न भागों में होता है। इन इन्द्रियों का सम्बन्ध मस्तिष्क के तन्तुओं से होता है। इस कारण वे स्वेच्छानुसार अपनी विद्यु त्-शक्ति का उपयोग करती हैं।

(४) जगमगानेवाली मछलियाँ।

जुगनू की चमक से सभी लोग परिचित हैं। दीप्तेन्द्रियों के होने से वे चमकती हैं। ऐसी ही दीप्तेन्द्रियाँ मछलियों की देह में भी होती हैं, पर ये मछलियाँ केवल गहरे समुद्र में ही निवास करती हैं। इनकी दीप्तेन्द्रियों की संख्या एवं उज्ज्वलता जुगनू की अपेक्षा अधिक होती है। निम्न-लिखित जाति की मछलियों में दीप्तेन्द्रियाँ पाई जाती हैं:—

(१) स्टोमीया बोआ (Stomia boa)
(२) स्कोपीलस बिनोयटी (Scopelus benoite)
(३) ओपोस्टोमीया मिक्रीपनस (Opostomia-micripnus)
(४) मलेकोस्टीयस ईन्डीकस (Malacosteus-indicus)

जगमगानेवाली मछलियां अपना आखेट और जल-विहार बहुधा रात्रि ही में करती हैं। इनकी दीप्तेन्द्रियों का स्थान बहुधा शरीर के दहने और बांये नीचे के हिस्से में होता है, पर ऐसी ही दूसरी जाति की मछलियों में ये इन्द्रियां सिर, तथा ढकने आदि अङ्गों के निकट होती हैं। यहाँ हम केवल स्टोमीयस मछली का चित्र देकर इसकी दीप्तेन्द्रियों का यत्किञ्चित् वर्णन करते हैं। इस मछली की दीप्तेन्द्रियां लगभग २५०-३५० के होती हैं और शरीर के दोनों ओर नीचे के भाग में छोटी छोटी गोल लालटेनों की पङ्क्ति की भाँति पूँछ से लेकर सिर के नीचे के हिस्से तक लगी रहती हैं (चित्र सं० ४)। अपने प्रकाश का

चित्र (४) स्टोमीयस बोआ मछली का
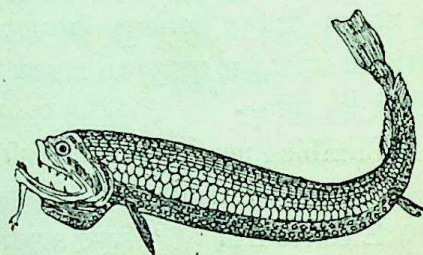
उपयोग यह मछली स्वेच्छापूर्वक करती है; क्योंकि इसकी उन इन्द्रियों का सम्बन्ध मस्तिष्क के तन्तुओं से है। उनसे मछली को बड़ा लाभ तथा सहायता मिलती है। उनके द्वारा यह मछली अपने पीछा करनेवाले शत्रु-जीव को चकाचौंध कर देती है और वे घबड़ा कर इसका पीछा करना छोड़ देते हैं। इसके सिवा छोटी छोटी मछलियाँ उन दीप्तेन्द्रियों के प्रकाश से आकर्षित होकर उसके निकट आजाती हैं और उसका आहार होती हैं।

उड़नेवाली मछलियाँ।

पान्टोडन बुशेलाई (Pontodon buchelli), एक्सोसीटस वोलीटन्स (Exocœtus volitans) और डैक्टाईलोप्टीरस (Dactylopterus) आदि उड़नेवाली मछलियों की प्रसिद्ध जातियाँ हैं। इनमें पान्टोडन तो पश्चिमी अफ़्रीका के कांगो देश की झीलों और नदियों में होती है। एक्सोसीटस एवं डैक्टाईलोप्टीरस योरप, एशिया आदि के बड़े बड़े समुद्रों में मिलती हैं। योरप-यात्रा के समय ये जहाज़ों के निकट उड़ती हुई बहुधा मिलती हैं। ये जल के बाहर हवा में बहुत दूर तक उड़ कर जा सकती

हैं। (चित्र सं० ५)। इनकी छाती के पर साधारण मछलियों की अपेक्षा बड़े बड़े और फैले हुए होते हैं। इनकी श्वास लेने की रीति भी विचित्र होती है। ये उड़ते समय अपना मुँह बहुधा खोलती हैं। इस क्रिया से

चित्र (५) उड़नेवाली मछली का, अपनी उड़ती हुई अवस्था में
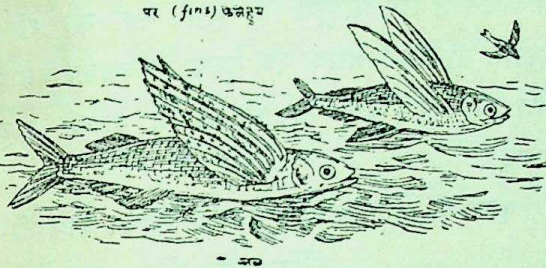
वायु कण्ठ के भीतर (Buccal cavity) जाकर इनके तर गलफड़ों को आक्सिजन से परिपूर्ण करता रहता है।

गुफानिवासी मछलियाँ।

इस जाति की मछलियाँ भूमि के अन्तर्गत चश्मे, दलदल तथा अँधेरी गुफा में रहती हैं। ये छोटी और रङ्गहीन होती हैं। इनके नेत्र भी बहुत छोटे होते हैं। इनमें ऐम्बलियोपसिस (Amblyopsis) और कोलोगस्टर (Chologaster) जाति की मछलियाँ खूब प्रसिद्ध हैं। ऐम्बलियोपसिस उत्तर-अमरीका के मेमथ गुफा (Mammoth Caves) में रहती हैं। सदा अन्धकार में रहने के कारण उनके नेत्र छोटे होते हैं। कोलोगस्टर के नेत्र तथा शरीर का रङ्ग साधारण मछलियों का सा होता है। ये अटलांटिक स्टेट के पाताल की रहनेवाली हैं।

योरप के वैज्ञानिकों ने मछली तथा अन्य जीवों के विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। यही नहीं, वहाँ नित्य इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में नये नये अन्वेषण किये जा रहे हैं। जर्मनी ने इस विषय में सबसे अधिक उच्च स्थान प्राप्त किया है। केवल मत्स्य-विज्ञान पर वहाँ अब तक कोई दस हज़ार ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। वास्तव में मछली की आर्थिक उपयोगिता बहुत ही अधिक है। इसके द्वारा योरप और अमरीका में कई उद्योग-धन्धे चल रहे हैं। देखें हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इन विषयों पर कब चर्चा होती है। अभी तक तो लोगों का ध्यान इस ओर बिलकुल आकृष्ट नहीं हुआ है।

नवलकिशोरसिंह

दान्ते।

टेन साहब ने लिखा है कि साहित्य की समीक्षा से गत सौ वर्षों में जर्मनी और फ्रांस में इतिहास का स्वरूप ही बदल गया। बात यह है कि साहित्य केवल कल्पना का क्रीड़ा-स्थल नहीं है और न वह उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि-मात्र है। वह अपने काल के मानसिक विकास का चित्र है। अतएव साहित्य के प्रकाश से हम अतीतकाल के गह्वर में प्रवेश कर उसका गूढ़ रहस्य जान सकते हैं। मनुष्य के विचार-स्रोत पर ध्यान देने से हमें यह स्पष्ट मालूम होजाता है कि किससे मनुष्यों की कार्य-शक्ति निर्दिष्ट थी। साहित्य की विचार-धारा से इतिहास की घटनाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उससे इतिहास स्पष्ट होता है और इतिहास से उसका रूप स्पष्ट होता है। अतएव जिन कवियों की कृति में विश्व की भावना विद्यमान है उनकी आलोचना करना आवश्यक है। विश्व-कवियों की रचना की आलोचना से दूसरा लाभ यह है कि उससे सत्य का चिरन्तन रूप स्पष्ट होता है। दान्ते इटली का नहीं, विश्व का कवि था। ६०० वर्ष पहले उसने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की थी। उसकी वह रचना देश और काल की सीमा का उल्लङ्घन कर आज तक अक्षय है। इटली ने अभी हाल में उसकी जयन्ती मनाई है और सभी देशों ने उसमें योग दिया। अतएव

यहाँ हम दान्ते और उसके महाकाव्य का संक्षिप्त परिचय देते हैं।

दान्ते का जन्म इटली के फ़्लारेन्स नामक नगर में, सन् १२६५ ईसवी में, हुआ था। दान्ते का पिता, आलघियेरी, एक साधारण स्थिति का गृहस्थ था। दान्ते की माता का नाम बेला था।

जब दान्ते ९ वर्ष का था तब उसने बीट्रिस नाम की एक लड़की को देखा। उस समय वह भी ९ वर्ष की थी। इन दोनों में परस्पर प्रेम होगया। जब दान्ते १८ वर्ष का हुआ तब उसने इसी प्रेम के कारण एक गीति-काव्य की रचना की। यह काव्य इटली में अपूर्व माना जाता है। इसका नाम है वाइटा नूयोभा। अपने बाल्यकाल के प्रेम से दान्ते में जिस नवजीवन का सञ्चार हुआ उसी का परिचय हम उसके इस काव्य में पाते हैं। उसने बीट्रिस को साक्षात् प्रेम माना है और इसी लिए उसके आगमन को उसने देवता का आगमन समझा। परन्तु मानव-जाति से पृथक् होकर भी वह दान्ते के हृदय में स्त्री-रूप में ही विराजमान थी।

फ्लोरेंस का प्रसिद्ध गिरिजाघर।

कुछ लोगों का ख़याल था कि बीट्रिस कवि की कल्पना-मात्र है। परन्तु बोकेशिओ नामक एक लेखक का कथन है कि बीट्रिस सचमुच एक स्त्री थी। साइमन डी बार्डी नामक एक युवक से उसका विवाह हुआ था। २६ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

दान्ते ने बाल्य-काल में अच्छी शिक्षा प्राप्त की। लैटिन और ग्रीक भाषा में वह पूर्ण दक्ष न था, इसलिए उसने प्रचलित भाषा में ही कवि होने की चेष्टा की। होमर और वर्जिल के बाद योरप के कवियों में उसी का नाम लिया जाता है। पहले उसकी कविता का विषय प्रेम था। बीट्रिस की मृत्यु के बाद उसने शोक-काव्य लिखा। इसी समय उसके चरित्र में भी अवनति होने लगी। इसे उसने स्वयं स्वीकार किया है। उसने लिखा है, "तुम्हारे अन्तर्हित होते ही पार्थिव सुखों ने मुझे पथ-भ्रष्ट कर दिया।"

हम कह आये हैं कि सबसे पहले दान्ते ने गीति-काव्य की रचना की। उसने देखा कि लैटिन-भाषा निर्जीव होगई है। सर्व-साधारण में उसका प्रचार नहीं है। जो लैटिन जानते थे वे भी शुष्क शब्द-जाल में पड़े थे। इसी समय इटली के कुछ

कवि फ्रान्स के ट्रुबेडोर नामक गायकों का अनुकरण कर फ्रेंच भाषा में कविता लिखने लगे। परन्तु दान्ते ने उनका अनुसरण नहीं किया। उसने मातृभाषा को ही काव्य की उपयुक्त भाषा मान कर उसी को उन्नत करने की चेष्टा की। उसकी चेष्टा सफल हुई। वाइटानू योभा के बाद उसने कुछ छोटी छोटी कवितायें और लिखीं। उनका भी विषय प्रेम था। दान्ते का कथन था कि वह कविता किसी काम की नहीं जो हृदय से उद्गत न हो और हृदय से कविता का उद्गार हो ही नहीं सकता यदि उसमें

दान्ते के भ्रमण का स्थान।

प्रेम नहीं है। वह प्रेम अशरीरी नहीं था। उसका रूप था, उसमें अतृप्त वासना थी और वासना को पूर्ण करने के लिए अदम्य आकांक्षा थी। अब इन कविताओं की आध्यात्मिक व्याख्या भी की जाती है। कुछ भी हो, इन कविताओं की रचना कर दान्ते ने भाषा को अपने अनुकूल कर लिया। छन्द भी उसने अलग बनाये। इसके बाद उसके प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना हुई।

दान्ते के महाकाव्य का नाम है डिवाइन कामेडी। उसके तीन खण्ड हैं। पहले खण्ड में नरक की कथा है। दूसरे में पापक्षय-भूमि का वर्णन है। तीसरे में स्वर्ग की कथा है। दान्ते ने अपने काव्य को कामेडी कहा है। कामेडी शब्द का मूल अर्थ है ग्राम्य-गीत। दान्ते का महाकाव्य ग्राम्य भाषा में, इटली की साधारण प्रचलित भाषा में, लिखा गया है। यदि हम कामेडी का अर्थ सुखान्त काव्य करें तो भी यह नाम सार्थक होगा, क्योंकि दान्ते का काव्य सुखान्त ही है—पहले अध्याय में नरक, फिर पाप-भोग और पाप-क्षय और अन्त में स्वर्ग। दान्ते का विश्वास था कि कोई मनुष्य कितना भी पापिष्ठ क्यों न हो अन्त में उसका उद्धार होगा ही। विधाता ने मनुष्य के लिए दो साध्य स्थिर रक्खे हैं। एक है इसी जीवन का भोग्य आनन्द। इसी के लिए मनुष्य अपनी क्षमता का प्रयोग करता है और पृथ्वी पर आनन्दधाम की सृष्टि कर सकता है। यह धाम पुरुषार्थ से प्राप्य है। दूसरा है अनन्त जीवन का अनन्त सुख। यह बिना भगवद्दर्शन के लभ्य नहीं है। भगवान् की अशेष कृपा से ही मनुष्य इस दुर्लभ अवस्था को पा सकता है। इसी तत्त्व को समझाने के लिए दान्ते ने अपने महाकाव्य की रचना की। दान्ते ईसाई धर्म का अनुयाई था। वह जन्मान्तर-वाद नहीं मानता था। कर्म के द्वारा कर्म-फल का भोग होता है, यह उसका विश्वास नहीं था। इसी लिए उसने नरक का वर्णन किया।

नरक-वासियों को पाप का ज्ञान नहीं रहता, इसी लिए उनमें पश्चात्ताप का भाव भी उदित नहीं होता। उस समय उत्कट यन्त्रणा-दायक अवस्था में जीवात्मा का अवस्थान रहता है। नरक में जीवात्मा का अहङ्कार दूर नहीं होता। जब उसका अहङ्कार नष्ट हो जाता है तब वह पापक्षय भूमि में प्रविष्ट होता है। उसी का नाम है परगेटरी। यह प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप और अनुशोचना का स्थान है। यहाँ जीवात्मा का कर्म-जन्य मालिन्य दूर होता है और तब वह स्वर्गारोहण करता है। वहाँ भगवान् का सामीप्य प्राप्त कर वह मुक्त हो जाता है। ईसाई-धर्म में सायुज्य और सारूप्य मुक्ति नहीं है। अपने काव्य का नायक स्वयं दान्ते ही है।

महाकाव्य की कथा यह है:—जब दान्ते ३५ वर्ष का हुआ तब वह एक भीषण अरण्य में अपना पथ भूल गया। यह वन था तत्कालीन योरप। उस समय आस्ट्रिया का अधिपति था सम्राट् आलबर्ट। वह विलासी और कर्तव्य-पराङ्मुख था। धर्मकार्य का निरीक्षक था अष्टम बोनीफेस। वह भी लम्पट था। जो मनुष्य को सत्पथ पर ले जा सकते थे वे दोनों ही अयोग्य थे। इसी लिए योरप भीषण अरण्य था। दान्ते भटकता भटकता एक पर्वत के पास पहुँचा। वह पर्वत बड़ा मनोमोहक था। उसका शिखर अरुणोदय से समुज्ज्वल था। वह पर्वत था दान्ते का काल्पनिक पार्थिव स्वर्ग। दान्ते उस पर चढ़ने लगा। इसी समय तीन हिंस्रक जन्तुओं ने उस पर आक्रमण किया। ये थे काम, क्रोध और मोह। इनसे वह लड़ ही रहा था कि लोभ-रूपी वृक ने उस पर पीछे से आकर आक्रमण किया। दान्ते पहाड़ के नीचे गिर पड़ा और छटपटाने लगा। उसी समय वर्जिल ने आकर उसको ज्ञानोपदेश दिया। उससे उसका मोह दूर हुआ और वह अपने उद्धार की चेष्टा करने लगा। तब वह पथ खोजने लगा। सबसे पहले उसने नरक को देखा। इसके बाद वह परगेटरी में पहुँचा। उसके अन्तिम द्वार पर उसने बीट्रिस को देखा। उसके विशुद्ध प्रेम, निस्वार्थ जीवन और पवित्रता के प्रभाव से दान्ते स्वर्ग-राज्य में प्रविष्ट हुआ। इससे दान्ते का यह सिद्धान्त मालूम होता है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ से नरक और प्रायश्चित्त की यन्त्रणा को तो दूर कर सकता है, परन्तु बिना निस्वार्थ प्रेम के वह स्वर्गलाभ नहीं कर सकता। यहीं दान्ते के महाकाव्य का अन्त हुआ है।

दान्ते का नरक मनुष्यों की उस पापमय अवस्था का द्योतक है जब उसमें अनुताप का थोड़ा भी भाव नहीं रहता। जब तक मनुष्य का हृदय पाप की ज्वाला से सन्तप्त नहीं होता तब तक पाप का प्राबल्य पूर्ण-रूप से रहता है। परन्तु जब वह अपने पापाग्नि का ताप पाने लगता है तब उसका प्रायश्चित्त आरम्भ होता है। प्रायश्चित्त से बुद्धि की स्वतन्त्रता प्रकट होती है। पाप से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। प्रायश्चित्त से उसका फिर आविर्भाव होता है। सात पाप प्रधान हैं—दर्प, ईर्ष्या, क्रोध, आलस्य, लोभ, अति भोजन और लम्पटता। ये पाप क्रमशः एक एक कर दूर होते हैं। इस तरह प्रायश्चित्त के सात सोपान हैं। जब सातों पापों का क्षय हो जाता है, जब हम प्रायश्चित्त के अन्तिम सोपान पर पहुँच जाते हैं तब हम स्वर्गारोहण करते हैं। पाण्डवों के स्वर्गारोहण के

समान यदि किसी में किसी भी प्रकार का पाप अवशिष्ट रहा तो वह बीच ही में गिर जाता है, स्वर्ग के द्वार तक नहीं पहुँच सकता।

दान्ते के महाकाव्य के स्वर्ग नामक अन्तिम अध्याय में दो विषयों की आलोचना की गई है, अनन्त और कर्म-साफल्य। नित्य विद्यमानता को ही अनन्त कहते हैं। जहाँ गति नहीं, अपचय और उपचय नहीं, वही अनन्त है। दान्ते को अनन्त का मर्म समझाने के लिए बीट्रिस उसे एक ऐसे देश में ले गई जहाँ दिन और रात्रि का परिवर्तन नहीं होता था। वहीं बीट्रिस ने उसे दिखा कर कहा "देख ग्रह, नक्षत्र और तारागण वहाँ घूम रहे हैं। वहीं त्रिकाल—भूत, भविष्य और वर्तमान—का सम्यक् विकास है। तुम जहाँ हो वहाँ काल का परिणाम नहीं है। जो काल से अतीत है वही अनन्त है।" दूसरी बात है कर्म-साफल्य। फल-प्राप्ति क्या है। जब मनुष्य की इच्छा भगवान् की इच्छा में पूर्ण रूप से मिल जाती है तब जीवन का फल मिल जाता है। कहा भी गया है, To see God is to see as God sees भगवान् को उसी दृष्टि से देखना होगा जिस दृष्टि से भगवान् संसार को देखते हैं। यही दान्ते के महाकाव्य का विषय है।

फ्लारेन्स का म्यूनीसिपल पैलेस।

दान्ते केवल कवि नहीं था। वह राजनीतिज्ञ भी था। योद्धा के भेष में उसे युद्ध-भूमि में भी उतरना पड़ा। सन् १२८९ में वह कम्पोनडिना के युद्ध में

सम्मिलित हुआ था। इस युद्ध में .फ्लारेन्सवासियों ने विजय प्राप्त किया था। अपने नगर के राजनैतिक-क्षेत्र में दान्ते को काम करना ही पड़ता था। एक बार दान्ते का दल पराजित हुआ। तब उसे निर्वासन-दण्ड मिला। दान्ते के लिए यह निर्वासन-काल बड़ा ही कष्ट-दायक था। परन्तु उसने धैर्य-पूर्वक यह दण्ड सहा। एक बार उसे .फ्लारेन्स लौट आने का अवसर मिला। .फ्लारेन्स की एक प्राचीन प्रणाली यह थी कि सेन्ट जान के दिवस में जो निर्वासित अपराधी हाथ में मशाल लेकर गिरजाघर तक श्रेणी-बद्ध होकर जाते थे वे दण्ड-मुक्त हो जाते थे। पर दान्ते ने इस रीति से क्षमा पाना अस्वीकार किया। सन् १३२१ में उसकी मृत्यु होगई।

दान्ते ने अपने जीवन-काल में भाग्य-चक्र का ख़ूब अनुभव किया। उसने कष्ट भी ख़ूब सहे। परन्तु संसार की ज्वाला ने दान्ते की कीर्ति को उज्ज्वल ही किया।

जीवन-मन्थन से जो निकला विष वह उसने पान किया।
और अमृत जो बाहर आया उसे जगत को दान दिया॥

गङ्गाधरलाल श्रीवास्तव

निषिद्ध फल।

(३)

हेमन्त अब जल्दी जल्दी पैर बढ़ाता हुआ अपने बाग़ के पिछवाड़े के रास्ते की ओर लपका। कुछ पास आजाने पर उसने अपनी चाल ज़रा धीमी कर दी। रास्ता जहाँ से मुड़ कर बाग़ की ओर गया है वहाँ हेमन्त को एक काँस्टेबल मिला जो एक मकान के चबूतरे पर, कम्बल का ओवर कोट पहने, बैठा बैठा सिगरेट पी रहा था। चोर का मन है—हेमन्त कनखियों से उसकी ओर देखता चला गया।

उस मोड़ पर जो लालटेन लगी थी उसका उजेला बाग़ की दीवार पर कुछ दूर तक था। इसके बाद था अन्धकार ही अन्धकार। हेमन्त ने सोचा, इसी अँधेरे अंश में कहीं सुभीता देख कर दीवार को लाँघना होगा।

कई वर्ष तक उसने जिमनास्टिक की थी, और अब भी नियम से .फुटबाल खेलता है—उसके हाथ-पैरों में ख़ासी ताक़त है। दीवार लाँघने के योग्य कोई स्थान वह ढूँढ़ने लगा।

इसी समय दूर किसी के पैरों की आहट मिली। अतएव कुछ इन्तज़ारी करनी पड़ी। अब एक ही स्थान पर खड़ा रहे तो काम बिगड़ा जाता है। जिस ओर से किसी के आने की आहट आ रही थी उसी ओर वह भी बढ़ने लगा। आगे बढ़ कर देखा कि कोई दूकानदार या मिस्त्री उसके पास होकर चला गया।

हेमन्त फिर पीछे मुड़ा। जिस स्थान को उसने दीवार फाँदने के उपयुक्त समझा उसके दूसरी ओर बाग़ में जमरूल का पेड़ है। उसने सोचा कि घेरे की दीवार से उछल कर पेड़ की डाल पकड़ लूँगा और फिर मज़े में बाग़ में उतर जाऊँगा।

बड़ी मिहनत से हेमन्त दीवार पर चढ़ा। चढ़ते समय उसके घुटने छिल गये। कुहनी में भी चोट आगई। अहा! कवियों ने बिलकुल ठीक कहा है कि प्रेम का पन्थ चिकना नहीं है।

घेरे की दीवार पर बैठ कर, वृक्ष की शाखा को पकड़ने के लिए हेमन्त ने हाथ फैलाया, किन्तु

कोई शाखा हाथ न आई। एक तो योंही अँधेरा था, उस पर डाल-पत्तों ने और भी घना अँधेरा कर रक्खा था। उसी अँधेरे में काली काली शाखाएँ छिपी हुई थीं।

अब हेमन्त किसी तरह प्राचीर पर खड़ा हो गया। हाथ फैलाये, पर कोई डाल हाथ न आई।

अब और एक व्यक्ति के पैरों की आहट मिली। हेमन्त ने सोचा कि जो प्राचीर पर ही खड़ा रहता हूँ तो यहाँ से निकलनेवाला मनुष्य अवश्य ही मुझे देख लेगा; अतएव यहाँ अँधेरे में चुपके से बैठ रहने में ही भलाई है। बैठते समय प्राचीर के सिरे से ज़रा सा चूना नीचे गिर पड़ा।

जो मनुष्य आ रहा था वह इस शब्द को सुन-कर ठिठक गया। उसने सोचा, जमरूल गिरा है। वह इसी महल्ले में रहता है। उसने पहले भी यहाँ से जमरूल उठा कर चक्खे हैं। नीचे जमरूल ढूँढते ढूँढते उसने जो ऊपर देखा तो "बाप रे चोर है!" कह कर भगदड़ मचा दी।

उसकी यह हिम्मत देख कर हेमन्त को हँसी आई। किन्तु तुरन्त ही भय का भी कारण उपस्थित हुआ। उसने सुना, मोड़ पर कोई कह रहा है—कौन है? क्या है रे?

कम्पित स्वर—एक चोर है जमादार साहब।

"कहाँ है, बताओ।"

"वहाँ। मित्तिर बाबू के बाग़ की दीवार पर एक चोर बैठा है। बैठा बैठा मज़े में जमरूल खा रहा है।"

यह सुनते ही सिपाही ने "जोड़ीदार हो" की भीषण आवाज़ दी।

प्राचीर पर बैठे बैठे हेमन्त ने इस घटना को योंही समझा। किन्तु लहमे भर में ही सुन पड़ी दौड़ते हुए लोगों के देशी जूते की आवाज़। बुल्स-आई लालटेन की साफ़ रोशनी भी सड़क पर दीख पड़ी।

तब, निरुपाय होकर, हेमन्त बाग़ में कूद पड़ा। नीचे कुछ टूटी हुई ईंटें पड़ी थीं। उनके कारण हेमन्त की देह में जगह जगह पर चोट लग गई।

पुलिस का सिपाही दौड़ता दौड़ता ठीक वहीं आगया। दीवार और पेड़ को लालटेन की रोशनी में ख़ूब देख-भाल कर वह फिर दौड़ता हुआ लौट गया।

अब हेमन्त धीरे धीरे उठ कर खड़ा हुआ। मकान की ओर नज़र उठा कर देखा, दो मञ्ज़िले के एक जँगले से मामूली उजेला दीख रहा है। और सारे जँगले बिलकुल बन्द हैं—उनमें अँधेरा है।

हेमन्त ने खड़े होकर धोती उतार डाली। वह धोती के नीचे फ़ुटबाल खेलने का पाजामा पहन आया था जो घुटनों तक था। उसने सोचा था कि धोती पहने हुए रस्सी की सीढ़ी पर चढ़ते समय धोती में पैर उलझ सकता है। धोती उतार कर उसने जमरूल के पेड़ पर इस इच्छा से टाँग दी कि जब सवेरे यहाँ से जाने लगूँगा तब पहनता जाऊँगा। कमर में जो अलवान बँधी थी वह ज्यों की त्यों बँधी रहने दी।

इस दशा में हेमन्त जँगले की ओर बढ़ा। कोई फूल का पौदा पैरों तले दब कर कहीं कुचल न जाय, इस आशङ्का से वह, बड़ी सावधानी से, रास्ता ढूँढ़ ढूँढ़ कर आगे बढ़ने लगा।

अभी आधी ही दूर पहुँचा था कि अचानक बाग़ का फाटक खुला। हाथ में लालटेन लिये हुए

तीन-चार आदमियों ने बाग़ में घुस कर कहा—"कहाँ है, जमादार साहब ?" सिपाही बोला—"जमरूल के पेड़ तले था।" अब वे लोग जमरूल के पेड़ की तरफ़ बढ़ चले।

हेमन्त एक पेड़ की ओट में खड़ा होगया। गले का स्वर पहचानने से उसको मालूम हुआ कि घर का जमादार महावीरसिंह दो दरबानों समेत कॉंस्टेबल के साथ आया है।

कुछ दूर जाकर महावीरसिंह ने कहा—कोई तो नहीं जान पड़ता है।

सिपाही बोला—तो क्या भाग निकला ? हमने तो उसे अपनी आँखों कूदते देखा है। क्षण भर में ही "वह क्या है, वह क्या है" कहते हुए सभी जमरूल के पेड़ की ओर बढ़े। देखा कि पेड़ की शाखा से हेमन्त की जो सफ़ेद धोती लटक रही थी उस पर लालटेन की रोशनी पड़ी। यह देख कर, इस विपत्ति में फँसे रहने पर भी, हेमन्त को मिनिट भर के लिए हँसी आगई।

"लेना है, पकड़ लिया है चोर को"—कह कर हल्ला मचाते हुए वे लोग उस धोती की ओर लपके। पास पहुँच कर उन लोगों ने कहा—धत्तेरे की, यह तो ख़ाली धोती है। धोती को पेड़ से निकाल कर वे लोग भली भाँति जाँचने लगे।

इसी समय दोमञ्ज़िले का एक और जँगला खुल गया, उसमें होकर प्रकाश फैलने लगा। राय बहादुर के गले के आवाज़ थी—महावीरसिंह, क्या है ?

कॉंस्टेबल आदि ने वहीं से चिल्ला कर कहा—हुज़ूर, बग़ीचे में चोर घुसा है।

राय बहादुर—ढूँढ़ कर गिरफ़्तार कर लो।

तब वे लोग लालटेन लेकर बाग़ में चोर को खोजने लगे।

हेमन्त ने देखा, बड़ी विपत्ति है। वे लोग ढूँढ़ते ढूँढ़ते यहीं आ जायँगे। अब क्या करूँ ? भागना चाहूँ तो दीवार फाँदने के सिवा और रास्ता नहीं। उसने जूते उतार डाले। सिपाही और दरबान आदि बाग़ में भीतर जाने लगे और इधर हेमन्त पेड़ों की ओट ही ओट में बाग़ की दीवार की ओर बढ़ने लगा।

ज़रा ही देर में एक आदमी चिल्ला उठा—"वह साला भागा जाता है!"—वहाँ बाग़ में एक नक़ली पहाड़ी बनी थी। हेमन्त ने एक पत्थर उठा कर उन लोगों की ओर बड़े ज़ोर से फेंका।

"अरे बाप रे बाप—जान गई" कह कर एक आदमी कराहने लगा।

राय बहादुर—क्या हुआ रे ?

इसी समय वहाँ और भी दो-तीन पत्थर गिरे। आदमी इधर-उधर हट गये। राय बहादुर को उत्तर दिया—हुज़ूर, पत्थर से महावीरसिंह की खोपड़ी फोड़ दी है।

"अच्छा, ठहरो; हम बन्दूक़ निकालते हैं"—कह कर राय बहादुर ने फट से जँगला बन्द कर लिया।

हेमन्त ने देखा कि अब प्राचीर के पास पहुँचना सरल काम नहीं; रानी के शयनागार का जँगला, प्राचीर की अपेक्षा समीप है। किसी प्रकार यदि उस जँगले की ओर पहुँच सकूँ तो उसी निसेनी पर चढ़-कर ऊपर पहुँच जाऊँ—फिर ये लोग बाग़ीचे में सिर मारा करें, और पिताजी दनादन बन्दूक़ों की बाढ़ दागा करें। यह सोच कर वह वृक्षों की आड़ में

छिपता छिपता जँगले के समीप पहुँच गया। फिर निसेनी को पकड़ कर ऊपर चढ़ने लगा।

जब वह आधी ऊँचाई पर चढ़ गया तब खिड़की से दन से बन्दूक़ दागी गई। एक नौकर हाथ में लालटेन लिये था, उसके साथ राय बहादुर ने बाग़ीचे में प्रवेश किया। बहू के जँगले की ओर नज़र पड़ते ही उन्होंने ज़ोर से आवाज़ दी—कौन है रे?

बात की बात में हेमन्त जँगले में पहुँच गया। भीतर पहुँच कर उसने तुरन्त ही निसेनी को खींच कर किवाड़ बन्द कर लिये।

राय बहादुर ने आवाज़ दी—"चोर घर में घुस गया—चोर घर में घुस गया। दौड़ो, सब लोग भीतर चलो—उसको पकड़ लो। भागने न पावे।" यह हुक्म देकर वे नौकरों-चाकरों के साथ घर में गये। आदमी आँगन में सावधानी से डट कर खड़े होगये और वे स्वयं हाथ में बन्दूक़ लिये ऊपर दौड़ते गये। बहू के शयनागार के दरवाज़े पर उन्होंने धक्का दिया।

नौकरनी ने कम्पित करों से दरवाज़ा खोल दिया।

राय बहादुर ने कमरे में जाकर देखा, पुत्र-वधू पृथ्वी पर मूर्च्छित पड़ी है और सिर से पैर तक रज़ाई ओढ़े हुए चोर पलँग पर सो रहा है।

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरे दिन राय बहादुर ने "सामाजिक-समस्या-समाधान" पुस्तक में एक जगह 'चतुर्विंशति' वर्ष शब्द काट कर 'द्वाविंशति' कर दिया और 'षोडश' के स्थान में 'चतुर्दश' बना दिया। यदि कभी पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो तो उसमें ये संशोधित शब्द अवश्य ही रहेंगे।

लल्लीप्रसाद पाण्डेय

क्षुद्र का महत्त्व।

क्षुद्र हूँ, मैं मानता हूँ, क्षुद्र हूँ।
पर इसी से, नाथ, तुम तो हो बड़े॥
गिर पड़ा हूँ, आंज जो गिरता नहीं।
कौन कहता तब भला तुम हो खड़े॥ १॥
जानता हूँ, तुम बड़े निर्दोष हो।
दुष्ट हैं हम, तब तुम्हारा नाम है॥
यदि कभी जग में ज़रा भी तम न हो।
तो भला इस ज्योति का क्या काम है॥ २॥
गर्व है क्या दान देने का तुम्हें?
दान है वह, नाथ, देते हो जभी॥
फूल जो देता वही तो गन्ध है।
रख लिया तो गन्ध वह होगा कभी?॥ ३॥
विश्वपति हो, विश्व है जब तक यहाँ।
कौन सा उपकार तुमने कर दिया॥
तोड़ कर भव-जाल को भी देख लो।
कौन सा अपकार तुमने कर लिया॥ ४॥

द्विजेन्द्र

विविध विषय।

१—नरों के इजलास में नारियों का दावा।

मनुष्य-समुदाय के आदर्श, देश और काल के अनुसार, बदला करते हैं। भिन्न भिन्न देशों और भिन्न भिन्न समाजों के आदर्श बहुधा भिन्न भिन्न होते हैं। योरप की बहू-बेटियाँ ग़ैरों के साथ, रात के दस बजे तक, मज़े में बाहर सैर-सपाटा कर सकती हैं। अपने देश में ग़ैरों से बात-चीत करना तक मना है। एक बात और भी है। वह है—यथा राजा तथा प्रजा—की बात। राजा के आचार-व्यवहार की नक़ल प्रजा भी करती है। हिन्दुस्तान में राज्य है अँगरेज़ों का। फल यह हुआ है कि हर बात में हम लोग उन्हीं की नक़ल करने दौड़ते हैं। वे सर्द मुल्क के निवासी हैं। उनके देश में बेहद

बर्फ़ गिरती है। इससे वे लोग चार चार पाँच पाँच मोटे मोटे कपड़ों से सदा अपना बदन ढके रहते हैं। ऐसा करने की उन्हें ज़रूरत है; हिन्दुस्तान में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों को नहीं, क्योंकि यह देश शीत-प्रधान नहीं। तथापि अँगरेज़ों की नक़ल करने के पीछे हिन्दुस्तानियों का एक बहुत बड़ा समुदाय यहाँ तक दीवाना हो रहा है कि जेठ-बैशाख में भी चार चार कपड़े शरीर पर लाद कर पसीने से सराबोर हुआ करता है। इस नक़्क़ाली की भी कुछ हद है! आराम की परवा नहीं, परवा है सिर्फ़ राजा के देशवासियों के पहनावे की नक़ल की! इस नक़्क़ाली के दौर दौरे ने हिन्दुस्तानी स्त्रियों पर भी छापा मारा है। वे अब, इँगलिस्तान की स्त्रियों की तरह, "वोट" देने का अधिकार माँग रही हैं।

हमारी पुरानी पुस्तकों में स्त्रियों को अबला और असूर्य्यम्पश्या की उपाधियाँ दी गई हैं। जिनमें बल नहीं वे अबला और जिन्हें सूर्य-बिम्ब देखने को नसीब नहीं, अर्थात् जो मकान की चहारदीवारी के भीतर बन्द रहती हैं, वे असूर्य्यम्पश्या कहाती हैं। किसी समय कुलाङ्गनाओं का असूर्य्यम्पश्या होना बहुत बड़ा गुण समझा जाता था। पर राज्य परिवर्तन होने और समय बदल जाने से वह अब दोष यदि नहीं गिना जाता तो गुण में भी दाख़िल नहीं समझा जाता। अब—"न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"—का ज़माना नहीं। अब स्त्रियों के स्वतन्त्र होने, बाहर निकलने, पुरुषों के सदृश ही काम-काज करने और एक आध बात को छोड़ कर सब बातों में पुरुषों की बराबरी करने का ज़माना है। अँगरेज़ीदाँ लोग—अँगरेज़ों और योरपवालों की नक़ल करनेवाले लोग—अपनी स्त्रियों और लड़कियों को स्कूल-कालेज भेज कर उन्हें सुशिक्षित बनाना समाज की उन्नति के लिए बहुत कल्याणकारी समझते हैं। इस उद्देश की सिद्धि के लिए उन्होंने कहीं कहीं उच्च स्त्री-शिक्षा तक की प्राप्ति सुलभ कर दी है। फल यह हुआ है कि मदरास, बङ्गाल और बम्बई प्रान्तों में सैकड़ों स्त्रियाँ पढ़ लिख कर और ताल ठोंक कर पुरुषों की बराबरी करने को आमादा हो गई हैं। उन्होंने अपने शिक्षादाता नरों के इजलास में बराबरी की प्राप्ति के लिए दावे भी पेश कर दिये हैं। यह देख कर अनेक नर-व्याघ्र घबरा उठे हैं। जो पेड़ उन्होंने लगाये हैं उनके फलों की फ़सल में वे स्त्रियों को हिस्सा नहीं देना चाहते। तरह तरह के बहाने बता कर वे उन्हें उन सुस्वादु फलों के रसास्वादन से वञ्चित रखना चाहते हैं। बङ्गाल की स्त्रियाँ कहती हैं—तुमने हमें शिक्षित बनाया है तो हमें भी "वोट" देने का अधिकार दो। कौंसिलों के मेम्बरों का चुनाव जिस समय होता है उस समय जिस उम्मेदवार को तुम योग्य समझते हो उसी के हक़ में जैसे तुम राय देते हो वैसे ही हमें भी राय देने का अधिकार मिलना चाहिए। सम्भव है, तुम्हारी पसन्द के उम्मेदवार का काम हमारी पसन्द का न हो। इन स्त्रियों के पक्षपाती एक मेम्बर ने उस दिन बङ्गाल के कौंसिल में इस विषय का एक प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। उसने कहा, स्त्रियों को भी "वोट" देने का अधिकार मिलना चाहिए। इस पर प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में घनघोर वाद हुआ; वाद ही नहीं, विवाद तक की भी नौबत आ गई। पर स्त्रियों के दुर्भाग्य से प्रस्ताव-कर्त्ता ने हार खाई; उसका प्रस्ताव बहुमत से रद हो गया। इससे उस प्रान्त के बँगला-पत्रों में तुमुल आन्दोलन हो रहा है। स्त्रियों के पक्षपाती स्त्रियों के दावे को सही और देश के लिए लाभ-जनक सिद्ध कर रहे हैं; और, स्त्रियों के विपक्षी अपनी दलीलों से उस दावे को ग़लत अथवा असामयिक सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं। पहले प्रकार के वक्ताओं और लेखकों की दलीलों के कुछ नमूने लीजिए। स्त्रियाँ कहती हैं—

इस देश के निवासी जैसे पुरुष हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी हैं। पुरुषों के सदृश हमें भी सुख-दुःख का अनुभव होता है। पुरुषों ही के सदृश हम भी समाज का अङ्ग हैं। पुरुष देश का काम करें तो स्त्रियाँ क्यों न करें? पुरुष कहते हैं कि व्यवस्थापक सभा, अर्थात् कौंसिल, के मेम्बर चुनने के लिए पुरुषों में जैसी योग्यता होती है वैसी स्त्रियों में नहीं होती। जब वैसी योग्यता वे प्राप्त कर लेंगी तब उन्हें भी "वोट" देने का अधिकार दे दिया जायगा। इसके उत्तर में स्त्रियों का निवेदन है कि निरक्षर किसान, गाड़ीवान, दुकानदार और फेरीवाले तक "वोट" देने के अधिकारी हो सकते हैं, तो स्त्रियाँ क्यों नहीं? किसे "वोट" देना चाहिए और किसे न देना चाहिए, इसका निश्चय करने की योग्यता जब ऐसे लोगों में भी मान ली गई है तब स्त्रियों में

क्यों नहीं ? स्त्रियों को अयोग्य और अबल ठहरानेवाले पुरुष ही ऐसी निर्बल दलील पेश कर सकते हैं। और देशों की बात जाने दीजिए। हिन्दुस्तान में ही सैकड़ों, हज़ारों स्त्रियां ऐसी हो गई हैं और अब भी हैं जो कितनी ही बातों में पुरुषों के भी कान काटती हैं। स्त्रियों ने वैदिक मन्त्रों की रचना की है; बड़े बड़े काव्य लिख डाले हैं; बड़े बड़े देशों का शासन किया है; पुरुष-योद्धाओं के साथ भीषण युद्ध करके उन्हें परास्त किया है। इस समय भी वे डाक्टरी, मास्टरी और ग्रन्थनिर्मात्री बन कर और बड़ी बड़ी ज़मींदारियों का प्रबन्ध करके पुरुषों को लज्जित कर रही हैं। इन्हीं स्त्रियों के विषय में आप कैसे कह सकते हैं कि कौंसिल के लिए योग्यतम मेम्बर चुनने की योग्यता उनमें नहीं ? अच्छा, अपढ़ स्त्रियों में ऐसी योग्यता न हो तो न सही। पढ़ी हुई, शिक्षित, स्त्रियों को ही तब तक यह अधिकार दीजिए। हज़रत, आपही लोगों ने तो अधिकांश स्त्रियों को अशिक्षित बना दिया है। शिक्षा देने का काम तो आपही का था। फिर क्यों नहीं आपने हम सबको स्कूल भेजा ? अब आप कहने चले हैं, स्त्रियां अशिक्षित हैं; इस कारण उन्हें "वोट" देने का अधिकार न मिलना चाहिए—उलटा चोर कोतवाल को डाँटे।

स्त्रियां गृहिणी हैं। उन्हें घर ही में रहना चाहिए। उन्हें घरही का काम-काज करना और बाल-बच्चे सँभालना चाहिए। वे देश के काम के झंझट में फँस जायँगी तो घर का काम कौन करेगा ? पुरुषों की इस दलील का उत्तर स्त्रियां यह देती हैं कि "वोट" देने के दिन "पोलिङ्ग सेशन" तक जाने और बक्स में काग़ज़ का एक टुकड़ा डाल आने में घंटे दो घंटे से अधिक समय न लगेगा। इतनी देर में न घर उजड़ जायगा और न बाल-बच्चे ही भूखों मर जायँगे। हम महीनों मायके जा रहती हैं तब, अथवा बीमार पड़ी रहती हैं तब, घर क्या आबाद नहीं रहता ?

पर्दानशीन औरतें बाहर निकल कर, हज़ारों आदमियों की भीड़ में, यदि वोट देने जायँगी तो पर्दे की रक्षा न हो सकेगी। इस तरह स्त्रियों को बाहर निकालना पुरुषों के लिए मर जाना है ! उत्तर में बङ्गाली लेडियों (सभ्य महिलाओं) की प्रार्थना है कि जब आपकी सुकुमार कामिनियां हज़ारों की भीड़ चीरती हुई गङ्गा-स्नान करने, विश्वनाथ या कालीजी के दर्शन करने, अथवा तीर्थ-यात्राओं में खुले मुँह कोसों प्रदक्षिणा करने जाती हैं तब आप क्यों नहीं मर जाते ? जाने दीजिए, ये शुष्क दलीलें। हम अपने घर ही पर "वोट" देने का प्रबन्ध आप करा लेंगी; बाहर न निकलेंगी। आप घबराइए नहीं। "वोट" देने का अधिकार किसी तरह दिलाइए तो।

स्त्रियों का कहना है कि हम लोगों में से हज़ारों, लाखों स्त्रियां ऐसी हैं जो ज़मीन की मालगुज़ारी और तरह तरह के टैक्स देती हैं। हमसे वसूल किया गया यह रुपया समुचित रीति से ख़र्च किया जाता है या नहीं, इसकी देख-भाल हम अपने निज के प्रतिनिधियों द्वारा करावेंगी। तुम लोगों से कुछ होने जाने का नहीं। हमारे अनन्त शिशुओं की मृत्यु होती चली जाती है। घर में और पास-पड़ोस की सड़कों पर गन्दगी के ढेर लगे रहते हैं। उनसे बीमारियां फैलती हैं। इन मोटी मोटी त्रुटियों तक को दूर करने की शक्ति तुममें नहीं। स्त्रियों और बच्चों की बीमारियों के इलाज के लिए आज तक तुमने कितने ख़ास ख़ास अस्पताल और दवाख़ाने बनवा दिये अथवा कितने Foundling Hospital (परित्यक्त नवजात शिशुओं के परिपालनालय) खुलवा दिये, जो तुम्हारे ही "वोट" के भरोसे हम बैठी रहें। तुम पर हमारा विश्वास नहीं। रहने दो। हम एक न मानेंगी। "वोट" का अधिकार लेकर छोड़ेंगी। अधिक विघ्न-बाधा उपस्थित करोगे तो याद रक्खो, हम वैसा ही, किम्बहुना उससे भी अधिक, ऊधम मचावेंगी जैसा कि इँगलिस्तान की "सफ़रेजिस्ट" नामक ("वोट" का हक़ हासिल करने की इच्छा रखनेवाली) स्त्रियों ने मचाया था। सो, सावधान !

२—महँगी के कारण।

राजा का धर्म है कि प्रजा की सुख-समृद्धि की वृद्धि न करे तो इसमें कमी भी न आने दे। इस तत्त्व को इस देश की अँगरेज़ी गवर्नमेंट ख़ूब समझती है। औरों के सम्बन्ध में भूल चूक से चाहे वह कुछ शिथिलता भी कर जाय, पर ग़रीब और निःसहाय प्रजा की भूख-प्यास दूर करने के विषय में वह कभी शिथिलता नहीं करती। क्योंकि उसे वह अपनी सन्तति के सदृश समझती है अथवा कम से

कम यह बात वह कहती ज़रूर है । कई साल से इस देश के निवासियों को महँगी—विशेष करके अन्न की महँगी—मारे डालती है। योरप का महाभारत शुरू होने के कुछ ही समय बाद इस महँगी का अवतरण हुआ था । सुरसा सर्पिणी की तरह वह दिन पर दिन बढ़ती ही गई । अब उसकी विभीषिका का यह हाल है कि कहीं कहीं रुपये के ४ सेर तक गेहूँ बिकने लगे हैं; ५ सेर से अधिक तो शायद कहीं भी नहीं । यह देख कर गवर्नमेंट ने अपने एक जनवत्सल अफ़सर, मिलनर ह्वाइट, को आज्ञा दी कि पता तो लगाओ कि इस मनुष्य-मारक महँगी का कारण क्या है । अफ़सर महोदय ने सरकार की इस आज्ञा का पालन करके जो रिपोर्ट पेश की है उसका सारांश सरकार ने अपनी भूखी प्रजा की जानकारी के लिए छपा कर प्रकाशित कर दिया है । उस सारांश का निचोड़ नीचे दिया जाता है—

१९२१ ईसवी में गेहूँ की पैदावार बहुत कम हुई; किसी एक ही दो प्रान्तों में नहीं, सभी कहीं गेहूँ कम पैदा हुआ । कुल फसल ६$\frac{1}{2}$ करोड़ मन के लग भग हुई होगी, अर्थात् फ़ी सदी ३४ मन कम । पंजाब में तो बहुत ही कम गेहूँ पैदा हुआ अर्थात् फ़ी सदी ४० मन कम । अथवा दूसरे शब्दों में ४ करोड़ मन कम । अपने प्रान्त का नम्बर, इस कमी में, दूसरा रहा । यहाँ १$\frac{3}{4}$ करोड़ मन गेहूँ कम पैदा हुआ । यह कमी फ़ी सदी २१ के बराबर समझना चाहिए, फल यह हुआ कि जो पंजाब इस प्रान्त को गेहूँ भेजता था वही उलटा यहाँ से मँगाने लगा । १९२१ में पंजाब ने भेजा तो ७६,००० मन गेहूँ; पर संयुक्त-प्रान्त से मँगाया उसने ४$\frac{1}{10}$ लाख मन से भी अधिक । यह हिसाब केवल अप्रेल, मई और जून २१ का है । जुलाई और अगस्त में तो पंजाब ने संयुक्त-प्रान्त से और भी अधिक गेहूँ खींच लिया । इतना चालान यहाँ से पहले कभी नहीं हुआ था । अब सवाल यह है कि अपने प्रान्त में जब गेहूँ की पैदावार २१ फ़ी सदी कम हुई थी तब इतना गेहूँ गवर्नमेंट ने यहाँ से पंजाब को जाने क्यों दिया । जिसके घर में अपने ही खाने के लिए लाले पड़े होते हैं वह क्या दूसरों के हाथ अपनी रोटियाँ बेचने जाता है ? कहाँ से किस चीज़ का चालान कितना होता है और कौन चीज़ कहाँ कितनी पैदा हुई है, इसका हिसाब सरकार रखती है । फिर क्यों उसने ऐसा होने दिया ? पर इसका कोई उत्तर सरकार के प्रकाशित "सारांश" में नहीं । उसका कहना तो यह है कि संयुक्त-प्रान्त ने पंजाब ही को गेहूँ नहीं भेजा; बम्बई और अहमदनगर आदि नगरों को भी ख़ूब चालान किया, क्योंकि वहाँ भी गेहूँ की फ़सल बहुत कुछ मारी गई थी । पर ये चालान इसी देशवालों के ख़र्च के लिए हुए हैं,—सरकारी मुलाज़िमों और फ़ौजों के ख़र्च के लिए नहीं हुए । कराची को कुछ गेहूँ ज़रूर गया है; पर बहुत थोड़ा—बहुत ही थोड़ा ।

अतएव इस प्रान्त में गेहूँ की महँगी के कारण हुए—

(१) पैदावार में २१ फ़ी सदी की कमी ।

(२) पंजाब से जो गेहूँ आता था उसका प्रायः बिलकुल ही न आना ।

(३) यहाँ से बहुत अधिक गेहूँ का चलान और प्रान्तों को होना ।

इसी से इस प्रान्त के खत्ते और बखरियाँ वक़्त के पहले ही ख़ाली होगई । इस दशा में महँगी न हो तो हो क्या । सट्टे के कारण भी गेहूँ गर्रां हो गया । बारिश ज़ियादह हुई; लोग डरे कि कहीं ख़रीफ़ की फ़सल न मारी जाय । महँगी का यह भी एक कारण हुआ । फ़ौज के ख़र्च के लिए आटा और मैदा पीसनेवाली देहली और अम्बाले की आटा-चक्कियों (Flourmills) ने भी बहुत सा गेहूँ ख़रीद डाला । फिर भला गेहूँ क्यों न इतना महँगा होजाय । सरकार के इक़बाल से ख़रीफ़ अच्छी है । ज्वार, बाजरा और धान ख़ूब होगा । इससे सरकार को पूरी उम्मेद है कि बाज़ार में इन चीज़ों के आ जाने पर, भूखों के पेट की आग बुझने लगेगी ।

सरकार ने महँगी के जो ये कारण बताये हैं उसके लिए प्रजा को उसका कृतज्ञ होना चाहिए । यदि वह पहले से ही गेहूँ की आमदनी और रफ़्तनी पर नज़र रखती और, जैसा कि अब हुआ है, अमरीका, कनाडा या आस्ट्रेलिया से थोड़ा सा गेहूँ मँगा देती तो इतना हाहाकार क्यों मचता ।

३—शकर की पैदावार और उसका ख़र्च ।

शकर भारतवर्ष की निज की उपज है । उसका बीज किसी और देश से यहाँ नहीं आया । इस वस्तु के लिए यह देश किसी अन्य देश का ऋणी नहीं । वेदों तक में शकर का

नाम पाया जाता है। हज़ारों वर्ष पूर्व भी यहां शकर होती थी। उसके लिए भारत को किसी और का मुँह न ताकना पड़ता था। अभी ५० वर्ष पहले तक भी यहां मतलब से अधिक शकर बनाई जाती थी। उससे इस देश का भी काम चलता था और दूसरे देशों को भी उसका चालान होता था।

पर समय ने पलटा खाया। और देशों ने सुषुप्ति छोड़ी; वे जागे। उन्होंने भी गन्ना बोना शुरू किया। बड़े बड़े कारख़ाने खुल गये। कलों की सहायता से शकर बनने लगी। जर्मनी ने तो चुकन्दर से शकर बनाने की तरकीब ढूँढ़ निकाली और करोड़ों मन शकर बना कर, बहुत सस्ते दामों पर, उसका चालान आरम्भ कर दिया। नतीजा यह हुआ कि भारत की शकर के व्यापार को धक्का लगा और उस धक्के का बल बढ़ता ही गया। विक्रमादित्य और शालिवाहन के समय में लकड़ी का जो कोल्हू चलता था वही यहां अब तक चलता रहा। शकर बनाने की तरकीब भी वही पुरानी जारी रही। इस दशा में भारत और देशों का मुक़ाबला कैसे कर सकता? विदेशी शकर सस्ती पड़ने लगी; देश की बनी महँगी! गवर्नमेंट यदि लोगों को मार्ग दिखा कर शकर के कारख़ाने खुलवाती और जर्मनी, क्यूबा और जावा आदि में कलों से जैसे शकर बनाई जाती है वैसे ही यहां भी बनाने का प्रबन्ध करती तो बात न बिगड़ती। अथवा यदि वह विदेशी शकर पर कड़ा महसूल ही लगा कर उसका आना रोक देती या कम कर देती तो भी शकर का हमारा व्यवसाय इतना न मारा जाता। पर यह कुछ न हुआ। विदेशी शकर से इस देश के बाज़ार पट गये और अपने देश की शकर का कारोबार बहुत कुछ बरबाद हो गया। जो देश अपनी ज़रूरत पूरी करके दूसरे देशों को शकर भेजता था वही उन दूसरों का मुहताज हो गया। दशा कुछ कुछ वैसी ही हुई जैसी कि कपड़े के व्यवसाय की हुई है। अपने कपड़े से किसी समय भारत औरों का तन ढकता था, पर वही अब लँगोटी के लिए मैनचेस्टर का मुहताज है।

हिसाब लगाने से मालूम हुआ है कि अपने देश में, एक साल में, ५,४०,००,००० मन गुड़ और २,७०,००,००० मन शकर ख़र्च होती है। इस हिसाब का ब्योरा उस दिन बड़े क़ानूनी कौंसिल की एक बैठक में उसके एक मेम्बर महाशय ने पेश किया और कौंसिल को सलाह दी कि गवर्नमेंट से कहिए, वह ईख अधिक बोये जाने के अच्छे सुभीते कर दे। पर, आपकी यह सलाह बातों ही बातों में उड़ गई। कुछ हुआ गया नहीं। अब ज़रा देखिए कि खा तो हम पौने तीन करोड़ मन शकर जाते हैं; पर पैदा करते हैं साल में सिर्फ़ ८,१०,००० मन! यह हिसाब भी उन्हीं पूर्वनिर्दिष्ट मेम्बर साहब का बताया हुआ है। पर इसमें कुछ भूल है, ठीक ठीक हिसाब पूसा के सरकारी कृषि-पत्र (Agricultural Journal) में इस प्रकार दिया गया है। यह हिसाब १९२०-२१ में तैयार की गई शकर का है—

सूबा	पेरी गई ईख का वज़न	तैयार की गई शकर का वज़न
बिहार और उड़ीसा	६५,७७,०८३	४,६५,१००
संयुक्त-प्रान्त	२५,४७,८७१	१,५६,७७७
भारत के अन्य प्रान्त	६,०६.४६१	४७,४१४
मन	९७.३१,४१५	६,६९,२९१

सम्भव है, मेम्बर महाशय ने किसी और साल की पैदावार का हिसाब बताया हो। पर यह हिसाब उन कारख़ानों में तैयार की गई शकर का है जिनमें काम कलों से होता है और जिनमें कटी हुई ईख का रस भी निकाला जाता है। ऐसे कारख़ाने कुल १८ हैं। यथा—

बिहार और उड़ीसे में	९
संयुक्त-प्रान्त में	६
आसाम में	१
मदरास में	२

ये कारख़ाने भी ठीक वैज्ञानिक ढंग से नहीं चलते। किसी किसी कारख़ाने का परता १७ मन ईख में १ मन शकर का पड़ता है; पर किसी किसी का ११ ही मन में १ मन का।

इन कारख़ानों के सिवा पुराने ढंग से जो शकर बनाई जाती है उसका परता तो और भी कम पड़ता है। और, अधिकतर शकर इसी ढंग से तैयार होती है। सोचने की बात है कि पहले तो यहां ईख की काश्त काफ़ी नहीं होती; फिर जो शकर बनती है वह वेदों के ज़माने से जारी हुई

रीति से बनती है। फिर जो कारख़ाने कलों से चलते हैं उनका भी काम सन्तोष-जनक नहीं। यह दुर्भाग्य-परम्परा तो देखिए। ऐसी दुर्गति और दुरवस्था के होते हुए भी उसे दूर करने की यथेष्ट योजना वे लोग नहीं करते जिनको कि करना चाहिए—जिनमें उसे करने की शक्ति है।

१६०४—५ में दुनिया में ३२ करोड़ मन शकर पैदा हुई थी। १६१२-१३ में बढ़ कर वह ४६ करोड़ के लगभग होगई। लड़ाई छिड़ जाने के कारण वह कई साल तक कम तैयार हुई। पर १६२०-२१ में उसकी पैदावार फिर ४६ करोड़ मन के लगभग पहुँच गई। शकर अब नमक, मिर्च, मसाले की तरह से रोज़ाना ख़र्च की चीज़ हो गई है। उसका ख़र्च दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। जिन देशों में जान है वे उसकी पैदावार बढ़ाते जा रहे हैं। जहाँ अब तक ईख की काश्त न होती थी वहाँ भी होने और लाखों मन शकर बनने लगी है। कितने अफ़सोस की बात है कि ज्ञान, साधन और सहायता के बिना हमारा देश इस व्यवसाय में भी, और अनेक व्यवसायों की तरह, पिछड़ रहा है। जो देश किसी समय प्रायः समस्त संसार को शकर चटाता था वही अब अपने लिए भी काफ़ी शकर नहीं पैदा कर सकता। हर सूबे में ज़िरात के सरकारी अफ़सर मौजूद हैं। बड़े लाट के ज़िरायती सचिव, शुद्ध स्वदेशी बी० एन० शर्म्मा महोदय, अलग ही शिमला या देहली में रौनक़ अफ़रोज़ कर रहे हैं। पर हल और बैल, खाद और बीज, खेत और आबपाशी आदि का ज़िक्र इन लोगों के काग़ज़-पत्रों में बार बार पढ़ने को मिलने पर भी, शकर का व्यवसाय और ईख की यथेष्ट उपज बढ़ा देने की ख़ुशख़बरी आज तक पढ़ने को नहीं मिली।

४—डिपटी कलेक्टरों की नियुक्ति।

बात उस समय की है जिस समय सर अंटोनी मेकडानल इस प्रान्त के लफ़्टिनेंट गवर्नर थे। उन्होंने देखा कि डिपटी कलेक्टरी के उहदे गवर्नमेंट अपने अफ़सरों की सिफ़ारिश से ही बांट देती है। तहसीलदार, आबकारी के इन्स्पेक्टर, पुलिस के इन्स्पेक्टर, कलेक्टरों के हेड क्लार्क, सभी सिफ़ारिश के बल पर डिपटी कलेक्टर बन जाते हैं। बाहरवाले भी कभी कभी ले लिये जाते हैं; पर योग्यता की जाँच ठीक ठीक नहीं की जाती। इससे उन्होंने १८६८ ईसवी में नियम कर दिया कि इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के बी० ए० और एम० ए० पास नौजवानों में से ३ आदमी हर साल डिपटी कलेक्टर बनाये जायँगे। नियत विषयों में उनकी परीक्षा ली जाने की योजना भी उन्होंने कर दी। जो लोग इस परीक्षा में पास हो जाते थे उनमें से पहले ३ उम्मेदवार डिपटी कलेक्टर बना दिये जाते थे। इस तरह बहुत से दबङ्ग, स्वतन्त्र-स्वभाव और किसी से न दबनेवाले लोग डिपटी कलेक्टर हो गये। यह बात गवर्नमेंट को शायद खली। इसीसे १६०३ ईसवी में चढ़ा-ऊपरी की परीक्षा द्वारा ३ उम्मेदवारों का भी लिया जाना बन्द कर दिया गया। तब से डिपटी कलेक्टरी की जितनी जगहें ख़ाली होने लगीं उतनी में से २/३ जगहें पुराने मुलज़िमों—विशेष करके तहसीलदारों—को दी जाने लगीं। बाक़ी १/३ नामज़द और चुने हुए लोगों को। अर्थात् १/३ डिपटी कलेक्टरों की नियुक्ति के विषय में, पूर्ववत् गवर्नमेंट मनमानी करने लगी! परीक्षा को ढकोसला समझ कर उसने उसे उठा दिया। कुछ दिनों तक यही ढर्रा चला। बाद को फिर साका बदला। तब आधी जगहें गवर्नमेंट अपने कारपरदाज़ मुलाज़िमों को देने लगी और आधी बाहर के चुने हुए लोगों को। बात यह कि जिसे कलेक्टर साहब, या कमिश्नर साहब, या लाट साहब, या रेवेन्यू बोर्ड वग़ैरह ने चुन लिया वह डिपटी कलेक्टर बन गया। दस, बीस, पचास उम्मेदवार एकत्र करके योग्यता की जाँच करना और क्रमशः योग्यतम को ही जगह देना सुभीते की बात नहीं समझी गई।

डिपटी कलेक्टरों की नियुक्ति का यह बढ़िया ढङ्ग नये प्रान्तिक कौंसल को घटिया जँचा। इससे १ अप्रेल १६२१ को एक मेम्बर ने यह प्रस्ताव किया कि गवर्नमेंट कृपा करके डिपटी कलेक्टरों की नियुक्ति के नियमों में परिवर्तन कर दे और कुछ लोगों की परख परीक्षा द्वारा करके उन्हें नियत किया करे, यह प्रस्ताव मंज़ूर होगया।

इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर ६ आक्टोबर १६२१ को इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने एक घोषणा प्रकाशित की है। उसमें उसने लिखा है कि कोई २४ डिपटी कलेक्टर हर साल नये नियत होते हैं। पर इससे कुछ मतलब नहीं,

जितनी जगहें ख़ाली होंगी उतनी को गवर्नर और उनकी कार्यकारिणी सभा के सभासद् इस प्रकार बाँट देने का विचार करते हैं—

(१) १/२ जगहें अपने पुराने मुलाज़िमों को (२४ हों तो उनमें से १२)

(२) १/४ जगहें मुसलमानों से भिन्न अन्य जातिवालों को (अर्थात् २४ के हिसाब से ६)

(३) १/८ जगहें मुसलमानों को (अर्थात् ३)

(४) १/८ जगहें उन्हें जिनको गवर्नमेंट अपने मन से चुन ले (अर्थात् ३)

नंबर (१) की तो बात ही नहीं। उन्हें तो उनकी गुज़श्ता ख़िदमतों के ख़याल से ही डिपटी कलेक्टरी दी जायगी। परीक्षा का क्या ज़िक्र। नम्बर (४) की भी परीक्षा न होगी। वे तो पसन्दीदह परख से ही पास समझे जायँगे। रहे नम्बर (२) और (३) सो इन लोगों की प्रतिस्पर्धा-वाचक परीक्षा होगी। उसमें जिनका नम्बर ऊँचा रहेगा वही क्रम से डिपटी कलेक्टरी का आसन पावेंगे। एक बात मार्के की है। वह भी बता देना होगा। वह यह कि नम्बर (२) में किरानी और अर्धगौराङ्ग लोग भी शामिल समझे गये हैं। पर उनकी संख्या नियत नहीं की गई। अगर कोई हिन्दू अच्छे नम्बरों से पास न हुआ और ये लोग हुए तो छः की छहो जगहें यही पिछले लोग पा सकेंगे। अब आप मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट उठा लीजिए और यह देखिए कि इस प्रान्त में कितने हिन्दू, कितने मुसल्मान, कितने देशी किरानी और कितने अर्ध-गौर साहब लोग निवास करते हैं। फिर यदि जगहों के दान का अनुपात ठीक जँचे तो गवर्नमेंट की न्यायशीलता की तारीफ़ कीजिए। हां, ये नियम अभी पक्के नहीं; कच्चे ही हैं, इन पर जिसे जो कुछ कहना हो वह अपना वक्तव्य १ जनवरी १९२२ तक गवर्नमेंट के चीफ़् सेक्रेटरी को लिख भेजे। उसके वक्तव्य पर सरकार ज़रूर ही विचार करेगी।

जिन लोगों की परीक्षा होगी उनकी परीक्षा के विषय आदि फिर बताये जायँगे। अभी तो इतना ही निश्चय हुआ है कि इस तरह डिपटी कलेक्टरी पाने के उम्मेदवारों को इस प्रान्त का निवासी होना चाहिए; इंटरमीडियट परीक्षा पास होना चाहिए; १९ से कम और २३ वर्ष से ज़ियादह उम्र न होनी चाहिए; तन्दुरुस्ती अच्छी होनी चाहिए; घोड़े की सवारी का अभ्यास होना चाहिए; और चाल-चलन भी अच्छा होना चाहिए। डाक्टर साहब का सर्टीफ़िकट तो देना ही पड़ेगा।

उम्मेदवारों को भाग्यपरीक्षा के लिए अभी से तैयारी कर रखना चाहिए।

५—सीता की उत्पत्ति की एक कथा।

जिस रामायण का प्रचार काश्मीर में है उसमें सीता मन्दोदरी की कन्या बताई गई है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। पर अद्भुत रामायण में सीता की उत्पत्ति की जो कथा लिखी है उसके सम्बन्ध में जी० ए० ग्रियर्सन साहब ने एक लेख लिखा है। यह लेख ग्रेटब्रिटेन और आयर्लैंड के रायल एशियाटिक जर्नल के गत जुलाईवाले अङ्क में प्रकाशित हुआ है। इसका मर्म आगे दिया गया है:—

एक बार नारद को लक्ष्मी के पार्षदों ने अपमानित किया था। अतएव उन्होंने लक्ष्मी को शाप दिया कि जा तू पृथ्वी में राक्षसी हो। शाप को स्वीकार करते हुए लक्ष्मी ने नारद से प्रार्थना की कि मेरा जन्म उसी राक्षसी के उदर से हो जिसने वनवासी मुनियों के रक्त से पूर्ण घट को पान कर लिया हो। इस तरह लक्ष्मी ने यह समझा था कि मेरी देह में राक्षस-रक्त न होगा।

जब रावण ने ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त कर लिया कि उसको देव, असुर, राक्षस, पिशाच, नाग, यक्ष, विद्याधर, किन्नर या अप्सरा न मार सकेंगी तब वह भूम-ण्डल को विजय करने लगा। एक दिन वह दण्डकारण्य में भ्रमण कर रहा था। वहाँ ऋषि-मुनियों को हवन-पूजा करते देख कर उसने अपने मन में विचार किया कि मैंने अभी तक इन्हें नहीं जीता है। उसने इनको मारने का विचार त्याग दिया और विजय का दण्ड-स्वरूप ऋषियों के शरीर से अपने बाण की नोक से एक एक बूँद रक्त ले लेने का निश्चय किया।

इन्हीं ऋषियों में गृत्समद नाम का एक ऋषि था। उसकी पत्नी की यह कामना थी कि मेरे गर्भ से एक कन्या लक्ष्मी का अवतार-स्वरूप उत्पन्न हो। अपनी पत्नी की मनोकामना की पूर्ति के लिए वह एक अनुष्ठान करने

लगा। वह प्रति दिन मंत्र पढ़ कर एक स्थापित घट का, दूध से, अभिषेक करता था। जिस दिन रावण उस ऋषि-आश्रम में पहुँचा था उस दिन घृतसमद अपना नैमित्तिक अभिषेक करके आश्रम से बाहर चला गया था। उसकी अनुपस्थिति में उसी मंत्र-पूत घट को ऋषियों का रक्त-संग्रह करने के लिए रावण उठा ले गया। इसके बाद उसमें ऋषियों का रक्त-संग्रह कर वह उसे अपने घर ले गया। उसने उसे मन्दोदरी को देकर कहा, इसमें विष से भी भयङ्कर वस्तु भरी है। इसे ख़ूब सँभाल कर रखना।

जब रावण ने सारे भू-मण्डल को जीत लिया तब वह अभिमान से दृप्त हो गया। अब वह हिमालय और विन्ध्य की गुहाओं में देवाङ्गनाओं के साथ रह कर आनन्द-विहार करने लगा और अपनी पत्नी को भूल सा गया। अपने पति के इस निर्दय व्यवहार से विशेष दुखी होकर मन्दोदरी ने आत्महत्या करने का निश्चय किया और पूर्वोक्त घट के द्रव्य को प्राण-त्याग कर देने की कामना से वह उसे उठा कर पी गई। परन्तु इसका परिणाम बहुत ही अद्भुत हुआ। मरने के स्थान में वह गर्भवती हो गई। अपनी इस अवस्था को देख कर वह और भी घबड़ा गई। अतएव तीर्थ-यात्रा के बहाने से वह कुरुक्षेत्र को चली गई और सद्य-जात कन्या को वहीं ज़मीन में गाड़ कर अपने देश को लौट गई।

कुछ समय बाद मिथिलेश जनक कुरुक्षेत्र गया। उसने वहाँ सुवर्ण के हल से भूमि जोती। भूमि को जोतते समय एक कन्या निकल आई। उसे जनक अपने घर ले गया और उसका नाम सीता रक्खा।

अद्भुत रामायण के इस विवरण से काश्मीर की रामायण का यह मत कि सीता मन्दोदरी की कन्या है पुष्ट हो जाता है।

६—ब्रिटिश म्यूज़ियम के गुप्त पत्र।

लन्दन के प्रसिद्ध अजायबघर का नाम ब्रिटिश म्यूज़ियम है। इसका जन्मदाता सर हेन्स स्लोन नामक एक प्रसिद्ध चिकित्सक था। बात यह हुई कि जब वह मरा तब वह अपना पुस्तकालय और अजायबघर इँगलेंड को दान कर गया। सन् १७५४ में स्लोन की मृत्यु के एक वर्ष बाद, सरकार ने मांटेगहाउस को ख़रीद लिया और उसी में स्लोन का संग्रह रक्खा गया। उसी दिन से ब्रिटिश म्यूज़ियम का आरम्भ हुआ। अब वह ख़ूब उन्नतावस्था में है। वहाँ सैकड़ों अद्भुत अद्भुत चीज़ें रक्खी हैं। पूर्वैतिहासिक काल की भी कितनी ही वस्तुएँ वहाँ हैं। इनके सिवा हस्त-लिखित ग्रन्थों का भी अच्छा संग्रह है। छपी पुस्तकों की संख्या तो अगण्य है।

इसी ब्रिटिश म्यूज़ियम में गुप्त पत्र भी रक्खे जाते हैं। अभी हाल में लार्ड ईशर ने अपनी डायरी को—जिसमें गत महायुद्ध के सम्बन्ध की कितनी ही बातें लिखी हुई हैं—६० वर्ष के लिए म्यूज़ियम में रख दिया है। साठ वर्ष के बाद अगर ट्रस्टी की इच्छा होगी तो लोग उसे देख सकेंगे और तब शायद वह प्रकाशित भी हो। इसके पहले उसे खोल कर कोई नहीं पढ़ सकता।

गुप्त पत्र रखने की यह रीति वहाँ बहुत दिनों से प्रचलित है। वहाँ कई गुप्त पत्र रक्खे हुए हैं। लार्ड हेग ने भी युद्ध-सम्बन्धी कुछ पत्र रक्खे हैं। वे सन् १९४० के पहले नहीं खोले जायँगे। इसी तरह के १८ पत्र वहाँ रक्खे हैं। उनमें क्या है, इसकी ख़बर किसी को नहीं है। ग्रेविल साहब की एक डायरी है। उसका समय पूरा हो जाने पर लिटन स्ट्रेची नामक एक ग्रन्थकार को वह पढ़ने के लिए दी गई। उसने महारानी विक्टोरिया का जीवन-चरित्र लिखा है। उसकी कुछ बातें इसी डायरी से ली गई हैं। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि लार्ड बायरन का एक मित्र था हाबहाउस। उसने अपनी डायरी ब्रिटिश म्यूज़ियम में रख दी। उसके खोलने का समय था सन् १९००, परन्तु वह खोली ही नहीं गई, अभी तक ज्यों की त्यों रक्खी है। लोगों का कथन है कि उसमें बायरन के दुश्चरित्र की कथायें हैं। आस्कर लाइल्ड एक नाटककार था। उसके एक नाटक का नाम है—डी प्रोफ़न्डिस। इसी नाटक के कारण उस पर मुक़द्दमा चला था। इस नाटक की एक प्रति वहाँ रक्खी हुई है। आज-कल उसी नाम का जो नाटक प्रचलित है उससे यह कहीं बड़ा है। डिकन्स अँगरेज़ी का प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक है। उसकी लड़की ने सन् १८९९ में कुछ पत्र रक्खे। उनके खोलने का समय १९२५ है। अगर वे पत्र १९२५ में खोले गये तो उनसे डिकन्स के सम्बन्ध की कुछ नई बातें मालूम हों। जीवित-काल में किसी की कीर्ति नष्ट न हो, इसी के लिए यह उपाय किया गया है।

८—चूहों के कारनामे।

चूहों को हम लोग क्षुद्र समझते हैं और इसी लिए हम उनके कृत्यों की ओर ध्यान नहीं देते। पर चूहे कितना ग़ज़ब ढाते हैं, इसका हमें ज़रा भी ख़याल नहीं होता। इँग्लेंड में एक चूहे के जीवन-निर्वाह के लिए १५ रुपये चाहिए। एक विद्वान् का कथन है कि वहाँ ४,००,००,००० चूहे हैं। इनके लिए ६०,००,००,००० रुपये चाहिए। मतलब यह कि आप इन्हें रुपये देते तो जाते नहीं। इस लिए ये चूहे उतने रुपये का माल खा जाते हैं। अब इँगलेंड में चूहों का विनाश करने के लिए एक क़ानून बन गया है। हमारे देश में भी चूहों की संख्या कम नहीं है। मेजर जे० सी० सी० कुनहर्ड साहब ने लिखा है कि भारतवर्ष में कुल चूहों की संख्या ८०,००,००,००० है। साल भर में एक चूहा ६ पौण्ड अनाज खा जाता है। इसके सिवा वह और भी कई तरह से नुक़सान पहुँचाता है। गत बीस वर्षों में चूहों ने जितना नुक़सान किया उसका हिसाब सुनिए। बीमारियाँ फैला कर उन्होंने ६०३ करोड़ रुपयों का नुक़सान किया। जो अनाज उन्होंने खा लिया उसका मूल्य ६०० करोड़ रुपये कूता गया है। उनका नाश करने में ही ३६½ करोड़ रुपये ख़र्च हो गये।

९—इलाहाबाद के दो प्रसिद्ध विद्वानों का देहावसान।

उर्दू के प्रसिद्ध कवि सैयद अकबर हुसैन के नाम से हिन्दी के साहित्य-प्रेमी पाठक भी अपरिचित न होंगे। खेद है कि अभी हाल में ही उनका देह-पात हो गया। आपकी कविता हृदय-हारिणी, उक्तियाँ अनूठी और भाषा सजीव और प्रासादिक होती थी। छोटी छोटी बातों को विलक्षण रूप देने में आप सिद्ध-हस्त थे। आपकी कविता रसिकों के लिए मनोरञ्जक ही नहीं, किन्तु शिक्षा-प्रद भी थी।

डाक्टर सुरेशचन्द्र बनर्जी भी इलाहाबाद के एक रत्न थे। आपकी मृत्यु से इलाहाबाद का एक श्रेष्ठ डाक्टर उठ गया। आप बड़े ही उदार और परदुःख-कातर थे। रोगियों की चिकित्सा और सेवा-शुश्रूषा में आप प्राण-पण से लग जाते थे। दरिद्रों की सेवा भी

डाक्टर सुरेशचन्द्र बनर्जी।

आप वैसे ही प्रेम से करते थे जैसे एक धनी की। इसी से आप सदैव लोक-प्रिय रहे।

पुस्तक-परिचय।

१—हिन्दी-साहित्य के कुछ सामयिक पत्र।

यह सन्तोष की बात है कि अब हिन्दी में नई नई पुस्तकें और नये नये सामयिक पत्र निकल रहे हैं। आज-कल देश में राजनैतिक विषयों की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट है, अतएव हिन्दी में भी ऐसे ग्रन्थों की वृद्धि हो रही है जिनमें राजनैतिक विषयों ही की चर्चा की जाती है। ऐसे ग्रन्थों का महत्त्व स्थायी भले ही न हो। तो भी उनसे कम लाभ नहीं होता। सबसे बड़ा लाभ यह है कि उनसे जनता में नये नये भावों का

प्रचार होता है। देश-सेवा के भाव से देशी भाषाओं को बड़ा लाभ हुआ है। एक लाभ तो यही हुआ कि अब उनकी उपेक्षा नहीं की जाती। कुछ समय पहले जो शिक्षित हिन्दी की अवहेलना करते थे उन्हें अब हिन्दी में अपना सन्देश तो लिखाने की ज़रूरत पड़ती है। हिन्दी के लिए यह छोटी बात नहीं है। जहाँ पहले अँगरेज़ी भाषा का पूरा प्राधान्य था वहाँ अब हिन्दी का प्रवेश हो गया है। आशा है कि अब हिन्दी की उत्तरोत्तर उन्नति होती जायगी।

हिन्दी-साहित्य की उन्नति का पहला चिह्न है सामयिक पत्रों की श्री-वृद्धि। दो ही तीन साल में कई अच्छे अच्छे पत्रों ने जन्म लिया। मासिक पत्रों में श्रीशारदा का नाम उल्लेखनीय है। यह पत्रिका जबलपुर से निकलती है। इसमें एक रङ्गीन चित्र और कई सादे चित्र रहते हैं। प्रायः सभी लेख सुपाठ्य होते हैं। लेखों में मौलिकता रहती है। मारवाड़ी जाति के सुधार के लिए आरा में मारवाड़ी-सुधार नामक लेख-माला का जन्म हुआ है। यह भी मासिक पत्र है। साप्ताहिक पत्रों में तरुणभारत महात्मा गान्धी के यंग इंडिया नामक अँगरेज़ी पत्र का हिन्दी-रूप है। यह पटना से प्रकाशित होता है। महात्मा गान्धी के सम्पादकत्व में हिन्दी नव-जीवन नाम का एक दूसरा साप्ताहिक पत्र भी अभी हाल में अहमदाबाद से निकला है। कलकत्ते से स्वतन्त्र का साप्ताहिक संस्करण भी निकलने लगा है। उन्नाव से स्वराज्य नाम का साप्ताहिक पत्र कुछ समय से निकल रहा है। बनारस में सूर्य नामक एक नये पत्र का जन्म हुआ है। नागपुर से समाज-सेवक का प्रकाशन होता है। इन सभी पत्रों का सम्पादन योग्यता-पूर्वक होता है।

हिन्दी के साप्ताहिक पत्रों में पहले व्यङ्ग्य चित्र निकला करते थे। अब भी हिन्दी वङ्गवासी में ऐसे चित्र निकला करते हैं। साप्ताहिक स्वतन्त्र को छोड़ कर उपर्युक्त अन्य पत्रों में ऐसे चित्रों का अभाव है। हिन्दी के दो चार पत्रों को छोड़ कर प्रायः सभी पत्रों में कवितायें खूब छपती हैं। इनमें उर्दू शब्दों की बहुलता रहती है। भाव, चाहे राजनैतिक हों अथवा धार्मिक, बड़े उग्र होते हैं। धार्मिक भावों में विरह-व्यथा का प्राधान्य रहता है। हिन्दी के कुछ कवि हृदयेश की खोज में व्याकुल घूमा करते हैं। भावुकता का यह आधिक्य ग्लानि उत्पन्न कर सकता है। यहां हमें एक समालोचक का कथन याद आता है—Excess of folly in poetry, like excess of injustice in political matters, lead up to and foretell revolutions. यदि अन्याय के आधिक्य से राजनीति के क्षेत्र में उत्क्रान्ति होती है तो क्या हिन्दी-कवियों की भावुकता का यह आधिक्य हिन्दी-साहित्य में उत्क्रान्ति की सूचना नहीं देता? अस्तु।

हिन्दी में स्त्रियों के उपयुक्त साहित्य की भी उन्नति हो रही है। श्रीमती विद्यावती सेठ बी० ए० के सम्पादकत्व में ज्योति नाम की एक अच्छी मासिक पत्रिका निकल रही है। इसके सभी लेख अच्छे होते हैं। भाषा भी पत्र के अनुकूल है। लेखों में विषय-वैचित्र्य का विचार किया जाता है। स्त्रियों के भी लेख रहते हैं। श्रीयुत सन्तराम जी बी० ए० भारती नामक एक मासिक पत्र का सम्पादन करते हैं। इसमें मनोरञ्जक और कौतूहलवर्धक बातों का अच्छा समावेश रहता है। इसमें स्त्रियों के जो काल्पनिक या वास्तविक पत्र और उनके उत्तर प्रकाशित होते हैं उनसे पाठक और पाठिकाओं को क्या लाभ होता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। महिला-दर्पण नाम का एक मासिक पत्र छपरा से निकलता है। उसकी सम्पादिका हैं श्रीमती शरदकुमारी देवी। एक और नया पत्र है महिला-संसार। हम इन तीनों पत्रों की उन्नति चाहते हैं।

हिन्दी में बालकोपयोगी सामयिक साहित्य का अभाव ही सा है। दो एक पत्र इलाहाबाद से पहले निकला करते थे। इंडियन प्रेस से बाल-सखा का प्रकाशन होता है। गृहलक्ष्मी कार्यालय से शिशु नामक एक पत्र निकलता था। शायद वह अब भी निकलता हो। हिन्दी में अभी प्राप्तवयस्कों में ही विद्याभिरुचि कम है, अल्पवयस्कों का कहना ही क्या। कदाचित् इसी लिए प्रकाशकों का ध्यान इधर आकृष्ट नहीं हुआ है। बालकों में जिज्ञासा का भाव बहुत प्रबल रहता है। यदि उनमें यही भाव सदैव बना रहे तो विद्या-प्राप्ति की ओर उनका उद्योग कभी शिथिल न हो। अतएव उनके लिए मासिक पत्र का प्रकाशन होना ही चाहिए। हमें आशा है कि अब हिन्दी के प्रेमी ऐसे पत्रों की क़द्र करेंगे।

२—हिन्दी में जीवन-चरित्र ।

हिन्दी में जीवनचरित्रों की अच्छी वृद्धि हो रही है। प्रत्येक मास दो एक जीवन-चरित्र निकलते ही रहते हैं। इस समय हमारे पास समालोचनार्थ कई जीवन-चरित्र मौजूद हैं। इनमें एक का नाम **मुहम्मद** है। जबलपुर की 'शारदा-पुस्तक-माला' द्वारा यह प्रकाशित हुआ है। हिन्दी में मुहम्मद के चरित का बड़ा भारी अभाव था। इस पुस्तक के प्रकाशित हो जाने से इस अभाव की बहुत कुछ पूर्ति हुई है। मुहम्मद मुसल्मान धर्म के संस्थापक थे। संसार के धर्म-प्रचारकों की वृहत्त्रयी में इनका तीसरा नम्बर है। इस कारण इनका पवित्र चरित्र प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ना चाहिए। संसार के कोई ४० करोड़ निवासी इनका नाम लेकर अपना जन्म कृतार्थ समझते हैं। ऐसे महान् पुरुष के चरित का एक भव्य और प्रामाणिक संस्करण जब तक प्रकाशित नहीं होता तब तक इस पुस्तक से ही बहुत कुछ काम चल सकता है। इसे पण्डित शिवनारायण द्विवेदी ने 'दो एक, अँगरेज़ी और दो एक देशी भाषाओं के ग्रन्थों' के आधार पर लिखा है और अच्छा लिखा है। यह चरित तुलनामूलक दृष्टि से नहीं, किन्तु "सुमति के सम्राट्' की दृष्टि से लिखा गया है और इस बात में लेखक ने सफलता प्राप्त की है। इसे पढ़ते समय हिन्दू के हृदय में भी मुहम्मद के प्रति भक्ति का उद्रेक हुए बिना नहीं रहता। पुस्तक की भाषा सरस और सरल है। मूल्य ॥।=) है।

गान्धी-गौरव—दूसरा जीवन-चरित्र है। इसमें महात्मा गान्धी का जीवन-चरित्र विस्तार-पूर्वक लिखा गया है। पुस्तक-प्रकाशक ने इसको चित्ताकर्षक बनाने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की है। काग़ज़ अच्छा है। छपाई सुन्दर है। जिल्द नेत्र-रञ्जक है। कई चित्र भी दे दिये गये हैं। महात्मा जी का ऐसा दर्शनीय जीवन-चरित्र हिन्दी में दूसरा नहीं है, यद्यपि पठनीय चरित्रों का अभाव नहीं है। महात्मा गान्धी की जन्मभूमि के वर्णन में जब लेखक ने द्वापर-युग का दर्शन कराया है तब हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि लेखक भारत की वर्तमान स्थिति की भी आलोचना करेंगे। इसमें महात्मा जी की जीवन-सम्बन्धिनी सभी मुख्य मुख्य घटनायें अवश्य दे दी गई हैं और इससे हमें शिक्षा भी मिलेगी। पर हमारी समझ में जीवन-चरित्र के लेखक का काम इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता है। जिस प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण-मात्र इतिहास नहीं है उसी प्रकार व्यक्ति-गत घटनाओं का वर्णन जीवन-चरित्र नहीं है। जो कुशलता एक इतिहास-लेखक में होनी चाहिए वही एक जीवन-चरित्र लेखक के लिए भी आवश्यक है। लेखक में यदि वह कुशलता है तो उन्होंने गान्धी-गौरव के लिखने में उसका उपयोग नहीं किया। मूल्य ३॥) है। आर० एल० वर्म्मन एण्ड को, ३७१, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता से इसका प्रकाशन हुआ है।

तीन छोटे छोटे जीवन-चरित्र—भारतीय पुस्तक-एजेन्सी (११, नारायणप्रसाद बाबू लेन, कलकत्ता) ने भेजे हैं। इनमें देश-बन्धु चितरञ्जन दास, देशभक्त अलीभाई और महात्मा जी के चरित्र वर्णित हैं। आज-कल राजनैतिक सभाओं में लोग घण्टा आध घण्टा नियत समय के पहले ही पहुँच जाते हैं। उस समय ऐसी पुस्तकों की खपत खूब होती है। इनकी उपयोगिता भी इसी में है।

३—हिन्दी के दो नये उपन्यास ।

उपन्यासों की लोक-प्रियता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। कोई अब इन्हें आवश्यक समझे अथवा न समझे, पर सभी देशों के साहित्य में उपन्यासों की वृद्धि हो रही है। हिन्दी में उपन्यासों की संख्या अगण्य है पर उनमें अधिकांश अनुवादित ही हैं। कुछ समय पहले अँगरेज़ी उपन्यासों की ओर हिन्दी के अनुवादकों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। आज-कल बँगला उपन्यासों की धूम है। मराठी में भी कुछ अच्छे उपन्यास हैं। हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय के 'छत्रसाल' को छोड़ कर अभी तक शायद एक भी नाम लेने योग्य मराठी उपन्यास का अनुवाद नहीं हुआ है। पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्माजी ने अभी हाल में एक मराठी उपन्यास का अनुवाद किया है। उसका नाम है **रत्न-दीप**। सच पूछो तो यह एक बँगला उपन्यास के मराठी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर है। शर्माजी ने ठेठ बँगला से अनुवाद न कर मराठी अनुवाद का आश्रय क्यों लिया, यह हम नहीं समझ सके। शर्माजी बँगला ग्रन्थों के अनुवाद करने में तो सिद्धहस्त हैं। ख़ैर।

रत्न-दीप की विशेषता है उसका घटना-वैचित्र्य। घटना अलौकिक होने से ही चित्ताकर्षक होती है। सभी

उपन्यासों के पात्रों के जीवन में अलौकिक घटनायें होती हैं। जो बात संसार में कम सम्भव है वह कल्पना में स्थान पाती है और जो प्रति दिन होती रहती है वह कल्पना में उपेक्षणीय है। उपन्यास-लेखक की सृष्टि विधाता की सृष्टि को सदैव अतिक्रमण करती है। लोगों को वर्षों परिश्रम करने पर भी भोजनाच्छादन से अधिक द्रव्य की प्राप्ति प्रायः नहीं होती। उपन्यास का पात्र दो ही दिन में, बिना पुरुषार्थ के, विशाल सम्पत्ति का अधिकारी हो जाता है। उपन्यास के पात्रों पर भाग्य-लक्ष्मी सदैव प्रसन्न रहती है। रत्न-दीप के दरिद्र स्टेशन मास्टर पर भी भाग्य-लक्ष्मी की हास्य-रेखा पड़ी। वह एक विशाल सम्पत्ति का अधिकारी बन गया। जिस मनुष्य ने कभी उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की, जो सदैव निम्न-श्रेणी के मनुष्यों के साथ रहा, जिसने अपनी वासना को कभी संयत नहीं रक्खा, वह भी एक सती के सम्मुख आते ही देव-रूप होगया, यह सतीत्व का प्रताप है। परन्तु हम अन्तर्द्वन्द्व का दृश्य देखना चाहते थे। वासना और विवेक के युद्ध में विवेक इतना शीघ्र वासना पर विजय पा लेगा, इसकी हमें सम्भावना नहीं थी। हम देखना चाहते थे कि दरिद्र स्टेशन मास्टर के हृदय में यह हलचल मची हुई थी, 'न खलु सपदि सोढुं नापि शक्नोमि मोक्तुम्'। पर हम यह नहीं देख सके।

उपन्यास की नायिका का चरित्र दिव्य है। हिन्दी में अभी तक जितने बँगला उपन्यासों का अनुवाद हुआ है उनमें ऐसा दिव्य चरित्र शायद 'प्रतिभा' की 'उमासुन्दरी' को छोड़ कर किसी भी स्त्री का नहीं है। वही इस उपन्यास का सर्वस्व है। हमें विश्वास है कि हिन्दी के उपन्यास-प्रेमी पाठक इसका आदर करेंगे।

पुस्तक में कई चित्र भी हैं। पुस्तक के अनुवाद में तो मराठी ग्रन्थ का आश्रय लिया गया है, पर चित्रों के लिए कदाचित् बँगला ग्रन्थ की उपेक्षा नहीं की गई है। हमारी समझ में जितना अच्छा अनुवाद हुआ है उतना ही भद्दा चित्रों का अनुकरण हुआ है।

कलकत्ते के प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक आर० एल० वर्म्मन एण्ड को० ने इस उपन्यास का प्रकाशन किया है। मूल्य १॥) है।

बम्बई (लेडी हार्डिंज रोड, माटूगा) के ग्रन्थ-भाण्डार ने **अपूर्व आत्म-त्याग** नामक एक उपन्यास प्रकाशित किया है। यह भी एक बँगला उपन्यास का अनुवाद है। अनुवादक हैं श्रीयुत कृष्णलाल वर्मा। मूल बँगला उपन्यास के लेखक श्रीसुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य हैं। पुस्तक का कथा-भाग बुरा नहीं है। हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों से वह कहीं अच्छा है, परन्तु भाषा के जाल में वह इतना फँस गया है कि पाठक अधीर हो सकते हैं। यदि इसकी भाषा कुछ अधिक सरल होती तो उपन्यास भी अधिक चित्ताकर्षक होता। मूल्य १।।≈) है।

४—धार्मिक साहित्य।

हिन्दी में धार्मिक साहित्य का अभाव नहीं है। पर धार्मिक साहित्य की कोटि में जिन पुस्तकों की गणना होती है उनमें अधिकांश की उपयोगिता में सभी संशयालु हो सकते हैं। हम भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की आलोचना करनेवाले ग्रन्थों के विरोधी नहीं हैं। धर्म के जिज्ञासुओं को सभी साम्प्रदायिक पुस्तकों की आवश्यकता है। परन्तु लेखक का हृदय उदार होना चाहिए। यदि उसका हृदय सङ्कीर्ण हुआ तो उसके ग्रन्थों का आदर होने का नहीं।

मुरादपुर, पटना के एक्सप्रेस प्रेस से हमें एक अच्छी किताब मिली है। उसका नाम है **साधन-संग्रह**। 'भक्तप्रवर पण्डित भवानीशङ्करजी की वक्तृता और उपदेश' के आधार पर उसका सङ्कलन किया गया है। इसके कतिपय विषय श्रीमती एनीबेसन्ट की पुस्तकों से भी लिये गये हैं। इसमें धर्म, कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति आदि विषयों की चर्चा की गई है। विवेचना स्पष्ट है। मूल्य २) है।

लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से दो पुस्तकें आई हैं। एक तो है **मनुस्मृति** का अनुवाद। और दूसरी है **भगवद्गीता** का अनुवाद। दोनों ग्रन्थों के अनुवादक हैं पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी। इन ग्रन्थों के परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। दोनों हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य के सर्वमान्य ग्रन्थ हैं। अब तो इनका प्रचार योरप और अमरीका तक में होगया है। अनुवादक का नाम भी हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों के लिए अपरिचित नहीं है।

चित्र-परिचय।

सरस्वती के इस अङ्क में दुहिता नाम का रङ्गीन चित्र दिया जाता है।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Ltd., Allahabad.

व्योम-विहारिणी।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

भाग २२, खण्ड २] दिसम्बर १९२१—मार्गशीर्ष १९७८ [संख्या ६, पूर्ण संख्या २६

प्रिंस आव् वेल्स।

प्रिंस आव् वेल्स का जन्म २३ जून सन् १८६४ को हुआ था। उस समय महारानी विक्टोरिया सिंहासन पर विराजमान थीं। इनका बाल्यकाल इनके पितामह सम्राट् एडवर्ड की गोद में ही बीता। जब ये ८ वर्ष के हुए तब एक योग्य शिक्षक की निगरानी में इनकी शिक्षा का आयोजन किया गया। अक्षराभ्यास महारानी विक्टोरिया ने स्वयम् कराया था। इस तरह लगभग चार वर्ष तक ये अपने माता पिता की निगरानी में घर ही पर शिक्षा पाते रहे। सन् १९०७ में ये आसबर्न के नेवल कालेज में शिक्षा ग्रहण करने को भेजे गये। इस समय ये १३ वर्ष के हो गये थे। आसबर्न में दो वर्ष शिक्षा ग्रहण करने के बाद ये नाविक बनने के लिए डारमथ भेज दिये गये। इनके पिता भी इन विषयों से विशेष रुचि रखते हैं। उन्हें भी उनकी बाल्यावस्था में इन बातों की शिक्षा इन्हीं स्थानों में दी गई थी।

महारानी विक्टोरिया के समय में राजकुमार और राजकुमारियों की शिक्षा-दीक्षा के क्रम में बहुत कुछ सुधार हुआ था। उनके माता पिता उन्हें बाल्यकाल ही से अपनी देख-रेख में रखते थे। इसी कारण महाराज जार्ज और महारानी मेरी ने अपने पुत्र के लालन-पालन में विशेष सावधानी रक्खी। पढ़ने-लिखने के सिवा महारानी मेरी प्रिंस आव्

वेल्स को आग्रहपूर्वक खेलने-कूदने और व्यायाम करने के लिए उत्साहित किया करती थीं। फलतः ये पढ़ने-लिखने के साथ साथ घोड़े पर चढ़ने और तरह तरह के खेलों में भी निपुण हो गये।

डारमथ आकर प्रिंस आव् वेल्स अपने अध्ययन में उत्साह के साथ लग गये। ये भी दूसरे 'केडेटों' की भाँति रहते और काम करते थे। यहाँ तक कि जब ये एक बार बीमार हुए और डाक्टरों की सलाह से इन्हें खाने को अच्छा भोजन दिया गया तब इन्होंने यह कह कर इनकार किया कि मेरे पिता ने मुझसे कहा था कि जब मैं वहाँ रहता था तो दूसरे लड़कों और मुझमें किसी बात में किसी प्रकार का भेद नहीं रक्खा जाता था। इसलिए मैं अपने पिता का ही अनुकरण करूँगा। सब परीक्षाओं को पास करके जब इन्होंने अन्य आवश्यक शिक्षा प्राप्त कर ली तब १९११ में ये 'हिन्दुस्तान' नाम के जहाज़ पर Midshipman के पद पर नियुक्त किये गये और इस तरह एक वर्ष तक जहाज़ी काम करते रहे।

प्रिंस आव् वेल्स।

सन् १९१२ में प्रिंस आव् वेल्स जङ्गी बेड़े से अलग हुए। इसके बाद ये आक्सफ़र्ड में शिक्षा ग्रहण करने को भेजे गये। यहाँ भी दूसरे विद्यार्थियों की भाँति इनका रहन-सहन रहा। किसी प्रकार का अन्तर न तो युवराज ही रखते थे और न वहाँ के अधिकारी ही। सामान्य छात्रों की भाँति ये भी शिक्षा ग्रहण करते थे और सबकी तरह विश्वविद्यालय के सारे कार्यों में भाग लेते थे। इन्हें यहाँ इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति और क़ानून
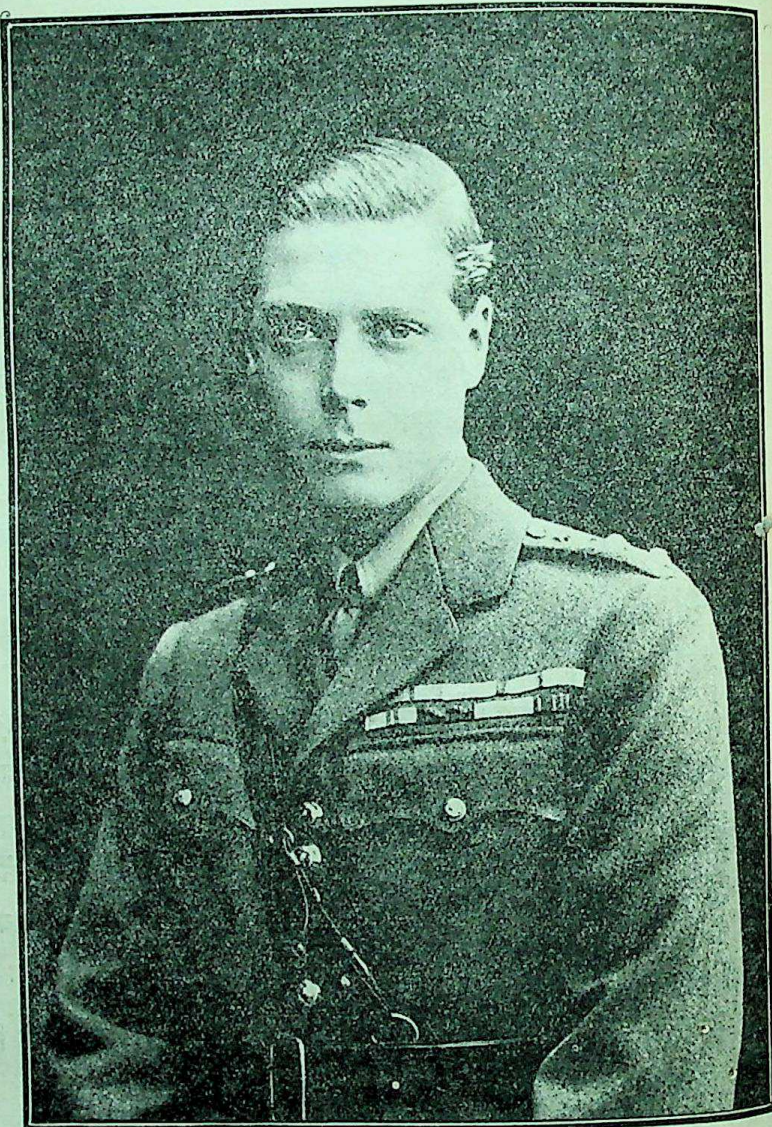
की आवश्यक शिक्षा दी गई। इसके सिवा इन्होंने कई दूसरी भाषाएँ भी सीखीं। सम्राट् नहीं चाहते थे कि पूर्ण वय को प्राप्त किये बिना ये दुनिया के कामों में लग जायँ। परन्तु इसी समय योरोपीय युद्ध छिड़ गया। अतएव इन्हें अपना अध्ययन बन्द करना पड़ा। युद्ध-घोषणा के तीसरे ही दिन 'ग्रेनेडियर गार्डस्' में ये दूसरे लेफ़टिनेन्ट के पद पर नियुक्त किये गये। आफ़िसर्स ट्रेनिङ्ग कोर में इन्हें कुछ युद्ध-शिक्षा पहले ही मिल चुकी थी, अतएव इन्होंने मुस्तैदी से अपना कार्य-भार ग्रहण किया, पर लार्ड किचनर ने अपनी आज्ञा से इन्हें युद्ध-क्षेत्र में जाने से रोक लिया। जब लार्ड फ्रेञ्च नवम्बर में फ़ान्स गये तब ये भी उनके स्टाफ़ में भर्ती होकर युद्ध-भूमि जा पहुँचे। बराबर चार वर्ष तक एक कर्तव्य-परायण सैनिक की भाँति इन्होंने समर-भूमि में काम किया। परिश्रम, जोखिम, यहाँ तक कि मृत्यु की भी, कुछ परवा न की। एक बार १९१५ के प्रारम्भ में, ये मोटर पर सवार हो चले जा रहे थे। इसी बीच में शत्रु की तोप का एक गोला इन पर आ गिरा, जिससे मोटर नष्ट हो गई और इनका मोटर चलानेवाला Chauffeur मारा गया। ईश्वर की कृपा से ये बाल बाल बच गये। इन्होंने युद्ध-भूमि में युवराज की हैसियत से नहीं, किन्तु एक सैनिक की भाँति अपने कर्तव्यों का पालन किया। सेना के उच्च कर्म्मचारियों को यह बात पसन्द नहीं थी कि उनका भावी सम्राट् अरक्षित स्थानों में रह कर सेना-सम्बन्धी काम करे, पर युवराज ने उनकी व्यवस्था का विरोध किया और दूसरे सैनिकों की भाँति इन्होंने समर-क्षेत्र के सारे कार्य बराबर किये। यही नहीं, समय समय पर साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों से आई हुई सेनाओं के शिविरों में जाकर वे उत्साह-वर्धक वाक्यों से उनके प्रति अपना अनुराग प्रकट

प्रिंस आव् वेल्स—रेड इंडियन सरदार के वेश में।

किया करते थे और युद्ध में बहादुरी के साथ डटे रहने के लिए उत्साहित किया करते थे।

युद्ध समाप्त होने पर प्रिंस आव् वेल्स को विश्राम तक करने का अवसर न मिला। योरोपीय युद्ध में साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों ने साम्राज्य की जो सहायता की थी उसके लिए सम्राट् की ओर से कृतज्ञता प्रकट करने एवं अपने प्रजाजनों का राजभक्ति-पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए ये साम्राज्य-पर्यटन के लिए रवाना हुए। तदनुसार सन् १९१९ के अगस्त में इनकी यह यात्रा प्रारम्भ हुई। इस यात्रा में इन्होंने कनाडा एवं अमरीका के अन्यान्य साम्राज्य के भागों में भ्रमण किया। ये जहाँ जहाँ गये वहाँ पद-मर्यादा के अनुसार इनका स्वागत हुआ। युवराज ने भी अपनी राजभक्त प्रजा के प्रति अपने उदार भावों का परिचय दिया। यहाँ तक कि कनाडा-निवासी रेड इंडियन लोगों को भी इन्होंने अपनी स्वाभाविक उदारता से आनन्दित किया। उनके एक सरदार के अधिकारारूढ़ होने के उपलक्ष्य में जो उत्सव हुआ था उसमें शामिल होकर ये स्वेच्छा से उनके सरदार बने और उनकी जातीय पोशाक धारण की। इस तरह ये जहाँ गये वहाँ सर्वसाधारण के उत्सवों में शामिल होकर अपने उदार भाव का परिचय दिया। संयुक्त-राज्य (अमरीका) के राष्ट्रपति द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर ये वहाँ भी गये। वहाँ इनका ख़ूब शानदार स्वागत हुआ। इँगलेंड के पहले प्रिंस आव् वेल्स यहीं हैं जिन्होंने अमरीका पधार कर उसके साथ ब्रिटिश साम्राज्य के मैत्री-बन्धन को और भी दृढ़ बना दिया।

अमरीका से लौटने के बाद गत वर्ष ये फिर अपने साम्राज्य की प्रदक्षिणा करने को रवाना हुए। गत वर्ष की मार्च में ये इँग्लेंड से रवाना हुए थे। इस यात्रा में इन्होंने आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलेंड का भ्रमण किया। इस यात्रा के प्रोग्राम में भारत का भी नाम था। पर सुदूर आस्ट्रेलिया की यात्रा में इनको अधिक परिश्रम करना पड़ा। अतएव ये सीधा इँग्लेंड वापस चले गये और भारत की यात्रा का प्रोग्राम इस साल के लिए मुलतवी कर दिया गया। गत वर्ष के निश्चय के अनुसार प्रिंस आव् वेल्स ने हमारे देश में पदार्पण किया है और ये इस समय देश के भिन्न भिन्न स्थानों में भ्रमण कर रहे हैं। इस समय इनकी उम्र २७ वर्ष की है।

गिरिजाशङ्कर वाजपेयी

विवाह-विषयक विचार-व्यभिचार।

कुछ समय हुआ, हमको एक छोटी सी पुस्तक डाक से मिली। उसे गिरगाँव (बम्बई) की मनोरञ्जक ग्रन्थ-प्रसारक मण्डली ने भेजा था। उसकी भाषा मराठी और नाम—"रिकामपणाची कामगिरी"—है। नाम देख कर हमने उसे उठा कर एक तरफ़ रख दिया। कहा, जब इसके लेखक की ही सिफ़ारिश है कि निकम्मे बैठने पर ही इसे कोई पढ़ने की तकलीफ़ गवारा करे तब अभी पढ़ने की क्या ज़रूरत? कभी निकम्मे बैठेंगे तब देखा जायगा।

दैवयोग से वैसा मौक़ा एक दिन आ ही गया और हमने पुस्तक पढ़ डाली। पढ़ने से मालूम हुआ कि लेखक ने पुस्तक को वैसा नाम देकर पढ़नेवालों को धोखा दिया। और ज़रूरी काम छोड़ कर, या वैसे काम करते करते ऊब जाने पर भी, पुस्तक पढ़ने योग्य है। क्योंकि पुस्तक के हँसोड़ लेखक ने बड़ी ही मनोरञ्जक और विनोदात्मक बातें लिख कर अपने समाज की हानिकारिणी रूढ़ियों के सम्बन्ध में ख़ूब गहरा मज़ाक़ ही नहीं उड़ाया, काफ़ी शिक्षा भी दी है।

पुस्तक में दो विषय प्रधान हैं। एक तो महाराष्ट्र-प्रान्त में प्रचलित वैवाहिक प्रथायें। दूसरे, सामयिक पुस्तकों और

पत्रों में प्रकाशित होनेवाली कविताओं के कवियों के कविता-कलाप। लेखक ने इन दोनों की ख़ूब ही ख़बर ली है। उसने कहीं कहीं पर ऐसी गहरी चुटकी ली है और ऐसी आलङ्कारिक भाषा लिखी है कि पढ़ कर तबीयत फड़क उठती है।

महाराष्ट्र-प्रान्त की वैवाहिक रीतियाँ अपने प्रान्त की रीतियों से, कितने ही अंशों में, पृथक् हैं। तथापि बहुत सी बातें मिलती भी हैं। लेखक ने अपने प्रान्त की रूढ़ियों—हानिकारिणी रूढ़ियों—की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। उसके कोई कोई व्यङ्ग्य मर्मस्थलों पर कड़ी चोट पहुँचानेवाले हैं। उसके इस विषय के लेख की प्रेरणा से ही हम भी गोत्र और जन्मपत्र-विचार-विषयक बातों का अत्यल्प निदर्शन यहाँ पर करना और यत्र तत्र उक्त लेखक को ही अपना उत्तमर्ण बनाना चाहते हैं। इस प्रान्त में, विशेष करके कान्यकुब्ज-ब्राह्मणों में, लड़के लड़की का विवाह-निश्चय करते समय, प्रधानतः पाँच बातों का विचार किया जाता है—(१) गोत्र, (२) जन्मपत्र, (३) कुलशील, (४) वर और (५) दहेज़ या ठहरौनी। यह विवाह-विषयक पञ्चाङ्ग-विचार है।

इनमें से विचार करने की पहली बात यह है कि यह गोत्र क्या चीज़ है। पुरानी पुस्तकें देखने, संस्कृत-कोशों के पन्ने उलटने, और इस विषय पर लिखे गये कुछ विद्वानों के लेखों का परिशीलन करने से मालूम होता है कि आदि में गोत्र शब्द का अर्थ था—गायें-बछड़े बाँधने या रखने का बाड़ा, गोष्ठ या गोशाला। बहुत प्राचीन काल में बड़ी बड़ी बस्तियाँ या नगर कम थे। जङ्गल बहुत था। लोग पशु अधिक पालते थे। उनके चरने का सुभीता देख कर वे किसी स्थल-विशेष में बस जाते थे। वहीं अपने पशुओं के लिए बाड़े बना लेते थे। जिसके पास पशुओं की संख्या अधिक होती थी उसी के नाम से वह जगह प्रसिद्ध हो जाती थी। अनुमान से मालूम होता है कि गोत्रप्रवर्त्तक वशिष्ठ, कश्यप, भरद्वाज आदि ऐसे ही थे। उनकी देखादेखी और लोग भी, पीछे से, वहाँ जाकर बस जाते थे। पर वे सब एक ही वंश के न होते थे। तथापि वे भी उस प्रधान-पुरुष के नाम से अपना परिचय देते थे। अगर कोई उनका पता पूछता था तो वे कहते थे—हम वशिष्ठ-गोत्र के हैं, अथवा हम कश्यप-गोत्र के हैं, अथवा हम शाण्डिल्य-गोत्र के हैं। इसका मतलब सिर्फ़ इतना ही था कि ये लोग भी वहीं रहते थे जहाँ वशिष्ठ और कश्यप आदि ऋषि, अपनी अपनी गायें लेकर, रहते थे। यह मतलब न था कि ये भी उन्हीं ऋषियों के वंशज थे। यदि किसी तिवारी ने अपने कुल के, नामानुसार कोई गाँव बसाया और उसका नाम तिवारीपुर रक्खा तो इससे क्या यह बात साबित हो सकती है कि वहाँ उसके वंशजों के सिवा और कोई रहता ही नहीं? ऐसे कितने ही तिवारीपुर और पाँड़ेपुर इस प्रान्त में निकलेंगे जहाँ तिवारियों और पाँड़े लोगों के सिवा और भी अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहते हैं। पर वे सब सगोत्रीय नहीं।

पुराने ज़माने में जहाँ पर दो चार घर पास पास होते थे वहाँ उन लोगों में, भिन्न कुल के होने पर भी, कुटुम्बि-भाव जागृत हो जाता था। वे लोग परस्पर एक दूसरे को भाई, चचा, बेटा, बेटी इत्यादि समझने लगते थे और वैसा ही व्यवहार भी उनके साथ करते थे। देहात में यह बात अब भी ऐसी ही पाई जाती है, यद्यपि कुटुम्ब-भाव अब वैसा नहीं। उस समय जो जिसे मुँह से भाई या चचा कहता था उसकी लड़की या बहन से विवाह कर लेना अधर्म्म समझता था। इस दशा में एक गाँव, या एक गोत्र (गोशाले)—वाले यदि वहीं रहनेवालों से विवाह-सम्बन्ध न करें तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर क्या वही बात आज-कल भी चरितार्थ है?

एक गोत्र या एक गाँव में रहनेवालों को वहाँ से अलग हुए हज़ारों वर्ष बीत गये; उन लोगों के उस पुरातन कुटुम्ब-भाव का सर्वथा तिरोभाव हुए भी हज़ारों वर्ष हो गये; पर अन्धपरम्परा उस पुरानी रूढ़ि का पिण्ड नहीं छोड़ती। उनमें उस समय की और बातें तो प्रायः सभी समूल नष्ट हो गईं; पर गोत्र की विस्मृति नहीं हुई। यह गोत्र-स्मृति आज-कल ब्राह्मणों में विवाह के समय कितना विघ्न उपस्थित करती है, यह बात भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। दस हज़ार वर्ष पहले वामदेव के गोशाले के इर्द गिर्द अपनी गायें रखनेवालों के वंशज, वहीं रहनेवाले अन्य लोगों के दूर दूर बिखरे हुए अधस्तन वंशधरों से, सगोत्रता जोड़ते और उनके लड़कों, लड़कियों को अपने ही वंश में उत्पन्न बताते हैं!

फिर सगोत्रता ही का झगड़ा हो, सो बात नहीं। भिन्न-

गोत्रता भी कहीं कहीं बचानी पड़ती है। कारण यह बताया जाता है कि अमुक अमुक गोत्रों में परस्पर पटती नहीं। गोत्रों गोत्रों में जब न पटती थी तब न पटती थी। अब न पटने का क्या कारण? करोड़ों गायें बदले में देने के लिए तैयार होने पर भी विश्वामित्र को वशिष्ठ ने जब अपनी मनों दूध देनेवाली गाय न दी तब विश्वामित्र ने डाका डाल कर वह गाय वशिष्ठ से छीन ली। इस दशा में पारस्परिक शत्रुता का स्मरण करके इन दोनों के गोत्रवालों ने यदि आपस में विवाह-सम्बन्ध न करने की प्रतिज्ञा करली तो ठीक ही किया। ऐसे ही और गोत्रवालों में भी इसी तरह का वैर-भाव होगया हो और उन्होंने आपस में सम्बन्ध जोड़ना छोड़ दिया हो तो तब उसका कारण था। अब, अनन्तकाल बीत जाने पर भी, यदि आप कहें कि अमुक गोत्रवालों से हमारे गोत्र का मेल नहीं खाता तो क्यों? बात क्या है! किस वैर-भाव का स्मरण आप करते हैं? बताइए तो। कारण इसका केवल अन्धपरम्परा ही है या और कुछ? पर इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले लेखक की दलीलों का व्यङ्ग्य या असली मतलब खूब समझ लीजिएगा।

न पटने की तो यह बात हुई। एक बात और भी बड़े मज़े की है। कुछ गोत्रवाले कुछ अन्य गोत्रवालों को अपनी बिरादरी का बताते हैं। अतएव परस्पर शादी-व्याह नहीं करते। कल्पना कर लीजिए कि किसी के मत में कश्यप और शाण्डिल्य गोत्रवालों में भाईचारा है। ऐसों से प्रार्थना इतनी ही है कि आप इस तरह के भाईचारे को जब मानते हैं तब अपने परम पूज्य पुराणों की आज्ञा को भी शिरोधार्य समझते ही होंगे। अच्छा, तो कृपा करके ब्रह्माजी के मानस-पुत्रों को याद कीजिए। फिर इस बात की याद कीजिए कि उन्हीं मानस-पुत्रों की कृपा से हम, आप और अन्य सभी लोग अस्तित्व में आये हैं। इस दशा में ब्रह्मा बाबा की सन्तान होने के कारण हम सबको अब अन्य जातियों या अन्य-देश-वासियों से ही विवाह-सम्बन्ध करना चाहिए। अब तक जो भूल हुई उसका प्रायश्चित्त कीजिए और बिगड़ी हुई बात को अब तो बना लीजिए।

राम राम करके, इस गोत्र-विषयक बादरायण-सम्बन्ध से, बड़ी दौड़-धूप के बाद, किसी तरह छुट्टी मिलने पर, जन्म-पत्र मिलाने का मसला उपस्थित हो जाता है।

गोत्रविषयक वैर-भाव या सख्य-भाव की बहुत पुरानी याद हमें सिर्फ़ विवाह-सम्बन्ध करने के समय ही आती है। ईसवी सन् के सात हज़ार वर्ष पहले कौशिक-गोत्र के भीम-भल्लट राजा ने मेरे तत्कालीन पूर्वज मल्हण की "माफ़ी" छीन ली थी। इस कारण भल्लट के परवर्ती समस्त वंशज मेरे शत्रु हैं। अथवा मेरे पूर्वज वामदेव और आपके पूर्वज वशिष्ठ हार्दिक मित्र थे। इस कारण हम तुम दोनों ही दिली दोस्त हैं। इस तरह के विशुद्ध तर्क से जैसे गोत्र-मेलन के विषय में काम लिया जाता है, ठीक वैसे ही जन्मपत्र-गत ग्रहों के विषय में भी किया जाता है। आकाशस्थित ग्रह हम लोगों से करोड़ों कोस दूर हैं। वे परस्पर भी एक दूसरे से करोड़ों कोस दूर हैं। पर विवाह-कार्य्य में ऐसे ही ग्रहों का मेल मिलाने की बहुत बड़ी ज़रूरत पड़ती है। गवर्नमेंट ख़िलाफ़ हो, कुछ परवा नहीं। पास-पड़ोस का कोई राजा या रईस शत्रुता रखता हो, कुछ परवा नहीं। अपने रिश्तेदार और बन्धु-बान्धव अपने से बिगड़े हों और प्रस्ताव किये गये विवाह को बुरा समझते हों, कुछ परवा नहीं। विवाह के समय अपने रूठे हुए पड़ोसियों के उपद्रव मचाने का पूरा डर हो, कुछ परवा नहीं। परवा, और बहुत बड़ी परवा होती है तो एक कोटि कोस दूर, आकाश में बैठे हुए, सूर्य्य-चन्द्रमा और राहु-केतु आदि ग्रहों की!

इन ग्रहों की आपस में लड़ने झगड़ने की शक्ति इतनी अधिक है—ये लोग एक दूसरे पर छापा मारने की इतनी अधिक तैयारी में रहते हैं—कि हम, हिन्दू लोगों, को भी इस विषय में इनसे सबक़ सीखना चाहिए! ऊपर से देखने में तो इन लोगों के पारस्परिक झगड़े-फ़िसाद का कोई कारण ही नहीं देख पड़ता। हमारी पृथ्वी तो वायु-मण्डल के रूप में एक चादरा भी ओढ़े रहती है। उसके पुत्र कुज (मङ्गल) के पास भी इसी तरह की एक दुपटिया है। पर और लोग—और ग्रह—इतने कङ्गाल हैं कि उनके पास ओढ़ने बिछाने तक का सामान नहीं। लड़ाई, झगड़े प्रायः परस्वापहरण के लिए अथवा ईर्षावश ही हुआ करते हैं। पर इन कारणों का यहाँ सर्वथा अभाव है। हाँ काले रङ्ग के और नङ्गे बदन के शनि ने अलबत्ते, अन्न-वस्त्र की परवा न करके, हम लोगों ही की तरह, विपत्ति के समय काम आने के लिए, अपने

हाथों अथवा बदन के इर्द गिर्द दो कड़े अवश्य ठोंक रक्खे हैं। पर इन लोगों के पास लड़ाई करने और एक दूसरे पर शस्त्र चलाने के साधन हों या न हों, हमारे ज्योतिषी, श्रीमान् पुत्तू पण्डित, जन्म-पत्र खोलते ही, इन ग्रहों की पैतड़ेबाज़ी, दाँव-पेच और मार-काट की रोमाञ्च-कारिणी कथा धड़ाधड़ सुनाने लगते हैं। इससे विवाह तभी सकुशल हो सकता है और वधू-वर भी तभी सुख से रह सकते हैं जब इन "मरकहे" ग्रहों की पूर्ण कृपा सम्पादित कर ली जाय। और, हम लोग पण्डितजी की कथा का अक्षर अक्षर सच समझते हैं!

हमारे पूर्वज लगध, जैमिनि, गर्ग, पराशर आदि भी बड़े विलक्षण बुद्धिमान् थे। उन्हें इस बात की ख़बर थी कि उनके लाड़ले ये ग्रह बड़े लड़ाके हैं। बिना लड़े भिड़े इन्हें कलही नहीं। लगध बाबा और उनके भाईबन्द आठ कनौजिए और नौ चूल्हेवाली रीति के क़ायल थे ही। इसलिए उन्होंने कहा, लाओ, इन ग्रहों के रहने के लिए जन्मपत्र-नगरी में जुदा जुदा और दूर दूर बारह घर बना दें। ऐसा करने और हर घर की हदबन्दी कर देने से आपस में लड़ने झगड़ने का कोई कारण ही न रह जायगा। सब अलग अलग रहेंगे। जो लोग कुछ अधिक लड़ाके हैं वे दो एक घर बीच में ख़ाली छोड़ कर ज़रा और दूर रहेंगे। इससे उन्हें दूसरे घरवालों पर नज़र डालने या उनकी बातें सुन लेने का मौक़ा ही न मिलेगा। फिर ये लड़ेंगे क्यों? यही सोच समझ कर वे आठ कनौजिएवाली प्रवृत्ति की सीमा के भी बाँस भर और आगे निकल गये। वहाँ आठ के लिए नौ चूल्हे दरकार होते हैं, यहाँ नौ ग्रहों के लिए बारह घर उन्होंने बना दिये। पर ग्रहों ने इन बुड्ढों की सारी उस्तादी पर हरताल लीप-पोत कर उन्हें काठ का उल्लू बना दिया। अलग अलग रहना तो दूर; वे दो दो, तीन तीन, चार चार, एक ही एक घर में घुस पड़ने और बाक़ी के घरों को उजाड़ देने लगे। ऐसी गति को प्राप्त होने पर जन्माङ्ग-नगर उसी तरह शोभा-सम्पन्न दिखाई देने लगे जिस तरह कि उजड़े हुए भारहट, साँची, कोसम (कौशाम्बी), देवगढ़ आदि प्राचीन नगर दिखाई देते हैं। हाँ, यदि कभी लगध और पराशर बाबा की लागधी और पाराशरी नीति का अनुसरण करके, उनकी आत्माओं को प्रसन्न करने की इच्छा हुई तो, छठे छमासे ये नव-ग्रह एक एक अलग अलग घर में भी जा बैठते हैं। उन्हें इस स्थिति में अलग अलग रहते देख मरी और मंसूरी, शिमला और नैनीताल अथवा कानपुर की सिविल लाइन्स में, अपने अपने बँगले में, अलग अलग रहनेवाले, अँगरेज़ों और उनके चेले-चाटी मनचले हिन्दुस्तानियों, की आबादी का नज़ारा नज़र के सामने आ जाता है।

पर कहीं आप यह न समझ लीजिए कि अलग अलग रहने पर ये बिगड़े-दिल ग्रह दूसरों के छल-छिद्र नहीं देखते, दूसरों पर नज़र नहीं डालते, दूसरों के घर नहीं झाँकते। ऐसा न करना तो इनकी छठी में लिखाही नहीं। चाहे ये अलग रहें, चाहे दो चार एकही में, परस्पर एक दूसरे की ताक-झाक किये बिना इनसे रहा ही नहीं जाता। दूर दूर रहने पर भी पूरी न सही; त्रिपाद, द्विपाद अथवा एकपाद नामक अपनी तिरछी नज़र से ये एक दूसरे को देखना कदापि नहीं छोड़ते। वधू-वर के भावी सङ्गम के समारम्भ पर भला ऐसे ग्रहों की तीव्र दृष्टि न पड़ेगी, यह क्या कभी संभव हो सकता है? पर ज्योतिषी जी महाराज इसी असम्भव बात को सम्भव कर दिखाने की चेष्टा किया करते हैं। यदि साधारण चेष्टा में वे विफल-मनोरथ हुए तो पूजापाती चढ़ाने अथवा मुँह मीठा कर देने पर वे ज़रूर ही सफल हो जाते हैं और ग्रहों की तिरछी से भी तिरछी नज़र को, किसी न किसी तरह, तीर की तरह सरल कर देते हैं। सो ठीक ही है—

"मृदङ्गो मुखलेपेन करोति मधुरध्वनिम्"

ग्रहों के शत्रु-मित्र-भाव भी अनादिसिद्ध हैं। त्रिकाल में भी वे बाधित नहीं। प्रमाण दरकार हो तो एक उदाहरण लीजिए। गुरु-पत्नी के साथ की गई शशलाञ्छन की शरारत क्या गुरुवर, बृहस्पतिजी, आकल्पान्त भूल सकते हैं? ग्रहों के शत्रुमित्रत्व का बलाबल उनके घर की परिस्थिति ही पर अवलम्बित रहता है। तथापि उनके लड़ाई-झगड़े, कभी थोड़ी कभी अधिक मात्रा में, अव्याहत होते ही रहते हैं। हमारी समझ तो कुछ ऐसी है कि दुनिया में जितनी

घटनायें—घटनायें ही० नहीं, अघटित घटनायें भी—होती हैं, किसी न किसी अंश में, उनका कारण ये नटखट ग्रह ही होते हैं। कुछ समय हुआ, किसी अख़बार में पढ़ा था कि विहार-प्रान्त में किसी जगह ख़ून की वर्षा हुई। हो न हो, यह भी किसी ग्रह की ही कारस्तानी होगी। अन्यथा आसमान में मार-काट करनेवाला और कौन हो सकता है? इनमें से भी मङ्गल की कुछ न पूछिए। नाम तो आपका है मङ्गल, पर स्वभाव आपका बड़ा ही उग्र, बड़ा ही हठी, बड़ा ही दुराग्रही है। वैवाहिक विचार में पहले आपकी मिज़ाजपुरसी करके तब कहीं औरों की तरफ़ ध्यान देने की बारी आती है। योरपवालों के पुराणों में आप वीर-रस के नायक माने गये हैं। आपकी यह आख्या सचमुच ही यथार्थ है। और ग्रह तो ऐसे हैं कि यदि ज्योतिषीजी या पण्डितजी महाराज बीच-बचाव करने पर आमादह हो गये तो दान-दक्षिणा लेकर और पूजा-अर्चा कराकर किसी तरह राज़ी भी हो जाते हैं। पर वीरवर मङ्गल, हज़ार सिर पटकने पर भी, राज़ी होना जानते ही नहीं। वे नाराज़ हुए तो सब गुड़ मिट्टी हो गया समझिए। सभी देशों के हिताहित-सम्बन्ध की ओर पूरी नज़र रख कर, दो देशों में परस्पर सन्धिस्थापना की चेष्टा करानेवाले लायड जार्ज के सदृश चाणाक्ष मन्त्री को कितनी चतुरता और सावधानता से काम लेना पड़ता है, यह बात पाठक सहज ही जान सकते हैं। विवाह-घटक, हमारे पुज्य पण्डितजी को भी, प्रति-लायड-जार्ज ही समझिए। ग्रहों के स्वभाव आदि को ख़ूब समझ कर—उनके स्थानानुरूप परस्पर-सम्बन्ध को आँखों के सामने रख कर—वधूवरों की जन्म-पत्रिकाओं के आधार पर विवाह निश्चित करनेवाले पण्डितजी के पाण्डित्य और बुद्धि-वैशद्य की काफ़ी प्रशंसा करके पार जानेवाला हमें तो कोई दिखाई देता नहीं!

उम्मेदवार या पसन्द किये गये वर की जन्मपत्रिका का विचार, कन्या के जन्मग्रहों के आधार पर करना कोई सरल काम नहीं; बड़ा टेढ़ा काम है। विश्वविद्यालयों की परीक्षायें पास करने में जैसे हर विषय में नम्बरों की निश्चित संख्या प्राप्त किये बिना उम्मेदवारों का निस्तार नहीं, ठीक वैसाही हाल इस वैवाहिक विचार-विभ्राट् का है। क्योंकि यहाँ भी नंबरों (गुणों) की संख्या ३६ नियत है। पर ऐसा मौक़ा शायदही कभी आता होगा कि गुणों का यह पूरा टोटल प्राप्त हो जाय। इसी से जैमिनि आदि पुराने बड़े-बूढ़ों ने कुछ सुभीता कर दिया है। उन्होंने अपने विवाह-कोड में लिख दिया है कि कम से कम (Minimum) १८ गुण मिल जाने से भी वधू-वरात्मक संयोग-विचार पास समझा जायगा। परन्तु, लोग धड़ाधड़ विवाह करके भारत की जन-संख्या सीमा के बाहर न बढ़ा दें, यह सोच कर उन्होंने एक कठिनाई भी उपस्थित कर दी है। वह इस तरह कि फ़ी सदी ५० गुण प्राप्त करने में, जन्मपत्रिका के किसी आन्तरिक विषय में फेल हो जाने से, विवाह करने की इजाज़त नहीं मिल सकती। सभी आवश्यक विषयों में पास होना ही चाहिए। इन आन्तरिक विषयों की संख्या ८ है। उनमें से प्रत्येक के लिए गुणों की संख्या निश्चित करदी गई है। यथा—वर्णगुण १, वश्यगुण २, तारागुण ३, योनिगुण ४, ग्रहगुण ५, गणगुण ६, राशिगुण ७ और नाड़ीगुण ८—इनमें से प्रत्येक की बारीकी बताने का सामर्थ्य हममें नहीं। जो कुछ बता दिया उसी को "लिखा थोड़ा, समझना बहुत" चाहिए। हाँ, यहाँ पर "नाड़ी" शब्द को देख कर एक बात ज़रूर याद आ गई। उसे लिखना ही पड़ेगा, क्योंकि उससे हमारे ज्योतिषीजी के विश्वव्यापी विजय की घोषणा हो जायगी—

एक बी० ए० पास कान्यकुब्ज-कुमार ने विवाह करने का निश्चय किया। घर में केवल बूढ़ी माँ थी। कुमारजी की प्रतिज्ञा थी कि बी० ए० हो जाने पर ही विवाह करूँगा। आपने पहले ही से एक कन्या भी पसन्द करली थी। इस मङ्गल-कार्य की तैयारी जब होने लगी तब माँ के बहुत कहने सुनने पर कुमारजी ने ज्योतिषी विजयवल्लभ शर्म्मा को याद किया। उनके आ जाने पर आपने अपनी जन्मपत्री उनके सामने पेश की। शर्म्माजी ने उसे बड़ी देर तक बड़े ध्यान से देखा। देख कर आपने "फलादेश" कहना शुरू किया। बहुत बातें आपने कह डालीं, पर सब भविष्यत् में होनेवाली। भूतकाल की एक भी नहीं। आपके कहने का निचोड़ यह था—पूर्णायु का योग है; भाग्योदय के सभी सामान हैं; पञ्चम घर (सन्तानयोग) भी भरा-पूरा है। यह सब चुपचाप सुन कर कुमारजी ने अपनी भावी वधू का नाम

बताया और विनीतभाव से प्रश्न किया कि जिसका जन्मपत्र अभी आपने देखा उसका विवाह इस कन्या से होनेवाला है। कहिए, ठीक होगा न ? जन्मपत्री कन्या की थी ही नहीं जो शर्म्माजी को विचारविमर्श में देर लगती। आपने उँगलियों पर मेष, वृष, मिथुन और चू, चे, चो, ल-अश्विनी, करके निमिष-मात्र में उत्तर दिया—विवाह नहीं बनता। यह सुन कर कुमारजी ने पूछा—क्यों ? उत्तर मिला—आदि नाड़ी लगती है, जिसका फल शास्त्र में लिखा है—

आदिनाडी वरं हन्ति

शर्म्माजी के मुँह से यह श्लोकपाद निकलते ही बी० ए० पास का चेहरा तमतमा गया। वह बोला—

ज्योतिषीजी होश में आइए। अभी अभी आपने मेरे जन्मपत्र में पूर्णायु-योग बताया और अब आप कहते हैं कि इस लड़की के साथ यदि मैं विवाह कर लूँगा तो आदिनाड़ी लगने के कारण मैं मर जाऊँगा ! जिस पोथी के अनुसार मेरी आयु आपने पूर्ण बताई या तो आप उसे जाकर गङ्गा में डुबो दीजिए, या उस पोथी को जिसमें "आदिनाड़ी वरं हन्ति" लिखा है। दोनों में से एक के विचार ज़रूर ग़लत हैं। यदि नहीं, तो आप इस विरोध का परिहार कीजिए। बोलिए, आप क्या जवाब रखते हैं ? इस पर शर्म्माजी के मुखारविन्द से जो जवाब निकला वह था—"ह ह ह ह हा" !

जिनको ज़माने की हवा लगी है वे—विशेष करके अँगरेज़ीदाँ लोग—जन्मपत्र उर्फ़ टिपना देख कर विवाह-निश्चय करने के धार्म्मिक घटाटोप की बड़ी कड़ी समालोचनायें किया करते हैं। वे कहते हैं कि योरप, अमेरिका, चीन और जापान की जाने दीजिए, अपने ही देश के मुसल्मान, बौद्ध और पारसी कहाँ जन्मपत्र का मेल मिला कर विवाह करते हैं। वे न गोत्र-विचार करते हैं और न ग्रहादि के गुणधर्म्म का विचार करते हैं। वे यदि कुछ विचार करते हैं तो केवल वधू-वर के गुणधर्म्म का। तिस पर भी उनकी वैवाहिक स्थिति हम लोगों ही की तरह, किम्बहुना हमसे भी अधिक, सुखद होती है। क्या उनमें हम लोगों की अपेक्षा रँडुओं और विधवाओं की संख्या अधिक है ? क्या जन्मपत्रों के मेल का हज़ार विचार करने पर भी यदा कदा विवाह-मण्डप के नीचे ही हैज़े से वधू-वर नहीं मर जाते ? मगर बाबा लगध और पितामह पराशर की हाँक हम लोगों पर कुछ ऐसी हावी है कि ऐसे लोगों के युक्ति-वाद का असर हम पर ज़रा भी नहीं होता। लड़की उपवर हुई कि लगे कुण्डलियों (जन्मपत्रों) की खोज करने और दूर दूर तक के लड़कों के नाम "उतरवाने" ! ज्योतिषाचार्य्यों ने साफ़ लिख रक्खा है कि जन्म-समय के ज्ञान में मिनट दो मिनट की भी भूल हो जाने से ग्रहों की स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है, पर इसकी क्या परवा ? जन्मपत्र का मेल मिल जाना चाहिए, फिर चाहे वह साद्यन्त ही ग़लत क्यों न हो। एक बात बड़ी दिल्लगी की है। वह यह कि हम लोगों में लड़कियों के जन्मपत्र १०० में शायद किसी एक ही भूले-भटके घर में बनवाये जाते होंगे। यहाँ तक कि अधिकांश लड़कियों का राशि-नाम तक ज्ञात नहीं रहता। परन्तु, फिर भी, विचार के विराट् विभ्राट् से छुटकारा नहीं मिलता। राशि के नाम से विचार न सही, कहने ही के नाम से हो जाय। कुछ भी हो, हो जाय ज़रूर। कभी कभी तो लड़के का भी जन्मपत्र नहीं रहता। अतएव कहीं राशि-राशि के नाम से, कहीं एक के राशि-नाम तो दूसरे के कहने के नाम से, और कहीं दोनों ही के कहने के नाम से विचाराडम्बर की लकीर पीटी ज़रूर जाती है। इस रूढ़ि-पालन की मर्य्यादा-रक्षा के कारण उपवर कन्याओं के गुरुजनों को जो कष्ट उठाने पड़ते हैं वे वर्णनातीत हैं। इसकी कृपा से अच्छे, रूपवान्, सुशील, तन्दुरुस्त और पढ़े-लिखे लड़के छोड़ना और निरक्षर, कुरूप और विकलाङ्ग वरों के साथ बेचारी कन्याओं का गठिबन्धन करना पड़ता है। ये दलीलें आप हमारी न समझें; उनकी समझें जिन्हें इस प्रकार के विचार पर श्रद्धा नहीं—जो सुधारक कहाते हैं और जिन्हें इस प्रान्त के देहाती मनुष्य 'अँगरेजिहा' की उपाधि से विभूषित करते हैं।

लड़के-लड़की के जन्म-समय का सम्पूर्ण ज्ञान हुए बिना ठीक ठीक जन्मपत्र नहीं बन सकता, यह सच है। पर जन्मपत्र बनते ज़रूर हैं। फिर चाहे आप उनको

जन्मपत्र समझें, चाहे रद्दी कागज़ के टुकड़े। जिन ज्योतिषाचार्य्यों ने अपनी विमल बुद्धि के सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र के सहारे राम और कृष्ण आदि पुण्य-पुरुषों की 'कुण्डलियाँ' बना कर पुराणों में दर्ज कर रक्खी हैं उन्हीं के भाई-बन्द यदि यः कश्चित् मनुष्यों के लड़कों लड़कियों के जन्मपत्र, उसी प्रकार के बुद्धियन्त्र के बल पर, बना डालें तो क्या आश्चर्य्य! देहात में घड़ी-घण्टे तो बजते नहीं। धूप-घड़ियाँ या जल-घड़ियों के कटोरे भी होते नहीं। पर जन्मपत्र बनाने पड़ते ही हैं। सो भी कब? बच्चा होने के दस पांच दिन या महीने दो महीने बाद, सुभीता होने पर। तब कहीं ज्योतिषीजी की शरण ली जाती है। उनसे कहा जाता है—रामू के भाई हुआ है अथवा मन्नू के लड़का हुआ है। आषाड़ के उजेले पक्ष में हुआ था। उस दिन प्रदोष का व्रत था। शाम का वक्त था। गायें चर कर घर आगई थीं। अथवा दोपहर को छूटने के बाद मज़दूर काम पर फिर आगये थे। अथवा थोड़ी ही रात रह गई थी; 'सुकवा' का उदय हो आया था। समय के इसी निर्भ्रान्त और अचूक ज्ञान के आधार पर ज्योतिषीजी महाराज जन्मपत्र की ऊँची इमारत उठाते हैं और इसी ज्ञानालोक के द्वारा देखी गई लग्न और ग्रहादि की स्थिति का निश्चय करते हैं। फिर इसी पर अविचल विश्वास करके, विवाह-काल उपस्थित होने पर, लड़कों लड़कियों के आमरण भाग्यविधान का अनुष्ठान होता है। अँगरेज़ी-भाषा की बू से बिगड़े हुए दिमाग़वाले लोग इसी तरह के अन्धविश्वास के प्राबल्य से विचलित होकर कह बैठते हैं—रूढ़ि तेरी जय! अनन्त घर घालने पर भी तुझे तृप्ति नहीं!

जन्मपत्र का वैवाहिक मेल मिलाने के सम्बन्ध में, सन्तोष-प्राप्ति के लिए भी यदि किसी का कुछ अवलम्ब है तो केवल हमारे ज्योतिषीजी महाराजों—केवल हमारे पुत्तू पण्डितजी के सदृश गर्गाचार्य्यों—की उदारता का। अनन्य-भाव से उनकी शरण जावे और पत्रपुष्प से उनकी पूजा-अर्चा करने से वे दयार्द्र हुए बिना नहीं रहते। क्योंकि

> आत्मार्पणप्रणयिनां नवदर्शनेऽपि
> जात्यैव पेशलधियः सदया भवन्ति

रात को किसी भी समय बच्चा होने पर, बिना घड़ी-घड़ियाल के ही लग्न का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेने की शक्ति जैसे ज्योतिषाचार्यों में है वैसे ही ग्रहों की चाल बदल देने की भी शक्ति उनमें है। वे चाहें तो सूर्य्य, चन्द्रमा आदि ही की नहीं, क्रूरग्रह राहु और केतु की भी गति सहज ही में बदल सकते हैं। उनकी आज्ञामात्र से ही ग्रह-समुदाय अपनी गति बदल देता है और जहाँ, जिस घर में, जिस समय वे आज्ञा दें वहीं वह ठहर जाता है। बस सारा काम बन जाता है। एक नहीं, अनेक जन्मपत्र सङ्गति-समेत तैयार हो जाते हैं और पसन्द किये गये वर के साथ कन्या का पाणिग्रहण हो जाता है। ऐसे सर्वसमर्थ आचार्य्यपुङ्गव की जितनी पूजा की जाय सब थोड़ी है—

> आत्मापि तस्मै दातव्यः किं पुनः कनकादयः

विवाह-निश्चय के पहले, धर्म्मभीरु हिन्दुओं के यहाँ जिस पञ्चाङ्ग का विचार किया जाता है उसके पाँचों अङ्गों का उल्लेख ऊपर, एक जगह, किया जा चुका है। उनमें से केवल दो अङ्गों का—गोत्र और जन्मपत्र का—विचार यथामति, थोड़े ही में, हमने यहाँ पर कर दिया। अवशिष्ट ३ अङ्गों के विचार की उतनी ज़रूरत नहीं। उनमें से कुल-शील और वर के गुण-दोषों का विचार तो बिलकुल ही गौण है। हाँ, दहेज़ महत्त्व का अङ्ग अवश्य है। पर केवल अधिकारी जन ही उस पर कुछ कहने का साहस कर सकते हैं। हम नहीं। हमारी तो वहाँ तक पहुँचही नहीं—

> जिहि मारुत गिरि-मेरु उड़ाहीं
> कहहु तूल किहि लेखे माहीं

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विश्व-साम्राज्य।

संसार में आज तक कितने विशाल साम्राज्य स्थापित हुए, परन्तु कुछ समय के बाद उनका आधिपत्य नष्ट हो गया। अब उनके ध्वंसावशेषों से उनके वैभव का अनुमान किया जाता है। संसार की रङ्गभूमि में साम्राज्यों का यह अभिनय देख

कर यह प्रश्न होता है कि क्या कोई साम्राज्य चिरन्तन नहीं हो सकता। जो लोग उत्थान और पतन को प्रकृति का नियम समझते हैं उनका यह विश्वास है कि कोई भी साम्राज्य चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकता। जिस शक्ति से कोई जाति उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है उसी से अन्त में उसका पतन होता है। जो शक्ति उद्भाविनी है वही संहारिणी है। परन्तु साम्राज्यों के इस उत्थान-पतन से मानव-जाति उन्नति ही के पथ पर अग्रसर हुई है। भिन्न भिन्न जातियों के सङ्घर्षण से मानव-जाति की अन्तर्निहित शक्ति उद्दीप्त ही होती गई। यद्यपि यह कोई नहीं जानता कि मानव-जाति का भविष्य क्या है तथापि अतीत काल से शिक्षा ग्रहण कर मनुष्य अपने भविष्य भाग्य का निर्माण कर रहा है। यदि वह अतीत-काल के भ्रमों का संशोधन कर सका तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संसार का भविष्य उज्ज्वल है। इसी दृष्टि से यहाँ हम संसार के भिन्न भिन्न साम्राज्यों पर विचार करना चाहते हैं।

संसार का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जाता है—प्राचीन-काल, मध्ययुग और नवोत्थित-काल। पूर्वैतिहासिक काल में मानव-जाति की कैसी अवस्था थी, यह पुरातत्त्व का विषय है। जब हम ऐतिहासिक काल का निरीक्षण करते हैं तब हम सभ्यता का भव्य रूप ही देखते हैं। प्राचीन-काल में भारत, चीन, मिस्र, ग्रीस और रोम उन्नतावस्था में थे। प्राचीन-काल में जो जातियाँ असभ्य समझी जाती थीं उनका प्राबल्य मध्ययुग में हुआ। इस युग में मुसलमानों की विशेष श्री-वृद्धि हुई। उनका पतन होने पर आधुनिक योरप का आधिपत्य बढ़ा। इन तीन युगों में तीन विभिन्न भावों की प्रधानता रही। प्राचीन युग में व्यक्तित्व की प्रधानता थी। मध्ययुग में धर्म ने राजनीति को आक्रान्त कर लिया। वर्तमान काल में व्यवसाय और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि प्राचीन युग में व्यक्ति, मध्ययुग में समाज और वर्तमान युग में राष्ट्र प्रबल हुए।

इतिहास में काल-विभाग की यह कल्पना भ्रामक हो सकती है। इसका कारण है मानव-जाति का स्वभाव-वैचित्र्य। सभी काल में भिन्न भिन्न आदर्शों में एक प्रकार का सङ्घर्षण होता रहता है। आदर्शों के इस पारस्परिक सङ्घर्षण से समाज का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। कहा जाता है कि History repeats itself अर्थात् अतीत-काल की घटना वर्तमान काल में फिर अपने पूर्व रूप में आजाती है। परन्तु इतिहास की सभी घटनाओं पर काल का प्रभाव ऐसा चिरस्थायी होता है कि कोई भी बात अपने पूर्वरूप में नहीं आ सकती। वृद्ध बालक का अभिनय कर सकता है पर वह बालक नहीं हो सकता। मतलब यह कि मानव-स्वभाव की परिवर्तन-शीलता के कारण भिन्न भिन्न कालों में तदनुकूल भिन्न भिन्न आदर्श स्थिर होते हैं। परन्तु इन पर अतीत की छाया बनी रहती है। वर्तमान युग में प्राचीन-काल का आदर्श स्वीकृत हो सकता है, पर परिवर्तित रूप में ही उसका अनुसरण किया जा सकता है। इसी लिए जब हम यह कहते हैं कि प्राचीन युग में व्यक्ति प्रधान था और मध्ययुग में समाज तब उसका मतलब यही है कि प्राचीन युग में व्यक्ति और समाज का सङ्घर्षण था और वही मध्ययुग में भी विद्यमान रहा। इसी प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर व्यक्ति और

समाज का सङ्घर्षण लुप्त नहीं हुआ। अब सभी देशों में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में सङ्घर्षण हो रहा है।

प्राचीन-युग में भारत, ग्रीस और रोम सभ्यता के केन्द्र थे। सभी सभ्यताओं में मनुष्यों का कोई न कोई आदर्श पाया जाता है। उसी आदर्श पर उसका सामाजिक और राजनैतिक जीवन का सङ्गठन होता है। भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा की सम्पूर्णता ही जीवन का एक-मात्र लक्ष्य थी। इस आदर्श पर समाज का विभाग भी किया गया जिससे विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों की सम्पूर्णता के लिए भिन्न भिन्न व्यवस्थायें निश्चित कर दी गईं। भारतवासियों ने व्यक्ति को प्रधानता देकर उस पर राष्ट्र और समाज का अधिकार कम कर दिया। राष्ट्र अथवा समाज व्यक्ति का प्रतिबन्धक नहीं था किन्तु उसके इष्ट-साधन में सहायक था। राष्ट्र नियन्ता नहीं था, वह देश-रक्षा का उपाय-मात्र था। श्रम-विभाग के अनुसार राजा के हाथ में देश-रक्षा का भार सौंपा गया। परन्तु राजा पर समाज अवलम्बित नहीं था। समाज की जीवन-शक्ति राज-सभा में नहीं थी किन्तु व्यक्ति-समूह में थी। यही कारण है कि हिन्दू-साम्राज्य का विध्वंस हो जाने पर भी हिन्दू-समाज छिन्न-भिन्न नहीं हुआ और न उसकी चिरकालार्जित आदर्श-सम्पत्ति ही नष्ट हुई। प्राचीन भारत का वैभव उसकी पार्थिव क्षमता नहीं था, यद्यपि उसकी यह क्षमता भी ख़ूब बढ़ी-चढ़ी थी। प्राचीन भारत का गौरव आज तक अक्षुण्ण है और वह है उसका आत्मिक विकास। उसके लिए आत्मा ही द्रष्टव्य, मन्तव्य और श्रोतव्य था। उसने दूसरे देशों में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा कभी नहीं की। यही नहीं, किन्तु उसने दूसरों को भी अपने बृहत् समाज में मिला लिया।

भारतीय आदर्श का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि देश की राजनैतिक शक्ति राजा में केन्द्रीभूत हो गई और प्रजा राज-भक्ति के आवेश में राजनैतिक सत्ता से उदासीन होगई। हिन्दू राजाओं में स्वेच्छाचारिता का अभाव अवश्य था। इसका कारण यह नहीं है कि प्रजा उनकी राजनैतिक शक्ति में हस्तक्षेप करती थी। बात यह थी। राजा समाज से पृथक् नहीं था, वह उसका अङ्ग था, और इसी लिए वह लोक-मर्यादा के विरुद्ध नहीं चल सकता था। जब कभी किसी राजा ने राजनीति के केन्द्र से बाहर आकर समाज पर आघात किया तभी उसका विरोध किया गया। भारतीय इतिहास में प्रजा-विद्रोह का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें प्रजा ने राजा की राजनैतिक सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया हो। मुसलमानों के शासन-काल में भी हिन्दू-प्रजा अपनी अवस्था से सन्तुष्ट थी। वर्तमान युग में जो अशान्ति फैली है उसका कारण यह है कि राजनीति का आदर्श ही परिवर्तित होगया है और वर्तमान युग के लिए अभी तक ऐसा आदर्श निश्चित नहीं हुआ है जो इस विश्व-व्यापी अशान्ति को दूर कर सके। अस्तु।

ग्रीस में राष्ट्रीय कर्मक्षेत्र में ही समाज की प्रकृति जीवनी शक्ति थी। कहा गया है कि ग्रीस की सभ्यता का जन्म नगरों में हुआ था। अतएव ग्रीस का प्रत्येक नगर एक राष्ट्र होगया था और इसी को पुष्ट करना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य था। ग्रीस में राष्ट्र से पृथक् व्यक्ति-गत स्वतन्त्र

जीवन नहीं था। आधुनिक योरप में अभी तक इसी आदर्श का किसी न किसी रूप में अनुसरण किया जाता है। इसी आदर्श ने व्यक्ति और राष्ट्र में विरोध उत्पन्न किया। देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि सभी लोग एक ही उद्देश्य से उसके लिए प्रयत्न करें। परन्तु उसके लिए व्यक्ति के आत्मिक विकास का बलिदान नहीं किया जा सकता। ग्रीस की अवनति का प्रधान कारण था उसकी नैतिक और आत्मिक उन्नति की असम्पूर्णता। ग्रीस की आध्यात्मिक उन्नति उसकी पार्थिव उन्नति की अपेक्षा हीन ही रही। इसी लिए जब व्यक्ति से राष्ट्र का सम्बन्ध घटने लगा तब ग्रीस के जातीय जीवन में शिथिलता आने लगी और अन्त में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के विकास से ग्रीस की सभ्यता का भी लोप होगया।

रोम ने ग्रीस के नागरिक राज्यों को नष्ट कर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। रोम की राजनैतिक सत्ता में जन-समूह का प्रभाव था। तो भी वहाँ व्यक्ति-विशेष की प्रभुता अक्षुण्ण रही। जब रोम ने संसार के अधिकांश भाग को स्वायत्त कर लिया तब उसका पार्थिव वैभव ख़ूब बढ़ गया। इस वैभव पर रोम के जन-समूह का भी अधिकार होगया। समाज के एक क्षुद्रांश में जब सम्पत्ति केन्द्रीभूत हो जाती है तब उसका कितना विषमय फल होता है यह रोम के इतिहास से सिद्ध है। रोम के सर्व-साधारण अपनी आर्थिक उन्नति और क्षमता के कारण मदोन्मत्त होगये थे। उनकी पाशव-प्रवृत्ति और दुराचार का वर्णन पढ़ कर घृणा होने लगती है। यह सच है कि रोम ने प्रजासत्ताक राज्य का जन्म दिया। उसने विद्या और विज्ञान की भी उन्नति की। परन्तु उसकी विजय-लालसा और क्षमता-वृद्धि से तत्कालीन समाज ने लाभ नहीं उठाया, परवर्ती समाज ने उससे शिक्षा अवश्य ग्रहण की। ईसाई धर्म में सांसारिक वैभव का तिरस्कार किया गया है और क्षमता के स्थान में प्रेम और सहनशीलता का आदर है। इसी धर्म ने योरप की सभ्यता का नवीन रूप दिखलाया। तब राजनीति और समाज में धर्म का प्रभुत्व स्थापित हुआ। यही मध्ययुग का प्रारम्भकाल है। शासक और शासित-वर्ग, राजा और प्रजा, दोनों के लिए समाज ने एक मर्यादा निश्चित कर दी। पोप की शक्ति का प्रधान कारण यही था कि वह लोक-मर्यादा का संरक्षक समझा जाता था। योरप उसे पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि समझता था। पोप के व्यक्तित्व पर कोई शक्ति आरोपित नहीं की गई थी। शक्ति समाज की थी और पोप उसका प्रतिनिधि था। योरप में जो स्थान पोप का था मुसलमान-साम्राज्य में वही स्थान ख़लीफ़ा को दिया गया था। पर ख़लीफ़ा मुसलमानों की राजनीति और धर्म दोनों का परिचालक था। यद्यपि वर्तमान युग में ख़लीफ़ा का वह राजनैतिक प्रभुत्व नहीं रहा जो पहले था तो भी धर्म में उसका प्रभाव अक्षुण्ण है।

मध्ययुग में मुसलमानों की ख़ूब श्री-वृद्धि हुई। सातवीं शताब्दी में मुहम्मद ने अपना मत चलाया। जिन जातियों में पहले सङ्गठन के अभाव से शक्ति नहीं थी उन्हें धर्म के सूत्र में बद्ध कर मुहम्मद ने संसार की सर्व-श्रेष्ठ जाति में परिणत कर दिया। मध्ययुग में मुसलमानों ने ही सर्वत्र विद्या और विज्ञान का प्रचार किया।

मुसलमानों की उन्नति का सबसे बड़ा कारण

यह है कि उन्होंने धर्म को राजनीति से पृथक् नहीं किया। बगदाद का ख़लीफ़ा मुसलमान-साम्राज्य का अधिपति था और वही उनके धर्म का आचार्य था। धार्मिक मुसलमान राजनैतिक शक्ति की कामना से युद्ध नहीं करता था, किन्तु वह सत्य के प्रचार के लिए अपना बलि-दान करता था। मध्ययुग की किसी दूसरी जाति में धार्मिक भावों की यह प्रबलता नहीं थी। यह सच है कि मुसलमानों के साथ जब ईसाधर्मावलम्बियों का युद्ध हुआ तब पोप की प्रार्थना पर सभी ईसाई सम्राट् सम्मिलित हुए। परन्तु सब सम्राटों का एक लक्ष्य कभी न हुआ। आत्म-रक्षा के लिए अपने समान शत्रु के विरुद्ध कुछ लोग कुछ समय के लिए एकता स्थापित कर सकते हैं, पर वह एकता चिरस्थायी नहीं हो सकती। ईसाई सम्राटों को धर्म-रक्षा से अधिक अपने देश की रक्षा का ध्यान था। वे जानते थे कि ईसाई मत की उन्नति से उनके देश की उन्नति नहीं होगी और न उसकी अवनति से उसके देश का पतन ही होगा। पोप का धार्मिक प्रभुत्व नष्ट होजाने पर फ्रांस और इँग्लेंड अधःपतित नहीं हुए। परन्तु मुसलमानों का लक्ष्य दूसरा था। ख़लीफ़ा की उन्नति से उनकी उन्नति थी और उसकी अवनति से उनका पतन था। जब संसार में व्यक्ति और समाज का सङ्घर्षण था तब मुसलमानों में यह प्रश्न उठा ही नहीं। यही उनकी उन्नति का प्रधान कारण था और यही उनके पतन का मुख्य कारण हुआ। मुसलमानों का यह धार्मिक भाव एक क्षुद्र सीमा में ही प्रबल हो सकता है। जल में पत्थर फेंकने से जो लहर उठती है वह बढ़ती जाती है। पर ज्यों ज्यों वह बढ़ती है त्यों त्यों उसकी शक्ति क्षीण होती जाती है। यही हाल मुसलमानों की धर्म-शक्ति का था। जब उनका प्रसार ख़ूब होगया तब उनकी वह शक्ति बिलकुल क्षीण होगई। जो भावना अल्पसंख्यक लोगों में विभक्त होकर तीव्र होगई थी वह बहुसंख्यक मनुष्यों में फैल कर मानों निस्तेज होगई। देशों के व्यवधान ने मुसलमानों के धार्मिक भावों को दूर कर दिया और उन्हें भी धर्म की अपेक्षा देश-रक्षा का ध्यान अधिक होने लगा। देश-रक्षा के लिए प्रजा-वर्ग की सहयोगिता चाहिए। मुसलमानों की धार्मिक भावना ने जहाँ जहाँ राजा और प्रजा में एक व्यवधान खड़ा कर दिया था वहाँ उनका आधिपत्य नष्ट होगया। जहाँ राजा और प्रजा में किसी प्रकार का धार्मिक व्यवधान नहीं था, जहाँ एक ही समाज का प्राबल्य था, वहाँ मुसलमानों का आधिपत्य आज तक विद्यमान है।

रोम-साम्राज्य के अधःपतन होने पर भिन्न भिन्न देशों के राजाओं की शक्ति बढ़ गई। सभी राजा अपने अपने स्वार्थ-साधन की चेष्टा करने लगे। सभी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे, पर यह कोई नहीं चाहता था कि किसी एक की शक्ति सब से अधिक होजाय। इसी लिए राजाओं में बल-साम्य का आदर्श निश्चित हुआ। मैत्री द्वारा कुछ नरेश मिल कर अपने पक्ष को पुष्ट करने लगे। इसी समय योरप में नव-युग स्थापित हुआ। मध्ययुग के बाद सर्वसाधारण में विद्या और विज्ञान का प्रचार होने से जो जागृति हुई उससे समाज में राजनैतिक जागृति भी हुई। समाज का राजनीति से और राजनीति का व्यवसाय से घनिष्ठ सम्बन्ध होगया। पहले तो राजा और प्रजा में राजनैतिक सत्ता के लिए बड़ा विरोध हुआ। पर अन्त में राज्य पर

राष्ट्र का ही प्रभुत्व स्थापित हुआ। राष्ट्र की प्रभुता का कारण था उसकी व्यवसाय-वृद्धि । इसका परिणाम यह हुआ कि अब राष्ट्रों के पारस्परिक विग्रह में उसी राष्ट्र का विजय हो सकता है जो सबसे अधिक समृद्धिशाली हो ।

वर्तमान युग में योरप का ही व्यवसाय सबसे अधिक उन्नत है । अमरीका और जापान की शक्ति का प्रधान कारण है उनका व्यवसाय । व्यवसाय के क्षेत्र में छोटे बड़े सभी राष्ट्र एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं । संसार के व्यवसाय को स्वायत्त करने के लिए अभी तक कई महायुद्ध हो चुके हैं । आधुनिक योरप का इतिहास एक व्यावसायिक युद्ध से आरम्भ हुआ है । गत योरपीय महासमर का भी कारण यही प्रतियोगिता है । अपनी समृद्धि के लिए अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सम्पत्ति हड़प जाने में ज़रा भी संकोच नहीं करता । परन्तु राजनैतिक सत्ता से ही यह सम्भव नहीं है । ब्रिटिश-साम्राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली है, परन्तु व्यवसाय के क्षेत्र में वह अद्वितीय नहीं है ।

अब प्रश्न यह होता है कि यह राष्ट्र है क्या ? क्या वह सजीव व्यक्तियों का समुदाय है अथवा सिर्फ़ एक निर्जीव विचार-मात्र है जिसका अस्तित्व केवल राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में है ? जब यह अवश्य कहा जाता है कि किसी देश की सम्पत्ति इतनी है तब अर्थ-शास्त्र के विद्वान् अङ्क-गणित के द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि उक्त देश के प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति इतनी है । परन्तु क्या राष्ट्र की सम्पत्ति पर प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार है ? क्या राष्ट्र की उन्नति होने पर प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर मिलता है ? बात यह है कि थोड़े ही योग्य मनुष्यों में राष्ट्र की शक्ति और सम्पत्ति विभक्त होगई है । वर्तमान अशान्ति का सबसे बड़ा कारण यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिए क्षेत्र चाहता है ।

आज तक सार्वभौम शान्ति स्थापित करने के लिए बड़े बड़े उद्योग किये गये, परन्तु सब निष्फल हुए । स्वतन्त्रता और समानता की खूब दुहाई दी गई । परन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ । कुछ विद्वानों की यह सम्मति थी कि व्यवसाय के कारण अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर इतना अवलम्बित होगया है कि एक की हानि से दूसरे की भी हानि है । एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा था कि संसार की वर्तमान व्यावसायिक स्थिति से युद्ध ही असम्भव है, युद्ध से विजेता को लाभ नहीं । तो भी युद्ध हुआ और अभी तक युद्ध हो ही रहा है । बात यह है कि जब तक मनुष्य मनुष्यत्व का आदर नहीं करेगा तब तक संसार में युद्ध होता ही रहेगा । वसुधा एक कुटुम्ब तभी हो सकती है जब मनुष्य मनुष्य से स्नेह रक्खेगा । आधुनिक सभ्यता ने मनुष्यों का मनुष्यत्व नष्ट कर दिया है । मानव-समाज एक बड़ा भारी यन्त्र होगया है जिसे अपने कल-पुर्ज़ों की परवा नहीं । वह सभ्यता का ताना-बाना बुन रहा है परन्तु वह स्वयं यह नहीं जानता कि वह उसका क्या उपयोग करेगा ।

कितने ही विद्वानों ने भविष्य संसार के लिए एक विश्व-साम्राज्य की कल्पना की है जहाँ एक भाषा, एक धर्म और एक भाव की प्रधानता रहेगी । किन्तु एक भाषा, एक धर्म और एक भाव की प्रधानता रहने पर भी मनुष्यों का पारस्परिक सङ्घर्षण बन्द नहीं होगा । जब तक राष्ट्र और व्यक्ति का एक ही

उद्देश्य न होगा तब तक अशान्ति बनी रहेगी। यह कैसे सम्भव है इसका उपदेश निम्न-लिखित मन्त्र में दिया गया है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्
तेन-त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

मनोहरलाल श्रीवास्तव

कविता।

हम प्रचलित नियम के अनुसार यहाँ कविता की परिभाषा को लेकर उलझन में पड़ना नहीं चाहते। यथार्थ में इससे कोई विशेष लाभ भी नहीं। यह एक ऐसी समस्या है जिसकी पूर्ति आज तक संसार के अनेक विद्वानों ने करने की चेष्टा की है, पर उन्हें केवल आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई है—पूर्णता से वे बहुत दूर रहे हैं। जिस प्रकार कंस की सभा में भगवान् कृष्ण के पहुँचने पर भिन्न भिन्न लोगों ने उन्हें भिन्न भिन्न रूपों में देखा था, उसी प्रकार इन परिभाषाकारों ने भी अपनी अपनी रुचि और भावों के अनुसार कविता के भिन्न भिन्न लक्षण निर्द्धारित किये हैं। यथार्थ में कविता एक ऐसी विलक्षण वस्तु है कि जब तक हम उसके तत्त्वानुसन्धानपूर्वक परीक्षण-कार्य से दूर रहते हैं तभी तक हम उसके यथार्थ स्वरूप को हृदयङ्गम कर पाते हैं। इसके विपरीत जब हमारा पाण्डित्य-ज्ञान-मदोन्मत्त 'अहंभाव' हमें पूर्वोक्त कार्यों में प्रवृत्त करता है, तब वह 'इन्द्रजाल का खेल' बन जाती है और ज्यों ज्यों हम उसे पकड़ने को आगे बढ़ते हैं त्यों त्यों वह दूर भागती जाती है। फल यह होता है कि हम उसके 'याथार्थ्य-ज्ञान' से वञ्चित रह जाते हैं। हम यहाँ अव्यक्त-परब्रह्म से कविता की समानता मानते हैं। जिस प्रकार 'अव्यक्त' का रहस्य समझने के लिए 'पाण्डित्य-बल' को एक ओर रख कर श्रद्धा-पूर्ण विनम्र-भाव से अग्रसर होना आवश्यक है, उसी प्रकार कविता का मर्म समझने को हमें परिभाषा के पचड़े में न पड़ कर अपने हृदय को श्रद्धालु बनाने की ज़रूरत है।

परमहंस रामकृष्ण ने ब्रह्म के विषय में कहा था कि संसार में यदि कोई वस्तु एक-दम अनुच्छिष्ट है तो वह यही है। यही बात यदि 'कविता' के विषय में कही जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वस्तुतः कविता का बिलकुल ठीक लक्षण बतलाना मानव-शक्ति के बाहर है।

हमारे साहित्यकारों ने लोकोत्तरानन्द-विधायक रचना का नाम काव्य रक्खा है। हम इस विषय में पाश्चात्य-पण्डितों के कथनों की चर्चा करना यहाँ अनावश्यक समझते हैं। कविता को नीति, धर्म, सदाचरण, कर्त्तव्या-कर्त्तव्य आदि विविध विषयों से सम्बद्ध कीजिए, पर 'आनन्द' से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न करते ही वह अपने प्रकृत-रूप से बहुत दूर जा पड़ती है। 'कविता' से 'आनन्द' का सम्बन्ध नैसर्गिक है। 'आनन्द' शब्द के आगे 'लोकोत्तर' विशेषण 'कविता' के महान् उद्देश्य को दर्पण की नाईं सुस्पष्ट झलका देता है। वह 'कविता' के उस पवित्रतम आत्मिक प्रदेश की ओर संकेत करता है जहाँ स्वयं देव-प्रकृति ही निवास करती है और जो इन्द्रिय-सुख-प्रधान पशु-जगत् से बहुत ऊँचा है।

हमारी समझ में कविता की उपर्युक्त परिभाषा थोड़े में ही उसके महान् उद्देश्य को प्रकट कर देती है। तथापि वह पूर्ण नहीं कही जा सकती। उसमें यह नहीं बतलाया गया कि यह 'लोकोत्तरानन्द' उसमें किन मार्गों से आता है। वस्तुतः ये मार्ग 'कल्पना' और 'भाव' के राज्य में से निकलते हैं। अतएव 'कल्पना' और 'भाव' को सदा कविता के अन्तर्भुक्त ही समझना चाहिए।

इस विषय को यहीं छोड़ कर अब हम अति संक्षेप में यह देखने की चेष्टा करते हैं कि मानव-समाज में कविता का क्या स्थान है और इन दोनों का सम्बन्ध किस प्रकार अनिवार्य है। पूर्व-काल से ही 'कविता' का एक विरोधी दल 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' की पुकार मचाते हुए लोगों पर उसकी बुराइयाँ प्रकट करता आ रहा है। वर्त्तमान युग में भी यदि यह दल अपना कार्य कर रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु इतना होते हुए भी कविता कुछ मर नहीं गई। उसने विरोधों का सामना किया है, उपालम्भ और लाञ्छनाएँ सही

है, तथापि वह इन बातों की ओर से उदासीनता धारण कर बराबर अपना कार्य करती आई है। इन विरोधों से 'कविता' की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती। यह यथार्थ में 'कविता' के प्रति सभ्यता का दर्प-पूर्ण व्यवहार है। लार्ड मेकाले ने एक जगह लिखा है कि 'सभ्यता' 'कविता' की विरोधिनी है। कविता ने जब जन्म ग्रहण किया था तब सृष्टि सरलता और स्वाभाविकता की रङ्गस्थली थी। ज्यों ज्यों सभ्यता ने विस्तारलाभ किया त्यों त्यों कृत्रिमता का जाल फैलने लगा और लोगों की चढ़ी हुई आँखों में कविता की भोली-भाली सूरत गड़ने लगी।

विचार कर देखा जाय तो कविता मनुष्य-समाज का आधार-स्तम्भ जान पड़ेगी। 'समाज' का मुख्य लक्षण है जीवन, और कविता जीवन का स्रोत है। पूर्वोक्त परिभाषा में 'आनन्द' कविता का मुख्य लक्षण माना गया है। 'आनन्द' और 'जीवन' में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'आनन्द' से ही प्राणियों की उत्पत्ति है। 'आनन्दात् खलु इमानि जायन्ते भूतानि।' इससे यह सिद्ध होता है कि 'आनन्द-मयी' कविता ही हमारे 'जीवन' का जीवन है। अतएव उसे 'समाज' की आत्मा कहनी चाहिए। 'समाज' की उन्नति और सफलता के लिए पहले यह आवश्यक है कि उसे अपनी 'जीवनी शक्ति' का ज्ञान हो। यह ज्ञान उसे कविता के द्वारा ही प्राप्त होता है। 'जीवन-धारण' के लिए जीवन का 'अस्तित्व-ज्ञान' अत्यन्त आवश्यक है। कविता समाज की पतितावस्था में उसके कानों में अपना चैतन्य-दायक गम्भीर शङ्ख फूँक कर उसके हृदय में इसी 'अस्तित्व-ज्ञान' को जगाने की चेष्टा करती रहती है। इस प्रकार वह समाज को मरने से बचा कर उसके हृदय की स्पन्दन-क्रिया को जारी रखती है। यह स्पन्दन ही जीवन का मूल है। उसके बन्द होते ही मरण का अन्धकार छा जाता है। इस स्पन्दन को हम प्रचलित भाषा में 'आत्माभिमान, आत्म-गौरव, पूर्व-स्मृति, आशा, उत्साह, शक्ति-सञ्चार' आदि कह सकते हैं। पार्श्ववर्त्ती जगत् की पुकार का जवाब देना ही जीवन है। यह पुकार जहाँ सुनी नहीं जाती वहाँ जीवनाभाव और मरणाशङ्का उपस्थित समझनी चाहिए। 'कविता' समाज को सर्वदा जागृत और सचेष्ट रख कर उसे इस पुकार के सुनने में समर्थ बनाये रखती है। मतलब, उसकी चेष्टा सर्वदा इसी ओर होती है जिससे 'समाज' अपना अस्तित्व न भूले। इस विषय में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है:—

"क्या तुम नव-जात शिशु के क्रन्दन का अर्थ समझते हो? उसके पैदा होते ही पृथ्वी, आकाश, तथा जल उससे पुकार कर कहने लगते हैं—"हम हैं", और उसके उत्तर में बालक का क्षुद्र हृदय भी क्रन्दन के स्वर में चिल्ला उठता है—"मैं हूँ"। मेरी कविता बालक के इसी क्रन्दन के समान है। वह विश्व-जगत् की पुकार का उत्तर है।"

'समाज' में कविता का स्थान निर्णय करने के लिए इतना वक्तव्य काफ़ी है। इस अवस्था में भी यदि कविता समाज-घातिनी समझी जाय तो यह निश्चय ही मानव-बुद्धि की विडम्बना है। लोग कविता के साथ साथ कवियों पर भी प्रहार करने से नहीं चूकते। वे उनके कतिपय स्वाभाविक दुर्गुणों की ओर लक्ष्य करके उनकी भर्त्सना करते हैं। किन्तु रवीन्द्रनाथ के कथनानुसार यदि कभी यह सम्भव होता कि दुनिया कवियों से एक-दम ख़ाली कर दी जा सकती तो उनके एकान्त अभाव में इस बात का ठीक ठीक पता लगता कि कर्मशील मनुष्यों की शक्ति तथा कार्य-क्षमता का उद्गम-स्थान क्या है तथा मानव-जीवन की धारा किस पार्वतीय झरने से जल प्राप्त करती है। अस्तु।

अब ज़रा कविता की उत्पत्ति का प्रश्न लें। जहाँ विज्ञान का अन्त होता है वहीं से कविता का आरम्भ समझना चाहिए। विज्ञान भौतिक वस्तुओं की शास्त्रीय परीक्षा समाप्त कर जब प्रत्यावृत्त होता है तब कविता धीरे धीरे आगे पैर बढ़ाती है। मानव-स्वभाव की सृष्टि कुछ इस ढङ्ग से हुई है कि वह भौतिक वस्तुओं का बहिरङ्ग-विवरण प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि उस पर उनके सौन्दर्य का एक विशेष प्रभाव पड़ता है और वह उसका गूढ़ रहस्य जानने के लिए व्याकुल हो उठता है। इस पिपासा की निवृत्ति वैज्ञानिक परीक्षाओं से नहीं होने की। वस्तुगत 'सौन्दर्य' और उनके अन्त-

निहित 'रहस्य' की प्रेरणाएँ ही कविता की जड़ हैं। यहीं 'कविता' से 'अव्यक्त' का सर्व-प्रथम सम्मिलन होता है, जो कभी विच्छिन्न नहीं होता। इस रहस्य-पूर्ण सौन्दर्य-दर्शन से हमारे हृदय-सागर में जो भाव-तरङ्गें उठती हैं वे प्रायः कल्पनारूपी वायु के वेग से ही ज्ञात होती हैं, क्योंकि याथार्थ्य की साहाय्य-प्राप्ति इस समय उन्हें असम्भव हो उठती है। यही कारण है कि कविता-गत भाव प्रायः अस्पष्टता लिये हुए होते हैं। इसी अस्पष्टता का दूसरा नाम 'छायावाद' (Mysticism) है। जो लोग 'छायावाद' को एक नई बात समझते हैं वे भूलते हैं। यथार्थ में वह कविता के साथ ही साथ उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह प्रकट होता है कि कविता हमारे जीवन में अनिवार्य है। उसका सम्बन्ध हमारे मूल-स्वभाव के साथ ही ग्रथित है। जब तक सृष्टि रहेगी, जब तक सृष्टि का रहस्य अव्यक्त बना रहेगा, जब तक सौन्दर्य का अस्तित्व रहेगा और जब तक मानव-हृदय अपना स्वाभाविक कार्य करता रहेगा तब तक कविता और हमारे जीवन का यह सम्बन्ध अक्षुण्ण बना रहेगा।

यथार्थ में संसार में उच्चात्युच्च जितने गुण हैं उन सबकी निवास-भूमि कविता ही है। यदि कविता न होती तो पृथ्वी से सद्गुणों का नाम ही उठ जाता और वह पैशाचिक वृत्तिधारी नृशंस मनुष्यों की विभीषिका-मय क्रीड़ास्थली बन जाती। इस विषय का यदि उदाहरण के साथ विचार किया जाय तो बहुत दूर न जाकर कहना होगा कि यदि 'रामायण' और 'महाभारत' न बने होते तो आज हिन्दू-समाज का अस्तित्व रहता या नहीं, इसमें संशय ही था। यही दोनों काव्य हैं जिन्होंने पतन के इस कठोर समय में भी समाज को जीवित रख कर उसके हृदय में धर्म, नीति, सत्य, दया, आत्मसम्मान, पूर्व-गौरव, वीरता आदि के भावों को जागृत रक्खा है। कविता ने समय समय पर हमारे इतिहास में जो करामातें दिखलाई हैं वे किसी से छिपी नहीं। कविता ने ही महाराष्ट्र में जातीयता के भाव उत्पन्न कर राष्ट्र-निर्माण की नीव डाली, कविता ने ही हिन्दू-सूर्य प्रतापी प्रताप के विपन्न और हताश हृदय को बल देकर हिंदूपने की लाज रक्खी, तथा कविता ने ही हिन्दू-सम्राट् पृथ्वीराज को, पिंजर-बद्ध केहरी की सी घोर दीनावस्था में भी, प्रतिपक्षी से बदला लेने के लिए उत्तेजित किया।

प्राचीन समय में हमारे देश में जो संग्राम होते थे उनके जय पराजय का प्रश्न बहुत कर 'कविता' ही पर निर्भर रहता था। 'कविता' ही वीर सैनिकों के नस नस में वीरता की बिजली दौड़ा कर उन्हें रण-क्षेत्र में अग्रसर करती थी। इस वीर-कविता के ह्रास के साथ ही साथ हमारा समाज वीरत्व-विहीन बन कर विलास-प्रिय तथा भीरु बन बैठा।

इस विषय को अब हम यहीं छोड़ते हैं और संक्षेप में यह देखते हैं कि इस समय हिन्दी-कविता की क्या अवस्था है।

विगत अर्द्ध-शताब्दी में हमारी कविता में जो जो परिवर्तन हुए हैं वे आश्चर्यजनक हैं। उसका भाषा-विषयक परिवर्त्तन, असाधारण होने पर भी कविता के अन्तः-प्रदेश की दृष्टि से प्रधान नहीं कहा जा सकता, यद्यपि बहिःसमाज के लिए वह अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कहा जायगा, क्योंकि उस पर उसका प्रत्यक्ष-प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सकता। भाषा कविता का परिधान-मात्र है। अतएव कविता के हृदय को देखते हुए भाषा गौण ही ठहरती है। तथापि इस परिवर्तन को लेकर मत-भेद का होना स्वाभाविक है। पर हम इसकी आवश्यकता नहीं समझते। समय की गति बड़ी प्रबल होती है। संसार परिवर्त्तन-शील है। जो भाषा शताब्दियों तक हमारी कविता की भाषा रही है उसे ही आज पद-च्युत होना पड़ा है और उसका स्थान खड़ी बोली ने छीन लिया है। इस दिशा में किसी ने सिर तोड़ परिश्रम किया है, यह बात भी नहीं। लोक-रुचि खड़ी बोली की ओर ही झुक गई और इतना बड़ा परिवर्तन आप ही आप आघटित हुआ। इस समय हिन्दी के सैकड़ों पत्र निकलते हैं, पर किसी में भूले भटके भी ब्रज-भाषा की कविता दृष्टि नहीं आती—यह क्या सिद्ध करता है? ब्रज भाषा अब कविता की भाषा नहीं रही, यद्यपि हमारे साहित्य में उसका स्थान पूर्ववत् ही बना रहेगा। यह दूसरी बात है कि खड़ी बोली की अपेक्षा उसमें काव्योपयोगी अनेक गुण रहे हों या न रहे हों। किन्तु जब लोक-रुचि ने खड़ी बोली को ही अपना लिया

तब अब हमारी राय में व्यर्थ के वाद-विवाद और रोने और गाने को छोड़ कर यही कहना चाहिए कि

"भाव अनूठो चाहिए भाषा कोऊ होय"

हां, इस परिवर्तन से गद्य और पद्य की भाषा बहुत कुछ एक हो गई, यह एक बड़ी भारी बात हुई।

यथार्थ में विगत ४०।५० वर्षों में हमारी कविता के भाव-राज्य में जो परिवर्तन हुआ उसे ही हम मुख्य मानते हैं। इस परिवर्तन का सूत्र-पात उस महापुरुष की दिव्य लेखनी से हुआ जो वर्त्तमान-कालीन हिन्दी-भाषा का जनक माना जाता है। हमारा मतलब भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से है। साहित्य-धारा को एक नई दिशा में फेर देना, यह प्रतिभा-शाली साहित्यिक व्यक्ति का ही लक्षण है। विलासिता के पर्यङ्क पर पड़ी हुई, मोह-मदिरा-पान-रता, कविता-कामिनी के भीरु और दुर्बल हृदय में जातीयता, एकता, आत्म-सम्मान तथा वीरता के ओजः-पूर्ण भाव भर कर उसे विकराल-वदना खड्ग-हस्ता अरि-दर्प-दलनकारिणी देवी दुर्गा का अभिनव रूप देनेवाला महाकवि भूषण के बाद यही एक कवि था। उसने हमारी परतन्त्रता का चित्र खींच कर हमारे हृदय में सबसे पहले स्वतन्त्रता की चाह उत्पन्न की। उसने हमारी अवनति का निराशा-पूर्ण करुणा-गीत गाकर हमें रुलाया और इस प्रकार हमारे मोह-प्रसुप्त मानस को पतन के उस अन्धकार-पूर्ण दीर्घ-गर्त्त से पहले पहल परिचित कराया जिसमें हम गिर चुके थे।

हमारी कविता में इस कविवर ने जो भाव-क्रान्ति खड़ी कर दी वही हमारी जागृति का मुख्य कारण है। यह भाव-क्रान्ति हमारे सांसारिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। यहां यह कहने की आवश्यकता न होगी कि हमारे सांसारिक जीवन की सफलता तथा पूर्णता का प्रश्न कितने महत्त्व का है। पश्चिमी जगत् के संश्रव ने तो अन्ततः हमें इस बात का पूरा उपदेश दिया है कि यहां सबल का ही साम्राज्य है। यथार्थ में इहलोक से ही परलोक है। सांसारिकता की ओर से हमारी अनवधानता और उदासीनता भी हमारी अवनति के लिए बहुत कुछ ज़िम्मेदार कही जा सकती है। इस अवस्था में हमारी कविता की उपर्युक्त क्रान्ति का क्या मोल हो सकता है, यह विज्ञजन स्वयं अनुमान कर सकते हैं। इस क्रान्ति का प्रारम्भ हुए यद्यपि आज अनेक वर्ष बीत चुके, तथापि उसका पूर्ण-फल हमें प्राप्त नहीं हो सका है, और हमारी कविता आज भी इसी उद्योग में लगी हुई है। हमारे कवि इस ओर सचेष्ट हैं और वे देश की आवश्यकता को समझ कर जागृति, एकता, वीरता, स्वतन्त्रता आदि के भाव बराबर फैला रहे हैं। यह शुभ लक्षण है। आशा की जाती है कि शीघ्र ही अभीष्ट फल प्राप्त होगा। हमारे प्रदेश में कई होनहार नवयुवक कवि हैं। उनसे हमारा कहना है कि भाई, देश और जाति को जगाना तुम्हारे ही हाथ है; उठो, जनता में वीरता के भाव भर दो; आशा, उत्साह और शक्ति का संचार कर दो; उसके कानों में सजीवता, चेतनता तथा अमरता का मन्त्र फूँक कर उन्हें निर्भय बना दो। तभी तुम्हारा उद्देश सिद्ध होगा। तभी उस **संयमी** की चेष्टा पूर्ण सफल होगी जो सर्व-भूतों की घोर-निशा के समय सतत जागृत रहा।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि कविता का उद्देश समय की आवश्यकता के अनुसार बदल जाया करता है। जिस समय समाज अवनति के अन्धकार में अभाव के घाव से जर्जरीभूत होकर भू-लुण्ठित हो रहा हो, उस समय एक ओर यदि कविता-कामिनी कल्पना के मुकुर में अपने अप्रतिम रूप-वैभव की सुस्निग्ध छटा अवलोकन कर स्वयं ही विमुग्ध होने लगे तो उसका यह आचरण नितान्त ही गर्ह्य कहा जायगा। इस समय हमें 'लोकोत्तरानन्द' को थोड़ी देर के लिए भूल कर 'लोकानन्द' की ही परवा करनी चाहिए।

साहित्य की प्रगति पर ध्यान रखनेवाले व्यक्तियों को ज्ञात हुआ होगा कि कुछ दिनों से हमारे काव्य-क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति के चिह्न देख पड़ने लगे हैं। ये चिह्न अभी इतने सूक्ष्म हैं कि उन पर जन-साधारण का दृष्टिपात न हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। किन्तु फिर भी ऐसा समझ कर उसकी अवहेलना करना बुद्धिमानी का काम न होगा। हमारा मतलब 'छायावाद' की कविता से है। 'छायावाद' का क्रीडाङ्गण 'आध्यात्मिक-भूमि' है। 'जीव और परम' को लेकर ही वह जीवन धारण करता है। यहां यह बतलाने की आवश्यकता नहीं होगी कि पूर्वोक्त क्रान्ति और इस नई क्रान्ति में क्या अन्तर है। एक 'सांसारिकता' की पोषणकर्त्री है तो दूसरी

'आध्यात्मिकता' की। साधारण दृष्टि से दोनों में उतना ही अन्तर जान पड़ेगा जितना पूर्वी और पश्चिमी छोरों में है। पर यथार्थ में बात ऐसी नहीं। उन दोनों का सम्बन्ध नैसर्गिक है। वे "परस्परं भावयन्तः" ही "श्रेयः परं" प्राप्त करते हैं।

'काव्योन्नति' की ये भिन्न भिन्न क्रान्तियाँ स्वाभाविक सीढ़ियाँ हैं। पर हमें भय है कि कदाचित् इस क्रान्ति का प्रारम्भ समय से पहले ही हो रहा है। दूसरी बात है समाज की योग्यता। कविता वही हितकारिणी और सामयिक कही जा सकती है जो समाज की योग्यता को देख कर लिखी जाती है। इस विषय में हमारा वक्तव्य इतना ही है कि 'छायावाद' की कविता अभी उतनी अस्पष्ट और संशयात्मक न हो जो हमारी धारणा-शक्ति की पहुँच से एक-दम दूर जा पड़े। 'अव्यक्त-विलासिता' हो किन्तु उसमें भावों की शृङ्खला टूटने न पावे और मधुर-रस की ऐसी पुट दी जाय कि 'आध्यात्मिकता' की रुक्षता पाठकों को न अखरे। हम इस समय इसी को इस नवीन कला की चरम-परिणति समझते हैं। हम कह आये हैं कि यह कला नवीन नहीं कही जा सकती। 'कविता' से उसका सम्बन्ध स्वाभाविक है। हिन्दी-कविता के तो शैशव का बहुत सा काल उसी के साथ अतिवाहित हुआ है। कबीर, दादू, मीराबाई आदि 'छायावाद' के क्षेत्र में बहुत कुछ भ्रमण कर चुके हैं।

'वङ्ग-साहित्य' में आध्यात्मिकता की जो बाढ़ आई उसमें हमारे इन कवियों का भी गुप्त-हाथ रहा है। बङ्गाल में 'छायावाद' के प्रवर्तक कवीन्द्र रवीन्द्र इस श्रेणी की हिन्दी-कविता से पूर्ण परिचित हैं। तथापि आज हमें 'छायावाद' को नवीन कहना पड़ रहा है—इसी लिए कि मध्य में उसका ह्रास हो गया था। पुनश्च इसमें पश्चिमी-प्रभाव भी सन्निविष्ट है।

हम इस क्रान्ति को साहित्योन्नति का लक्षण मान कर उसका स्वागत करते हैं। परिवर्तन और क्रान्ति ही जीवन है—स्थिरता मृत्यु है।

'सांसारिकता' और 'आध्यात्मिकता का मेल हो—'स्वर्ग' और 'मर्त्य' दोनों परस्पर आलिङ्गित हों—यही हमारी शुभ कामना और ईश्वर से प्रार्थना है।

मुकुटधर पाण्डेय

देश-बन्धु चित्तरञ्जनदास।

अहमदाबाद में होनेवाली आगामी कांग्रेस के सभापतित्व के लिए बहुमत से कलकत्ते के प्रसिद्ध बैरिस्टर और असहयोगी नेता देश-बन्धु चित्तरञ्जनदास चुने गये हैं। देश-सेवा के लिए जैसा स्वार्थ-त्याग इन्होंने किया है उसका सम्मान देश ने आपको अपनी राष्ट्रीय महासभा का उच्च आसन प्रदान करके किया है। आगे की कुछ पङ्क्तियों में आपके जीवन का कुछ परिचयात्मक वर्णन दिया जाता है।

दास महोदय का जन्म सन् १८७० में वैद्यकुल में हुआ था। आपके पूर्वज ढाका ज़िले में रहते थे। आपके पिता श्रीभुवनमोहनदासजी अँगरेज़ी के एक विख्यात पण्डित थे और कलकत्ता हाईकोर्ट में एटर्नी थे। वे बड़े निर्भीक तथा दानी पुरुष थे। उन्होंने बालक दास को भवानीपुर के 'लन्दन मिशन स्कूल' में भरती कराया। आपने इसी स्कूल से एन्ट्रेन्स पास किया। इसके बाद कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालेज से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। फिर आप इँग्लेंड गये और वहाँ सिविल सर्विस की परीक्षा देने की तैयारी करने लगे। परीक्षा में आप उत्तीर्ण हो गये, पर आप सिविल सर्विस में नियुक्त न हो सके।

जब दास महोदय इँग्लेंड में अध्ययन कर रहे थे तब उन्होंने एक समय अपनी निर्भीकता का ख़ासा परिचय दिया था। जेम्स मेकलिन नामक एक व्यक्ति ने सन् १८९२ में सर्व-साधारण में एक व्याख्यान दिया। उसने अपनी वक्तृता में कहा, "भारत के हिन्दू और मुसलमान गुलाम जाति के हैं और ये लोग

हमारी गुलामी करते हैं।" विद्यार्थी दास इस अपमान-जनक कथन को न सहन कर सका। उसने लन्दन-प्रवासी भारतीयों को एकत्र कर एक सभा की और व्याख्यान देकर मेकलिन की वक्तृता का तीव्र प्रतिवाद किया। उस सभा की सूचना इँग्लेंड के प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन को हुई। उन्होंने मेकलिन की भूल सुधारने

देशबन्धु चित्तरञ्जनदास।

के लिए अँगरेज़ों की एक सभा में युवक चित्तरञ्जन को बुला भेजा। उस समय आप २१ वर्ष के थे। पर अपनी स्वाभाविक ओजस्विता के कारण आपने इँग्लेंड के महापुरुषों के सामने अपने पक्ष का दृढ़ता के साथ समर्थन किया। इसका फल यह हुआ कि मेकलिन को आपसे क्षमा माँगनी पड़ी।

इस घटना के बाद ही सिविल सर्विस के लिए निर्वाचन शुरू हुआ और जब आपका निर्वाचन न हुआ तब आपने क़ानून का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसी समय स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी पार्लियामेंट के सदस्य होने की अभिलाषा से इँग्लेंड गये। आपने दादाभाई के काम में यथेष्ट सहायता दी और घूम घूम कर अनेक स्थानों में वक्तृताएँ दीं। यथा समय बारिस्टर होकर आप स्वदेश को लौट आये और कलकत्ते में बैरिस्टरी करने लगे।

दास महोदय के पिता श्रीभुवनमोहनजी अपनी दानशीलता के कारण ऋण-ग्रस्त हो गये थे। शीघ्र ऋण चुकाने की सम्भावना न देख कर वे दिवालिया हो गये। किन्तु आपने अपने पिता का सारा ऋण अपने सिर ओढ़ लिया। नये बैरिस्टर होने के कारण आपको विशेष आय नहीं थी। इस कारण ऋण की चिन्ता से आप विशेष दुखी रहते थे। संयोग-वश नाम हो जाने का एक अवसर आ गया और अपने उदार और निर्भीक स्वभाव के कारण आपने उसे हाथ से न जाने दिया।

सन् १९०७ में अरविन्द बाबू मानिकतल्लावाले बम्ब के मुक़द्दमे में पकड़े गये। मुक़द्दमा लड़ने के लिए अरविन्द बाबू के पास काफ़ी धन नहीं था और न कोई उदार वकील ही मुफ़्त या नाम-मात्र की फ़ीस लेकर उनके मामले की पैरवी करने को आगे आया। इस महान् कार्य का भार आपने स्वेच्छा से ग्रहण किया और अनवरत परिश्रम करके अरविन्द बाबू को निर्दोष छुड़ा लिया। इस मुक़द्दमे के जीतते ही आपका नाम चारों ओर फैल गया और आपकी बारिस्टरी थोड़े ही दिनों में चमक उठी। आय बढ़ जाने पर सबसे पहले आपने अपने पिता के ऋण

को पाई पाई चुकाया। इसके बाद ज्यों ज्यों आपकी आय बढ़ने लगी त्यों त्यों पिता के आदर्श को आगे रख कर आप भी अपने धन का सदुपयोग करने लगे। दास महोदय ने अब तक हज़ारों विधवाओं तथा दरिद्र गृहस्थों की धन से सहायता की, अपने धन से कितनी ही कन्याओं के विवाह करा दिये। सैकड़ों युवकों ने आपकी सहायता से शिक्षा प्राप्त की। दीन-दुखियों के भाग्य से आपकी आय भी बहुत बढ़ गई थी। आपकी मासिक आय प्रति-मास ६०,००० रुपये से ऊपर ही थी, पर इसका अधिकांश भाग दीन-दुखियों को ही अर्पित हो जाता रहा है। अब आप बैरिस्टरी छोड़ स्वदेश का कार्य करते हैं। देश-बन्धु दिन में अपना क़ानूनी व्यवसाय चलाते और रात में साहित्य-रचना किया करते थे। साहित्य से आपका गहरा प्रेम पहले ही से रहा है। आपने 'नारायण' पत्र का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। इसके सिवा आपने कई उत्कृष्ट काव्य भी लिखे हैं। 'सङ्गीत-सागर' 'किशोर-किशोरी' और 'अन्तर्यामी' आपकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। अँगरेज़ी में भी आपने कई पुस्तकें लिखी हैं।

दास महोदय समाज और देश के हित के कार्यों में सदा से भाग लेते रहे हैं। कांग्रेस में भी आप शामिल होते रहे हैं। सन् १९१९ के पंजाब-हत्याकाण्ड की जाँच आप भी चार मास तक घटना-स्थल पर रह कर करते रहे। पंजाब पर किये गये अत्याचारों की जाँच के लिए जो कमीशन आल इंडिया कांग्रेस कमेटी ने नियुक्त किया था आप भी उसके एक सदस्य थे।

कलकत्ते की स्पेशल कांग्रेस के समय आपने असहयोग कार्यक्रम का विरोध किया था। किन्तु नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में आप उससे सहमत हो गये। तब से आप कांग्रेस ही का काम कर रहे हैं। इस समय देशभक्ति के नाम पर आप सर्वस्व त्याग संन्यासी हो गये हैं। साठ हज़ार रुपये की आमदनी पर जो व्यक्ति लात मार कर अलग हो सकता है वह असाधारण पुरुष है। कुछ समय हुआ अमृतबाज़ार पत्रिका में देशभक्त श्रीमोतीलाल घोष ने आपको सम्बोधन करके लिखा था—

"हे देश-बन्धु चित्तरञ्जन, तुम्हीं पाँच करोड़ बङ्गालियों में अमर हुए। हममें से बहुत क़ब्र में जाकर लुप्त हो जायँगे और बहुत से श्मशान में जल कर राख हो जायँगे, परन्तु तुम राजनैतिक आकाश-मण्डल में ध्रुव-तारा के समान अचल और अटल-भाव से अपनी कीर्त्ति-कौमुदी को फैलाते रहोगे। तुम पूजनीय भारत के सच्चे देवता हो! तुम्हारी पूजा से भारतवासी अपने को कृतकृत्य मानेंगे। अतएव, हे चित्तरञ्जन, तुमको कोटिशः प्रणाम हैं।"

निस्सन्देह ऐसे महान् त्यागी ही को कांग्रेस के सभापति का आसन शोभा देता है।

वंशीधर मिश्र

— —

वैदिक काल की सभ्यता और उसका प्रभाव।

राठी विश्वकोश तैयार करते समय हमें वैदिक-साहित्य का बहुत ही सूक्ष्मरूप से मनन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। हमारी निगरानी में दस विद्वान् दो वर्ष से कुछ

अधिक समय तक इस कार्य को करते रहे हैं। हम लोगों ने ऋग्वेद के प्रत्येक पाद की परीक्षा और उनका वर्गीकरण किया है। ऋग्वेद के मन्त्र-भाग में याग-कर्म की वृद्धि की जाँच भी हम लोगों ने सूक्ष्मरूप से की है। और यह भी मालूम कर लिया कि वह श्रौत-सूत्रों में धर्म के किस रूप में जा पहुँचा। इस कार्य को करते तथा वैदिक-साहित्य को पुराण और इतिहास से मिलाते समय हमने कुछ ऐसे परिणाम निश्चित किये हैं जिन्हें हम विद्वानों के समक्ष उपस्थित कर देना आवश्यक समझते हैं। उनकी आलोचना से अधिक लाभ की सम्भावना है। अतएव हम केवल अपने परिणामों का उल्लेख यहाँ करते हैं, उनके प्रमाण नहीं उपस्थित करेंगे।

(१) ऋग्वेद के मन्त्र भारत में आर्यों के सर्व-प्रथम आगमन के समय के नहीं हैं।

(२) आर्यों के आगमन की बात मन्त्रों में उल्लिखित होने के पहले ही आर्य जातियाँ भारत में आबाद हो गई थीं। उस समय जितने भूभाग पर आर्य जातियाँ आबाद थीं वह उस भू-भाग से अधिक भिन्न न रहा होगा जितने में इस समय, पूर्व-बङ्गाल और महाराष्ट्र को छोड़ कर, आर्य-भाषायें प्रचलित हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत के जितने भाग में आर्य जाति बसती थी उसमें लङ्का द्वीप भी शामिल था।

(३) मन्त्र-काल के आर्यों के आगमन के पहले (जो साधारणतया आर्य-आगमन काल कहलाता है) सम्भवतः शक और मग लोग भी भारत में बस गये थे। मन्त्र-काल की सभ्यता—अर्थात् उन लोगों की सभ्यता जिनके भारतागमन का सङ्केत ऋग्वेद में मालूम पड़ता है—उन आर्यों की सभ्यता से कुछ ही भिन्न थी जो भारत में पहले ही से मौजूद थे। यह पिछली सभ्यता प्राचीनतर आर्य-सभ्यता कही जा सकती है।

(४) इस प्रसिद्ध आर्य-आगमन—अर्थात् मन्त्र-काल के लोगों के आगमन—के समय जो आर्य जातियाँ भारत में निवास करती थीं उनकी सभ्यता १,००० वर्ष की पुरानी हो चुकी थी।

(५) प्राचीनतर आर्य-सभ्यता के ज़माने में क्षत्रियों का प्राधान्य था और उस समय ब्राह्मण वर्ण का अभाव था। परन्तु यह सम्भव है कि अथर्वण कला के ज्ञाता कुछ लोग रहे हों। ये पूर्व-वैदिक अथर्वण सम्भवतः जन-साधारण में मिश्रित हो गये होंगे या इनका इतना अधिक पतन हो गया होगा कि सँपेरे, झार फूँक करनेवाले, पत्थर बरानेवाले जैसे लोगों में ये परिणत हो गये होंगे।

(६) प्राचीनतर आर्य-सभ्यता-काल में शिक्षितों की श्रेणी की तरह एक महत्त्व-पूर्ण श्रेणी सूतों या भाटों की थी।

(७) गङ्गा की तराई के अधिक पूर्वी भाग में अथर्वणों का याग-धर्म पूर्णतया लुप्त हो गया होगा, क्योंकि बाद को मन्त्र-काल की अग्नि-पूजा का लोप हो गया था। अथर्वण मन्त्र-विद्या का कुछ प्रचार सरस्वती नदी के आस पास शायद रह गया हो।

(८) पुराण के मूल-तत्त्व, उपनिषद् शिक्षा का अधिकांश भाग, जैन तथा बौद्ध मतों का प्रारम्भ और विद्याधर, गुह्यक आदि के कल्पित लोक और शायद लिङ्ग-पूजा भी—उस समय की प्रधान बातें हैं। उस समय के आर्थिक प्रश्न शायद बिलकुल अच्छी तरह हल किये गये हों।

(९) साहित्य में किसी जाति का उल्लेख होने से उस जाति की प्राचीनता (भारतीय भूमि के निवासी के रूप में) कभी नहीं सिद्ध होती। वैदिक-साहित्य के पीछे के रचे हुए भाग में यदि किसी जाति का उल्लेख है तो उसका यह मतलब न लेना चाहिए कि वह उक्त जाति की अर्वाचीनता का प्रमाण है, विशेष करके जब कि वह जाति देश के पूर्व भाग में निवास करती है। जो वैदिक पण्डित पूर्व ओर गये उन्हें उक्त जाति के अस्तित्व का ज्ञान बाद को हुआ। इस तरह किसी प्राचीन जाति का उल्लेख साहित्य में बाद को हो सकता है।

(१०) ऋग्वेद की ऋचाओं का अधिकांश भाग विशेष करके दूसरे मण्डल से लेकर सातवें मण्डल तक अर्थात् गोत्र-मण्डल की ऋचाओं की रचना या तो दस राजाओं के युद्ध के समय हुई है या उसके बाद हुई है। ऋग्वेद का मुख्य विषय दिवोदास और सुदास का देशान्तरवास है, न कि साधारण आर्य जनों का देशान्तरवास।

(११) ऋग्वेद का सङ्कलन तीन बार हुआ है। ऋग्वेद के मन्त्रों से सोमयाग का जैसा असली रूप व्यक्त होता उससे जब वह बहुत ही अधिक परिवर्तित हो गया और उसमें आडम्बर का प्रवेश हुआ—जैसा कि यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों से प्रकट होता है—तब उसका प्रथम सङ्कलन हुआ था। सोमयाग का यह परिवर्तित रूप मन्त्र-काल में आये हुए नवागत पुरोहितों की निज की रचना थी या उन्होंने इस कार्य में स्थानीय लड़खड़ाती हुई पुरोहित-समाज की सहायता ली थी—यह बात निश्चय-पूर्वक नहीं मालूम हुई है।

(१२) यज्ञ कर्म की समाप्ति के बाद इतिहास तथा पुराण का जो उपयोग होता था उससे यह प्रकट होता है कि इन दोनों विद्याओं को एक में मिला देने ही के लिए यह काम किया जाता था। यही बात ब्राह्मण-ग्रन्थों के ऐतिहासिक अंशों से भी प्रकट होती है।

(१३) इन तीनों सङ्कलनों के स्पष्ट चिह्न वैदिक-साहित्य में विद्यमान हैं। ऋग्वेद के ८ वें और ९ वें मण्डल की ऋचाएँ, जो सामवेद में ज्यों की त्यों सङ्कलित कर दी गई हैं और जिनसे उसका कलेवर पूर्ण हुआ है, उन लोगों की परम्परा में शामिल रही होंगी जो मन्त्र-काल के समय भारत में आये थे और जिन्होंने यहाँ सोमयाग के कर्म को विस्तृत रूप प्रदान किया था। इस सम्मिलन का उद्देश शायद सोमयाग में साम-गायकों को विशेष पद देने का रहा हो।

(१४) आठवें और नवें मण्डल का जोड़ना और सामवेद का सङ्कलन सम्भवतः ऋग्वेद के प्रथम सङ्कलन के समय हुआ होगा।

(१५) सम्भवतः उसका दूसरा सङ्कलन द्वैपायन व्यास ने उस समय किया हो जब कौरवों का युद्ध हुआ था।

(१६) तीसरा सङ्कलन व्यास के कुछ समय बाद—५० या सौ वर्ष बाद—हुआ होगा।

(१७) पहले और तीसरे सङ्कलन के बीच का सारा समय याज्ञिक लोगों के बड़े बड़े झगड़ों से परिपूर्ण है। एक झगड़ा वेदत्रयी और अथर्वण के माननेवालों के बीच हुआ था। सम्भवतः मन्त्र-काल के आर्य लोगों के बीच यह झगड़ा रहा होगा।

(१८) अथर्वण लोग पहले साधारण एक अग्नि की क्रिया करते थे जैसा कि गृह्यसूत्रों में उल्लिखित

हुआ है। उनकी क्रिया आडम्बर-संयुत नहीं होती थी।

(१९) जब मन्त्र-कालीन आर्य भारत में बस गये तब नित्य का अग्निहोत्र शिथिल पड़ गया, दूसरे वे कभी कभी होने लगे और साधारण जनता याग-धर्म से विमुख सी हो गई।

(२०) ब्राह्मण जाति के इतिहास का वैदिक-साहित्य और याग-कर्म के उत्कर्ष के इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(२१) मन्त्र-काल की सभ्यता के समय अथर्वण लोगों का अस्तित्व अवश्य रहा होगा, क्योंकि वे उससे भी पहले के हैं। वे लोग जाति विशेष के रूप में रहे हैं या सम्प्रदाय के रूप में और यदि वे सम्प्रदाय के रूप में रहे हैं तो वे वंश-परम्परा से वैसे रहे हैं या नहीं—ये बातें ज्ञात नहीं हैं।

(२२) सम्भव है कि प्राचीनतर आर्य-सभ्यता के समय अथर्वण लोगों का अस्तित्व रहा हो। परन्तु उपर्युक्त ढंग से उनका लोप अवश्य हो गया है।

(२३) मन्त्र-काल की सभ्यता के समय अथर्वण लोगों का स्थान उनसे प्रबलतर लोगों ने ग्रहण कर लिया। ये लोग वेदत्रयी के सर्व-प्रथम संस्थापक और अनुयायी थे। ये पुरोहित थे और अपने याग बड़े आयोजन के साथ करते थे।

(२४) आडम्बर-संयुत यागों के इन पुरोहितों ने सम्भवतः अपना कार्य विभिन्न शिक्षा के अनुसार शुरू किया। समाज में इन लोगों का अस्तित्व पृथक् पृथक् श्रेणियों के रूप में पहले ही से विद्यमान था। इनके वर्ग-विभाग के कारण सामान्य आर्थिक बातें थीं। जब ये लोग पुरोहित हो गये तब विशिष्ट कार्यों के सञ्चालक बन गये और इस तरह इन्होंने भिन्न भिन्न श्रेणियाँ (School) स्थापित कीं। ये प्रत्येक श्रेणियाँ अपना अपना विशिष्ट कार्य पूर्ण करने का प्रयत्न करती थीं। इस प्रकार यज्ञ-सम्बन्धी साहित्य में भिन्नता आ गई।

(२५) किस वर्ग से अध्वर्यु की उत्पत्ति हुई? यह सम्भव है कि जब होता के कर्मों में भिन्नता उत्पन्न हो गई तभी उन लोगों में से अध्वर्यु लोगों की उत्पत्ति हुई होगी।

(२६) इन पुरोहितों में एक एक बात के पीछे विवाद था और सम्भवतः ये झगड़े अध्वर्यु लोगों के मत-भेद के कारण उठ खड़े होते थे। सामान्यतः झगड़े के कारण वही थे जो उन उत्सवों या लोक-कार्यों के प्रबन्ध की किसी बात में दलबन्दियाँ कर देते हैं जिनमें उन कार्यों के प्रबन्धक लोगों के सहयोग से धन एकत्र किया जाता है।

(२७) मालूम होता है कि जब वर्तमान समय की संहिताओं के पाठ का सङ्कलन हुआ था उस समय ब्राह्मण लोग वेद और शाखा के अनुसार विभाजित थे। अर्थात् याग-सम्बन्धी विशिष्ट प्रकार की क्रियाओं तथा पुरोहितों की दलबन्दी के अनुसार उनका विभाजन हुआ होगा। परन्तु सम्भवतः इस प्रकार के वर्ग-विभाजन से वर्ण-विभाग का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। उनमें कुछ केवल शिक्षा और क्रिया-सम्बन्धी विभाग ही बने रहे। परन्तु जिन वर्गों अर्थात् कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदी में दलबन्दी का भाव अधिक था वे काल पाकर वर्ण बन गये। सूत्र-ग्रन्थों के अनुसार जो विभाग-रचना हुई है वह बाद की है। परन्तु यह नया विभाजन सामा-

जिक विभाजन का सदा कारण नहीं हुआ। वेदत्रयी के माननेवाले अपने याग बड़े आडम्बर के साथ करते ही रहे। उधर अथर्वण लोगों ने या तो उनकी आडम्बर-संयुत क्रियाओं को महत्त्व-हीन बतला कर यज्ञों को बन्द कर देने का प्रयत्न किया या याग-कर्म में हिस्सा लेने का दावा करने लगे। यज्ञकर्म में भाग लेने के उद्देश से उन्होंने अथर्व-संहिता का पुनः सम्पादन किया। कुछ समय तक उनके स्वत्व की उपेक्षा की गई, परन्तु जब वेदत्रयी के माननेवालों ही में फूट हो गई और वे स्वयं कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के मानने-वाले अध्वर्यु लोगों द्वारा सञ्चालित दलों में बट गये तब शुक्ल यजुर्वेद के माननेवाले अध्वर्यु लोगों ने अथर्वण लोगों के प्रति सहानुभूति प्रकट की। क्रमशः अथर्वण लोगों के स्वत्व की सुनवाई हुई और उन्हें यज्ञ में ब्रह्मा का पद प्राप्त हो गया। इस पद का कार्यभार या तो बहुत ही बुद्धिमान् या मूर्ख द्वारा ग्रहण किया जा सकता था।

(२८) अथर्वण लोगों के साथ समझौता हो चुकने के बाद तीसरा सङ्कलन हुआ था। परन्तु यह बात उस समय हुई थी जब स्वयं यज्ञों का किया जाना ही एक प्रकार से बन्द हो चला था। अथर्वण लोगों के समझौते तथा तीसरे सङ्कलन के पहले विशेष करके ऋग्वेद के मानने-वालों ने उसके दसवें मण्डल में अथर्वण लोगों के सम्बन्ध की ऋचाएँ पहले ही से शामिल करली थीं और स्वयं अथर्वण लोगों के अधिकार-क्षेत्र में अर्थात् गृह-सम्बन्धी क्रियाओं और संस्कारों में प्रविष्ट होने को तैयार थे। अथर्वण लोगों को नीचा दिखाने का यह उपाय गृह्यसूत्रों की रचना करके तथा श्रौत-सूत्रों में ब्रह्मा के लिए मन्त्र शामिल करके पूरा किया गया।

(२९) जिस समय सीधे और सरल याग, जैसा कि ऋग्वेद के मन्त्रों से प्रकट होता है, उन बड़े बड़े यागों में परिवर्तित होगये जिनकी पद्धति ब्राह्मण-ग्रन्थों में उल्लेख की गई है उस समय सामाजिक अवस्था भी बदल गई थी। मन्त्र-काल के देशान्तर-गामी आर्यों के साथ जो पुरोहित आये थे उन्हें विदित हो गया कि हमें प्राचीनतर आर्य-सभ्यता के राजाओं और प्रजाजनों से निपटना है। अतएव अथर्ववेद द्वारा कोई यागीय विधान स्थापित करने के समय उन्होंने इतिहास का आश्रय लिया। वास्तविक बात को छोड़ कर उन्होंने अपने नये यज-मानों के पूर्वजों का उल्लेख किया। हरिश्चन्द्र, भीम, जनक जैसे उनके पूर्वजों ने जब यज्ञ किये थे तब यह विधान अस्तित्व में था—यह कह कर उन्होंने लोगों का समाधान किया। वैदिक मन्त्रों का वह अर्थ किया गया जो गङ्गा के किनारे अवस्थान करनेवाले आर्य करते थे। पञ्जाब के आर्यों का अर्थ नहीं माना गया।

(३०) ब्राह्मण-ग्रन्थों में जो पौराणिक उल्लेख हैं उन्हें पौराणिक कथाओं का स्रोत न समझना चाहिए, किन्तु उन्हें पुरोहितों का कृत्य समझना चाहिए। पुरोहितों ने उन बातों को पुराण-ग्रन्थों से लेकर यागीय कृत्यों में सम्मिलित कर दिया है।

हमने जो अपनी सम्मतियों का सार यहाँ दिया है उसका मतलब यह है कि लोग इन पर विचार करें।

हमें यह आशा नहीं है कि विद्वान् प्रमाणों के उपस्थित किये जाने के बिना हमारी

इन सम्मतियों को स्वीकार कर लेंगे। हमने उन्हें यहाँ विस्तार के साथ नहीं उपस्थित किया है। केवल उनका साररूप ही परीक्षा के लिए दिया है। जो लोग वैदिक-साहित्य के पूर्ण ज्ञाता हैं वे इन उपर्युक्त बातों से सरलता-पूर्वक सामाजिक विकास के सिद्धान्त को समझ जायँगे। वे यह भी बता सकेंगे कि इस सिद्धान्त में कौन कौन सी त्रुटियाँ हैं। यदि कोई विद्वान् हमारे इन निष्कर्षों के सम्बन्ध में और अधिक जानना चाहता है तो हम ख़ुशी के साथ उनसे लिखा-पढ़ी करने को तैयार हैं। जो लोग अनुसन्धान करते हुए हमारे परिणाम को पहुँचे हों वे भी कृपा करके हमें अपनी सम्मति से सूचित करें।*

पाण्डुरङ्ग लेले

गृह-संसार की जङ्गली प्रजा।

घर को गढ़ी कहना अभिमान की बात नहीं है। जब तक हम अपने पूर्व-पुरुषों के सनातन नियम का यथोचित पालन कर रहे हैं तब तक आमन्त्रित मित्रों के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति हमारे घर में प्रवेश नहीं कर सकता। दूसरों की बात जाने दीजिए, देश का शासक भी हमारी आज्ञा के बिना हमारी देहली लाँघ नहीं सकता।

इतना बड़ा अधिकार हमें कैसे प्राप्त हुआ और हमारे पूर्व-पुरुषों ने किस युक्ति से भ्रष्टाचार का परित्याग करके मर्यादा और स्वतन्त्रता को अपनाया, इसका उल्लेख हमारे राष्ट्रीय इतिहास में किया गया है। उसमें यह भी लिखा है कि अनेक लड़ाई भिड़ाइयों के अनन्तर उन्हें अपनी पुरानी नीति में समयोचित परिवर्तन करना पड़ा और अपनी मर्यादा और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए घर में ताला लगाने की प्रथा चलानी पड़ी।

परन्तु हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इतना सब करके भी स्वतन्त्रोपासक मनुष्य को पूर्ण विजय प्राप्त नहीं हुई। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य-कृत नियमों के अतिरिक्त प्राकृतिक नियम भी होते हैं, जिनमें से एक इस तरह है कि शक्ति ही जीवन है और समय समय पर होने-वाले हेर-फेर के अनुसार वही अपने रहन-सहन में परिवर्तन कर सकता है। वही संसार में रह सकेगा, उन्नति कर सकेगा और अपनी सन्तति को सुखी छोड़ कर जा सकेगा।

और ऐसा होता भी है। जब सभ्य मनुष्य जङ्गल को काट छाँट कर अपनी विजय-पताका फहराता है तब कितने ही जङ्गली जीवधारी अपने अपने स्थान में छिपे बैठे रहते हैं और मौक़ा मिलते ही उसके घर में प्रविष्ट होकर वहाँ अपना अधिकार जमा लेते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य जिस घर को अपना कहने का दावा करता है वह घर केवल उसी का नहीं है, किन्तु अनेक वर्ग के श्रम-जीवी और कौतुकी प्राणियों का भी है।

रात्रि को घर में ताला लगा कर सोते समय हमारे मन में यह भावना रहती है कि हम अपने हाते के भीतरी भाग के पूर्ण अधिकारी हैं और कोई हमारी स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डाल सकता।

* श्रीयुत एस० वी० केतकर (सम्पादक, मराठी विश्व-कोष, पूना) के एक लेख का अनुवाद।

परन्तु सच पूछो तो यह हमारा मिथ्याभिमान है। प्राचीन काल में डाकू-दल के केवल एक ही दो मनुष्य घर में छापा मारा करते थे, परन्तु आज-कल के गृहस्थ के यहाँ पूरी पलटन आक्रमण करती है। वह पलटन मनुष्यों की नहीं है, परन्तु घर के कोने कोने में धावा करनेवाले हमारे असभ्य जङ्गली सहवासियों की है। पूर्वकालीन गृहस्थ और हममें यदि अन्तर है तो केवल इतना ही कि वे एक ही दो डाकू के भय से शङ्कित रहते थे, परन्तु हम पूरी पलटन के उपद्रव से भी भय नहीं खाते, न उनकी ओर देखते तक हैं।

अब देखना चाहिए कि मनुष्य के अधीन गृह-साम्राज्य के किन किन स्थानों में कौन कौन से जङ्गली प्राणियों ने अपना अधिकार जमा रक्खा है। मकान की छत पर कबूतर का राज्य है। अटारी चमगीदड़ों से आबाद है। वहाँ वे अज्ञात मार्ग से आते जाते रहते हैं। आँगन में रक्खी हुई लकड़ियों के नीचे सर्प, बिच्छू, पताड़ी आदि विषैले कीड़े मकोड़ों की बस्ती है। वहीं आस-पास के बिल में न्योला अपना अड्डा जमाये है। मकान की ओलती में अबाबील विचरण करता है। वाटिका के खोखले वृक्षों में उल्लू छिपा बैठा है। अस्तबल में बाज़ का निवासस्थान है। बरामदे में गौरैया अपने परिवार-सहित आ बसा है। छिपकली दीवारों पर पहरा दे रही है। कहने का अभिप्राय यह कि हमारा घर और उससे लगी हुई बाड़ी सच-मुच प्राणियों का एक छोटा सा संसार है।

इनके अतिरिक्त हमारे घर में पालतू जीव-धारियों की भी कमी नहीं है। जो कुत्ता भेड़िये और सियार की सन्तान है वह हमारे घर के दरवाज़े पर क़ब्ज़ा किये है। शेर की छोटी बहिन बिल्ली घर के भीतर ठंढी जगह में लेटे लेटे अपना हाव-भाव दिखा रही है। पिँजरे के पक्षियों का समूह भोजन के लिए मीठी मीठी तान अलग अलापता है। ये तो हैं आमन्त्रित मित्र, परन्तु मुग़ल सम्राट् के सूबेदारों की भाँति ये लोग अपने अपने स्थान के पूर्ण अधिकारी बन गये हैं।

हम जिन प्राणियों का उल्लेख ऊपर कर आये हैं वे हमें नित्यप्रति दिखाई पड़ते हैं। इनके सिवा अनेक ऐसे भी प्राणी हैं जो हमारे घर में तो बसते हैं, परन्तु हमें दिखाई नहीं देते। ऐसे प्राणियों की करतूतें भी अदृश्य और कौतूहल-पूर्ण हुआ करती हैं।

हमारी गढ़ी के भीतर अदृश्य स्थान में बसने-वाले प्राणियों की नामावली में घुन का नाम सर्वोपरि है। जिस प्रकार सौदागर के रूप में डाकुओं का सरदार अपने चालीस साथियों को घी के बड़े बड़े कुप्पों में छिपा कर अलीबाबा के यहाँ इस अभिप्राय से ले गया था कि मौक़ा मिलते ही उसको लूट लें और उसका सर्वनाश कर दें उसी भाँति हमारे घर की शहतीर और लकड़ी के सामान में डाकूराज घुन अपने असंख्य परिवार-सहित छिपा बैठा है। अलीबाबा की दासी की चालाकी से डाकुओं की दाल नहीं गल पाई, और वे सबके सब मारे गये। परन्तु हमारे घर की लकड़ी के भीतर छिपे हुए डाकू हमारी सम्पूर्ण चालाकी पर पानी फेर कर हमारा नुक़सान करते रहते हैं। घुन न लगे, इसलिए लकड़ी पर अलकतरा पोता गया, रंग चढ़ाया गया और न जाने क्या क्या उपाय किये गये, परन्तु फल कुछ नहीं हुआ।

डाकू का नाश करना तो एक ओर रहा उसका बाल तक बाँका न हो सका। इन उपायों से केवल इतना ही लाभ हुआ है कि रँगी हुई लकड़ी में दीमक नहीं लग पाती और उसमें बर्रे छेद नहीं कर सकती।

घुन के जबड़े में अपूर्व शक्ति होती है। सागौन के अतिरिक्त सभी प्रकार की लकड़ी उसके भोजन और निवासस्थान दोनों हैं। वह जिस लकड़ी में निवास करता है उसी को अपने जबड़ों से पीसता और भक्षण करता है। ज्यों ज्यों उसकी सन्तति बढ़ती जाती है त्यों त्यों वह एक शहतीर से दूसरी शहतीर में और लकड़ी के सामान के एक भाग से दूसरे भाग में फैलती जाती है। इसके आक्रमण से अच्छी और ख़राब सब प्रकार की लकड़ी निकम्मी और बेकाम हो जाती है। कभी कभी तो वह शहतीरों में इतने बड़े बड़े छिद्र बना देती है कि उसमें समूचा मनुष्य पैठ सकता है।

जब घुन मौज में आता है तब वह अपनी पूरी उँचाई भर ऊपर उठ कर सिर से लकड़ी को ठोकर मारता है। उस समय एक प्रकार की किरकिरी ध्वनि सुन पड़ती है। यह ध्वनि उस प्राणी का प्रेमालाप है। इसी ध्वनि को लक्ष्य कर प्रणयी अपनी प्रेमिका से जा मिलता है। फिर दोनों पति-पत्नी माथा कूट कूट कर नृत्य करते हैं। इस माथा-पच्ची से लकड़ी के जो धूलि-कण निकलते हैं उनसे बच्चे अपनी क्षुधा शान्त करते हैं। जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं तब उनमें भी हर क़िस्म की लकड़ी को छेदने और खाने की शक्ति आजाती है। परन्तु बूढ़े होते ही वे क़ीमती लकड़ियों में दौरा करने लगते हैं। यथार्थ में ये डाकू लकड़ी की सुन्दरता और मज़बूती के अद्भुत चोर हैं।

घुन के जोड़ीदार और भी अनेक कीड़े हैं। इनमें से कोई तो मैदे के पकवान, मसालेदार अचार, और मुरब्बे का भक्षण करते हैं, कोई तसवीरों का नाश करते हैं और कोई कोई पशु-पक्षियों के नमूने की सफ़ाई करते हैं। इन्हीं का एक गोत्रज पुस्तक में सुरंग बना कर विचरण करता है। यह तो हम नहीं जानते कि वह दुष्ट कीड़ा पुस्तक में कैसे जा पहुँचता है, परन्तु इतना अवश्य बता सकते हैं कि उस कीड़े से पुस्तकों की रक्षा कैसे की जा सकती है। जो पुस्तक बहुधा खोली और पढ़ी जाती है उसे कीड़े नाश नहीं कर पाते; जैसे कि नित्य व्यवहार में आनेवाले ऊनी कपड़ों को कीड़े नहीं काटते। परन्तु जो पुस्तक लकड़ी के सामान की भाँति रक्खी रहती है—कभी खोली नहीं जाती—उसमें कीड़े छिद्र बना करा अपनी हाज़िरी भर देते हैं।

जैसे जैसे रात अधिक होती जाती है वैसे वैसे अदृश्य स्थान में रहनेवाले हमारे सहवासियों की पलटन अजयगढ़ी में ज़ोर शोर से आक्रमण करने लगती हैं। हमारी आज्ञा के बिना हमारा सहवासी बनने का दावा करनेवाला झींगुर ऐसा छिपा चोर है कि प्रकाश रहते तक किसी को उसके विषय में यह सन्देह नहीं हो सकता कि वह हमारे घर में रहता है। यदि आधी रात के समय हम प्रकाश के बिना रसोई-घर में जायँ और एकाएक लम्प जला दें तो हमें यह देखने का मौक़ा अवश्य मिलेगा कि वहाँ का फ़र्श झींगुर-दल से कहीं भी ख़ाली नहीं है।

झींगुर हमारा कट्टर शत्रु है! यद्यपि प्राणि-शास्त्रियों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है और थैले के समान छोटे से बिल में विशाल कुटुम्ब के सहित इसके बसने के ढँग पर आश्चर्य भी प्रगट किया है,

तथापि यही कहना पड़ता है कि यह प्राणी घृणा का पात्र है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसे यह न खाता हो। जूठन और मैले-कुचैले पदार्थ तथा स्थान पर चलने-फिरने का वह बड़ा शौक़ीन होता है। वहीं से बीमारी लिये हुए यह हमारे खाद्य पदार्थ पर भी आ पहुँचता है। जिस खाद्य पदार्थ को वह अपने मुँह से छूता है वह उसके मुँह से निकलनेवाली लार से ख़राब हो जाता है। देखने में यह भले ही सुन्दर हो, परन्तु है नाश-कारक। उसके जबड़े बहुत मज़बूत होते हैं, इसी लिए वह चीज़ों को कतर और उनमें छेद भी कर सकता है। यह आर्द्रता के लिए कपड़ों में भी छिद्र करता है। जब उनका झुंड एकत्र होता है तब वह मनोरञ्जन के लिए मधुर स्वर से सङ्गीत का आलाप करता है। बहुधा देखा गया है कि झींगुर नये घर को बहुत पसन्द करता है। दीवार की आर्द्रता का प्रेमी होने के कारण वह नये मकान में मनुष्य के बसने के पूर्व ही जा बसता है और दीवारों के सूखने और दृढ़ होने के पहले ही उनमें अपना घर बना लेता है।

इधर तस्करों के आचार्य मूषक ने हमें नाकों दम कर रक्खा है। फ़र्श, दीवार, छप्पर जहाँ देखो वहाँ उसका अदृश्य मार्ग बना है। मकान को पोला और निकम्मा करना उसके बायें हाथ का खेल है। वह ऐसा धूर्त और चालाक चोर है कि पुलिसवाले वर्षों तक ख़ाक छान कर भी उसके छिपने और चोरी की वस्तु रखने की जगह का पता नहीं लगा सकते। यदि उसके भाण्डार-घर की तलाशी ली जाय तो हमारी गृहस्थी की ऐसी कोई भी वस्तु न होगी जो वहाँ मौजूद न हो। कच्चा पक्का अनाज, फल, शाक-पात, मिठाई आदि खाद्य पदार्थ उसके भोजन की सामग्री है। उसके यहाँ इन वस्तुओं का मिलना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि वह निरक्षर होकर कालिदास और शेक्सपियर जैसे कवि शिरोमणि-कृत काव्य के पत्रों का भी संग्रह करता है। धन की उपयोगिता के मर्म को न जानते हुए भी वह रेशम की थैली में रक्खे गये रुपये पैसों की चोरी करता है। है तो वह असभ्य और जङ्गली, परन्तु वह पीताम्बर और रंग-बिरंगी छींट के टुकड़ों से अपने भाण्डार-घर की शोभा बढ़ाता है। कुरूप होने पर भी वह आभूषण की चोरी करने से बाज़ नहीं रहता।

सिद्धि-दायक गणपतिजी के वाहन की ऐसी निन्दनीय करतूत देख कर बड़ा भारी दुःख होता है। और उससे भी अधिक दुःख उसके द्वारा फैलने-वाली बीमारी के लिए होता है जिससे भारतवर्ष की मानव-जाति अधिकाधिक संख्या में काल-कवलित होती जाती है। मनुष्य की हानि करना उसका दृढ़ संकल्प है। भला ऐसे कट्टर डाकू के सहवासी बन कर रहने से हमारे जान माल और स्वतन्त्रता की रक्षा क्योंकर हो सकती है। परन्तु हमारी क्षमता तो देखिए। लोटा चुरा कर भागनेवाले सिट्टू ख़ाँ के पीछे पड़ जायँगे, उसकी दुर्गति कर डालेंगे, परन्तु घर के भीतर बसनेवाले डाकूराज के प्रति उदारता दिखाने में नहीं चूकेंगे।

हमारे घर में मक्खी, मच्छड़, कुटकी, पिस्सू आदि भयानक प्राणियों की भी कमी नहीं है। इन्हीं से संसार का नाश हो रहा है। ये ही हज़ारों मील तक बीमारी फैला रहे हैं। हैज़ा, मलेरिया, मोतीझरा,

चौथिया, तिजारी, विषम ज्वर, क्षय और प्लेग आदि भयानक संक्रामक रोगों के प्रसारक यही प्राणी माने गये हैं। ये मनुष्य-जाति के लिए उतने ही भयानक शत्रु हैं जितना कि योरपीय महासमर। जब तक हम अपने घर के भीतर बसनेवाले डाकुओं का दमन नहीं कर लेंगे—बीमारियों का बीजारोपण करनेवाले कीट कीटाणुओं पर विजय नहीं पा लेंगे—तब तक आपत्ति-पूर्ण भूमि पर पूर्ण स्वत्व प्राप्त करना हमारे लिए अशक्य और अलभ्य है।

रात्रि के समय जितनी बारीकी से देखा जाय उतने ही अधिक कीड़े-मकोड़े दिखाई देंगे। हमारी लेखनी में इतनी शक्ति नहीं कि हम उन सबका थोड़ा बहुत वर्णन यहाँ कर सकें।

कर्मवीर चिऊँटी का यत्न-पूर्वक रक्खे गये मीठे पदार्थों को चुराते और लालचवश प्राण खोते देख कर हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि इन प्राणियों से हमारा क्या लाभ है? इसी प्रकार गद्दी तकिये में निवास करनेवाला खटमल जब शारीरिक शक्ति-वर्धक खून को चूसता है तब यही कहना पड़ता है कि ये प्राणी मनुष्यों के उपकार तो करते हैं नहीं, तब हमारे घर में बसने का इन्हें क्या अधिकार है? परन्तु सच बात तो यह है कि संसार में निवास करने का जितना हक मनुष्य को है उतना ही इन प्राणियों को भी है। सभ्यता का झंडा फहराते हुए हम लोगों ने उनके राज्य पर आक्रमण किया है, उनका स्वत्व छीन लिया है, इसके बदले वे हमारे घर में घुस कर नित्यप्रति हम पर आक्रमण करते हैं। वस्त्र, दरी, चित्र, लकड़ी के सामान, खाद्य पदार्थ आदि को खा-पीकर हमारा नुक़सान करते हैं। इस हानि से बचने का उपाय एक-मात्र बुद्धि और सावधानी है।

अन्त में यह भी बता देना उचित होगा कि जिन प्राणियों के कारण हमें अपने घर में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अड़चन होती है उन चोर और डाकुओं का नाश करने से हमारे घर में होनेवाली ऐसी विचित्र बातों, अद्भुत घटनाओं और विस्मयोत्पादक आविष्कारों का लोप हो जायगा जिसकी पूर्ति कला और धन से नहीं हो सकती। घर एक छोटा सा संसार है। इसमें मनुष्य, स्तन्यपायी जीव, पक्षी, कीट और कीटाणु-वर्ग के प्रतिनिधि निवास करते हैं।

वनमालीप्रसाद शुक्ल

मैं न बचूँगी।

(१)

युक्त प्रदेश में मिनी की बाल्यावस्था बीती थी। वहीं पर वह सयानी हुई। बचपन में वह कुएँ के पास लगे शहतूत के फल गिराने को छिप कर जाती थी; और अरहर के खेत में जो बूढ़ा घसियारा घास छीलने आता था उसके साथ वह ख़ूब घुल घुल कर बातें किया करती थी।

जब वह बड़ी हुई तब जौनपुर में उसका विवाह हुआ। इसके बाद उसके एक बच्चा हुआ, पर वह बचा नहीं। उस समय डाक्टर ने कहा कि बच्चा तो गया ही, अब बच्चे की माँ के बचने में भी सन्देह है।

इसलिए वह कलकत्ते लाई गई।

उम्र उसकी कम थी। कच्चे फल की तरह उसके कोमल प्राण पृथ्वी के वृन्त को ख़ूब ज़ोर से पकड़े

हुए थे। जो कुछ नम्र था, हरा था और जो कुछ सजीव था उसको वह हृदय से चाहती थी।

उसके घर के आँगन में आठ-दस हाथ ज़मीन थी। उसी में उसकी छोटी सी बगीची थी। इस पर इसका उतना ही प्रेम था जितना कि किसी का गोद के बच्चे पर होता है। बगीची की बाड़ पर जो बन्दर-बेल फैली हुई थी उसमें कलियों के निकलते समय मिनी यहाँ आई।

महल्ले के क्या पालतू और क्या ग़ैर पालतू सभी कुत्तों को उस के घर खाना मिलता था। उनका आदर भी वह कुछ कम न करती थी। उनमें से जिस कुत्ते को वह ज़्यादा पसन्द करती थी उसकी नाक ज़रा चपटी था। नाम था उसका भोंथरा।

उसके गले में पहनाने के लिए मिनी एक झूठे मोतियों की माला बनाने लगी। वह अभी पूरी न बनी थी कि कुत्ते के मालिक ने मिनी से कहा—"बहूजी, अब इस कुत्ते को तुम्हीं अपने यहाँ रहने दो।"

मिनी के स्वामी ने कहा—"नहीं साहब, हम इसे पालना नहीं चाहते। आपका कुत्ता आपको ही मुबारक हो।"

(२)

कलकत्ते के किराये के मकान में दोमञ्ज़िले पर मिनी लेटती थी। एक हिन्दुस्तानी दाई उसकी परिचर्या करने के लिए नियुक्त थी। वह पास बैठ कर न जाने कितनी बातें करती, उनमें से कुछ को तो मिनी सुनती और कुछ को सुनती ही न थी।

एक बार मिनी रात भर जागती रही। उसे नाम लेने को भी नींद न आई। सवेरे पहर ज्योंही अँधेरा कुछ कम हुआ त्योंही उसके जँगले के नीचे-वाला चम्पे का पेड़ फूलों से लद गया। उसकी मन्द सुगन्ध ने जँगले के समीप आकर मानों मिनी से पूछा—"कहो, कैसी तबीअत है?"

मिनी के किराये के मकान और उसके पड़ोस-वाले घर के बीच जो थोड़ी सी जगह थी उसी में यह धूप का भूखा वृक्ष, विश्व-प्रकृति का यह गूँगा लड़का, किसी तरह आकर मानों भटके हुए की तरह खड़ा हो गया था।

थकी माँदी मिनी ज़रा दिन चढ़े उठती थी। उठते ही उसकी नज़र चम्पे पर पड़ती। किन्तु उस दिन की तरह उसमें फूलों की चादर उसे देखने को न मिलती। तब वह कहती कि "अरी दाई, तुझे मेरे सिर की सौगन्द है, इस पेड़ के नीचे की ज़मीन को खोद कर ज़रा पोली कर दे और रोज़ सवेरे उठ कर इसमें पानी दे दिया कर।"

पेड़ में इधर कई दिनों से कम फूल क्यों आते थे, इसका कारण थोड़ी ही देर में प्रकट होगया।

उस समय प्रातःकालिक प्रकाश, अर्द्ध-स्फुटित कमल की तरह, प्रकट हुआ ही था कि हाथ में फूलों की टोकरी लिये पुजारी जी महाराज चम्पे की शाखाओं को झुकाने लगे मानों लुटेरों का सिपाही चौथ वसूल करता हो।

मिनी ने कहा—"दाई, जा, महाराज को यहाँ तो बुला ला।"

वहाँ ब्राह्मण देवता के आते ही मिनी ने प्रणाम करके उनसे कहा—"महाराज, फूल किसके लिए तोड़े लिये जाते हो?"

पुजारी ने कहा—"ठाकुरजी के लिए।"

मिनी बोली—"ठाकुरजी ने तो ये फूल स्वयं मेरे लिए भेजे हैं।"

"तुम्हारे लिए ?"

"जी हाँ, मेरे लिए। उन्होंने जो दे दिया है उसे वापस ले लेने की शर्त उन्होंने नहीं की।"

इस पर पुजारीजी चिढ़ कर चले गये।

दूसरे दिन सवेरे आकर पुजारीजी जब फिर उस पेड़ को हिलाने-डुलाने लगे तब मिनी ने कहा—"दाई, मैं यह नहीं देख सकती। बग़लवाले कमरे में जँगले के समीप मेरे लिए बिछौना बिछा दे।"

(३)

बग़लवाले कमरे के सामने राय-चौधरी का चौमञ्ज़िला मकान है। मिनी ने अपने स्वामी को बुला कर कहा—"देखो, उनका बालक कैसा सुन्दर है! उसे एक बार यहाँ ले आओ तो मैं उसे गोद में बिठा लूँ।"

उसके स्वामी ने कहा—"ग़रीब के घर वे अपने बच्चे को क्यों भेजने लगे ?"

मिनी बोली—"यह तुमने एक ही कही। छोटे बच्चे के लिए धनी और ग़रीब का भेद-भाव नहीं किया जाता। बच्चों के लिए सभी की गोद में राज-सिंहासन है।"

स्वामी ने घर आकर ख़बर दी—"दरवान कहता है कि बाबू से मुलाक़ात न हो सकेगी।"

अगले दिन शाम के वक्त़ मिनी ने दाई को बुला कर कहा—"देखो, बाग़ में वह अकेला खेल रहा है। जल्दी जा और उसे यह लड्डू दे आ।"

सन्ध्या होने पर मिनी के स्वामी ने घर में आकर कहा—"वे लोग नाराज़ हो गये हैं।"

"क्यों, नाराज़ किस लिए हो गये हैं ?"

"वे कहते हैं कि तुम्हारी दाई यदि फिर कभी हमारे बाग़ में पैर रक्खेगी तो उसे हम पुलिस के सिपुर्द कर देंगे।"

लहमे भर में मिनी की आँखों से आँसू बरसने लगे। उसने कहा—"मैंने अपनी आँखों देखा है! उन्होंने बालक के हाथ से मेरा लड्डू छीन कर फेंक दिया! इसके सिवा उसे दो तमाचे भी लगा दिये। मैं यहाँ न बचूँगी। मुझे यहाँ से ले चलो।"*

'ललन'

इँग्लेंड का राज-परिवार।

इस बीसवीं सदी के प्रजावाद के ज़माने में किसी राज-वंश का सर्व-साधारण द्वारा पूजित होना सामान्य बात नहीं। इधर कुछ पिछली सदियों में एवं योरपीय महाभारत के समय जो प्राचीन राजघराने पदभ्रष्ट हुए हैं वे सब इसी प्रजातन्त्र-वाद की महिमा से। इतने पर भी जो राजसिंहासन इसके सङ्घर्षणों में पड़ कर अछूता ही बना रहे, यही नहीं किन्तु उसका समादर भी सर्व-साधारण में होता रहे, वह निस्सन्देह असाधारण है। ऐसे राज-घरानों में एक-मात्र इँग्लेंड का राजघराना है जो इस समय केवल अपने स्थान पर अचल ही नहीं है, किन्तु संसार में अद्वितीय भी है।

इस ब्रिटिश सिंहासन पर इस समय महाराज पञ्चम जार्ज और महारानी मेरी विराजमान हैं। अपने पिता सम्राट् सप्तम एडवर्ड के स्वर्गवासी होने पर सन् १९११ में इन्होंने ब्रिटिश-साम्राज्य का शासन-

* रवीन्द्र बाबू की एक कहानी का अनुवाद।

दण्ड ग्रहण किया था। राज-माता अलेकज़ेंड्रा भी अभी जीवित हैं। सम्राट् के राज-परिवार में पहला नाम इन्हीं राजमाता का आता है। इस समय इनका वय ७७ वर्ष का है और ये अपने उदार देश-सम्बन्धी कार्यों में भाग नहीं लेतीं। किन्तु इनकी प्रजा इनके गुणों को भूली नहीं है। इनकी उदारता के सम्बन्ध में लोग अनेक घटनाओं का उल्लेख कर इनका गुण-गाण प्रायः किया करते हैं।
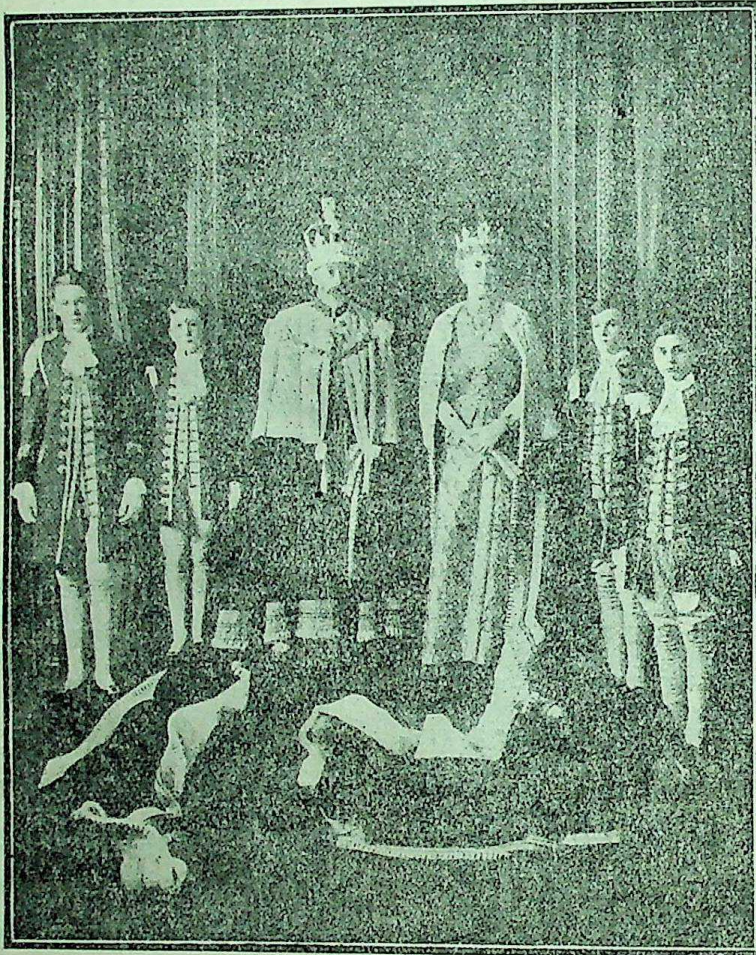
सम्राट् पञ्चम जार्ज और महारानी मेरी।

चरित से अपनी प्रजा की प्रशंसा और आदर की पात्र बनी हुई हैं। अपने शासन-काल में इन्होंने जिस-प्रकार से अपनी प्रजा को अपना भक्त बना लिया था वह गुण इनमें इस समय भी ज्यों का त्यों विद्यमान है। पर वृद्धावस्था के कारण ये अब

सन् १९०५ में जब लन्दन के पूर्वी ग़रीब महल्ले के ग़रीब लोगों को बेकारी के कारण पेट भरना दुर्लभ हो गया तब उन्होंने अपनी दुरवस्था की सूचना गवर्नमेंट को दी, पर जब गवर्नमेंट में उनकी सुनवाई न हुई तब वे दल बाँध कर मिस्टर बालफ़ोर की सेवा में

जा उपस्थित हुए। बालफ़ोर साहब ने उन लोगों के प्रति सहानुभूति दिखला कर कह दिया कि जब तक सर्व-साधारण तुम लोगों की दशा की ओर ध्यान नहीं देते तब तक गवर्नमेंट का किया कुछ नहीं हो सकता। इन बेकार लोगों के दल में कोई दो-तीन हज़ार स्त्रियाँ भी थीं। इन लोगों ने सम्राज्ञी से प्रार्थना की। इस पर महारानी अलेकज़ेंड्रा ने तुरन्त ही एक चन्दे का चिट्ठा खोल दिया और बात की बात में एक करोड़ का चन्दा हो गया। यह एक घटना का हाल है। ऐसी न मालूम कितनी घटनायें हैं जिनका स्मरण करके इँग्लैंड-वासी राजमाता के उदार कार्यों का कीर्ति-कलाप किया करते हैं। इस समय ये पुत्र-पौत्रों से सर्वप्रकार सम्पन्न परिवार में अपना समय सुख से व्यतीत करती हैं। इनको अपने ख़र्च के लिए राज्य से १,५०,००० वार्षिक मिलते हैं।

सम्राट् जार्ज और सम्राज्ञी मेरी भी अपने आदर्श गुणों से महारानी विक्टोरिया की दिगन्त-व्यापिनी कीर्ति को ज्यों की त्यों बनाये रखने में कभी अभी तक पीछे नहीं हटीं। इन्हें शासन-दण्ड ग्रहण किये हुए अभी ग्यारह वर्ष ही हुए हैं। साम्राज्य को अभूतपूर्व धक्का इन्हीं के शासन-काल में लगा पर उसकी चोट सह कर वह अक्षुण्ण ही नहीं किन्तु और भी शक्तिमान् होकर इस समय जगत् में अपना प्रताप दिखला रहा है। ब्रिटिशसाम्राज्य का ऐसा गौरव-पूर्ण पद इन्हीं महाराज जार्ज और महारानी मेरी के शासन-काल में प्राप्त हुआ है, यह बात महाराज और महारानी के लिए भी गौरव की है। इनके सिंहासन पर आसीन होने के तीन वर्ष बाद ही गत योरपीय युद्ध प्रारम्भ हुआ था और उसमें ब्रिटिश-वाहिनियों ने अद्भुत विजय प्राप्त की।

प्रिंस अलबर्ट।

जिस पवित्र रहन-सहन और सीधी-सादी चाल-ढाल की ख्याति महारानी विक्टोरिया ने अपने परिवार के लिए प्राप्त की थीं उसका प्रत्यक्ष प्रभाव सम्राट् और साम्राज्ञी पर पूर्ण रूप से लक्षित हो रहा है। ये केवल महारानी के निरीक्षण ही में नहीं

रहे, किन्तु इन्हें सम्राट् सप्तम एडवर्ड से भी शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अतएव सब प्रकार का ज्ञान सञ्चय कर लेने के पश्चात् ये सम्राट् के पद पर विराजमान हुए हैं और अब तक
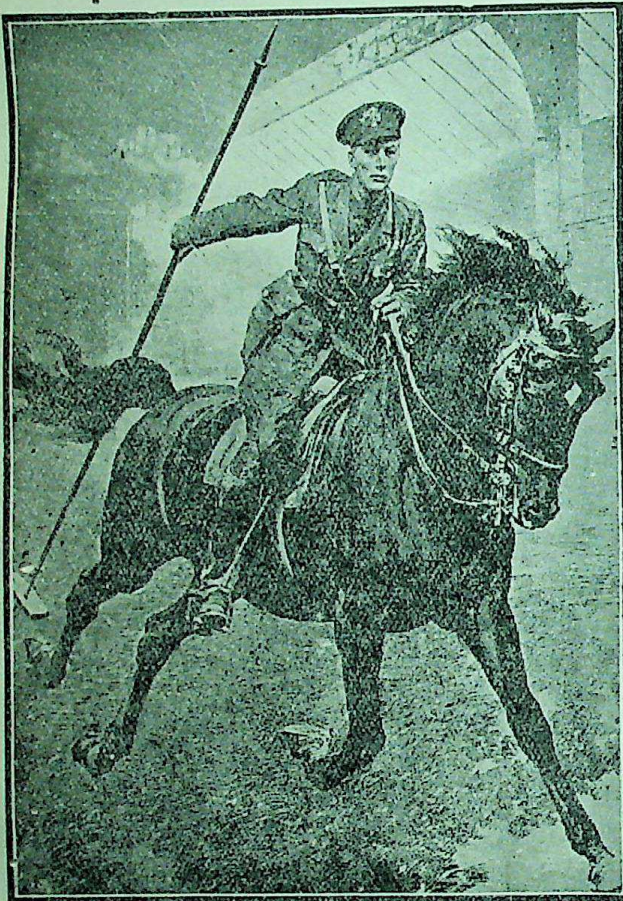
प्रिंस हेनरी।

अपनी कुशाग्र-बुद्धि और स्वाभाविक उदारता की प्रेरणा से आवश्यकता उपस्थित होने पर इन्होंने राज-काज में स्वयं योग-दान करके साम्राज्य को सङ्कट से बचाया है।

सम्राट् के अधिकारारूढ़ होने के समय कुछ लोगों ने इस बात की आशंका की थी कि इनके समय राजदरबार की वह ख्याति लुप्त हो जायगी जिसे महारानी विक्टोरिया ने अपनी संयमशीलता से अनवरत परिश्रम करके उपार्जन की थी।" परन्तु यह आशङ्का निर्मूल सिद्ध हुई। सम्राट् ने अपनी मातामही के आदर्श को सब अंशों में निबाहा और ये सम्राज्ञी के सहित अपनी प्रजा के आदर-भाजन हो रहे हैं।

महारानी मेरी का वय इस समय ५४ वर्ष का है। अपने इस अल्प-काल के शासन में सम्राट् और सम्राज्ञी ने सब प्रकार के राज्य-सम्बन्धी कार्यों में योग-दान करके अपनी दयालुता और प्रजा के प्रेम का परिचय दिया है। सम्राट् को प्रतिवर्ष ७०,५०,०००) मिलते हैं। परन्तु इनका ख़र्च कम नहीं है। सम्राट् की सेवा में कोई डेढ़ सौ नौकर हैं। इनके लिए सम्राट् को १,९५,०००) प्रतिवर्ष ख़र्च करना पड़ता है। कपड़ों की धुलाई ही में इनको १,६५,०००) लग जाते हैं। युद्ध-काल में जब यह बात आवश्यक हो गई कि सारा राष्ट्र मितव्ययिता धारण करे तब सबसे पहले सम्राट् ही ने इसका श्रीगणेश किया था। यहाँ तक कि आपने चाय और शराब का पान बहुत ही कम कर दिया था। इस समय साम्राज्य पर जो आर्थिक सङ्कट उपस्थित है उसका प्रभाव सम्राट् की भी आर्थिक अवस्था पर पड़ा है, अतएव ये अपनी आमदनी की वृद्धि का प्रबन्ध न करके अपने तथा महारानी के ख़र्च को ही कम करने की चेष्टा करते हैं। पहले महारानी अपनी पोशाक में १२,०००) प्रतिवर्ष ख़र्च करती थीं। परन्तु अब ये १०,५००) में ही काम

चला लेती हैं। मतलब यह कि सम्राट् यह नहीं चाहते कि हमारे ख़र्च का बोझ साम्राज्य पर अधिक पड़े, अतएव उसका कम कर देना ही ठीक है। यह साधारण बात नहीं है। जब साम्राज्य की सारी प्रजा इस समय आर्थिक सङ्कट के कारण कष्ट पा रही है तब सम्राट् और सम्राज्ञी अपने ख़र्च में कमी करके अपने सादे रहन-सहन को और भी सादा और मितव्ययी बना दें। यह घटना निस्सन्देह उनकी सहृदयता ही का द्योतन करती है।

सम्राट्, जैसा कि ऊपर कहा गया है, भगवान् की कृपा से परिवार से सब प्रकार सम्पन्न हैं। इनकी तीन बहनें जीवित हैं। पहली बहन राजकुमारी लुई का जन्म सन् १८६७ में हुआ था। उनका विवाह ड्यूक आफ् फ़ाइफ़ से सन् १८८९ में हुआ था। अभाग्यवश उनके पति की मृत्यु सन् १९१२ में हो गई। इनकी दो कन्यायें हैं। दूसरी बहन का नाम है राजकुमारी विक्टोरिया। इनका जन्म सन् १८६८ में हुआ था। तीसरी बहन हैं राजकुमारी माड। इनका जन्म सन् १८६९ में हुआ था और सन् १८९६ में इनका विवाह तत्कालीन डेनमार्क के युवराज के साथ हुआ, जो आज-कल नार्वे के सिंहासन पर किंग हाकन (सप्तम) के नाम से अधिष्ठित हैं। इनके पुत्र का नाम है ओलवा।

सम्राट् के चाचा ड्यूक आव् कनाट का पूरा नाम-आर्थर विलियम पेट्रिक अलबर्ट है। इनका जन्म सन् १८५० में हुआ था। यही सम्राट् के कनिष्ट चाचा हैं। अवशिष्ट दो पितृव्यों का, कई वर्ष हुए, स्वर्गवास हो गया। सम्राट् के पाँच पुत्र और एक कन्या है। प्रिंस आव् वेल्स

राजकुमारी मेरी।

के लघु भ्राता का नाम अलबर्ट है और इनका जन्म सन् १८९५ के दिसम्बर में हुआ था। फिर इनकी बहन राजकुमारी मेरी १८९७ के अप्रेल में उत्पन्न हुई। इन तीनों सन्तानों का जन्म महारानी विक्टोरिया के जीवन-काल ही में हुआ था। इनके

बाद प्रिंस हेन्री सन् १९०० में, प्रिंस जार्ज १९०२ में और प्रिंस जान सन् १९०५ में पैदा हुए।

वीरेन्द्रकुमार मुखोपाध्याय

भारत के मुसलमान राजकुमार।

मुसलमानों में ख़लीफ़ा और बादशाह का पद सर्वोच्च है। यह पद केवल सांसारिक विचार से ही सबसे बड़ा नहीं गिना जाता, बल्कि धार्मिक दृष्टि से भी यह बड़ा और आदरणीय है। ख़लीफ़ा या बादशाह का विद्या से शून्य होना एक ऐसी भारी त्रुटि है जो सब मुसलमानों की आँखों में निरन्तर खटका करती है। कम से कम धार्मिक शिक्षा तो उसके लिए परमावश्यक समझी जाती है। ऐसी दशा में मुसलमान युवराजों तथा राजकुमारों को धार्मिक शिक्षा अवश्य दी जाती थी, जिससे यथा समय राज-सिंहासन के स्वामी होने पर वे लोग भली भाँति राज्य का कार्य्य कर सकें। पर यह बात बड़ी कठिन और असम्भव थी कि युवराज को धार्मिक शिक्षा तो अवश्य दी जाय, किन्तु दूसरे प्रकार की शिक्षाओं से वह सर्वथा वञ्चित रक्खा जाय या वह स्वयं ही वञ्चित रहे। फलतः यह कहना सर्वथा उचित है कि मुसलमान राजकुमार सब प्रकार की शिक्षा पाते थे और वास्तव में उनको यथेष्ट रूप से शिक्षा दी जाती थी।

प्रतिज्ञा पालन।

एक लेखक का कथन है कि एक बार सुलतान फ़ीरोज़ तुग़लक़ ने बङ्गाल पर चढ़ाई की। इस आक्रमण में उसका पुत्र फ़तेह ख़ाँ भी साथ था। यद्यपि शाहज़ादा छोटी उम्र का था तो भी दूसरे बच्चों के सदृश उसको खेल-कूद का शौक़ बिलकुल न था। प्रातःकाल से दो पहर तक और सायङ्काल से पहर रात बीते तक वह पढ़ने ही लिखने में लगा रहता था। सभा तथा सवारी के समय जो बातें होती थीं उनका फ़ैसला वह इस ख़ूबी के साथ करता था कि बड़े बड़े चतुर तथा अनुभवी लोग उसकी बातें सुन कर आश्चर्य करने लगते थे। एक दिन शाहज़ादे को निद्रा ने बहुत सताया, वह अपने शिक्षालय से ख़ास महल की ओर चला। मार्ग में उसे एक बुढ़िया स्त्री से भेंट हो गई। वह दरबार में फ़रियाद करने को आई थी। उसने शाहज़ादे से कहा—मेरा पति और पुत्र सुनारगाँव से कुछ माल ख़रीद कर शाही लश्कर में बेचने को आते थे। राह में डाकुओं ने हमला करके सारा माल लूट लिया। जब वे लोग रोते धोते शाही लश्कर के समीप पहुँचे तब सिपाहियों ने उनको शत्रु के जासूस समझ कर पकड़ लिया। मैं दुखी बुढ़िया आपसे न्याय की प्रार्थना करती हूँ। बुढ़िया का हाल सुन कर शाहज़ादे ने कहा—यदि तू सच्ची है तो ऐसे दो साक्षी ला जो तेरी बात की पुष्टि करें। बुढ़िया बोली—बेटा, गवाह तो बहुत हैं, पर मैं डरती हूँ कि यदि आने-जाने में देर हो गई तो मैं तुम्हारे पास न आने पाऊँगी। शाहज़ादे ने हँस कर कहा—अच्छा मैं इसी जगह खड़ा हूँ। तुम जाकर अपने साक्षी ले आओ।

शाहज़ादा की बात सुन कर बुढ़िया चली गई और वह वहीं खड़े खड़े उस बुढ़िया की

प्रतीक्षा करने लगा। नौकरों ने निवेदन किया कि धूप में खड़े रहने से आपको कष्ट होगा। इसलिए यहाँ से हट कर यदि आप किसी वृक्ष के नीचे खड़े हो जायँ तो बड़ा अच्छा हो। परन्तु शाहज़ादे ने वहाँ से पैर तक उठाना उचित न समझा। वह धूप ही में खड़ा रहा। बुढ़िया के अपने साक्षियों को ले आने पर उसने उनके बयान सुने और जब उसे यह निश्चय हो गया कि बुढ़िया सच्ची है तब उसको अपने साथ लेकर वह अपने पिता के पास गया। किन्तु उस समय बादशाह सो रहा था, इसलिए वह उसके जागने की प्रतीक्षा करता रहा। जब बादशाह सो कर उठा तब उसने सारी घटना को सुन कर उन दोनों को छोड़ देने की आज्ञा दे दी।

कहा जाता है कि इस कार्य्य में शाहज़ादे को इतना कष्ट उठाना पड़ा कि उसने दोपहर का खाना शाम को खाया। पर यह बात स्पष्ट है कि जिस स्वभाव का परिचय शाहज़ादे ने दिया उसके लिए उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

शिक्षा।

जब मुसलमानों का अभ्युदय हुआ तब अरब से निकल कर वे इधर उधर फैले। उन्होंने पहले पहल दमिश्क और बग़दाद ही में अपने नये राज्यों की स्थापना की थी। यहाँ से अरब बहुत दूर नहीं था। इन राज्यों के बादशाह अरबी वंश के थे। इस लिए वे लोग अपने राजकुमारों को पहले अरब ही भेजा करते थे जिसमें उन पर उन बातों का प्रबल संस्कार पड़ जाय जो विशुद्ध अरबनिवासी में होती हैं। इसके सिवा राजकुमार अरबी-भाषा में भी दक्ष हो जाते थे। यह प्रथा केवल कुछ ही समय तक चल सकी। बाद को राजकुमारों की शिक्षा का प्रबन्ध भिन्न भिन्न विषयों के ज्ञाताओं द्वारा होने लगा। भारत के मुसलमान बादशाहों के लिए यह बात असम्भव सी थी कि वे अपने राजकुमारों को शिक्षा के लिए अरब भेजें। इसके सिवा यहाँ के बादशाह उनको वहाँ भेजने की कोई आवश्यकता भी न समझते थे। भारत में राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए योग्य व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। राजकुमारों को वही समुचित शिक्षा देते थे।

इतिहास की सब पुस्तकों में यही लिखा है कि अकबर लिखना पढ़ना बिलकुल नहीं जानता था, किन्तु उसकी बातचीत से किसी को उसके अपढ़ होने का सन्देह तक न होता था। गहन विषय को तत्काल समझ लेने का माद्दा उसमें अद्भुत था। वीर सैनिक होने के सिवा वह बहुत विनम्र भी था। अकबर को यह सब कुछ अपने गुरु बैरम ख़ाँ से प्राप्त हुआ था।

फ़ौजी शिक्षा।

मुसलमानों को लड़ाई भिड़ाई बहुत करनी पड़ती थी। इस कारण बादशाह को एक अच्छा सैनिक होने की बड़ी भारी आवश्यकता थी। इसी लिए राजकुमारों को सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। यही नहीं किन्तु यह शिक्षा समय की गति से परमावश्यक हो गई थी। भारत के सम्राट् अकबर के विषय में सभी ऐतिहासिक सहमत हैं कि वह निरक्षर था। किन्तु वह एक अच्छा सिपाही और शिकार खेलने में ख़ूब निपुण था, यह बात सबको स्वीकार है। यह शिक्षा उसे लड़कपन में ही दी गई थी। निदान शाहज़ादों को शिकार में ले

जाने और उन्हें शिकार खेलने देने का दस्तूर सा हो गया था। कभी कभी बादशाह सपरिवार युद्ध में पधारता था। ऐसी दशा में राजकुमारों पर युद्ध का संस्कार अवश्य पड़ता था। इसी कारण नवयुवक राजकुमारों को लड़ाई तथा युद्ध-क्षेत्र तक ले जाना साधारण बात हो गई थी।

युद्ध का भार।

युद्ध-भूमि में उपस्थित रहने के कारण राजकुमारों के चरित्र पर युद्ध का अच्छा संस्कार पड़ जाता था। उनमें सैनिक-जीवन का सञ्चार हो जाता था। जब शाहज़ादे पूर्ण वयस्क हो जाते तब उनकी ही अध्यक्षता में लड़ाइयाँ होती थीं। उनको युद्ध का सारा भार सौंप दिया जाता था और अच्छे अच्छे अनुभवी सेनानायक उनकी सहायता के लिए उपस्थित रहते थे। क़न्धार की पहली लड़ाई में शाहजहाँ ने शाहज़ादा औरंगज़ेब को भेजा था। उसके साथ अनिरुद्धसिंह गौड़, राव अमरसिंह, और देवीसिंह बुँदेला जैसे प्रसिद्ध सरदार भेजे गये थे। क़न्धार की दूसरी लड़ाई के लिए जब शाहज़ादा दाराशिकोह नियुक्त हुआ तब भी राजा अमरसिंह नरवरी तथा अन्य कई अनुभवी लोग भेजे गये थे।

मुसलमानों के समय रेलगाड़ी, हवाई जहाज़ या मोटरों का प्रचार न था। उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान में शीघ्रता अथवा आसानी के साथ पहुँचने के लिए उपयुक्त साधन नहीं थे। अतएव पुराने ढंग की यात्रा में अनुभव की ख़ासी वृद्धि होती थी। इसके सिवा योग्य तथा अनुभवी सेनापतियों की सलाह से युद्ध करने में राजकुमारों को बादशाह बनने के पहले ही बहुत कुछ सीख जाने का अवसर मिल जाता था।

प्रान्तों की सूबेदारी।

राजकुमार ही भावी बादशाह होते हैं, इसलिए उनकी ऐसी शिक्षा-दीक्षा होनी चाहिए कि बादशाह होने पर वे राज्य का भार भली भाँति उठा सकें। इस कारण राजकुमार किसी किसी प्रान्त का सूबेदार भी बना दिया जाता था और जैसे संग्राम के सेनापति बनाये जाने की दशा में उसकी सहायता और सलाह के लिए योग्य और अनुभवी सेनापति उसके साथ रहते थे उसी प्रकार उसकी सूबेदारी के समय भी उसकी सहायता के लिए राजनीति में निपुण उच्च राज-कर्मचारी नियुक्त रहते थे। जब औरंगज़ेब को शाहजहाँ ने दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया तब मुअज़्ज़म ख़ाँ और मीर जुमला शासन-प्रबन्ध में उसको मदद देने के लिए नियुक्त किये गये थे। राजा देवीसिंह बुँदेला भी उसके साथ रहता था। इसी प्रकार शाहज़ादा मुरादबख़्श के साथ क़ाबुल में राव अमरसिंह राठौर की नियुक्ति हुई। जब शाहज़ादा ख़ुसरो को अकबर ने उड़ीसा का प्रान्त जागीर में दे दिया तब उसने राजा मानसिंह को शाहज़ादे का शिक्षक बना दिया। उस प्रान्त का प्रबन्ध भी राजा ही के मत्थे कर दिया गया था।

सूबेदार अपने प्रान्त का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। इसलिए शाहज़ादे राज्य-प्रबन्ध का ढंग पूर्णरूप से सीख जाते थे। इसके सिवा एक लाभ यह भी था कि राज्य अपने ही लोगों में बँटा रहता था और किसी प्रकार की आपत्ति का भय नहीं रहता था।

न्याय ।

शाहज़ादों के आचार-विचार की ओर भी कुछ कम कड़ी दृष्टि नहीं रक्खी जाती थी। सुलतान ग़यासुद्दीन बलबन अपने पुत्र को इस बात की ताक़ीद किया करता था कि यदि तुम दीन दुखी पर किसी प्रकार का अत्याचार करोगे तो मैं ख़ुद तुम्हें उसका दण्ड दूँगा।

शेरशाह सूर का कथन था कि न्याय सारे गुणों में सराहनीय है और यह एक ऐसा प्रशंसनीय गुण है जो कि मुसलमान बादशाहों तथा ग़ैर मुसलमान बादशाहों को भी पसन्द है। कोई ईश्वरोपासना न्याय के बराबर नहीं। मुसलमान और काफ़िर दोनों ही न्याय के समान अधिकारी हैं। एक लेखक का कहना है कि एक दिन शेरशाह का बड़ा पुत्र आदिल ख़ाँ हाथी पर सवार होकर आगरे की एक गली से होकर गुज़रा। मार्ग में एक बनिये की स्त्री अपने घर में नग्न स्नान कर रही थी। मकान की दीवार नीची थी। शाहज़ादे ने उसे देख कर एक पान का बीड़ा उसकी ओर फेंक दिया। वह स्त्री बड़ी पतिव्रता थी। लाज के मारे जान देने पर तुल गई। इसी बीच में उसका पति आगया। उसने समझा-बुझा कर स्त्री को आत्महत्या करने से रोक लिया और उस बीड़ा को लेकर वह सार्वजनिक न्यायालय में पहुँचा। जब बादशाह ने उसकी फ़रियाद सुनी तब उसने दुःख प्रकट किया और आज्ञा दी कि इसी प्रकार बनिये को हाथी पर सवार करा कर आदिल ख़ाँ की बीबी उसके सामने की जाय जिसमें वह भी उसकी ओर पान का बीड़ा उसी प्रकार फेंके।

बादशाह की इस आज्ञा पर दरबारियों ने बहुत कुछ निवेदन किया, किन्तु बादशाह ने किसी की बात न सुनी और कहा कि न्याय में धनी और निर्धन सब बराबर हैं। मैं यह बात कभी नहीं सह सकता कि मेरा बेटा प्रजा के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करे। अन्त में जब बनिया स्वयं राज़ी हो गया और शाहज़ादे से बदला लेने की अनिच्छा प्रकट की तब बादशाह विवश होकर चुप हो गया।

इस प्रकार की और बहुत सी घटनायें हैं जिनसे स्पष्ट रूप से पता चलता है कि जब शाहज़ादे कोई अन्याय-युक्त कार्य्य करते थे तब उनको कड़ा दण्ड दिया जाता था। उनके साथ किसी प्रकार की रियाअत नहीं की जाती थी। उनके आचार-विचार पर कड़ी दृष्टि रक्खी जाती थी। वास्तव में इन्हीं बातों की बदौलत मुसलमानों ने बहुत समय तक शासन किया। जब इन बातों का अभाव हो गया तब राज-पाट से भी उनको हाथ धोना पड़ा।

महेशप्रसाद

वायु-परिवर्तन ।

[१]

"हरप्रसाद—ओ हरप्रसाद—अरे भैया बुख़ार उतरा कि नहीं ?"

लिहाफ़ के भीतर से ही काँपते काँपते हरप्रसाद बोला—"अरे रे !— उतरा !— अब एक-दम ही उतरेगा।"

मा ने कहा—"धत्तेरे की, कोई ऐसी बात कहता है। भगवान् जल्दी आराम कर देंगे"।

हरप्रसाद की कँपकँपी और भी बढ़ गई।

"जाड़ा बहुत लगता है बेटा ?"

"उँहूँ हूँ, उँहूँ हूँ।"

"सिर में दर्द होता है ?"

"फटा जाता है, बिलकुल चैन नहीं।"

"मैं तो अभी बिछौने को छूती नहीं। बहू को भेजती हूँ, ज़रा सिर पर हाथ फेरती रहेगी तो आराम मिलेगा।"

"जैसा समझो करो। उँहूँ हूँ।"

अचम्भे की बात है कि माँ के जाते ही हरप्रसाद की कँपकँपी बन्द हो गई। उसके कराहने की आवाज़ भी फिर न सुन पड़ी। पहले मुँह, इसके बाद अस्थिचर्मावशिष्ट हाथ का अग्रभाग लिहाफ़ से बाहर निकल आया। खुले जँगले की राह से घर में दुपहरी की धूप आ गई थी जो शय्या के एक स्थान को उज्ज्वल कर रही थी। भौंहें सिकोड़ कर हरप्रसाद उसी ओर कुछ नाराज़ी के साथ देखने लगा।

वह इस विधवा का इकलौता बेटा है। बाईस-तेईस बरस का होगा, किन्तु दाढ़ी-मूँछ अब भी अच्छी तरह नहीं जमी। दो-तीन बरस से हरप्रसाद पर मलेरिया बुख़ार की मेहरबानी है। जब अच्छा रहता है ख़ूब खाता-पीता और घूमता-फिरता है। उस समय यह उन्नीस बीस बरस से ऊपर का नहीं जँचता। शरीर जले हुए काठ की तरह काला है, आँखें धँस गई हैं, पेट मटका ऐसा बढ़ गया है और पैर बिलकुल ही पतले पतले हैं।

गाँव का नाम बलरामपुर है। पहले हरप्रसाद की हालत, देहात के लिहाज़ से, अच्छी थी। उसके पिता मुंशी वंशीधर ने अपनी होशियारी से कारबार बढ़ा लिया था। बहुत सी ज़मीन ले ली थी और कच्चे मकान को गिरा कर अच्छा पक्का मकान बना लिया था।

एक कुटुम्बी लाला भैरवप्रसाद के समधी (जेठी लड़की के ससुर) किसी ताल्लुक़दार के यहाँ नौकर थे। महारानी की जुबली के उपलक्ष में राजा साहब के साथ वे, छिप कर, विलायत हो आये थे। गाँव में यह बात फैलते ही वंशीधर ने भैरवप्रसाद का हुक़्क़ा-पानी बन्द करा दिया। उन्हें जाति से ख़ारिज करके गाँव के एक दल के आप मुखिया बन बैठे। भैरवप्रसाद को जाति से अलग करके ही आप शान्त नहीं हुए, बल्कि उन पर कुछ मामले मुक़द्दमे भी खड़े कर दिये। कई वर्ष तक वंशीधर अपने दबदबे से गाँव में समाज का शासन और मुक़द्दमों का परिचालन करते रहे, किन्तु इसके बाद लाचार हो गये। लाला भैरवप्रसाद का बेटा भूपतिलाल ज्योंही डिपुटी कलेक्टर हुआ त्योंही गाँव-वालों ने वंशीधर की तरफ़ से गवाही देना अस्वीकार कर दिया। फिर एक एक करके जाति के लोग मुंशी वंशीधर के दल को छोड़ कर लाला भैरवप्रसाद के दल में जा मिले। इतने पर भी वंशीधर ने अपनी ज़िद न छोड़ी। और कई वर्ष तक मुक़द्दमे चला कर एक प्रकार से सर्वस्व खो करके अन्त में चल बसे। इसी से हरप्रसाद आज दरिद्र है—जो थोड़ी बहुत पैत्रिक-सम्पत्ति रह गई थी उसी से किसी तरह गुज़र करता है। घर में इनी-गिनी मूर्तियाँ हैं; नहीं तो और भी आफ़त होती। माँ, दुलहिन, बुआ और एक फुफेरे भाई के सिवा घर में और कोई नहीं। अभी तक हरप्रसाद के कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ।

बाहर बरामदे में स्त्री के पैरों की आहट पाते ही हरप्रसाद ने फिर लिहाफ़ से मुँह ढँक लिया। स्त्री का नाम गजरादेवी है, उम्र अठारह साल की होगी। रङ्ग तो उतना अच्छा नहीं पर चेहरा अच्छा है। गजरा बिछौने के समीप आकर बैठ गई। फिर धीरे धीरे स्वामी के मुँह पर से लिहाफ़ हटा कर उसने सिर पर हाथ रक्खा और कहा—"क्यों जी, अब तो बदन वैसा गरम नहीं है।"

हरप्रसाद ने मुँह बना कर कहा—"नहीं तो, बदन गरम कैसे रहेगा ? बिलकुल बर्फ़ हो गया है।" अब वह फिर उँहूँ हूँ करके कराहने लगा। "अरे बप्पारे, अरी मैयारी" कह कर जल्दी जल्दी करवट बदलने लगा।

"लाओ, ज़रा सिर को दबा दूँ"—कह कर गजरा ने हरप्रसाद के माथे को ज्योंही हाथ लगाया त्योंही उसने फुर्ती से हाथ को झटक कर कहा—"बस रहने दे, अब और इतनी दया का काम नहीं। जिसकी देह बर्फ़ की तरह ठण्डी है उसके सिर में कहीं दर्द भी होता है ?"

गजरा समझ गई कि मैंने इनकी देह को ख़ूब गरम नहीं बतलाया, इससे ये नाराज़ हो गये हैं। अब वह कई मिनट तक चुपचाप बैठी रही। इसके बाद फिर हरप्रसाद के सिर पर हाथ फेर कर उसने कहा—"अरे! सच तो है! देह से आग की सी लौ निकल रही है! बड़ी देर

तक चूल्हे के पास बैठी रही और वहीं से उठ कर यहाँ चली आई हूँ, इससे मेरे ही हाथ गरम थे। तभी तो मैं ठीक ठीक नहीं समझ सकी।"

हरप्रसाद तमक उठा और हाथ को दूर हटा कर बोला—"अरे चल, जा—अब माँग में सिंदूर न भरना पड़ेगा। चली जा यहाँ से—सीधी तरह से न उठेगी तो फिर तू जान"—यह कह कर वह करवट बदल कर सो गया।

थोड़ी देर में सिर घुमा कर देखा—गजरा बैठी बैठी रो रही है। तब उसने कहा—"किस लिए बैठी हो?"

आँखें पोंछ कर गजरा बोली—"तुम नाराज़ क्यों होगये हो?—मैंने ऐसा क्या बिगाड़ा है?"

हरप्रसाद ने मुँह बना कर कहा—"नाराज़ क्यों हो गये हो, मैंने क्या किया है!—बाक़ी ही क्या रख छोड़ा है?"

गजरा टकटकी लगा कर स्वामी के मुँह की ओर देखती रही। हरप्रसाद बिछौने में मुँह छिपा करके बोला—"जिसका घरवाला बुख़ार के मारे बेचैन पड़ा है,—वह जायगी न्योता खाने, मौज करने?"

गजरा ने धीरे धीरे कहा—"चाची ख़ुद आई थीं और बुला गई थीं, जब हम घर के लोग न जायँगे तो क्या अच्छा मालूम होगा?"

"घर के लोग—आत्मीय! बप्पा जिसे जाति से अलग कर गये उसी के घर गई थी न्योता खाने! क्यों? क्या घर में खाने को नहीं जुड़ता? पेट की इतनी चिन्ता?"

गजरा रो रोकर कहने लगी—"क्या कहना है, ख़ूब अच्छी बातें सीखी हैं! लोग भूखों ही मरते होंगे जो जाति-बिरादरी में न्योता खाने जाते-आते हैं। और बप्पा उन्हें जाति से बाहिर कर गये थे सही, पर अब तो वे अलग नहीं—अब तो सभी उनमें जा मिले हैं—और हम कुटुम्ब की होकर—"

हरप्रसाद ने उत्तेजित स्वर में कहा—"जाति का शत्रु परम शत्रु है—यह नहीं जानतीं? हम लोगों की वह क्या परवा करता है? ऐसे जाति-भाई के मुँह पर हम पाँच जूते लगाते हैं। और जो लालच से पीछा न छुड़ा सके, जो उसके घर न्योता खाने जाय, उस लानत है।"

गजरा आँखों को आँचल से पोंछती हुई वहाँ से उठ कर चली गई।

[२]

रात को बुख़ार उतर गया। सवेरे हरप्रसाद ने नीम की दतौन करके कविराज पण्डित सिद्धिनाथ शर्मा की सिद्धि-सुधा का सेवन इसलिए किया कि दो-चार दिन बुख़ार से बचा रहे। इसके आध-घण्टे बाद बरामदे में चटाई बिछा कर बैठ गया। तीन-चार हिन्दू-बिसकुट खाकर उसने पानी पिया। इसी समय आँगन के उस छोर से सुनाई पड़ा—"कहाँ गईं ताईजी।" देखा तो स्वयं भूपतिलाल खड़े हैं। झटपट पाकेट में बिसकुट छिपा कर हरप्रसाद ने धोती के छोर से मुँह पोंछ डाला और बड़ी गम्भीरता धारण करके बैठ गया।

लड़के का अन्न-प्राशन था। इसके लिए भूपतिलाल तीन हफ़्ते की छुट्टी लेकर घर आये हैं। किन्तु इससे पहले उन्होंने कभी इस घर में पैर नहीं रक्खा। इसका एक कारण था। तीन बरस पहले जब वे पिता की बरसी करने आये थे तब गाँव के सभी लोग उनके यहाँ भोजन करने गये थे; नहीं गया था सिर्फ़ हरप्रसाद। न तो ख़ुद ही गया और न माँ तथा बुआ को जाने दिया।—फिर भी भूपतिलाल की माता इस दफ़े इन सबको न्योता दे गई थीं। हरप्रसाद से छिपा कर सास-पतोहू कल उनके यहाँ न्योते में चली गई थीं—सिर्फ़ यही नहीं, वे यह भी कह आईं—"बुख़ार आ जाने से हरप्रसाद नहीं आ सका, पछता कर रह गया।"—यह बात उन्होंने अपनी तरफ़ से कह दी थी। इसका परिणाम अच्छा ही हुआ। भूपतिलाल ने पुकारा—"कहाँ गईं ताईजी—हरप्रसाद की तबीअत कैसी है?" यह कहते कहते वे बरामदे की ओर बढ़े। हरप्रसाद को देखते ही पूछा—"क्यों हरप्रसाद, अब कैसे हो?"

हरप्रसाद ने क्षीण स्वर से कहा—"इस वक़्त तो बुख़ार नहीं है।"

"कल ताईजी से मालूम हुआ कि तुम को बुख़ार चढ़ आया है। गड़बड़ के मारे तुम्हें देखने में कल नहीं आ सका। रात को बारह बजे तक खाना-पीना होता रहा। अरे, तुम तो बहुत ही दुबले हो गये हो!"

"जी हाँ, तीन साल से भुगत रहा हूँ। पाँच सात दिन अच्छा रहता हूँ और फिर गिर जाता हूँ।"

भूपतिलाल—"यह तो अच्छा नहीं। तुम्हें आब-हवा तबदील करनी चाहिए।"

इतने में हरप्रसाद की माँ आगई। उन्हें देख कर भूपतिलाल ने कहा—"ताईजी, हरप्रसाद तो बहुत ही दुबला-पतला हो गया है।"

"हाँ भैया, देखो न। मुट्ठी भर हड्डियाँ रह गई हैं?"

"इसी से मैंने कहा था कि अब और लापरवाही करना ठीक नहीं। पछाँय में किसी अच्छी जगह रह कर दो चार महीने तक हवा बदल सके तो अच्छा हो।"

"भैया, अच्छा तो हो; पर उपाय क्या है? कहाँ भेजें और किसके साथ भेजें?"

भूपतिलाल चुपचाप सोचने लगे।

हरप्रसाद ने गुनगुना कर कहा—"अब इस तरह और कितने दिन कट सकते हैं। अगर कुछ हाथ में होता तो न जाने कब का पच्छम जाकर तन्दुरुस्त हो आता। जब तक बदा होगा इसी तरह भोगूँगा।" यह कह कर उसने एक लम्बी साँस ली।

हरप्रसाद की माता यह सुन कर आँचल से आँखें पोंछने लगी। भूपतिलाल की आँखें भी डबडबा आईं। उन्होंने कहा—"हरप्रसाद, हमारे साथ चलोगे? इस समय इटावे की आब-हवा बहुत अच्छी कही जाती है। जड़काले भर वहाँ बने रहो तो बहुत फ़ायदा हो।"

हरप्रसाद सिर झुकाये बैठा रहा। उसकी माँ ने कहा—"भैया इसे लेते जाओ। तुम्हारे साथ भेज कर मैं बेखटके रह सकती हूँ। इसकी फिर मुझे उतनी फ़िक्र न रहेगी।"

"बहुत अच्छा, मैं इसे ले जा सकूँगा। अभी घर के लोगों को यहीं छोड़े जाता हूँ—फिर भी वहाँ हमारा रसोइया महाराज और नौकर-चाकर सब हैं। कोई तकलीफ़ न होगी। हम समझते हैं, वहाँ दो-तीन महीने रहने से बुख़ार उखार सब भाग जायगा। पिलही भी घट जायगी। मैदान में कम्पनी बाग़ के पास ही हमारा बँगला है—बहुत ही अच्छी साफ़ हवा है।"

माँ ने कहा—"जाओ बेटा हरप्रसाद, अपने भैया के साथ रह कर देह को सुधार लो। क्यों?"

हरप्रसाद चुप है। दादा ने कहा—कम्पनी बाग़ खूब साफ़ सुथरा बाग़ है। घूमने के लिए बीच बीच में से कितने ही रास्ते हैं। कैसा अच्छा मैदान है। हरी हरी दूब को देख कर मन में उमङ्ग पैदा होती है। शाम के वक्त वहाँ साहब और मेमें खेलने आती हैं। सड़क के दोनों तरफ़ फूलों के अच्छे अच्छे पेड़ हैं। फल-फूल और तरकारियाँ भी खूब मिलती हैं। नये आलू आगये हैं, गोभी है, और मटर की छीमी भी मिलने लगी है। घर की गायें हैं। रोज़ चार-पाँच सेर दूध होता है। असली घी है—यहाँ की तरह गड़बड़ नहीं। मांस भी महँगा नहीं और आज-कल तो चिड़ियाँ भी मिलती हैं। तीतर, बटेर, चाहा, हंस वग़ैरह—बहेलिये बेचने ले आते हैं। हमारा महाराज रसोई अच्छी बनाता है।

हरप्रसाद के मन में इटावा जाने की लालसा खूब प्रबल हो उठी। वहाँ पर खाने-पीने की चीज़ों की विपुलता सुन कर उसके मुँह में लार आगई। किन्तु भूपतिलाल से उपकृत होने में उसका जी हिचकता है। इसी से मन-मारे चुपचाप बैठा रहा।

भूपतिलाल ने पूछा—"क्योंजी क्या इरादा है? चलोगे?"

"अच्छा दादा, ज़रा सोच विचार करलूँ फिर कहूँगा।"

भूपतिलाल यह सोच कर मन ही मन हँसे कि घर-वाली से पूछे बिना यह कुछ न कहेगा।

[३]

हरप्रसाद इटावे आगया। उसने देखा कि भूपतिलाल का बँगला बहुत बढ़िया है। असबाब भी बहुत है और फिर वह भी क़ीमती। कई नौकर-चाकर हैं। यह भी सुना कि रसोइया महाराज ख़ूराक और पोशाक के अलावा बारह रुपये महीना पाता है। दादा की सम्पत्ति देख देख हरप्रसाद मन ही मन कुढ़ने लगा।

उसकी तन्दुरुस्ती बहुत जल्दी सुधरने लगी। पहले हफ़्ते में एक दिन बुख़ार आया था। सरकारी असिस्टेन्ट सर्जन ने बँगले पर आकर नाड़ी देखी, थर्मामीटर से गर्मी नापी और दवा का इन्तज़ाम किया। हरप्रसाद ने देखा कि दादा ने डाक्टर को फ़ीस के चार रुपये दिये।

दूसरे हफ़्ते में खुल कर बुख़ार नहीं चढ़ा, बदन सिर्फ़ ज़रा सा गरम होकर रह गया ।

तीसरे हफ़्ते में कोई शिकायत न रही । भूख भी ख़ूब बढ़ गई । हरप्रसाद ने अब धीरे धीरे सुबह-शाम घूमना शुरू कर दिया ।

महीने भर में ही उसके मुँह का फीका रङ्ग बदलने लगा, घुसी हुई आँखें अपने स्थान पर दख़ल जमाने लगीं और मटका ऐसा पेट घटने लगा—यह देख कर भूपति बाबू को बड़ी ख़ुशी हुई ।

हरप्रसाद ने सोचा, यह बड़े आदमी का बँगला है, दरिद्र समझ कर नौकर-चाकर मेरी परवा न करेंगे । इसलिए दादा के कचहरी चले जाने पर वह नौकरों को बुला कर आधी देहाती और आधी खड़ी बोली में अपना सुयश सुनाया करता ।—एक दिन उसने कहा—"गाँव के ज़मींदार हमीं हैं । हम दस आने के मालिक हैं और तुम्हारे साहब सिर्फ़ छः आने के । हमारे पुरुषाओं को राजा की पदवी मिली थी । गाँव के लोग अब हमें राजा साहब कहा करते हैं । हम मुखिया हैं न । इत्यादि ।"—दूसरे दिन कहा—"तुम्हारे साहब का यह बँगला है किस लेखे ? देश में हमारा वह महल है जिसका नाम । उसमें तीन हिस्से हैं । एक में दफ़्तर है, दूसरे में बैठक है और तीसरे में ज़नाना है । ऐसे ऐसे कितने ही बँगले तो वहाँ हमारे किसानों के हैं । हाँ, देश में तुम्हारे साहब का मकान इस बँगले से कहीं अच्छा है—पर हमारे मकान की तरह भारी नहीं । देश में तुम्हारे साहब के घर पर ज़्यादा से ज़्यादा बारह नौकर होंगे और हमारे यहाँ हैं पूरे बाईस । इसी से घर के भारी होने का अन्दाज़ कर सकते हो" इत्यादि । एक दिन कहा—"तुम्हारे इस बँगले में बड़ी घड़ियाँ सिर्फ़ दो ही हैं—एक बैठक में और दूसरी साहब के सोने के कमरे में । देश में हमारे घर कुल सत्रह घड़ियाँ हैं । चाबी देने के लिए घड़ीसाज़ नौकर है । उसे महीना देते हैं"—इत्यादि ।

एक दिन रसोइया महाराज को बुला कर हरप्रसाद ने एकान्त में कहा—"देखो महाराज, दूध पर जो मलाई जम जाती है वह निकाल कर रख लिया करो । हम दुपहर को मलाई खाया करेंगे । और मछलियों के सिर तुम रोज़ साहब को ही क्यों देते हो ? हमें दिया करो । जब हमें दाल परोसो तो उसमें थोड़ा सा घी गरम करके छोड़ दिया करो । इसके लिए हम तुम्हें हर महीने कुछ इनाम दे दिया करेंगे । अभी ये दो रुपये ले जाओ ।"—रसोइए ने हँस कर कहा—"बाबू साहब, माफ़ कीजिए, रुपयों की ज़रूरत नहीं । अभी अभी आप सँभल रहे हैं । साहब ने रोक दिया है कि इसे भारी चीज़ें न देना, जो जल्दी हज़म हो सकें वही देना । आप ज़रा तैयार तो हों फिर जो चाहिए दिया जायगा ।"

भला हरप्रसाद के पास रुपये कहाँ थे । दो तीन दिन हुए उसने अपनी चाबी से भूपतिलाल का बक्स खोल कर दो रुपये निकाल लिये थे ।

भूपतिलाल के पास एक बहुत बढ़िया फ़ाउन्टेन पेन था । वे इसे दफ़्तर इस डर से न ले जाते थे कि कहीं खो न जाय । घर इसी क़लम से लिखते थे । एक दिन भूपतिलाल के कचहरी चले जाने पर हरप्रसाद, उनकी टेबिल पर, चिट्ठी लिखने गया । उसने और क़लमों को पसन्द न किया, फ़ाउन्टेन पर ही कृपा की । लेकिन उसने फ़ाउन्टेन से काहे को कभी लिखा था । इधर उधर औंधा-सीधा घुमा कर उसने फ़ाउन्टेन पेन को आख़िर तोड़ ही डाला । कुछ देर तक माथापची करके उसने उस क़लम से ही लिखने की कोशिश की, अन्त में निराश होकर एक मामूली क़लम से पत्र लिखा ।

कचहरी से लौट कर भूपतिलाल ने देखा कि क़लम टूट गई है । बेहरा को बुला कर पूछा । उसने कहा—छोटे बाबू यहीं बैठे बैठे चिट्ठी लिख रहे थे । क़लम को भी औंधा-सीधा करके नचा रहे थे ।

भूपतिलाल ने हरप्रसाद को बुलवा भेजा । क्रोध को यथासाध्य मन ही में छिपा कर पूछा—"हरप्रसाद, इस क़लम को कैसे तोड़ डाला ?"

हरप्रसाद ने बड़े अचरज का भाव दिखा कर कहा—"क़लम ? कौन क़लम ?"

यह पाजीपन देख कर भूपतिलाल को और भी क्रोध हुआ । उन्होंने पहले की ही तरह सँभल कर कहा—"हमारा यह फ़ाउन्टेन पेन ।"

"क्यों ? हमने तो तोड़ा नहीं। उसे तो हमने हाथ से छुआ तक नहीं। हमें क्या मालूम किसने तोड़ा!"

भूपतिलाल ने कुछ रुखाई के साथ कहा—"आज दोपहर को यहाँ बैठ कर तुमने चिट्ठी लिखी थी न?"

"चिट्ठी? हमने तो तीन-चार दिन से किसी को चिट्ठी विट्ठी नहीं लिखी।"

"नहीं लिखी—अच्छा, इधर तो आओ। देखो, यह क्या है?"—कह कर भूपतिलाल ने टेबिल पर रक्खे हुए ब्लाटिंग-पेड पर एक जगह उँगली रक्खी।

हरप्रसाद ने झुक कर देखा, लिफ़ाफ़े पर ठिकाना लिख कर इस ब्लाटिंग पर उलट दिया था उसके उलटे अक्षर साफ़ छपे दीख रहे हैं। अब वह चुपचाप भूपतिलाल के मुँह को टुकुर टुकुर देखने लगा।

भूपतिलाल ने ज़रा नर्मी के साथ कहा—"यहाँ और भी तो कई क़लमें रक्खी थीं, किसी एक से काम कर लेते। यह नये ढँग की क़लम है। तुम अनाड़ी आदमी—समझते नहीं—खोलने की कोशिश करते करते इसे तोड़ डाला।"

हरप्रसाद ने कुछ देर चुप रह कर पूछा—"यह क़लम कितने में आती है?"

"क्यों?"

"जब आपको पक्का सन्देह है कि इसे मैंने ही तोड़ा है तब मैं बाज़ार से आपके लिए एक ऐसी ही क़लम ले आऊँगा।"—उसके पास कुछ और भी रुपये मौजूद थे, इन्हें उसने दादा के बक्स में से ही निकाल लिया था।

हरप्रसाद के प्रति भूपतिलाल के मन में कुछ क्षमा का भाव आ रहा था, इस उत्तर को सुनने से वह तिरोहित हो गया। उन्होंने ज़रा डपट कर पूछा—"यहाँ मिलेगी कहाँ ऐसी क़लम? इस कारीगर के हाथ की क़लम इस देश में नहीं मिलती। कलेक्टर साहब विलायत से लाये थे। हमें उपहार में उन्होंने दी थी।"

और भी कुछ दिन बीते।

भूपतिलाल ग्यारह बजे कचहरी को चले जाते थे। कभी कभी इससे पहले ही डाक आ जाती थी, किन्तु अक्सर ऐसा न होता था। उनकी टेबिल पर चिट्ठियाँ रख दी जाती थीं। कचहरी से लौट कर वे उन्हें पढ़ते थे। डाक से भूपतिलाल के नाम जितने कार्ड आते थे उन सबको हरप्रसाद आद्योपान्त पढ़ लेता था। लिफ़ाफ़े में बन्द चिट्ठियों को खोल कर पढ़ लेने की उसे बहुत इच्छा होती थी पर हिम्मत न पड़ती थी। एक दिन उसने देखा कि एक लिफ़ाफ़े पर उसी के गाँव के डाकघर की मुहर है, पते के अक्षर भी किसी औरत के हाथ के हैं। उस ने सोचा, हो न हो यह भाभी की ही चिट्ठी होगी। गाँव में मशहूर था कि भूपतिलाल की दुलहिन खूब लिख-पढ़ लेती है। हरप्रसाद ने सोचा कि भाभी ने दादा को न जाने कैसी कैसी रसीली बातें लिखी होंगी। क्रम क्रम से चिट्ठी पढ़ने का लोभ बढ़ता गया। अन्त में पानी से भिगो कर उसने लिफ़ाफ़ा खोल कर चिट्ठी पढ़ ली। खोलते समय लिफ़ाफ़ा ज़रा सा फट भी गया था।

कचहरी से लौट कर भूपतिलाल ने पत्र देखा। वे देखते ही ताड़ गये कि पानी लथा कर लिफ़ाफ़ा खोला गया है। खोलनेवाले को भी खोजना नहीं पड़ा। नौकरों को बुला कर पूछा तो एक चश्मदीद गवाह भी मिल गया।

क्रोध के मारे भूपतिलाल का चेहरा सुर्ख़ हो गया। उस समय हरप्रसाद घूमने के लिए तैयार हो रहा था। थोड़ी ही देर में बाहर आया। सिर में कम्फर्ट लिपटा था, हाथ में छड़ी थी और ओढ़े था एक अलवान।

भूपतिलाल ने पुकारा—"हरप्रसाद।"

"क्यों दादा?"

"तुमने यह लिफ़ाफ़ा खोला था?"

हरप्रसाद मानों आकाश से नीचे गिर कर बोला—"लिफ़ाफ़ा?—नहीं, मैंने तो नहीं खोला।"

भूपतिलाल ने मुँह बना कर और दाँत पीस कर कहा—"जी हाँ, आपने नहीं खोला तो फिर खोला किसने?"

"क्या जानें किसने खोला है!—मैं तो कुछ भी नहीं जानता।"

भूपतिलाल ने ज़ोर से डपट कर कहा—"फिर झूठ बात!"

"जी नहीं, मैंने नहीं खोला। क़सम खाकर कह सकता हूँ, मैंने हाथ से भी नहीं छुआ।" वह गङ्गामाई की सौगन्द खाने लगा।

"गङ्गामाई की क़सम खाने की ज़रूरत नहीं। तुम गङ्गाजी के बड़े भक्त न हो! फिर झूठ बोल कर छिपाने की कोशिश करते हो? राम राम—तुम बड़े नीच हो।"—कह कर भूपतिलाल दूसरी जगह चले गये।

"हमें झूठ मूठ बदनाम करते हैं"—यों बरबराता हुआ हरप्रसाद बाहर चला गया।

घूम कर लौटा तो सीधा सोने की तैयारी में। नौकरों ने ब्यालू करने के लिए बहुतेरा पुकारा पर हरप्रसाद न आया। अन्त में खुद भूपतिलाल ने आकर बुलाया तो कहा, मुझे भूख नहीं लगी।

[४]

दिन ब दिन उसकी तन्दुरुस्ती सुधरने लगी। ठण्ड घट गई, अब वसन्त ऋतु है।

इन दिनों हरप्रसाद पर भूपतिलाल मन ही मन नाराज़ रहते हैं। उनके कैश-बाक्स में रुपया रक्खे रहते थे—अब रुपये अक्सर घट जाते हैं, हिसाब मिलता ही नहीं। उन्हें सन्देह था कि हरप्रसाद ही रुपये निकाल लेता है। पर कोई सुबूत या गवाह न मिला। हरप्रसाद अब खूब होशियार होगया था। अब वह ऐसे मौक़े पर हाथ मारता था जब कोई भी नौकर-चाकर उसे देख न पावे।

इटावे से औरैया पास ही है। कुछ दिन से हरप्रसाद औरैया आने-जाने लगा है। भूपतिलाल के पूछने पर उसने एक दिन कहा—"औरैया में एक महाजन के यहाँ एक जगह ख़ाली है। उसी के लिए कोशिश कर रहा हूँ।" औरैया में घी की मण्डी है। कई बड़े बड़े व्यापारी हैं। भूपतिलाल ने सोचा, अगर इसे औरैया में कोई नौकरी मिल जाय तो इस झञ्झट से बचें—पाप कटे।"

उस दिन इतवार था। बैठक में एक कुर्सी पर बैठे हुए भूपतिलाल समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। अकस्मात् एक ढली हुई उम्र के भले आदमी ने आकर अदब से सलाम किया। बग़ल में वे कुछ सामान लिये थे।

इसे पहचानने के लिए भूपतिलाल ने पूछा—"आप कहाँ से तशरीफ़ ला रहे हैं?"

"इसी गाड़ी से औरैया से आया हूँ।"

"आपका नाम?"

"गोवर्द्धनलाल श्रीवास्तव। मैं औरैया में एक व्यापारी के यहाँ मुनीम हूँ।"

"तशरीफ़ रखिए। बड़ी कृपा की। और कहिए?"

"आज कुछ छुट्टी मिल गई। माल का चालान बन्द था, इसलिए सोचा कि इटावा हो आऊँ। आपके भी दर्शन हो जायँगे।"

"बड़ी कृपा की"—कह कर भूपतिलाल प्रतीक्षा करने लगे।

वृद्ध ने इधर-उधर की दो-एक बातें करके कहा—"हरप्रसाद आपका छोटा भाई है न?"

"जी हाँ, कुटुम्बी है।"

"वह हमारे यहाँ अकसर जाता-आता रहता है। शायद आपसे कहा भी हो?"

"नहीं तो, मुझसे कुछ नहीं कहा।"

कुछ लज्जा कर वृद्ध ने कहा—"मेरी एक लड़की है। बारह-तेरह साल की होगी। मैं अब तक उसका विवाह नहीं कर सका। आप तो जानते ही हैं, आज-कल लड़की की शादी करना कैसा विकट काम हो गया है! रुपये-पैसे की तङ्गी है। मामूली तनख़्वाह है। किसी तरह गृहस्थी की गुज़र करता हूँ। जो इजाज़त हो तो किसी दिन लड़की दिखलवा दी जाय। मैं उसका बाप हूँ, और तो क्या कहूँ, यही कहता हूँ कि लड़की नापसन्द न होगी।"

भूपतिलाल ने अचरज के साथ कहा—"लड़की दिखलाने से आपका क्या मतलब है?"

वृद्ध ने कुछ इधर-उधर करके कहा—"जो आप लड़की को पसन्द कर लेंगे—तो फिर—हरप्रसाद के—"

बीच में ही रोक कर भूपतिलाल ने कहा—"हरप्रसाद के साथ विवाह?—असम्भव!"

वृद्ध ने ज़रा मुसकुरा कर विनयसूचक भाव के साथ कहा—आप शायद इसलिए असम्भव कह रहे हैं कि हरप्रसाद विवाह कराने को राज़ी न होगा। पर उसकी फ़िक्र न कीजिए। आज-कल के लड़के विवाह से पहले ही अपनी आँखों लड़की को देखना चाहते हैं। इसलिए

इच्छा न रहने पर भी, एक दिन, हरप्रसाद को किसी बहाने लड़की दिखलाई जा चुकी है। सुना है, उसको पसन्द भी खूब आ गई। आपसे कहना तो न चाहिए, पर माफ़ कीजिएगा कहे देता हूँ। वह घरवालों की राय न होने पर भी विवाह कराने को राज़ी है। फिर भी मैं आपसे प्रार्थना करने आया हूँ। आपको सुन कर न जाने कितना आनन्द होगा कि जिस हरप्रसाद ने इतने दिनों तक विवाह की बात-चीत सुनना भी पसन्द नहीं किया, कितनी ही बड़ी बड़ी जगहों की सगाई तक लौटवा दी, उसके मन में अब विवाह कराने की इच्छा हुई है। आप बड़े लोग हैं, मुझे इस सङ्कट से उबार लेंगे—मेरी प्रार्थना को निष्फल न करेंगे। इसी आशा से आया हूँ।

यह सुन कर भूपतिलाल चुप रह गये। हरप्रसाद की इस नई करामात का समाचार पाकर क्रोध के मारे उनका सारा शरीर विह्वल हो उठा।

इधर मुंशी गोवर्द्धनलाल ने सोचा कि अब डिपुटी साहब इस बात का अफ़सोस कर रहे हैं कि इस बूढ़े ने लड़के को फुसला कर दहेज में कुछ भी न देने का मन्सूबा गाँठा है। इसी कारण उन्होंने घिघिया कर कहा—"मैं बिलकुल ग़रीब हूँ, इससे यह न समझिएगा कि मैं कुछ भी न दूँगा। हमारे यही एक बेटी है—और सन्तति नहीं। इसे आपके भाई को दान करके मैं मुक्त हो जाऊँगा। कुछ मेरी पैत्रिक सम्पत्ति है और कुछ रुपये देश के घर को रेहन करके भी ले आऊँगा। मैं पाँच सौ रुपये नक़द, एक हज़ार का गहना और पाँच सौ का ऊपर का सामान—कुल दो हज़ार का विवाह किसी तरह कर दूँगा। यह बात मैंने हरप्रसाद से कह दी है, वह इसी में राज़ी है। मेरी ऐसी औक़ात कहाँ कि आपकी पूरी पूरी ख़ातिर कर सकूँ। आपके लिए तो यह कुछ भी नहीं है। अब मेरी दीनता की ओर ध्यान दीजिए और कृपा कीजिए ताकि मैं इस सङ्कट से उबर सकूँ।"—यह कह कर वह भूपतिलाल के पैर छूने के लिए नीचे को झुका।

"हाँ हाँ, आप यह क्या करते हैं"—कह कर भूपतिलाल ने उसका हाथ पकड़ लिया। वृद्ध को फिर बिठला कर पूछा—"आपने हरप्रसाद के सम्बन्ध में अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करली है न?"

"जब आपका भाई है तब और जाँच-पड़ताल करना वृथा है। मैंने और कुछ भी पता नहीं लगाया। स्वयं हरप्रसाद ने हमारे घर में सब बातें बतला दी हैं। उसी से मुझे भी मालूम हो गया।"

"सब बातें कह दी हैं?—यह भी कहा है कि घर में उसकी एक स्त्री मौजूद है?"

यह सुन कर गोवर्द्धनलाल चक्कर में आगये। कहने लगे—"स्त्री मौजूद है!—आप कहते क्या हैं? घर में स्त्री!"

"जी हाँ।"

"उसने तो कहा था कि विवाह ज़रूर हो गया था पर घरवाली को गुज़रे दो बरस हो गये। कोई बाल-बच्चा भी नहीं है।"

"हाँ, लड़के-बच्चे तो नहीं हैं पर दुलहिन अब तक समूची ज़िन्दा है। अगर वह गुज़र जाती तो बेचारी सब तकलीफ़ों से छुटकारा पा जाती।"

"आप कहते क्या हैं?"

"बिलकुल ठीक कहता हूँ।"

"ओफ़्फ़ो! मैं यह न जानता था। उसने कहा था, स्त्री का पीछा हुए दो बरस होगये—तभी से मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया, इस कारण अब तक विवाह नहीं किया। कई बड़े बड़े घरानों की बात-चीत आई, बहुत ज़ोर दिया गया पर मैं राज़ी ही न हुआ। पिछले अगहन महीने में तो लखनऊ के एक बड़े रईस के यहाँ सगाई तक हुई जाती थी। वे कपड़ा, गहना, नक़द और असबाब इतना देना चाहते थे कि पच्चीस हज़ार का विवाह होता। इतने पर भी मैंने मंजूर नहीं किया!"

भूपतिलाल—"बिलकुल झूठ बात।"

"देखिए, कैसा ही ख़ानदान क्यों न हो, मैं अपनी लड़की को सौत के साथ रखना कभी पसन्द न करूँगा। मेरे दस-पाँच लड़कियाँ थोड़े हैं, यही एक लड़की है। अगर किसी अच्छे चाल चलन के ग़रीब के यहाँ विवाह कर दूँगा जहाँ उसे एक ही बार खाने को मिलेगा तो भी ठीक है। लड़की सुख से तो रहेगी। सम्पत्ति के लोभ से अथवा बड़े कुल के दिखावे में आकर मैं अपनी लड़की को सौत के हवाले कभी न करूँगा। यह कभी न हो सकेगा।"

"मालूम होता है, उसने अपने को कोई बड़ा भारी मालदार बतलाया है।"

"जी हाँ, कहा है—ज़मींदारी की आमदनी पन्द्रह सोलह हज़ार सालाना है। यहाँ हवा बदलने आया है। पाकेट-ख़र्च के लिए देश से गुमाश्ता २००) महीना भेजता है। ५०) मुझसे वह यह कह कर माँग लाया है कि इस महीने गुमाश्ता ने ख़र्च भेजने में देर कर दी है। तो क्या ज़मींदारी और जायदाद की बातें भी मिथ्या हैं?"

"बिलकुल झूठ। चालीस-पचास बीघा माफ़ी की ज़मीन अलबत है। लगान और लग्गत से जो बच जाता है उसी से किसी तरह गुज़र होती है।"

यह सुन कर बेचारा बूढ़ा सिर में हाथ लगा कर रह गया। उसने कहा—"तब तो मेरी गाढ़ी कमाई के ५०) भी डूबे। मालिक की दूकान से उसी दिन लाया था। घर में एक पैसा भी नहीं रक्खा। वे रुपये उसके हवाले करके पूँजी के रुपयों से आटा-दाल ले आया था।"

इसी समय देखा कि सिर पर टेढ़ी टोपी दिये, बढ़िया शर्ट के ऊपर खुले गले का अँगरेज़ी कोट पहने, हाथ में (भूपतिलाल की) रुपहली मूठ की छड़ी लिये और बङ्गाली फ़ैशन की उम्दा धोती पहने—छोटे नवाब की तरह—हरप्रसाद हवाख़ोरी करके लौट रहे हैं। झाँसे में आकर जो ससुर बननेवाले थे उन्हें अ-स्थान पर अ-समय में देखते ही उसने मौक़े को टाल देना चाहा, पर भूपतिलाल ने उसे पुकार ही तो लिया।

उसके आ जाने पर भूपतिलाल ने गम्भीर स्वर से कहा—"तुम्हें जाल फैलाने के लिए और कहीं जगह न मिली? इस ग़रीब आदमी को सताने के लिए तैयार हुए हो!"

हरप्रसाद—"सताने के लिए! किस तरह?"

"झाँसा देकर इनकी लड़की को ब्याहने की कोशिश की थी न?"

"हाँ, ब्याह की कोशिश तो ज़रूर की थी—लेकिन इसमें दग़ा-फ़रेब की क्या बात हुई? हम लोग बड़े आदमियों के अच्छे ख़ानदानी लड़के हैं। दस-पाँच विवाह योंही कर सकते हैं। फिर क्यों न करें?"

"विवाह तो कर सकते हो, पर इनसे तुमने क्या क्या कहा है?"

"क्या क्या कहा है? वही तो कहते थे कि हम ग़रीब हैं—इस सङ्कट में फँसे हैं—हमें उबार लो। मैंने कहा, सो तो ठीक है पर मैं अपनी पहली स्त्री को क्या करूँगा? इन्होंने कहा, इसकी कोई परवा नहीं—न जाने कितनी ख़ुशामद की तब मैं लाचार होकर राज़ी होगया। मैंने इसमें बेजा क्या किया है?"

वृद्ध ने कहा—"अयँ हरप्रसाद? तुमने यह क्या कहा?—तुमने कहा न था कि स्त्री को गुज़रे दो बरस होगये?"

हरप्रसाद ने आँखें तरेर कर कहा—"आप झूठ बातें करते हैं।"

यह सुन कर बेचारा बुड्ढा रुआँसा होकर भूपतिलाल की ओर ताकने लगा। उसने कहा—"मैं झूठ नहीं कहता, मैं झूठ काहे को बोलूँगा? डिपुटी साहब, जो आप कृपा कर औरैया पधारें तो मैं लहमे भर में साबित कर दूँगा कि किसकी बात सच है।"

हरप्रसाद—"आपकी कुल बातें झूठ हैं।"

भूपतिलाल ने गरज कर कहा—"चुप रह बदमाश, पाजी कहीं का। दग़ाबाज़ी करता था। अब पकड़े जाने पर लज्जित होने के बदले भले आदमी की बेइज़्ज़ती करता है!"

डर से रोते रोते हरप्रसाद ने कहा—"मैंने इसमें क्या बेइज़्ज़ती की? वही तो मुझे झूठा बना रहे हैं! हम तो—"

क्रोध से कांपते हुए भूपतिलाल ने कहा—"फिर बातें बनाता है?—चुप रास्केल!—अरे चौबे!"

"हाँ सरकार, हाज़िर हुआ।"

"बाबू का बक्स, बिछौना, कपड़ा-लत्ता, जूता, छड़ी—जो हो सब यहाँ ले आओ।" उन्होंने दूसरे नौकर से दो तीन कुलियों को बुलवाया।

थोड़ी ही देर में हरप्रसाद का सब असबाब वहाँ लाया गया। भूपतिलाल ने कहा—"सन्दूक़ खोलो—इनके पचास रुपये निकाल दो।"

हरप्रसाद—"रुपये,—रुपये तो—इस वक़्त नहीं हैं।"

भूपतिलाल ने डपट कर पूछा—"कहाँ गये ?"

हरप्रसाद—"वे रुपया—वे तो ख़र्च हो गये।"

"ख़र्च हो गये ?—कभी नहीं—खोलो ट्रङ्क, देखें तो सही।"

हरप्रसाद फिर भी टालमटोल करता ही गया।

भूपतिलाल ने कहा—"देखो, जो भला चाहते हो तो सीधी तरह से रुपये निकाल कर रख दो। नहीं तो अभी पुलिस को बुलाते हैं, तुम्हारी सब जालसाज़ी निकल आवेगी।"

तब लाचारी से हरप्रसाद ने रोते रोते ट्रंक खोला। रुपये गिनते गिनते वह कहने लगा—"इसका रुपया तो एक भी नहीं बचा, सब ख़र्च हो गये। यह तो हमारे हैं। इन्हें हम घर से लाये थे।" गिनने में भूल हो गई। दुबारा गिन कर उसने गोवर्द्धनलाल के पैर के पास रुपये रख दिये।

अब कुली भी आगये। भूपतिलाल ने कहा—"अय कुलियो, यह सामान उठाओ। बाबू जहाँ कहे वहाँ ले जाओ।" हरप्रसाद से कहा—"तुम इसी दम हमारे बँगले से निकल जाओ। अब मैं तुम्हारी सूरत नहीं देखना चाहता।"

गोवर्द्धनलाल पाकेट में रुपये रख कर खड़े होगये। उन्होंने कहा—"जाने दीजिए सरकार, उसे माफ़ कर दीजिए। कैसा ही हो, है तो घर का ही लड़का, आपका भाई। जाओ रे कुलियो, अच्छा सरकार अब इजाज़त है न ?"—कह कर मुंशीजी खिसक गये।

भूपतिलाल ने कुलियों से कहा—"उठाते क्यों नहीं सामान, क्या देखते हो ? चौबे, तुम बाबू को निकाल कर फाटक बन्द कर दो। फिर कभी भीतर न आने देना।" यह कह कर वे चले गये।

× × × × ×

बँगले से निकल कर हरप्रसाद ने स्टेशन का रास्ता लिया। कुछ दूर आगे बढ़ा तो देखा कि एक पेड़ की छाया में गोवर्द्धनलाल खड़े हैं।

हरप्रसाद उनकी ओर से मुँह फेर कर जाने लगा। गोवर्द्धनलाल ने कहा—"सुनो तो सही, खड़े रहो।"

हरप्रसाद खड़ा होगया। नज़दीक आकर उन्होंने प्रेम से पूछा—"अब कहाँ जाओगे ?"

"देश को।"

"रेल-किराये के लिए रुपये पैसे हैं ?"

"नहीं।"

"फिर ?"

"ट्रंक में एक कोट और एक अलवान रक्खा है। स्टेशन पर अगर कोई ख़रीद ले तो रेल-किराये की फ़िक्र मिटे।"

खीसे में हाथ डाल कर गोवर्द्धनलाल बोले—"कपड़े बेचने की ज़रूरत नहीं। यह लो पाँच रुपये, टिकट ले लेना।"—यह कह कर हरप्रसाद के हाथ पर उन्होंने पाँच रुपये रख दिये। फिर नहाने के लिए वे धीरे धीरे यमुना-घाट की ओर बढ़ने लगे।

देश में पहुँच कर हरप्रसाद मुहल्ले मुहल्ले में घूम फिर कर कहने लगा—"इटावे में भूपति दादा के घर सब किरिस्तानी काम है। उनके यहाँ हिन्दू-धरम की रक्षा करके रहना मुश्किल है। मुर्ग़ी तो वे दोनों वक़् खाते हैं। दोपहर को उन्हें अण्डे चाहिए। इतने पर भी मैं किसी तरह हाथ भून कर रोज़ अपने हाथ से बनाता खाता रहा—जाति की रक्षा करता रहा। किन्तु एक दिन अपनी आँखों दादा के मुसलमान अर्दली को ...मांस लाते देख लिया, तब फिर मैं वहाँ ठहर न सका। कुली के सिर पर सामान रखवा कर तुरन्त ही निकल पड़ा। भूपति दादा ने बहुतेरा चाहा कि मैं नहा धो लूँ और खा-पी करके जाऊँ—क्योंकि दोपहर हो रहा था—पर मैंने एक न सुनी। उन्होंने कहा, अच्छा ज़रा सी मिठाई खाकर पानी पीलो तब जाना, पर मैं कैसे ठहरता ? मैंने कह दिया, मुझे भूख ही नहीं।—तन्दुरुस्ती तो वहाँ ख़ूब सुधर रही थी, जो महीने दो महीने और बना रहता तो बिल्कुल ही चङ्गा हो जाता। पर करूँ क्या, धर्म के आगे प्राण की परवा कैसे करूँ ? इसी से चला आया।"*

लल्लीप्रसाद पाण्डेय

---

* श्रीयुक्त बाबू प्रभातकुमार मुखोपाध्याय बार-एट्-ला की "गल्पवीथि" से।

चारु चयन।

१—सर्प-दोहन।

कुछ देश, विशेष करके टापू, ऐसे हैं जहाँ अनेक प्रकार के भयङ्कर और विषम विषधर साँप बहुत अधिक पाये जाते हैं। भिन्न भिन्न जातियों, रङ्गों और आकारों के कुछ साँपों के विषय में एक लेख, कुछ समय पहले, सरस्वती में निकल चुका है। यह भिन्नता प्रायः देशों की प्राकृतिक अवस्था और जल-वायु की भिन्नता के अनुसार होती है। अपने देश में भी अनेक रूप-रङ्गों के सर्प पाये जाते हैं। वर्षा-ऋतु में वे अधिक देख पड़ते हैं। जिन प्रान्तों में जङ्गल और झाड़ियाँ अधिक हैं वहाँ सर्प-कुल विशेष स्वच्छन्दता से विचरा करता है। कलकत्ते की अमृत-बाज़ार-पत्रिका के मालिकों ने बहुत समय पूर्व एक पुस्तक प्रकाशित की थी। वह अँगरेज़ी में है। नाम है Snakes, Snake-bites and their Cuse उसका बँगला-अनुवाद भी हो गया है और शायद हिन्दी-अनुवाद भी। उसमें लेखक ने वर्षा-काल में सुन्दर-वन के सर्पों के भीषण दृश्यों का वर्णन किया है। सर्वत्र पानी भर जाने से सर्पों के समूह जिस समय किसी ऊँची जगह पर खड़े हुए वृक्षों की डालियों से लिपट जाते हैं उस समय एक अद्भुत दृश्य देख पड़ता है और अनेक जातियों के छोटे बड़े सैकड़ों सर्पों के युगपत् दर्शन हो जाते हैं। उस पुस्तक के लेखक ने सँपेरों की सङ्गति करके सर्पों के विषय में जो बातें जानी हैं उनका उल्लेख किया है। उसने यह भी लिखा है कि सर्पदंश के कारण मरने से बचने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि काटी हुई जगह के ऊपर बँद बाँध कर ख़ून की धारा रोक दे, घाव को चाक़ू से चीर कर उससे ख़ून निकाल दे, और गरम पानी डाल डाल कर अवशिष्ट ख़ून को बाहर बहाता रहे। सुनते हैं, इस प्रक्रिया से मनुष्य बच जाता है। कुछ लोगों ने तजरुबा करके देखा है कि केले की गाभ का रस बार बार पिलाने और घाव पर तेज़ सिरका रगड़ने से भी सर्प-विष दूर हो जाता है। परन्तु देहात में तो अभी तक वही पुरानी झाड़-फूँक जारी है। जहाँ किसी को साँप ने काटा तहाँ ढोल बजा। दूर दूर से झाड़नेवाले आये और "अनमिल आखर अर्थ" के आकर मन्त्रों का उच्चारण करने लगे। इस तरह का मन्त्रोच्चारण आस्तिक हिन्दुओं के लिए उपहास की चीज़ नहीं। और ग्रन्थों की तो बात ही नहीं, अथर्व-वेद तक में सर्पदंश का विष दूर करने के लिए विनियुक्त मन्त्र पाये जाते हैं। पर इन उपायों से भी उद्देश-सिद्धि हो सकती है, इस बात को इस देश और विदेश के भी डाक्टर नहीं क़बूल करते। वे और ही तरह की चिकित्सा करते हैं। परन्तु वैज्ञानिक मानी गई उनकी चिकित्सा से भी मृत्यु का बहुत ही कम निवारण होता है। इसे वे स्वयं जानते हैं। इसी से चिरकाल से वे किसी राम-बाण ओषधि के आविष्कार की चेष्टा करते आ रहे हैं। अब वे कहते हैं कि उन्हें उनकी चेष्टा में बहुत कुछ सफलता हुई है। इस साफल्य-प्राप्ति के लिए उन्हें विषधर सर्पों का दोहन करना पड़ता है। दोहन से हमारा मतलब दूध दुहने से नहीं, किन्तु विष दुहने से है। सर्पों के विष दुहने का यह बड़ा ही भयानक काम इसी देश में होता है।

साँप के तालू में एक मांसग्रन्थि होती है। उसी में विष उत्पन्न होता है और भरा रहता है। इस ग्रन्थि का सम्बन्ध साँप के तालू में उगे हुए दाँतों से रहता है। दाँत बीच में पोले होते हैं। उनके मध्य भाग में एक नलिका रहती है। साँप के क्रुद्ध होते ही विष उस ग्रन्थि से बह कर दाँतों में आता है और जहाँ साँप काटता है वहाँ उसके दाँत गड़ते ही, नली से बहता हुआ विष, घाव में टपक पड़ता है। उसका संसर्ग रुधिर से होते ही मृत्यु का आह्वान आरम्भ हो जाता है। आलपीन की नोक के बराबर भी विष यदि रुधिर में मिल जाय और सर्प विषधर हो तो मृत्यु निश्चित समझिए। अण्डे से निकलने के कुछ ही दिन बाद सर्प के बच्चे विषधारी हो जाते हैं। प्रकृति ने विषदान की योजना शायद उनके लिए इस कारण की है कि वे अपने शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकें।

लिखा है—"विषस्य विषमौषधम्।" ठीक इसी सिद्धान्त का अनुसरण अब डाक्टर कर रहे हैं। वे सर्पविष के प्रभाव को सर्प-विष ही से दूर करते हैं। इसी लिए उन्हें सर्पों का दोहन करना पड़ता है।

बम्बई में एक संस्था स्थापित है। उसने बहुत से काले

नाग पाल रक्खे हैं। वे लकड़ी के बकसों में रक्खे और समय समय पर दुहे जाते हैं। जब किसी साँप को दुहना होता है तब उसी जाति के साँप के विष से तैयार हुई ओषधि पिचकारी में भर कर पास रख ली जाती है। यदि दुहनेवाले को साँप काट ले तो वही ओषधि पिचकारी द्वारा शरीर में प्रविष्ट कर दी जाती है। फिर वह मनुष्य नहीं मरता।

एक आदमी ४ फुट लम्बे बाँस की पतली छड़ी हाथ में लेता है। जिस साँप को दुहना होता है उसकी पीठ पर वह उस छड़ी से धीरे धीरे आघात करता है। इस पर सर्पराज नाराज़ होकर बकस से बाहर निकल आते हैं और पास ही बिछी हुई बाँस की चटाई पर कुण्डलाकार बैठ जाते हैं। फन फैला कर उसे ऊँचा उठा देते हैं और ज़ोर ज़ोर से फुफकारने लगते हैं। कुछ देर में वे भाग कर कहीं छिप जाने की चेष्टा करते हैं। बस जहाँ उन्होंने अपना सिर चटाई पर रख कर लम्बे होने की ठानी तहाँ वह आदमी जो पहले ही से ताक में रहता है, अपनी छड़ी को साँप की गरदन के पीछे रख कर उसे दाहने हाथ से ज़मीन पर दबा देता है जिसमें वह वहाँ से हिल न सके। यह करके वह बायें हाथ से साँप का सिर छोड़ कर उसके कुछ दूर पीछे उसकी गरदन पकड़ लेता है। इस समय साँप की पूँछ हन्टर के सदृश चलने लगती है। वह ग़ज़ब के गुस्से में आजाता है और बेतरह फुफकारें छोड़ता है। तब वह आदमी बाँस की छड़ी छोड़ कर साँप की पूँछ दाहने हाथ से पकड़ लेता है और उसके सिर को ख़ूब ऊँचा उठा देता है। साँप उसके दोनों हाथों के बीच तना रहता है। उस समय एक और आदमी आगे बैठता है। उसके हाथ में काँच का एक प्याला रहता है। उस पर चमड़े का छन्ना लगा रहता है। उस प्याले को वह साँप के मुँह के पास ले जाता है। बस पहुँचते ही साँप उसे ज़ोर से काटता है। उसके दाँत छन्ने में धँस जाते हैं और विष के बूँद प्याले में टपक पड़ते हैं। जब विष का टपकना बन्द हो जाता है तब प्याला अलग रख दिया जाता है और साँप के मुँह में पुरस्कारस्वरूप एक और प्याला लगा दिया जाता है। उसमें अण्डे का रस रहता है। जब वह रस साँप की हलक के नीचे उतर जाता है तब सर्पराज को छुट्टी मिल जाती है। वे फिर अपने बकस के भीतर छोड़ दिये जाते हैं। वहाँ वे इतना अपमान—इतनी बेइज़्ज़ती—सहन करने के बाद चुप हो जाते हैं और अपने दर्पदलन के सोच से अधमरे से पड़ रहते हैं।

समय समय पर और साँप भी इसी तरह दुहे जाते हैं। उनका विष सुखा कर रख लिया जाता है। फिर वह पिचकारियों से घोड़ों के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इन्हीं घोड़ों के विषाक्त रुधिर से सर्पदंश की ओषधि तैयार की जाती है और अस्पतालों को भेजी जाती है। इस ओषधि का नाम है—Anti-Venine। जिसे सर्प काटता है उसके शरीर में इसी ओषधि की पिचकारी दी जाती है। सुनते हैं, इस प्रयोग से सर्पदंश का विष दूर हो जाता है और पहले की अपेक्षा मृत्यु का भय शतांश कम हो जाता है। पर शर्त यह है कि काटनेवाला साँप उसी जाति का हो जिस जाति के साँप के विष से यह ओषधि तैयार की गई हो। सो अब भी किन्तु, परन्तु की शर्त लगी ही है।

आश्चर्य्य की बात है कि जिस सर्पदंश-विष के एक कण से मनुष्य मर सकता है उसे पी लेने से पीनेवाले का बाल भी बाँका नहीं होता। आमाशय में पहुँचने पर तत्रस्थ पाचन-रसों का कुछ ऐसा प्रभाव उस पर पड़ता है कि उसकी मारक शक्ति समूल ही नष्ट हो जाती है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

२—तोष और तोषनिधि।

बहुत सी प्राचीन हिन्दी-कविता तोष, तोषनिधि अथवा निधितोष के नाम से मिलती है। कुछ विद्वानों का मत है कि एक ही कवि ने इन तीन भिन्न भिन्न उपनामों से, सुविधा के अनुसार कविता की है। अन्य विद्वानों का कहना है कि तोष और तोषनिधि दो पृथक् पृथक् कवि हैं; हाँ 'निधितोष' और 'तोषनिधि' एक ही है। पर कुछ लोग तीनों ही को पृथक् पृथक् कवि मानते हैं। इन तीन मतों में से तीसरा मत लचर है। 'तोषनिधि' और 'निधितोष' को पृथक् पृथक् कवि माननेवालों की संख्या भी बहुत ही न्यून है।

'तोष' अथवा 'तोषनिधि' रचित कई ग्रन्थ बताये जाते हैं। उसके बनाये 'नखशिख' तथा 'विनयशतक' या 'व्यंग्यशतक' के देखने का सौभाग्य हमें नहीं प्राप्त हुआ है। पर 'सुधानिधि' भारतजीवन प्रेस में छपा है।

उसे हमने पढ़ा है। 'महाभारत-सार' नामक प्रायः २०० पद्यों के एक और ग्रन्थ का हाल भी हमें विदित है। वह सम्पूर्ण ग्रन्थ तो हमारे पुस्तकालय में नहीं है, पर उसके बहुत से पद्य हमारे पास संगृहीत हैं। 'महाभारत-सार' के संगृहीत पद्यों तथा 'सुधानिधि' के पाठ से 'तोष' और 'तोषनिधि' के एक ही कवि होने या न होने के सम्बन्ध में हमने जो कुछ स्थिर किया है वह यहाँ प्रकट किया जाता है।

(१) तोष ने 'सुधानिधि' की रचना संवत् १७९१ में की थी। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने सन् १८९२ में इसे भारतजीवन प्रेस में मुद्रित किया। इसका मूल्य ॥) है। इसमें कुल ५६० पद्य हैं। कवि ने इस ग्रन्थ में अपने नाम का प्रयोग ३४१ बार किया है। यह प्रयोग जितनी बार हुआ है उतनी बार 'तोष' नाम का उपयोग हुआ है। भूल कर एक बार भी 'तोषनिधि' नाम का उल्लेख नहीं होने पाया है। 'सुधानिधि' में 'सवैया' छन्द ही अधिक हैं। इस छन्द में 'तोषनिधि' की अपेक्षा 'तोष' का व्यवहार ही सफलता-पूर्वक हो सकता है। सवैया छन्दों में तोषनिधि नाम के न पाये जाने का एक यह भी कारण बतलाया जा सकता है, पर 'सुधानिधि' में घनाक्षरी छन्दों की भी कमी नहीं है। इस छन्द में 'तोषनिधि' नाम ही विशेष रीति से जमता है। पर घनाक्षरी छन्दों में भी 'तोष' नाम ही व्यवहार में लाया गया है, यद्यपि इस प्रयोग के लिए प्रायः सर्वत्र 'कवि' शब्द 'तोष' के साथ जोड़ना पड़ा है। 'कवितोष' के स्थान में 'तोषनिधि' बड़ी ही सरलता से खप सकता था। कुछ उदाहरण लीजिए:—

(१) कहै कवितोष पति-सोच मेटिबे के काज,
लिखन सुलागी चित्र आपने सरोज-पानि (पृ० २२)
(२) कहै कवितोष पतिदेवता सवाँरी जैसी,
तैसी पतिदेवता न दूसरी सवाँरी है। (पृ० ३२)
(३) कहै कवितोष केलि-भौन में विचारै बैठि,
पै हौं कै सुगम ये मनोरथ सुदामा को (पृ० ५६)
(४) कहै कवितोष जिय जानि दुख काती ताते,
छाती की तबीज पिय-पाती को किए रहै (पृ० ६४)
(५) कवितोष कहै मुख मोरति मुरुकि नेकु,
प्यारी चित चोरति निचोरति है बार को (पृ० १०३)

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रत्येक स्थान में जहाँ 'कवितोष' आया है वहाँ "तोषनिधि" रक्खा जा सकता था। 'महाभारत-सार' के जितने संगृहीत पद्य हमारे पास हैं उनमें किसी में, भूल कर भी, 'तोष' नाम नहीं आया है। जहाँ कवि के नाम का प्रयोग हुआ है वहाँ सर्वत्र 'तोषनिधि' नाम ही पाया जाता है।

यह स्पष्ट है कि 'सुधानिधि' तथा 'महाभारत-सार' दोनों ग्रन्थों में 'तोष' और 'तोषनिधि' दोनों ही नामों का प्रयोग हो सकता था—हो सकने की बात दूर रही कहीं कहीं एक नाम के स्थान में दूसरे नाम के व्यवहार में ही सुविधा थी। ऐसा होते हुए भी यदि 'तोष' और 'तोषनिधि' एक ही कवि था तो उसने अपने दोनों ग्रन्थों में एक ही एक नाम क्यों आने दिया, इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं मालूम पड़ता है। हाँ, यदि 'तोष' और 'तोषनिधि' दो कवि हों तो बात कुछ समझ में आती है।

(२) 'महाभारत-सार' के अनेक पद्यों में 'मिश्र जू सुकवि' का प्रयोग हुआ है। शेष पद्य 'तोषनिधि' के नाम से हैं। 'तोषनिधि' और 'मिश्र जू सुकवि' के पद्यों की भाषा, काव्य-प्रौढ़ता एवं शब्दयोजना एक ही प्रकार की है। 'मिश्र जू सुकवि' के नामवाले पद्य 'महाभारतसार' में अपने उचित स्थान पर ही पाये जाते हैं। जिस स्थान पर वे रक्खे गये हैं वहाँ से उनके उठा लेने से वर्णन का क्रम टूट जाता है। सारांश यह कि वे ग्रन्थ के अङ्ग हैं। उनके द्वारा सम्बद्धता स्थापित है। क्षेपक के समान उनको हटा लेने से ग्रन्थ का सिलसिला न भङ्ग होगा यह बात नहीं है। तब क्या 'महाभारत-सार' को 'मिश्र जू सुकवि' और 'तोषनिधि' नामक दो व्यक्तियों ने मिल कर बनाया या 'मिश्र जू सुकवि' और 'तोषनिधि' एक ही व्यक्ति थे? 'तोषनिधि' के विषय में प्रसिद्ध है कि वे 'मिश्र' और कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। महाभारत-सार के पद्यों का 'मिश्र जू सुकवि' उनके 'मिश्र' होने का समर्थन करता है। और किसी प्रकार से 'मिश्र जू सुकवि' के पद्यों का 'महाभारत-सार' में पाया जाना समझ में नहीं आता है। जो कुछ ऊपर लिखा गया है उस पर पाठक स्वयं भी विचार कर सकें, इसलिए 'मिश्र जू सुकवि' और 'तोषनिधि' के दो पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

"गंगा राजरानी को सुभट अभिमानी भट,
भारत के वंश में न भीषण कहाऊँ मैं।
जो पै शर चोटन चपेटि रथ पारथ को,
लोकालोक पर्वत के पार न बहाऊँ मैं।
'मिश्र जू सुकवि' महि-मंडल मैं घूमि घूमि,
खाँड़ो दाहि दाहि दिग मंडल दहाऊँ मैं।
कहत पुकारि ललकारि महाभारत मैं,
देखौ जो न शस्त्र आजु हरि को गहाऊँ मैं॥"

"जुद्ध में अपार भार रथी महारथी वीर,
मारि कै गिराऊँ कपिधुजहि हराऊँ मैं।
जो पै सुत शांतनु को तौ न रन पीठि देहुँ,
इतनो न करौं गंगा जननी लजाऊँ मैं।
'तोषनिधि' शिर न झुकाऊँ सब सेनै आजु,
पांडवन पुहिमी न सुख दिखराऊँ मैं।
धनुष बहाऊँ छत्री कुल न कहाऊँ जो पै,
हरि को न संजुग में शस्त्र पकराऊँ मैं॥"

'तोष' कवि सरयूपारीण ब्राह्मण थे। सरवरियों में भी वे मिश्र न थे, शुक्ल थे। 'सुधानिधि' ग्रन्थ के अन्त में, कवि-वंश-परिचय में, यह सब हाल विस्तार-पूर्वक दिया है। यदि 'तोष' सरयूपारीण शुक्ल और 'तोषनिधि' कान्य-कुब्ज मिश्र थे तो वे दो कवि थे। 'सुधानिधि' एक की और 'महाभारत-सार' दूसरे की रचना है।

(३) 'कवि रत्नाकर' और 'शाहनामा' भाषा के रचयिता (देखो, मिश्रबन्धुविनोद भाग ३ पृ० १३६२ और शिवसिंहसरोज पृ० ४३५।) मिश्र मातादीन के पुत्र श्रीयुत-पिनाकी मिश्र से ही हमें 'महाभारत-सार' का पता चला था। इन्होंने ही हमें उक्त ग्रन्थ के अनेक पद्य लिखवा दिये थे। इनका कहना था कि हम स्वयं अपनी आँखों से कालपी में 'तोषनिधि' के मकान के खँडहर देख आये हैं। वहाँ के निवासी अब भी उन्हें 'तोषनिधि' के मकान के खँडहर बतलाते हैं। उधर 'तोष' जी स्वयं अपने ग्रन्थ में कहते हैं :—

"शुक्ल चतुर्भुज को सुत 'तोष', बसै सिंगरौर जहाँ ऋषि थानो।"

शिवसिंहसेंगर ने 'तोषनिधि' को कालपी का रहने-वाला बतलाया है। अतएव तोष का निवासस्थान 'सिंगरौर' और तोषनिधि का 'कालपी' ठहरता है। इससे भी 'तोष' और 'तोषनिधि' दो कवि समझ पड़ते हैं।

(४) ऊपर जिन तीन बातों पर विचार किया गया है उनसे 'तोष' और 'तोषनिधि' के एक कवि न मानने के पक्ष में ही अधिक झुकाव पाया जाता है। इस सम्बन्ध में और भी बारीकी से विचार करने के लिए हमें 'तोष' और 'तोषनिधि' के नाम से की गई कविता की भाषा और वर्णन-शैली पर भी दृष्टिपात करना चाहिए। यदि प्रसिद्ध कवियों के पद्यों की भाषा और कहने का ढँग मिलता हो तो फिर भी दोनों के एक कवि होने के पक्ष में एक बड़ी दलील शेष रह जाती है, परन्तु यदि इनमें भी भिन्नता हो तो 'तोष' और 'तोषनिधि' को एक ही कवि मानना बड़े ही साहस का काम होगा। आइए, पहले भाषा पर ही विचार करें।

"राज तज्यो सुख साज तज्यो,
'पितु मातु तज्यो हठि मो सँग दीनो।
कानन आय बनाय निलै दुख-
रासि सबै सुख एक न चीन्हो।
सीय तज्यो कहि तोष तुम्हैं तजि,
मोहि करौ जिनि भाग विहीनो।
पूरि रही करुना सों तिहूँ पुर,
जो करुना करुनामय कीन्हो॥"

'तोष'

"यह लेहु सासन सिंगासन चँवर छत्र,
तोषनिधि चाहौ ताके सिर धरो जाय कै।
हाय मैं पितामह भरोसे एक रावरे के,
रन-रंग ठाढ़ो कियो पंडुन सो आय कै।
ते तुम करत कानि एकै सम नाती जानि,
जानी कोमलानी महा मधुर सुभाय कै।
नातरु किरीटी कहा चीटीसम लौटि फिरि,
कुशल समेत जा तो तुम्हें समुहाय कै।"

'तोषनिधि'

'तोष' वाले पद्य में भाषा की कोमलता एवं स्वाभाविकता 'तोषनिधि' वाले पद्य से बढ़ कर है। कृत्रिम शोक और कार्य-साधन के लिए अपेक्षित उत्तेजना दिलाने का ढँग 'तोषनिधि' के पद्य में अच्छा है। पर जिस पदार्थ से

तोष का सवैया बनाया गया है उस पदार्थ का प्रयोग तोषनिधि की घनाक्षरी में नहीं समझ पड़ता है। दोनों एक ही कारीगर की कृति नहीं हैं। दोनों पद्यों की भाषा में जो भेद है वह भी साफ़ झलक रहा है। अब इनकी कथन-शैली पर भी विचार करना चाहिए। इसके लिए भी दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं। एक बात पाठक और भी ध्यान में रक्खें। 'तोष' के नाम से जो पद्य मिलेंगे उनमें प्रति शतक ९५ सवैया होंगे तथा 'तोषनिधि' के नाम से जो पद्य मिलेंगे उनमें यही औसत घनाक्षरी का होगा। यों भी सवैया पढ़ने में घनाक्षरी से मीठा जान पड़ता है।

"इक दीनी अधीनी करैं बतियाँ, जिनकी कटि छीनी छलामैं करैं।
इक दोस धरैं अपसोस भरैं, इक रोस कै नैन ललामैं करैं।
कहि 'तोष' जुटी जुग जंघन सों, उर दै भुज स्यामैं सलामैं करैं।
निज अम्बर माँगै कदम्ब तरे, व्रज बामैं कलामैं मुलामैं करैं।"

'तोष'

भारत-समर महाभारत सुभट भीर,
जुरे 'तोषनिधि' कहै पारथ प्रहारे से।
मारे हारे कौरव प्रचंड खंड खंडे वर,
बंडे युद्धवीर ईरखा के अनुसारे से।
फैलि फटि घिसि फाटि फूटि दबि टूटि लूटि,
प्रतिहत भये भट परम दसारे से।
पोटरी से पट से पटीर से पटम्बर से,
पाट से पटा से खट पाटी से पिटारे से।

'तोषनिधि'

चीर-हरण के पश्चात् गोपियों की क्या दशा हुई है उसका चित्र 'तोष' ने खींचा है और वीरवर अर्जुन के प्रहार से कौरव-दल की क्या दशा हुई है इसका चित्र 'तोषनिधि' ने उतारा है। दोनों ही पद्यों में अनुप्रास की ओर झुकाव है, पर 'यथासंख्य' के फेर में पड़ कर 'तोषनिधि' को परिश्रम विशेष करना पड़ा है, और फिर भी मतिराम के जिस यथासंख्य की नक़ल की गई है उस तक इनका यथासंख्य नहीं पहुँचा। सम्भवनीयता, स्वाभाविकता तथा सुष्ठु योजना, इन सभी बातों में 'तोष' का पद्य 'तोषनिधि' के पद्य से अधिक अच्छा है। जिस साँचे में सवैया ढला है वह घनाक्षरी के लिए अप्राप्य है। जो सुन्दरता सवैया में है वह घनाक्षरी में नहीं देख पड़ती। दोनों कृतियाँ एक व्यक्ति की कदापि नहीं हैं।

अतएव हमारा मत यह है कि 'तोष' और 'तोषनिधि' दो कवि हुए हैं। एक ही कवि के ये दो उपनाम नहीं हैं। 'तोषनिधि' 'तोष' के बाद हुए हैं। इन्होंने कवि 'तोष' से अपने को भिन्न रखने के लिए 'तोष' के नाम के साथ 'निधि' भी लगा दिया। क्या आश्चर्य यदि यह 'निधि' 'तोष' के 'सुधानिधि' से ही लिया गया हो? 'तोष' सरयूपारीण, शुक्ल, सिंगरौर निवासी थे। 'तोषनिधि' कान्यकुब्ज मिश्र, कालपी निवासी थे। 'तोषनिधि' की अपेक्षा 'तोष' अच्छे कवि थे। 'निधितोष' और 'तोषनिधि' को हम एक ही कवि मानते हैं।

'महाभारत-सार' के 'तोषनिधि' रचित दो पद्य उद्धृत करके हम इस लेख को समाप्त करते हैं।

"अर्जुन अपनी पताका को सम्हारौ सुनौ,
मेरे ना भरोसे रहौ अब शिरथापी के।
आगे मैं सहे हैं रामचन्द्र के समर बान,
अगिनि समान दशग्रीव शिरजापी के।
पुनि कुम्भकरन बली के बलवंत सहे,
तोषनिधि आगे मेघनाद महादापी के।
अब तौ या भारत में आरत सहे न परैं,
बान विषहा ये रविनंदन प्रतापी के।"
"शक्र जो न माँगि लेतो कुण्डल कवच पुनि,
चक्र जो न लीलती धरनि रथ धारतो।
कुन्ती जो न शरन समेटि लेती द्विजराज,
शाप जो न हो तो शल्य सारथी निबाहतो।
तोषनिधि जो पै प्रभु पीत पट वारो बनि,
सारथीपने को कछु कारज न सारतो।
तौ तौ वीर करण प्रतापी रविनन्दन,
सु पांडुसुत सेना को चबेना करि डारतो॥"

कृष्णविहारी मिश्र

३—सबसे छोटा प्रजासत्ताक राज्य।

जब समग्र योरप महायुद्ध में लिप्त था तब केवल एक ही देश में शान्ति थी। वहाँ न तो कभी किसी सेना का पदार्पण हुआ और न कभी युद्ध की चर्चा ही हुई। सबसे

आश्चर्य की बात यह है कि वहाँ न कोई सेना है और न पुलिस। इस देश का नाम है अन्डोरा (Andorra)। यह पूर्वीय पेरीनीज़ में बसा है। यहाँ लोक-तन्त्र-शासन की व्यवस्था है। यह शासन-व्यवस्था वहाँ सात सौ वर्ष से है। पश्चिम योरप का शायद सबसे दुर्गम स्थान यही है। इसका क्षेत्रफल १७५ वर्गमील है। पर इसका अधिकांश भाग पर्वतों ने ही घेर रक्खा है। यहाँ की आबादी पाँच और छः हज़ार के बीच होगी। ज़मीन पर ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार होता है। दूसरे पुत्रों को गाँव छोड़ कर अपनी जीविका के लिए फ़्रांस या जर्मनी चला जाना पड़ता है। पुत्रियों में भी जिनका विवाह अन्डोरा में नहीं हुआ उन्हें बाहर रहना पड़ता है। ऊपर कह दिया गया है कि यहाँ न तो पुलिस है और न सेना। टैक्स भी किसी तरह का नहीं लगाया जाता। एक क़ैदख़ाना बना है। पर आज तक वह कभी काम में नहीं लाया गया। यहाँ के सभी बच्चे प्रसन्न-वदन रहते हैं। रोता हुआ कोई भी बच्चा नहीं देखा जाता। पशु की गणना कुटुम्ब में की जाती है। उनसे वैसा ही सद्व्यवहार किया जाता है जैसा किसी आत्मीय से। शासन के लिए यह देश छः छोटे छोटे ज़िलों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक ज़िले से चार आदमी चुने जाते हैं। यही लोग साल भर में पाँच छः बार एकत्र होकर शासन की व्यवस्था करते हैं। यहाँ के निवासी बड़े परिश्रमी होते हैं। रोटी, तेल और शराब इन्हें फ़्रांस अथवा स्पेन से मँगानी पड़ती हैं। उनके बदले ये मांस, ऊन, कम्बल, ख़च्चर और घोड़े बेचते हैं। तम्बाकू की भी यहाँ उपज होती है। ये लोग गिलास में मुँह लगा कर पानी नहीं पीते। प्रतिवर्ष ये फ़्रांस को ४० पौंड देते हैं। इतनी ही रक़म ये सिओ डि अर्गल के विशप को भी देते हैं। पर हैं ये स्वतन्त्र। युद्ध से इन्हें बड़ी घृणा है।

द्विजेन्द्र

४—हबशियों का स्वराज्य-स्वप्न।

वर्तमान युग संसार के लिए जागृति-काल है। सभी जातियाँ उन्नत होने की चेष्टा कर रही हैं और यह बतला देना चाहती हैं कि हम स्वतन्त्र हैं—हम लोग निकृष्ट तथा य नहीं हैं।

स्वाधीनता और समानता की इस भावना ने हबशियों को भी चञ्चल कर दिया है और वे भी स्वराज्य-स्थापन की चिन्ता में निमग्न हो गये हैं। महावीर गार्वे ने इस जाति को सचेत किया और स्वतन्त्रता का पहला पाठ सिखाया। गार्वे जामैका द्वीप का एक कृषक है। उसने १७ या १८ वर्ष की अवस्था में जमैका से एक दैनिक-पत्र निकाला और उसके द्वारा उसने पहले पहल सब जातियों के लिए समानाधिकार का दावा किया।

अब आपके सम्मुख जो समस्या है, वह है हबशियों का पुनरुत्थान। पृथ्वी के सब हबशियों को एकत्र करके उनमें नवजीवन सञ्चार करना ही आपका मुख्य लक्ष्य है। आज-कल हबशियों की संख्या ४० करोड़ है; प्रायः एक करोड़ हबशी अमरीका में रहते हैं और बाक़ी सब अफ़्रीका में।

दासत्व-प्रथा से हबशियों को कितना दुःख और लाञ्छना सहनी पड़ी यह सभी को ज्ञात है। अमरीका के हबशी दास हबशियों की ही सन्तान हैं। यद्यपि अब वे दास नहीं हैं, तो भी सामाजिक और राजनैतिक-क्षेत्र में उनकी स्थिति सुखमय नहीं है। वे भारत की अन्त्यज जातियों के समान पतित और अस्पृश्य समझे जाते हैं। अमरीका के हबशी अपनी उन्नति के लिए अपनी चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु अफ़्रीका के हबशी अभी तक अन्धकार में ही हैं।

अफ़्रीका के हबशियों की बान्टू नामक शाखा कुछ उन्नत अवश्य है। वे एक ही भाषा बोलते हैं और उनकी वर्णमाला भी एक ही प्रकार की है। १९ वीं शताब्दी में "दोयालू बुकेरे" नामक हबशी ने इस वर्णमाला की सृष्टि की। बान्टू को छोड़ हबशियों की और जितनी शाखाएँ हैं उनकी उतनी ही भाषाएँ हैं, एवं सभ्यता में उन्होंने अपने पूर्वजों से अधिक उन्नति नहीं की है।

अफ़्रीका में छोटे छोटे साम्राज्य हैं तो अवश्य, किन्तु वे विदेशियों से शासित होते हैं। हबशियों को स्वाधीनता प्राप्त नहीं है। इसका कारण यह है कि वर्तमान अफ़्रीका को विदेशी राजाओं ने आपस में बाँट लिया है और वहीं के देशी राजा द्वारा अभी वे अपना काम निकाल रहे हैं। सिर्फ़ एक राज्य में उनका कुछ अधिकार नहीं है। वह है लाईबेरिया। जब अमरीका के हबशी स्वाधीन कर दिये गये

तब वे लाईबेरिया में आकर बस गये और उसे स्वायत्त कर लिया। वे अमरीका को अपना आदर्श मानते हैं और क्रमशः उसी की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

वर्तमान युग के हबशी सभ्यता की निम्नकोटि में हैं। इतिहास में इस बात का प्रमाण नहीं है कि वे कभी भी सभ्यता की उच्च कोटि में रहे हों। ढाई हज़ार वर्ष पहले उन्होंने मिश्र देश के सिंहासन पर अपना अधिकार जमाया था, किन्तु उसके बाद वे चले गये एक-दम पातालपुरी! जिन हबशियों ने अबीसीनिया में अधिकार जमाया था उन्हीं की पूर्व सभ्यता का इतिहास मौजूद है, लेकिन आज-कल वे ईसाई हो गये हैं।

अभी उनमें जो कुछ जागृति हुई है वह अमरीका में ही है। दासत्व-बन्धन से वे पशुवत् हो गये थे। स्वाधीनता मिलने पर भी उनकी दशा नहीं सुधरी। इस पशुवत् अवस्था से उनको मनुष्य करने की चेष्टा सबसे पहले बुकर वाशिङ्गटन ने ही की। इन्होंने एक अच्छी संस्था स्थापित कर हबशियों को नैतिक शिक्षा दी और उनकी आर्थिक उन्नति के लिए भी उद्योग किया।

बुकर वाशिंगटन ने हबशियों की नैतिक और आर्थिक उन्नति की तो व्यवस्था की, परन्तु उन्हें राजनैतिक आन्दोलन से विरत रहने का परामर्श भी दिया। कुछ हबशियों की राय हुई कि मनुष्यत्व प्राप्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, परन्तु उसके साथ ही राष्ट्रीय और सामाजिक अधिकार की भी ज़रूरत है। इसलिए उन्होंने एक नवीन समिति बना कर हबशियों के लिए राष्ट्रीय और सामाजिक अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की। इसमें उन्हें कुछ सफलता भी हुई।

गार्वे ने जिस मत का प्रचार किया है वह बिलकुल नवीन है। वे कहते हैं कि बुकर वाशिंगटन तथा दूसरे सुधारक दोनों बराबर हैं। उनमें से किसी का भी पन्थ हबशियों के लिए श्रेयस्कर नहीं है। उससे चिरकाल हबशियों को श्वेताङ्गों का पदानुसरण करते रहना पड़ेगा। आत्मबोध या आत्मप्रत्यय की ओर वे कभी भी न जा सकेंगे। इसलिए उन्हें श्वेताङ्गों का आश्रय बिलकुल छोड़ देना चाहिए। उनकी सभा, उनका धर्म, उनका दान सभी का विसर्जन करना होगा। उसके बदले उनको निर्माण करना चाहिए नवीन राज्य, नवीन धर्म, नवीन शक्ति। यह राज्य अफ़्रीका में होगा—वही हबशियों का आदिम वास-स्थान है।

इस आन्दोलन का आरम्भ १९२० की पहली अगस्त को न्यूयार्क के उपनगर हार्लीम शहर के हबशियों के एक सम्मेलन से हुआ। वहाँ अबीसीनिया, लाइबेरिया आदि देशों से भी हबशियों के प्रतिनिधि आये थे। उन्होंने हबशियों का स्वराज्य स्थापित करने के लिए एक कार्य-क्रम तैयार किया। गार्वे उसके नेता हैं। लाइबेरिया के मेयर गेब्रील जानसन उसके प्रधान पुरोहित हैं। लाइबेरिया को केन्द्रस्थल बना कर समस्त हबशियों को अफ़्रीका में स्वराज्य-निर्माण करने की सूचना दी जायगी और वहीं से कार्य का आरम्भ होगा। आप सिर्फ़ हबशियों का साम्राज्य स्थापित करने की सूचना देकर ही चुपचाप नहीं बैठे हैं। इस चेष्टा को कार्य में परिणत करने की वे यथाशक्ति प्रयत्न भी कर रहे हैं। उन्होंने हबशियों से चन्दा वसूल कर जहाज़ की एक कम्पनी और बड़ा भारी कारख़ाना खोला है जिससे हबशी अपनी आर्थिक उन्नति में स्वावलम्बी हो सकें।

गार्वे के इस स्वप्न के सफल होने में कई बाधाएँ हैं। अमरीका के हबशी अपनी सुखशय्या को त्याग कर अफ़्रीका की मरुभूमि में जाकर रहेंगे, इसमें सन्देह है। यदि वे राज़ी भी हों तो योरप के शक्तिवृन्द अपनी उपभोग्य भूमि को उनके लिए शायद ही निर्विवाद छोड़ दें। कुछ भी हो संसार के सभ्य समाज की दृष्टि आप और आपके स्वराज्य की ओर है। देखना चाहिए कि भविष्य में क्या होता है?

श्रीसुरेन्द्रनाथ घोष

विविध विषय।

१—देशी चिकित्सा के लिए सरकारी सहायता।

सरकार की नीति बदली है। उसने वैद्यों और हकीमों को दाद देने की—उनका करावलम्बन करने की—नीति स्वीकार कर ली है। इसका एक-मात्र कारण युग-परिवर्तन अथवा स्थिति-परिवर्तन ही समझना चाहिए। कौंसिलों में और अन्यत्र भी हो हल्ला मचाने, और सरकारी चिकित्सा और स्वास्थ्य-रक्षा-विभाग के सञ्चालन का सूत्र भारतीय सचिव

के हाथ में आजाने, से ही ऐसा हुआ है। वैद्यों और हकीमों की चिकित्सा-प्रणाली भी कोई प्रणाली है—उसमें भी कुछ तत्त्व है—इस बात की क़ायल सरकार नहीं। और भगवान् झूठ न बुलावे, उसका यह विचार बहुत कुछ ठीक भी है। जो वैद्य और हकीम आंख बन्द किये हुए अपने घर या अपनी दूकान पर बैठे पुरानी पोथियाँ उलटा और उन्हीं में निर्दिष्ट चूर्ण, वटिकायें और ख़मीर बनाया करते हैं, आंख उठा कर कभी यह भी देखने की चेष्टा नहीं करते कि दुनिया में क्या हो रहा है, उनकी कोई मदद करे तो क्यों करे। छोटे छोटे बच्चे एक चिड़िया की कहानी कहा करते हैं। उस चिड़िया का दावा था—जो मेरे घर सो राजा के भी घर नहीं। उस दिन लेखक के पड़ोस में एक मरीज़ देखने के लिए एक वैद्यजी आये। आप लगे डाक्टरों को कोसने और अपशब्द कहने। "मलेरिया क्या चीज़ होती है? आवे कोई डाक्टर और दिखा दे मलेरिया"! जैसे अपने निदान-निर्दिष्ट रोगों की मूर्तियाँ ये लोग अपने बटुवे में प्रत्यक्ष लिये घूमते हों! हमारे दिवोदास ऐसे थे; हमारे चरक वैसे थे; हमारे भाव-मिश्र मुर्दों को ज़िन्दा कर देते थे! ये हैं, इनकी डींगें। इनसे कोई पूछे कि रास्ना कहाँ होती है, कब होती है, उसके पञ्चाङ्गों का वर्णन कीजिए तो मुँह फैला दें या दो चार उलटी सीधी सुना दें। अगर कुछ ठिकाने की बात भी कहेंगे तो वही बात दूसरा वैद्य और तरह कहेगा, और तीसरा तीसरी तरह। किसी काष्ठादि जड़ी का नाम पूछने जाइए तो कभी कभी जितने मुँह उतनी ही बातें सुनने को मिलें! फिर भी इन लोगों का यह दावा है कि जो मेरे पास वह त्रिलोक में और किसी के पास नहीं। कालेजों और स्कूलों के नये नये स्कीम और सालाना जलसों के धूम-धड़ाके इनसे कोई चाहे जितने ले ले। देश-भेद, जल-वायु-भेद और परिस्थिति-भेद से पदार्थों के गुणों में भेद हो जाता है। एक खेत में पैदा हुआ गन्ना अधिक रसीला और मीठा होता है और वहीं पास ही दूसरे खेत में उत्पन्न हुआ कम। पर हज़ार वर्ष के पुराने निघण्टुओं में निर्णीत पदार्थों के गुणदोष-निदर्शक श्लोक सुना देने और उन्हीं के अनुसार नुसखे लिखने ही में ये अपने चिकित्सा-ज्ञान की इतिश्री कर देते हैं। बेरी-बेरी और इनफ़्लुएञ्ज़ा आदि कितने ही नये नये रोग पैदा हो गये हैं। पर वैद्यजी उन सबके भी निदान, पूर्व-रूप, लक्षण और चिकित्सा-प्रकार अपनी पुस्तकों से निकालने को सदा तैयार रहते हैं। ज्ञान की वृद्धि होती जाती है; अनेक शास्त्रीय सिद्धान्त भ्रमजात सिद्ध हो रहे हैं; नये नये तत्त्वों और नये नये सिद्धान्तों की सृष्टि हो रही है। पर यह सब इनके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता। नई खोज करना, दूसरे देशों से काम की बातें सीखना, खुद भी अपने तजरुबे से कुछ कर दिखाना, हमारे वैद्यों और हकीमों के लिए मना सा है। यह भी तो ये लोग नहीं करते कि बरसात में बिस्वे दो बिस्वे में वे वनस्पतियाँ ही बो दिया करें जो ओषधियों में काम आती हैं। पर कौन इतना झञ्झट करे। पंसारियों और अत्तारों के यहाँ दवायें मिल ही जाती हैं। वे सड़ी हों, गली हों, घुनी हों—उनकी बला से। डाक्टरों की देखादेखी फ़ीस ही नहीं दवा की हर पुड़िया के दाम भी ले लेना इन्होंने शुरू कर दिया है। पर फोड़े में नश्तर तक लगाना इन्होंने डाक्टरों से नहीं सीखा। इस काम के लिए रोगी को आप ख़ैराती अस्पताल ही का रास्ता बता कर छुट्टी पा जाते हैं। अधिकांश का यही हाल है, सबका नहीं। कुछ सद्वैद्य ऐसे भी ज़रूर हैं जो अपने शास्त्र की त्रुटियों को समझते हैं, दूसरों के गुणों का गौरव करते हैं, और अर्थ-गृध्नुता को दोष समझते हैं। हमारे इस कथन को आप निन्दा न समझिए, सत्यवाद-मात्र समझिए। वैद्यों और हकीमों की दुरवस्था देख कर हमें हार्दिक दुःख होता है। वही हमसे यह सब लिखा रहा है। और तो सरस्वती में एक नहीं, अनेक बार देश-चिकित्सा के पक्ष में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। हमारी प्रार्थना है कि वैद्य लोग अब सँभलें और दूसरों के गुण ग्रहण करना सीखें। अन्यथा उनके व्यवसाय की यथेष्ट उन्नति न होगी।

हाँ, तो हमारी चिकित्सा-प्रणाली में अनेक त्रुटियाँ होने पर भी, आन्दोलनकारियों के दबाव में पड़ कर, इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा के पक्षपातियों को उत्साहित करने का उपक्रम कर दिया है। ८ आक्टोबर २१ को गवर्नमेंट ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया है और लिखा है कि इस साल, परीक्षा के तौर पर, उसने २५,०००) ख़र्च करने का निश्चय किया है। यह इसलिए

कि जो लोग इस तरह की चिकित्सा से भी लाभ उठाना चाहें वे उठा सकें, क्योंकि जहां डाक्टर नहीं वहां ऐसी ही चिकित्सा से सर्व-साधारण का काम चलता है। यह रुपया गवर्नमेंट—

(१) म्यूनीसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्टबोर्डों वग़ैरह को देगी। उन्हें आयुर्वेदिक और यूनानी दवाख़ाने खोलने पड़ेंगे चाहे वे स्थायी हों चाहे सञ्चलन-शील अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकने योग्य।

(२) इन दोनों प्रकार की चिकित्सा-प्रणालियों के अनुगामी दवाख़ानों को भी मदद दी जायगी। शर्त यह है कि उनकी प्रबन्ध-कारिणी कमिटियों के मेम्बर प्रभावशाली हों।

(३) हकीम और वैद्य तैयार करनेवाली ऐसी संस्थाओं को भी सहायता मिल सकेगी जिनके सञ्चालक कुछ प्रभाव रखते हों अर्थात् मुअज़्ज़िज़ हों।

इस २१,०००) में से इस प्रान्त के ११ बोर्डों को कोई १८,०००) रुपया दिये जाने का विचार है। गोरखपुर में जार्ज डिस्पेन्सरी नाम का एक दवाख़ाना है। उसे ६००) मिलेंगे। और, ऋषिकेश के बाबा काली कमलीवालों के स्कूल और अस्पताल को २,०००) दिये जायँगे। इसके सिवा हरद्वार के आयुर्वेदिक कालेज को ४०,०००) अलग ही देना निश्चित हुआ है।

जो बोर्ड दवाख़ानों के लिए ½ ख़र्च खुद देंगे उन्हीं को सहायता दी जायगी। अर्थात् गवर्नमेंट की सहायता कुल ख़र्च की ½ होगी। पर आगे वह इतनी उदारता न दिखा सकेगी; बोर्डों को ½ से अधिक ख़र्च करना पड़ेगा।

सो किसी तरह, इतना रोने-धोने पर, यूनानी और आयुर्वेदी चिकित्सा को दाद मिलने का दिन आगया। अब अपनी योग्यता और अपनी चिकित्सा की वैज्ञानिकता सिद्ध कर दिखाना हकीमों और वैद्यों का काम है। हरताल-भस्म से अगर फ़सली बुख़ार न रुके और कुनैन से रुक जाय तो वैद्यों को अपनी चिकित्सा के गीत गाना ज़री कम करके हरताल से अधिक कारगर कोई और दवा ईजाद करनी होगी।

२—स्त्रियों के लिए एक नये विश्व-विद्यालय की योजना

भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रचार धीरे धीरे बढ़ रहा है। इसके प्रचार के उद्योग में जनता भी मनोयोग देती है। सर्व-साधारण के प्रबन्ध में बालिकाओं की शिक्षा के लिए देश में सर्वत्र पाठशाला और विद्यालय नित्य नये खुलते ही जाते हैं। यही क्यों, कई वर्ष हुए अध्यापक कर्वे ने स्त्रियों का विश्वविद्यालय पूने में स्थापित किया था। अब इलाहाबाद की म्यूनिसिपैल्टी एक ऐसा ही नया विश्व-विद्यालय इलाहाबाद में खोलना चाहती है। उसकी शिक्षा-समिति ने इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है। यदि उसकी सूचनाओं के अनुसार कार्य किया गया तो इलाहाबाद का यह स्त्रियों का विश्वविद्यालय अपने ढंग का एक ही न होगा, किन्तु अपनी सहयोगिनी संस्थाओं से विशेष उपादेय भी होगा।

इस प्रयाग-महिला-विद्यापीठ की शिक्षा का आदर्श राष्ट्रीय शिक्षा है। शिक्षा का माध्यम हिन्दी या उर्दू रहेगा और उन विषयों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जायगा जो स्त्री-समाज के लिए उपादेय हैं। पहली परीक्षा का नाम 'विद्या-विनोदिनी' रक्खा गया है। जो तीन विषय अवश्य सीखने पड़ेंगे वे (१) भाषा, (२) इतिहास तथा भूगोल और (३) गृह विज्ञान तथा स्वास्थ्य हैं। तीसरे विषय के अन्तर्गत सीने, भोजन बनाने, कातने और सुश्रूषा की शिक्षा भी रक्खी गई है। इन तीन विषयों के सिवा परीक्षा-दात्री को आगे दिये हुए दस विषयों में से दो और विषयों की भी शिक्षा ग्रहण करनी पड़ेगी। (१) संस्कृत या फ़ारसी, (२) अँगरेज़ी, (३) गणित, (४) बुनना, (५) ड्राइंग, (६) सङ्गीत, (७) पदार्थ-विज्ञान, रसायन-शास्त्र या वनस्पतिशास्त्र, (८) छात्र-धर्म, (९) कोई दूसरी प्रान्तिक भाषा और (१०) शरीर शास्त्र, इन दस विषयों में से परीक्षादात्री को अपनी रुचि के अनुसार दो विषय लेने पड़ेंगे।

शिक्षासमिति ने अभी तक अपनी पूरी स्कीम नहीं तैयार की, पर शीघ्र ही वह भी तैयार होकर विद्वानों की सम्मति के लिए सर्व-साधारण के सम्मुख उपस्थित की जायगी। इलाहाबाद की म्यूनिसिपैल्टी का यह शिक्षा-

सम्बन्धी विधान भारत के सारे हिन्दी-भाषा-भाषी ज़िलों के लिए उपस्थित किया गया है। रिपोर्ट के पढ़ने से मालूम होता है कि इस विश्वविद्यालय के खुल जाने पर यह और भी उन्नत किया जायगा। इस कल्पना के कार्य में परिणत हो जाने पर निस्सन्देह स्त्री-शिक्षा का ख़ासा प्रचार होगा और इस सम्बन्ध में देश एक और पग आगे रक्खेगा।

३—साहित्य की कला।

हिन्दी-भाषा में अभी तक कुछ बातें ऐसी हैं जो नियम-बद्ध नहीं हैं। गत हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में एक यह भी प्रस्ताव पास हुआ था कि हिन्दी के विवादास्पद विषयों का निर्णय किया जाय और उनके लिए नियम बना दिये जायँ। भाषा में उच्छृङ्खलता विकास का चिह्न नहीं है और न नियम-बद्ध होने से भाषा का विकास ही रुकता है। भाषाभाव का परिच्छद है। जब भाव उच्च होगा तब भाषा उच्च होगी। जब भाव का विकास होगा तब भाषा का भी विकास होगा। भाषा के व्याकरण-सम्मत होने से भाव-प्रकाशन में किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती। अतएव यदि हिन्दी-भाषा नियमों के द्वारा पूर्ण-रूप से मर्यादित होजाय तो उससे उसकी सौन्दर्य-वृद्धि ही होगी। इस विषय में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का ध्यान आकृष्ट होना सचमुच बड़ी बात है।

साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए भाषा के साथ ही भाव भी परिष्कृत होना चाहिए। भाषा के लिए नियम बनाये जा सकते हैं, पर क्या भावों के परिष्कार के लिए भी नियम बन सकते हैं? साहित्यशास्त्र के विद्वानों ने उसके लिए भी नियम बनाये हैं। उन्होंने साहित्य में काव्यों के गुण और दोषों की अच्छी तरह परीक्षा की और उसी के आधार पर उन्होंने उन नियमों का प्रचार किया जिनका अनुसरण करने से कोई काव्य सत्काव्य हो सकता है। परन्तु फल विपरीत हुआ। ज्यों ज्यों इन साहित्य-शास्त्रों का प्रचार बढ़ता गया त्यों त्यों कविता का स्रोत सूखता गया। भारतीय साहित्य के इतिहास में यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि जब तक भारतीय समाज का आदर्श ही नहीं बदला है तब तक साहित्य का क्षेत्र सूखा ही पड़ा रहा है। सूरदास और तुलसीदास के काव्य-स्रोत का उद्गम स्थान रसगङ्गाधर में नहीं है, परन्तु नानक और कबीर के उन वचनों में है जिन्होंने समाज की गति को—उसके तत्कालीन आदर्श को—बदल दिया। इसी प्रकार वर्तमान हिन्दी काव्यों का मूल किसी साहित्य-शास्त्र में नहीं है, किन्तु वे उन भावों के फल हैं जो देश के नेताओं के द्वारा देश-व्यापी हो रहे हैं।

किसी लेखक को एक बार यह सन्देह हुआ था कि हिन्दी-साहित्य में पाश्चात्य आदर्श का समावेश होने से उसकी अवनति होने लगेगी। परन्तु यह भ्रम है। साहित्य की उन्नति इसी पर निर्भर है कि वह सार्वभौम भावों को ग्रहण करे। पाश्चात्य-साहित्य में ज्ञान की जो धारा बह रही है वह भारतीय साहित्य के लिए अहितकर होगी, यह भ्रामक सिद्धान्त है। ज्ञान का विकास तभी होता है जब एक देश दूसरे से ग्रहण करता है। यही हाल कला का भी है। हिन्दी-साहित्य में उपन्यास, विज्ञान, इतिहास, समालोचना, ये सभी पाश्चात्य आदर्श के अनुकरण करने के फल हैं। क्या हिन्दू साहित्य-शास्त्र के आदर्शों का अनुकरण करने से वर्तमान भारतीय काव्यों की सृष्टि हो सकती थी?

पाश्चात्य साहित्य का एक आदर्श यह है कि कला की सृष्टि कला के विकास के लिए होती है (Art for Art's sake)। यह आदर्श प्राचीन भारतीय साहित्य का नहीं था। यहाँ कला धर्म की अनुगामिनी थी। साहित्य में भी इसी भाव की प्रधानता थी। उदाहरण के लिए उपाख्यान ही ले लीजिए। प्राचीन भारतीय आख्यानों में उनका उद्देश बिलकुल स्पष्ट है। नल-दमयन्ती का आख्यान लीजिए अथवा सावित्री का उपाख्यान। दोनों में शिक्षा प्रधान है और आख्यान गौण। वर्तमान भारतीय साहित्य के आख्यायिका-लेखकों ने आख्यानों की शैली में पाश्चात्य कला का अनुसरण किया है। रवीन्द्रनाथ की आख्यायिकाएँ कथासरित्सागर की अपेक्षा 'पो' नामक लेखक की कहानियों से अधिक समता रखती हैं और 'पो' की कहानियाँ पाश्चात्य कला के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। उन कहानियों का उद्देश कला-सौष्ठव है, शिक्षा गौण है। इसका मतलब यह नहीं है कि कला और शिक्षा में परस्पर विरोध है। सच तो यह है कि कला का अन्तिम ध्येय शिक्षा से पृथक् नहीं है। परन्तु जब कला का विकास नहीं होगा तब उसका अन्तिम ध्येय ही किस प्रकार

पूर्ण हो सकेगा? जो लोग हिन्दी भाषा की महत्ता दिखलाने के लिए ज़बरदस्ती कहानियाँ गढ़ा करते हैं उनकी कहानियाँ कला से शून्य रहती हैं। इसी लिए उनसे न तो मनोरञ्जन ही होता है और न शिक्षा ही मिलती है। कहानियों के द्वारा शिक्षा वही दे सकता है जो कहानी कहना जानता हो। जो कहानी कहने का ढङ्ग ही नहीं जानता उसकी कहानी ही न बनेगी, शिक्षा वह किससे देगा। मिसेस स्टो ने अपने उपन्यास में दासों की दुर्दशा का जीवित चित्र खींच दिया। यह उनकी कला का फल था कि उस उपन्यास ने लोगों के चित्त पर भारी प्रभाव डाला। अन्त में उसका परिणाम यह हुआ कि दासत्व-प्रथा ही उठ गई। जो बात आख्यानों के लिए कही गई है वह काव्य, इतिहास, विज्ञान आदि साहित्य के सभी अङ्गों के लिए उपयुक्त है। किसी भी काम को सुचारु रूप से करने के लिए कला की आवश्यकता है। कला का लक्षण है तन्मयता। यदि कोई वैज्ञानिक किसी तत्त्व के अनुशीलन में उसकी उपादेयता का ही ख़याल रक्खे और उसमें तन्मय न हो जाय तो हम कह सकते हैं कि उसमें विज्ञान की कला नहीं है। जो पुरातत्त्वज्ञ परिणाम की परवा न कर अपने जीवन को प्राचीन भग्नावशेषों में व्यतीत करता है वह अपनी कला में दक्ष है। आज तक जितने वैज्ञानिक या ऐतिहासिक आविष्कार हुए हैं वे सब इसी तन्मयता के फल हैं। इसी से ज्ञान का विकास होता है। अतएव हमें साहित्य में कला को सदैव सर्वोच्च स्थान देना चाहिए।

४—स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य।

इलाहाबाद के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य का अभी हाल में स्वर्गवास होगया। आपकी मृत्यु से इस प्रान्त का एक श्रेष्ठ विद्वान् उठ गया। इसी प्रान्त में आपका जन्म हुआ, यहीं आपने शिक्षा पाई और यहीं आपका जीवन व्यतीत हुआ। आप आजीवन शिक्षा की चर्चा में ही निरत रहे। कुछ समय तक आप म्योर सेन्ट्रल कालेज में अध्यापक थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के आप फेलो थे। सिन्डीकेट और टेक्स्टबुक कमेटी के भी आप सदस्य थे। जब आप सरकारी नौकरी से निवृत्त हुए और पेन्शन पाने लगे तब आपने हिन्दू-विश्वविद्यालय का काम किया और उसकी अच्छी सेवा की। वृद्धावस्था में शरीर स्वस्थ न रहने के कारण आप दारागञ्ज के अपने घर में तीर्थवास करने लगे। परन्तु यहाँ भी आप संस्कृत के विद्यार्थियों को शिक्षा दिया ही करते थे। इसी से आपके विद्या-व्यसन का अनुमान किया जा सकता है।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य।

आपको हिन्दी-साहित्य में बड़ा प्रेम था । आप काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के सदस्य थे । प्रयाग के प्राचीन इतिहास का आपको बहुत अच्छा ज्ञान था । प्रयाग नामक पुस्तक में उसका जो ऐतिहासिक वर्णन है वह आपही के ज्ञान का फल है । आप संस्कृत की प्राचीन अप्रचलित पुस्तकों को प्रकाशित करने की बड़ी चेष्टा करते थे । आपने स्वयं कुछ पुस्तकों का प्रकाशन किया है । इनमें एक शिवानन्द का वासुदेवरसानन्द है और दूसरी पुस्तक है शान्तरस-निर्देश ।

ऐसे विद्या-व्यसनी और साहित्य-प्रेमी विद्वान् की मृत्यु-वार्ता सुन कर किसे न दुःख होगा ।

५—विकासवाद का एक नया सिद्धान्त ।

संसार परिवर्तनशील है । उत्थान और पतन का चक्र यहाँ अनादि काल से घूम रहा है । मानव-जाति अपने उद्योग से क्रमशः उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है, फिर उसकी क्रमशः अवनति होने लगती है और अन्त में वह बिलकुल अधोगति को पहुँच जाती है । अभी तक विद्वानों की यह राय थी, कि पहले मानव-जाति अत्यन्त असभ्यावस्था में थी, क्रमशः उन्नति करके वह आधुनिक सभ्यता का निर्माण कर सकी है । विकास-वाद का यह सिद्धान्त यह भी कहता है कि मानव-जाति भी सभ्यता के विकास का फल है । मनुष्यों के पूर्व-पुरुष बन्दर थे । बन्दरों की अवस्था का विकास होने पर वही मानव-जाति में परिणत हुए । अभी हाल में वायना के एक विद्वान् ने इस सिद्धान्त के बिलकुल विपरीत मत का समर्थन किया है । उनका कथन है कि मनुष्य बन्दरों के वंशधर ही नहीं, किन्तु उनके पूर्व पुरुष हैं । आपकी राय है कि पूर्वैतिहासिक काल में मानव-जाति ने पहले तो सभ्यता की खूब उन्नति की । फिर उनकी सभ्यता का ह्रास होने लगा । अन्त में वे बिलकुल असभ्य हो गये । उनकी यह असभ्यता बढ़ती ही गई । वे बर्बर हो गये, यहाँ तक कि अन्त में वे मनुष्य से बन्दर हो गये । आज-कल संसार उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है । परन्तु यदि हम मिथ्या-शिक्षा के भ्रम-जाल में पड़ कर स्वाभाविकता की ओर न जाकर अवनति के पथ पर जाने लगें तो दो तीन हज़ार वर्ष के बाद पृथ्वी पर फिर मानव-जाति वानर जाति के रूप में परिणत हो जाय ।

चीन, मिस्र, रूस, इटली तथा अन्य देशों में जो नये नये आविष्कार हुए हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि जब अमरीका का संयुक्तराज्य जलमग्न था तब पृथ्वी पर सभ्यता का पूरा प्रसार था । वह सभ्यता अटलांटिक महासागर से भी प्राचीनतर है । उस समय पृथ्वी पर जो मानव-जाति निवास करती थी वह वर्तमान मनुष्य-जाति से अधिक सभ्य थी । उसकी सभ्यता के उत्कर्ष का फल यह हुआ कि मनुष्य महामानव हो गये (—मानव-जाति का अतिक्रमण कर गये—) उनकी मस्तिष्क-शक्ति हद से बाहर हो गई । तब उनकी बुद्धि नष्ट होने लगी । उनमें कामुकता और पशुत्व की प्रबलता होने लगी । अन्त में वे लोग बिलकुल पशु होगये । वही बन्दर हैं !

६—सम्राट् औरङ्गज़ेब का जल-पात्र ।

सम्राट् औरङ्गज़ेब प्रायः दौरे पर रहते थे । उस समय वे जिस पात्र का छना हुआ जल पीते थे । सौभाग्यवश वह पुरातत्त्व-विभाग को प्राप्त हो गया है । उक्त विभाग के मौलवी ज़फ़र हसन ने उसे खोज निकाला है । अब वह दिल्ली के अजायब घर में रक्खा जायगा, जहाँ सर्व-साधारण उसे बखूबी देख सकेंगे ।

वह जल-पात्र पत्थर का है । पत्थर का एक समूचा टुकड़ा ही तराश करके पात्र के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है । उसमें ४ गैलन जल आ सकता है । उसमें खूबी की बात यह है कि जब वह एक जल-पूर्ण भारी डेग के भीतर रख दिया जाता है तब उसके भीतर छिद्रों के द्वारा जल छन कर चला जाता है, पर जहाँ वह डेग के बाहर निकाल लिया जाता है तब उसके छिद्रों से जल बाहर नहीं निकलता । उसके छोटे छोटे अगणित छिद्रों में यह अनोखी विशेषता है । इसके ऊपर फ़ारसी के अक्षरों में 'संगे-सफ़ी' उत्कीर्ण है । यद्यपि अब उसके छिद्र बहुत कुछ बन्द हो गये हैं तो भी वह उपयोग में लाया जा सकता है । दो-एक गिलास जल निकल आता है ।

पुस्तक-परिचय ।

१—हिन्दी में बँगला उपन्यास ।

हिन्दी में अनुवाद, मर्मानुवाद, छायानुवाद, आदि कई

प्रकार के अनुवाद होते हैं। जो लोग किसी ग्रन्थ का मर्मानुवाद अथवा छायानुवाद करते हैं उन्हें एक प्रकार की स्वतन्त्रता रहती है। उनका लक्ष्य यही रहता है कि ग्रन्थकार का उद्देश्य नष्ट न हो, अतएव ग्रन्थकार के मूल भाग को सुरक्षित रख कर वे उसके कथा-भाग में यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं। परन्तु जो किसी पुस्तक का साद्यन्त अनुवाद करते हैं उन्हें परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। हिन्दी के अनुवादक, विशेषकर बँगला-उपन्यासों के अनुवादक, औपन्यासिक पात्रों के नाम बदल डालने में बड़े दक्ष हैं। कुछ तो मूल ग्रन्थकार के उपन्यास का नाम ही बदल डालते हैं। इससे क्या लाभ होता है, यह हम नहीं समझ सकते। सरस्वती के गत अङ्क में रत्न-दीप नामक एक उपन्यास की समालोचना निकली थी। उसके प्रकाशक, श्रीयुत महादेवप्रसाद झुनझुनूवाला, ३१ बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, (आर० यल० बर्मन एण्ड को० नहीं, जैसा कि गत अङ्क में छपा था) ने हमें सूचना दी है कि उस पुस्तक का नाम रत्नदीप नहीं, इन्दुमती है। अँगरेज़ी स्कूलों में पढ़नेवाले लड़के एक खेल खेला करते हैं। वे किसी एक शब्द का एक एक अक्षर बदलते बदलते उसका रूप बिलकुल बिगाड़ देते हैं। उदाहरण के लिए एक शब्द 'कमल' लीजिए। कमल से कमर, अमर, असर, असल बना लीजिए। यही हाल 'रत्नदीप' का हुआ है। बँगला में वह रत्नदीप था। मराठी ग्रन्थकार ने रत्नदीप में पूर्णिमा के चन्द्रमा का दर्शन किया और हिन्दी के अनुवादक महोदय ने उसे इन्दुमती बना डाला। यदि उर्दू में वह नूरजहाँ हो जाय तो उसे पहचानना भी कठिन हो जाय। इस परिवर्तन से पुस्तक का महत्त्व तो नहीं बढ़ा, पर उसका मूल्य अवश्य बढ़ गया। बँगला में रत्नदीप का मूल्य सिर्फ़ १॥) है, परन्तु हिन्दी के प्रकाशक ने इस 'सेकेंड हैंड' अनुवाद का मूल्य कस कर ३॥) रक्खा है। सरस्वती के गत अङ्क में भूल से उसका मूल्य १॥) छप गया था। हिन्दी पुस्तक-प्रकाशकों की साहित्य-सेवा पर किसी को अब सन्देह नहीं होना चाहिए। अस्तु।

इस महीने में फिर एक बँगला उपन्यास का हिन्दी-अनुवाद हमें मिला है। बँगला में उसका नाम है 'छिन्न मुकुल' और लेखिका हैं श्रीमती स्वर्णकुमारी देवी। हिन्दी में उसका नाम बिखरा फूल रक्खा गया है। सो ठीक ही है। अनुवादक श्रीयुत कुञ्जविहारी सेठ हैं। हमें आशा है कि अनुवादक महोदय ने कम से कम उपन्यास के पात्रों के नाम और ग्राम में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया होगा। 'बिखरा फूल' में प्रणय की कथा है और प्रणय की कथा में ईर्ष्या और द्वेष, आशा और निराशा, सुख और दुःख की जितनी बातें आसकती हैं वे सब इसमें वर्तमान हैं। उपन्यास-प्रेमियों के लिए इसमें मनोरञ्जन की काफ़ी सामग्री है। तो भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि 'बिखरा फूल' में कला का वह सौष्ठव नहीं है जो लेखिका के दूसरे उपन्यासों में—दीपनिर्वाण और प्राणघातक माला में—है। शैलबाला और शक्ति के सामने नीरजा का चित्र बिलकुल फीका मालूम होता है। हम समझते हैं कि स्वर्णकुमारी देवी के और किसी उपन्यास का अनुवाद हिन्दी में नहीं हुआ है। मूल्य १॥) है। हिन्दी-ग्रन्थमाला कार्यालय, कानपुर ने इसका प्रकाशन किया है।

२—गान्धी-साहित्य।

महात्मा गान्धी अपने देव-दुर्लभ गुणों के कारण देश के सर्व-मान्य नेता हो गये हैं। भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र में उन्हीं का आधिपत्य है। हिन्दी में उनके सिद्धान्तों के प्रचार के लिए एक साहित्य ही बन रहा है। इस साहित्य में काव्य, नाटक, उपन्यास, जीवन-चरित्र, इतिहास और विज्ञान तक का समावेश किया गया है। काव्यों में श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठीजी का 'पथिक' महात्माजी के असहयोग-सिद्धान्त का समर्थक है। नाटकों में 'असहयोग' नामक एक नाटक का प्रकाशन जबलपुर से हुआ है। अभी हाल में मैनेजर ग्रन्थ-भण्डार (लेडी हार्डिंग रोड, माटूँगा, बम्बई) ने 'पुनरुत्थान' नाम की एक किताब भेजी है। इसकी गणना उपन्यासों में की जा सकती है। महात्मा गान्धी के जीवन-चरित्र तो पचीसों छप गये हैं। सरस्वती के गत अङ्क में ही एक जीवन-चरित की समालोचना की गई है। 'भारतवर्ष के इतिहास में स्वराज्य', 'असहयोग का इतिहास' आदि ग्रन्थ इतिहास की कोटि में रक्खे जा सकते हैं। यदि स्वास्थ्य-विज्ञान विज्ञान है तो 'आरोग्य-साधन' विज्ञान कहा जा सकता है। मतलब यह कि उनके नाम से आज-

तक छोटी बड़ी सैकड़ों किताबें निकल गई हैं और निकलती जा रही हैं। अभी हाल में जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें कुछ का परिचय नीचे दिया जाता है।

१—**स्वराज्य-सङ्ग्राम**। इसमें महात्मा गान्धी के कुछ लेखों का अनुवाद है। इस अनुवादक का नाम नहीं दिया गया है। इस ९६ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ॥) है। कलकत्ते के विश्वमित्र कार्यालय से यह प्रकाशित हुई है।

२—बम्बई से एक गान्धी-ग्रन्थ-माला ही निकल रही है। उसका पहला पुष्प है **सर्वोदय**। इसमें अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक रस्किन के विचार सन्निहित हैं। पुस्तक की भाषा अच्छी नहीं है। गान्धी-ग्रन्थ-माला का दूसरा पुष्प है **गान्धीजी का बयान**। अनुवादक श्रीयुत कृष्णलाल वर्म्मा हैं। मूल्य आठ आने है। **तीन रत्न** में तीन छोटी, पर अच्छी, कहानियाँ हैं। मूल्य दस आने है।

३—**स्वराज्य**। इसकी रचना श्रीयुत शिवदानप्रसाद सिंह ने की है। बनारस के हिन्दी-ग्रन्थ-भाण्डार कार्यालय ने इसका प्रकाशन किया है। ४६ पृष्ठों में यह पुस्तक समाप्त हुई है। मूल्य ।≈) है।

४—पण्डित रामनरेश त्रिपाठीजी ने राष्ट्रीय विद्यालयों के लिए **रीडरें** तैयार की हैं। पहली पुस्तक में ३० पाठ हैं, पर दूसरी पुस्तक में २८ ही पाठ हैं। तीसरी पुस्तक में पाठों की संख्या ३७ तक पहुँच गई है। दूसरी पुस्तक ४६ पृष्ठों में समाप्त हुई है और तीसरी ९२ पृष्ठों में। रीडरों के मुख-पृष्ठ से मालूम हुआ कि पहली पुस्तक पहली कक्षा के लिए है, दूसरी दूसरी कक्षा के लिए और तीसरी तीसरी कक्षा के लिए है। जो विद्यार्थी पहले साल ३० पाठ पढ़ सकता है उसे दूसरे साल, ज्ञान की कुछ वृद्धि हो जाने पर भी, २८ पाठों से ही सन्तोष करना पड़ेगा। कदाचित् इसी लिए तीसरी कक्षा में उसे दूने से अधिक पृष्ठ पढ़ने को मिलेंगे। पाठों का भी चुनाव अच्छा नहीं हुआ है। त्रिपाठीजी ने भाषा ही पर ध्यान दिया है, विषय पर नहीं। पहली पुस्तक बच्चों के लिए है। उसका पहला ही पाठ और सब पाठों से कठिन है। पहली पुस्तक में पद्यात्मक लेख बड़े टाइप में छापे गये हैं और गद्यात्मक छोटे टाइप में। शायद गद्य-पद्य में भेद बतलाने के लिए यह विभिन्नता रक्खी गई है, नहीं तो शायद बच्चों को यह समझने में बड़ी कठिनाई पड़ जाती कि कौन सा पद्य है और कौन सा गद्य! हमारी समझ में ये रीडरें किसी काम की नहीं हैं।

इन रीडरों की अपेक्षा बाबू रामदास गौड़ की रीडरें अच्छी हैं। उनको कलकत्ते की हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी ने प्रकाशित किया है। उनमें भी 'लाला भड़ामदास' के समान कुछ ऐसे लेख हैं जिनसे छात्रों को न तो मनोरञ्जन होगा और न शिक्षा ही मिलेगी।

५—**डायर शाही और जलियानवाला बाग**—इस छोटी पुस्तक में अमृतसर के प्रसिद्ध हत्याकाण्ड का वर्णन है। कांग्रेस की जाँच कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर इसकी रचना हुई है। इसमें क़रीब क़रीब छोटी बड़ी सब बातें आ गई हैं। भाषा सरल है। मूल्य ॥) और पृष्ठ संख्या ६० है। पता—प्रबन्धक, तिलक-ग्रन्थ-माला, मथुरा।

६—हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी (१२६, हरिसन रोड, कलकत्ता) ने असहयोग माला की तीन छोटी पुस्तकें भेजी हैं। (१) **कवीन्द्र और महात्माजी** (२) **सारा भारत एक है**—यह महात्मा गान्धी के एक लेख का अनुवाद है (३) **लाग-डाँट**—प्रेमचन्दजी की यह छोटी सी मनोरञ्जक कहानी है।

३—हिन्दी में वैद्यक-शास्त्र।

बम्बई (कालबा देवी रोड) के श्रीयुत हनुमत्प्रसाद जोशी वैद्य एक आरोग्य-ग्रन्थ-माला निकाल रहे हैं। आपकी कई पुस्तकों की समालोचना सरस्वती में छप चुकी है। आपने एक और पुस्तक समालोचनार्थ भेजी है। उसका नाम है **स्वाभाविक जीवन**। पुस्तक २२० पृष्ठों में समाप्त हुई है, अच्छे टाइप और काग़ज़ पर छपी है। बड़ी अच्छी पुस्तक है, सभी लोगों के काम की है। जोशीजी ने प्रस्तावना में लिखा है कि डाक्टर जस्ट की किताब पढ़ कर उन्होंने अपने रोगियों और अपने शरीर पर उसकी सूचनाओं का अनुभव करना शुरू किया। उन्हें वे लाभप्रद मालूम हुईं। तब उन्होंने उस पुस्तक को अपनी रुचि के अनुकूल रूप में सजा कर देशबन्धुओं को भेंट किया है। हमें विश्वास है कि हिन्दी-भाषा-भाषी आपकी पुस्तक का आदर करेंगे। मूल्य १॥≈) है।

—पर...

Printed and Published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Ltd., Allahabad.